कतिपय-पंक्तियां-

ब कि प्रस्तुत ग्रन्थ ही अष्टादश-पुराणों की भूमिका किंवा उपोद्घात कहा जा सकता है तब— 'भूमिका-स्वरूप ग्रन्थ की भी कोई अनुभूमिका होनी ही चाहिये'— ऐसी क्लिष्टकल्पना अनवस्था-दोष-ग्रस्त होने के कारण हमारे निकट सर्वथा उपेक्षणीय है। इस लिये प्रत्येक ग्रन्थ के आरम्भ में उत्कण्ठा के साथ 'भूमिका' ढूंढने वाले पाठकों को एक बार तो हमारी इन कतिपय-पंक्तियों पर ही सन्तोष करना पड़ेगा,- यह स्पष्ट है। परन्तु एतावता यह भी न समझ लेना चाहिये कि इस तरह हमने अपने कृपालु पाठकों की 'भूमिका-पिपठिषा' को तो अनवस्थाग्रास के उपहास से चुटकियों में उड़ा डाला है! और स्वयं भूमिका लिखने की तीव्र तवालत से बाल बाल बच जाने के लिये 'क्लिष्ट-कल्पना' का बहाना ढूंढ निकाला है!! अपितु यदि विज्ञ पाठक इस ग्रन्थ का धैर्य्यपूर्वक पारायण करेंगे तो उन्हें 'गगनं गगनाकारम्' न्याय के अनुसार एक ही वस्तु में उपमान और उपमेय दोनों धर्म्मों के अस्तित्व की भान्ति इस ग्रन्थ के मूल में ही 'ग्रन्थ-विषयता' के साथ साथ 'भूमिकाभावत्व' का भी रसास्वादन अवश्य प्राप्त होजाएगा, और तब वे हमारे स्वर में स्वर मिलाकर सहर्ष कह उठेंगे कि—'निस्सन्देह यह ग्रन्थ अपनी भूमिका आप ही है'।

× × × × × ×

वर्तमान प्रणाली के अनुसार भूमिका में साधारणतया यही बातें प्रकट की जाया करती हैं कि— (क) इस ग्रन्थ में किन २ विषयों का प्रतिपादन किया गया है! (ख) इसके निर्माण करने की आवश्यकता क्यों पड़ी! (ग) उस आवश्यकता को यह कहां तक पूरी कर सकेगा! और (घ) कौटग् जन-समुदाय के लिये यह उपयोगी सिद्ध होगा! इत्यादि···। सो यूं तो हमने उपर्य्युक्त जिज्ञासाओं का संक्षिप्त किन्तु सुस्पष्ट समाधान पुरातन-आर्ष-पद्धति के अनुसार इस ग्रन्थ के आरम्भ में अनुबन्ध-चतुष्टय के रूप में संस्कृत-पद्यों द्वारा लिख ही दिया है, कदाचित् संस्कृत-पद्यों का अर्थ सम्यक् समझने में 'कुछ' पाठकों को तादृश अड़चन न पड़े [illegible] तपय-पंक्तियां' लिख देनी आवश्यक सी जान पड़ी हैं

यद्यपि आर्थिक संकट के कारण यह ग्रन्थ हमारी भावना के अनुसार सर्वाङ्ग-पूर्ण नहीं छप सका है और इसका बहुतसा उपयोगी अंश रोक लेना पड़ा है जो अनुकूल समय आने पर परिशिष्ट के रूप में प्रकाशित किया जा सकेगा, तथापि हमने भरसक प्रयत्न किया है कि अब तक पुराणों के खण्डन में मुद्रित होचुकने वाले छोटे बड़े सभी पुस्तकों का समाधान इस अकेले ग्रन्थ में आजाए तदनुसार—(१) सत्यार्थप्रकाश (२) ऋग्वेदादि भाष्य-भूमिका (३) पुराण-मत-पर्य्यालोचन (४) पुराणतत्व-प्रकाश (५) पुराण-विमर्श (६) कुलयात आर्य्य मुसाफिर (७) भविष्य-पुराण की प्रेक्षा (८) सनातनधर्म्म की मौत (९) भविष्यपुराण की आलोचना (१०) शिवपुराण की आलोचना (११) गरुडपुराण की आलोचना (१२) सत मत निरूपण (१३) धर्म्मतुला (१४) राम-परीक्षा (१५) कृष्ण-परीक्षा (१६) धूर्ताख्यान (१७) पुराणों के अनमोल रत्न (१८) बमबम-महादेव (१९) पौराणिक भाव चित्रावलि (२०) देवताओं के गुलाम आदि ग्रन्थों का और 'सद्धर्म्म-प्रचारक' (बनारस) आदि सामयिक पत्र पत्रिकाओं का वह कोई विशिष्ट आक्षेप अछूता नहीं छोड़ा जिसका कि सभ्यतापूर्ण मुँह तोड़ जवाब इस पुस्तक में न आगया हो !

× × × × × ×

हमारा यह दावा कदापि नहीं कि यह 'ग्रन्थ एक दम 'मौलिक' है। अपितु यह तो- स्वर्गीय पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र, वेदव्याख्याता- पं० भीमसेन शर्म्मा, युक्तिविशारद पं० कालूराम शास्त्री, महामहोपाध्याय पं० गिरिधर शर्म्मा चतुर्वेदी, कविरत्न पं० अखिलानन्द शर्म्मा, स्वामी प्रकाशानन्द सरस्वती, स्वामी दयानन्द जी बी० ए०, एवं गोस्वामी यदुकुलभूषण शास्त्री आदि प्रसिद्ध विद्वानों के ग्रन्थों-लेखों-और विचारों का ही परिमार्जित सुसंग्रह है इस प्रकार जहां हम 'सूत्रस्येवास्ति मे गतिः' के अनुसार अपनी 'गतानुगतिकता' को निःसंकोच भाव से कह देने के लिये तैयार वहां हमें यह बात प्रकट कर देने में भी किंचित् पशोपेश नहीं कि धार्म्मिक साहित्य लिये प्रस्तुत ग्रन्थ की लेखनशैली और विवेचन-पद्धति सर्वथा मौलिक नहीं तो अभूतपूर्व अवश्य कही जासकती है। तदनुसार हमने ग्रन्थ के मसाले को अतीव ठोस बनाने के विचार से अनावश्यक विस्तार से यथाशक्य परहेज़ किया है और पुरानी-नई-खड़ी-बैठी-ठेठ और खिचड़ी सभी प्रकार की प्रचलित भाषाओं को एक समान पूज्य [redacted] है क्योंकि जब पुराणों ने परमपिता परमात्मा को 'ए[redacted] अनुसार नाम रूप उपाधि भेद से नानाविध बतलाते

चुस्त पौराणिक के लिये वन्दनीया मातृ-भाषा के किसी एक कल्पित रूप के झमेले में पड़ कर उसके उदार एवं व्यापक स्वरूप की अवहेलना करना— कहां तक उचित होसकता था, इस लिये हमने न तो अनायास स्फुरित सुप्रसिद्ध शब्दों को काठ मार कर उन्हीं के पर्य्यायों का तीन सौ साठ बार पाठ करते हुवे 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' दिखाने का प्रयास किया है। और नाहीं किसी शब्द को ज़बरदस्ती चोली पहिनाकर 'खड़ी बोली की टोली' में खड़ा करने का साहस दिखाया है किन्तु स्वभावतः जब जैसा सूझा वैसा ही लिख डाला। अब समालोचक-चक्र-चूड़ामणि चाहे इसे 'चूं चूं का मुरब्बा' कहें और चाहे पतितपावनी 'त्रिवेणी की अविच्छिन्न धारा'! हमारे लिये सब दूषण भूषण हैं, क्योंकि कविसम्राट् तुलसीदास जी की—

'कवित विवेक एक नहि मोरे। सत्य कहौं लिखि कागज कोरे।'

—वाली उक्ति ठीक २ हम पर चरितार्थ होती है।

× × × × × ×

यहां यह बता देना भी अनुचित न होगा कि प्रस्तुत ग्रन्थ उन पण्डित महानुभावों के लिये प्रकाशित नहीं किया जा रहा है जो कि अपनी तर्क तोमर की तीव्र धार से बाल की खाल उतार डालने की शक्ति रखते हुवे भी पुराण-निन्दकों की उपेक्षा कर सकते हैं! तथा— नाहीं उन धन कुबेरों के लिये है जो कि गुदगुदे गदेलों पर धन को पीनक में ऊंघते हुवे मरने की भी फुरसत नहीं रखते और पुराण-साहित्य पर निरन्तर चलते हुवे कुठाराघात का जिन्हें स्वप्न में भी ध्यान नहीं आता,— किन्तु यह पुस्तक तो उन लोगों के लिये है जो पुराणों की रक्षा द्वारा अपने पूर्वजों की कीर्ति को-अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए हृदय- और हृदय में कर्तव्य पालन का बल रखते हों!

× × × × × ×

इस के अतिरिक्त हम सुज्ञ पाठकों को ऐसा अन्ध विश्वास बांधने के लिये कभी प्रेरित नहीं कर सकते कि— इस पुस्तक में जो कुछ लिखा है वह 'ब्रह्म-वाक्य' है— बल्कि वह मिथ्या लाञ्छनों से पुराण-रक्षण का पथप्रदर्शनमात्र है, वह कहां तक सुव्यवस्थित है यह तो पाठक ही निर्णय करें— परन्तु पुराणनिन्दकों के हवाई क़िलों को छिन्न भिन्न करने के लिये 'रामबाण' है— ऐसा मेरा अनुभव है!

सम्भव क्या— निश्चित ही इस में मनुष्य बुद्धि सुलभ अनेक त्रुटियें होंगी, शब्दार्थ भाव व्यत्यय का आभास दीख पड़ेगा— एवं हमारे विचारों से भी सहमत न होने का अवसर मिल जाएगा, सुतरां जो भी दोष दीख पड़ें वे सब एकमात्र मेरे ही

समझने चाहियें। कदाचित् कुछ मौलिकता तथा मनन करने योग्य सामग्री प्रतीत होतो वह वेद, शास्त्र एवं पुराण-ग्रन्थों की महिमा का दिग्दर्शन समझना चाहिये, यही मेरी प्रार्थना है।

मैं बड़ा ही प्रसन्न हूँगा यदि कोई लिक्खाड़ इस ग्रन्थ की युक्तियुक्त आलोचना करने को कलम उठाए! परन्तु यह विस्मरणीय नहीं होगा कि— जहां तक इस ग्रन्थ का सिद्धान्तों से सम्बन्ध है वहां तक— इसकी प्रत्यालोचना का उत्तरदातृत्व किसी संस्थाविशेष पर न होकर एकमात्र मुझ पर है, जिसके लिये आवश्यकता पड़ने पर मैं अभी से तैय्यार हूँ।

मैं न लेखक हूँ, न ग्रन्थकार हूँ, पुराणों के पारायण का व्यसनी अवश्य हूँ। यह जो कुछ 'पत्रं पुष्पं' बन पड़ा है सो—

"शारद दारु नारि सम स्वामी। रामसूत्र धर अन्तर यामी।
जेहि पर कृपा करहिं जनजानी। कवि उर अजिर नचावहिं बानी।"

—के अनुसार किसी अज्ञात शक्ति की प्रेरणा का ही फल है। सो जिस प्रभु ने अब तक अपनी 'गई बहोरि गरीब निवाजू' वाली विरुदावलि का ध्यान रक्खा है वही आशुतोष कृपालु भविष्य में भी 'पूजहि मन कामना तुम्हारी' का अमर वरदान अवश्य प्रदान करेगा। बस! इसी आशावाद के सहारे यह अकिञ्चन भेंट लेकर धर्म्मप्रेमी हिन्दी साहित्य-सेवियों के सामने उपस्थित होने का साहस किया है।

जिन महानुभावों के ग्रन्थों, लेखों, किंवा विचारों से- फिर चाहे वे पुराणों के मण्डन अथवा खण्डन किसी में भी क्यों न लिखे गए हों— इस पुस्तक के लिखने में हमें सहायता मिली है मैं उन सबका आभारी हूं। यदि 'धर्म्म-प्रेस' (मेरठ) के स्वामी, मान्य पं० प्यारेलाल शास्त्री हिन्दीप्रभाकर संस्कृत प्रोफेसर मेरठ कौलिज, मुद्रण और शोधन के गुरुतरभार को तत्परता से अपने हाथ में न लेते, तो यह ग्रन्थ कदाचित् इतनी जल्दी पाठकों के हाथों तक न पहुंच पाता एतदर्थ उक्त शास्त्री जी भी धन्यवादार्ह हैं। इन्हीं शब्दों के साथ यह 'कतिपय-पंक्तियां' समाप्त हैं।

वसन्त पञ्चमी
संवत् १९९०

विनीत—
माधवाचार्य्यः

विषय-सूची—

पुराण-परिचयाध्यायः ।

(पहिला अध्याय—पृष्ठ १ से ४१ तक)

संख्याङ्क—	विषय—	पृष्ठाङ्क—
(१)	पुराण शब्द—	१
(२)	अष्टादश पुराण नाम—	४
(३)	(अष्टादश) उपपुराण—	४
(४)	(अष्टादश) औपपुराण—	५
(५)	संख्या—व्यत्यय—आभास (क्या पुराणों की संख्या अठारह से कम या ज्यादह है ?)	६
(६)	शिव और वायु—(की समस्या)	६
(७)	दो भागवत—(होनेका निराकरण)	८
(८)	वायु और ब्रह्माण्ड—	९
(९)	वायु से शिव या ब्रह्माण्ड—	९
(१०)	वह्नि और अग्नि—	१०
(११)	स्कन्द; पुराण है या उपपुराण ?	१०
(१२)	नारद, वामन, ब्रह्माण्ड, कौर्म और भागवत ?	११
(१३)	अष्टादश संख्या विज्ञान—(पुराण अठारह ही क्यों हैं ?)	१२
(१४)	क्रमव्यत्यय आभास—(क्या पुराणों का क्रम अनिश्चित है ?)	१५
(१५)	पुराण—क्रम—विज्ञान	१७
(१६)	विशिष्ट क्रम (का रहस्य)	१७
(१७)	अविशिष्ट क्रम (का रहस्य)—	१९
(१८)	वर्णसाम्य क्रम (का रहस्य)—	२१

संख्याङ्क-	विषय-	पृष्ठाङ्क-
(१९)	लक्षण-समन्वय-	२१
(२०)	ब्रह्म-पुराण (का लक्षण समन्वय)	२१
(२१)	पद्म-पुराण (,, ,, ,,)	२२
(२२)	विष्णु-पुराण (,, ,, ,,)	२२
(२३)	शिव (वायु) पुराण (,, ,, ,,)	२३
(२४)	लिङ्ग-पुराण (,, ,, ,,)	२३
(२५)	गरुड़-पुराण (,, ,, ,,)	२४
(२६)	नारद-पुराण (,, ,, ,,)	२४
(२७)	भागवत-पुराण (,, ,, ,,)	२५
(२८)	अग्निपुराण (,, ,, ,,)	२५
(२९)	स्कन्द-पुराण (,, ,, ,,)	२६
(३०)	भविष्य पुराण (,, ,, ,,)	२६
(३१)	ब्रह्म वैवर्त-पुराण (,, ,, ,,)	२७
(३२)	मार्कण्डेय-पुराण (,, ,, ,,)	२७
(३३)	वामन-पुराण (,, ,, ,,)	२८
(३४)	बाराह-पुराण (,, ,, ,,)	२८
(३५)	मत्स्य-पुराण (,, ,, ,,)	२९
(३६)	कूर्म्म-पुराण (,, ,, ,,)	२९
(३७)	ब्रह्माण्ड पुराण (,, ,, ,,)	३०
(३८)	लक्षण-समन्वय-विवेचन-	३१
(३९)	पूर्ण-पुराण- (कौन कौन हैं ?)	३१
(४०)	संभाव्य-पूर्ण-पुराण- (,, ,, ,,)	३१
(४१)	अपूर्ण-पुराण- (,, ,, ,,)	३१
(४२)	अधिक-पाठयुक्त (पुराण) (,, ,, ,,)	३१
(४३)	पुराणान्तर-पाठयुक्त (पुराण) (,, ,, ,,)	३२
(४४)	चिन्त्य-पाठयुक्त (पुराण) (,, ,, ,,)	३२
(४५)	(वर्तमान पुराणों की उपलब्ध वेदों से तुलना	३२
(४६)	(पुराणों में) न्यून अधिक-पाठ-	३३
(४७)	पद्य-संख्यान-विधि-	३४

संख्याङ्क-	विषय-	पृष्ठाङ्क-
(४८)	(पुराणों में) प्रक्षिप्त-पाठ-	३५
(४९)	अपेक्षित-प्रक्षिप्त	३९
(५०)	साम्प्रदायिक- प्रक्षिप्ताभास	३९
(५१)	निन्दा परिणत-प्रक्षिप्त-	४०
(५२)	विधर्म्मी प्रवेशित प्रक्षिप्त-	४०
(५३)	धर्म्म निर्णय में पुराणों का स्थान-	४३
(५४)	(पुराण-प्रक्रिया) से-	४३
(५५)	(मीमांसा-प्रक्रिया) से-	४५
(५६)	(न्याय-प्रक्रिया) से-	४५
(५७)	(अलङ्कार-प्रक्रिया) से-	४६
(५७)	(लौकिक-प्रक्रिया से-	४७
(५९)	(पुराणों की) वेदमूलकता-	४७

प्रमाण-संग्रहाध्यायः ।

(दूसरा-अध्याय पृ ५० से ७७ तक)

(६०)	देवकवि (के शब्दों में वेदों और पुराणों का साहचर्य्य)	५१
(६१)	गिरिधर कविराय (,, ,, ,,)	५१
(६२)	अहिन्दू कवि कादिर बख़श (,, ,, ,,)	५१
(६३)	कुतबन शेख़ (,, ,, ,,)	५१
(६४)	रस खान- (,, ,, ,,)	५१
(६५)	भूषण कवि- (,, ,, ,,)	५२
(६६)	कवि केशवदास (,, ,, ,,)	५२
(६७)	कबीर साहिब- (,, ,, ,,)	५२
(६८)	गुरु नानक जी- (,, ,, ,,)	५३
(६९)	गोस्वामी तुलसीदासजी (,, ,, ,,)	५४
(७०)	सूरदास जी- (,, ,, ,,)	५५
(७१)	पृथ्वीराज रासो(चंद्रबरदाई)(,, ,, ,,)	५५

संख्याङ्क-	विषय-	पृष्ठाङ्क-
(७२)	पञ्चदशी (के प्रमाण से पुराणों का प्रामाण्य)	५६
(७३)	(उत्तर मीमांसा शारीरिक भाष्य- (,, ,, ,,)	५६
(७४)	कृष्णयजुर्भाष्योपोद्घात(सायणीय) (,, ,, ,,)	५७
(७५)	ऋग्वेदोपोद्घात (सायणीय) (,, ,, ,,)	५७
(७६)	अथर्वभाष्योपोद्घात (सायणीय)- (,, ,, ,,)	५८
(७७)	कौटिलीय अर्थशास्त्र- (,, ,, ,,)	६०
(७८)	शुक्र-नीति- (,, ,, ,,)	६०
(७९)	वात्स्यायन भाष्य (न्यायदर्शनीय) (,, ,, ,,)	६२
(८०)	पातञ्जल-महाभाष्य- (,, ,, ,,)	६२
(८१)	शिद्धान्त-शिरोमणि- (,, ,, ,,)	६३
(८२)	महाभारत- (,, ,, ,,)	६३
(८३)	बाल्मीकीय-रामायण- (,, ,, ,,)	६६
(८४)	स्मृति ग्रन्थ (,, ,, ,,)	६६
(८५)	व्यास स्मृति- (,, ,, ,,)	६६
(८६)	गोत्तम स्मृति- (,, ,, ,,)	६७
(८७)	उशनःस्मृति- (,, ,, ,,)	६७
(८८)	याज्ञवल्क्यस्मृति- (,, ,, ,,)	६७
(८९)	मनुस्मृति (,, ,, ,,)	६७
(९०)	सूत्र-ग्रन्थ- (,, ,, ,,)	६८
(९१)	आश्वलायन-सूत्र (,, ,, ,,)	६८
(९२)	आपस्तम्ब धर्म्मसूत्र (,, ,, ,,)	६९
(९३)	उपनिषद्- (,, ,, ,,)	७०
(९४)	छान्दोग्य- (,, ,, ,,)	७०
(९५)	बृहदारण्यक- (,, ,, ,,)	७१
(९६)	वेद-ब्राह्मण-भाग (,, ,, ,,)	७१
(९७)	गोपथ- (,, ,, ,,)	७१
(९८)	शतपथ (,, ,, ,,)	७१
(९९)	तैत्तिरीयारण्यक- (,, ,, ,,)	७२
(१००)	वेद-मन्त्र-भाग- (,, ,, ,,)	७२
(१०१)	ऋग्वेद- (,, ,, ,,)	७२
(१०२)	अथर्व (,, ,, ,,)	७४

वेद-पुराण-परम्पराध्याय

तीसरा अध्याय (पृष्ठ ७८ से १०४ तक)

संख्याङ्क-	विषय-	पृष्ठाङ्क-
(१०३)	वेदों की परम्परा (कैसे आरम्भ हुई ?)	७९
(१०४)	महाप्रलय के बाद ब्रह्मा का प्रादुर्भाव-	७९
(१०५)	आदिम ओंकारात्मक वेद- (था)	८१
(१०६)	दूसरा गायत्री रूप वेद- (हुवा)	८२
(१०७)	त्रिकाण्डात्मक वेद- (तीसरा रूप हुवा)	८३
(१०८)	गुरुपरम्पराश्रुत 'श्रुति-'-	८३
(१०९)	एक में अनेकत्व का व्यवहार-	८४
(११०)	पुराणों की मौलिक सामग्री-	८५
(१११)	वेदान्तरवर्ती इतिहास—पुराण-	८५
(११२)	विनियोगवर्णित ऋषि देवता	८६
(११३)	विनियोगों की उपेक्षा से अनर्थ-(दयानन्द भाष्यसे)	८८
(११४)	एक अर्व संख्या वाला आदिम पुराण-	९२
(११५)	ब्रह्म, पद्म, विष्णु आदि नामों का व्यवहार-	९४
(११६)	आदिम पुराण के स्मर्ता या वक्ता (कौन थे ?)	९४
(११७)	वेद-पुराण-संकलन (कब और किसने किया ?)	९६
(११८)	वर्तमान-पुराणों के आदिम श्रोता वक्ता	१०१
(११९)	ब्रह्म-पुराण- " " " "	१०१
(१२०)	पद्म-पुराण- " " " "	१०१
(१२१)	विष्णु-पुराण- " " " "	१०१
(१२२)	शिव-वायु-पुराण- " " " "	१०१
(१२३)	लिङ्ग पुराण- " " " "	१०१
(१२४)	गरुड पुराण- " " " "	१०२
(१२५)	नारद पुराण- " " " "	१०२
(१२६)	भागवत-पुराण- " " " "	१०२
(१२७)	अग्निपुराण- " " " "	१०२

संख्याङ्क-	विषय-					पृष्ठाङ्क-
(१२८)	स्कन्द-पुराण-	के	आदिम	श्रोता	वक्ता	१०२
(१२९)	भविष्य-पुराण-	„	„	„	„	१०२
(१३०)	ब्रह्मवैवर्त-पुराण-	„	„	„	„	१०३
(१३१)	मार्कण्डेय-पुराण-	„	„	„	„	१०३
(१३२)	वामन-पुराण-	„	„	„	„	१०३
(१३३)	बाराह पुराण-	„	„	„	„	१०३
(१३४)	मत्स्य-पुराण-	„	„	„	„	१०३
(१३५)	कूर्म्म पुराण-	„	„	„	„	१०३
(१३६)	ब्रह्माण्ड-पुराण	„	„	„	„	१०३

स्वरूपस्थापनाध्यायः।

(चौथा अध्याय पृष्ठ १०५ से ११७ तक)

संख्याङ्क-	विषय-	पृष्ठाङ्क-
(१३७)	ब्राह्मणभागके वेदत्व में तेइस प्रमाण	१०५
(१३८)	मीमांसा-(का प्रमाण)-	१०६
(१३९)	न्यायदर्शन (का प्रमाण)-	१०६
(१४०)	वैशेषिक-दर्शन (का प्रमाण)-	१०७
(१४१)	वेदान्त दर्शन (का प्रमाण)-	१०७
(१४२)	पातञ्जल महाभाष्य (का प्रमाण)-	१०७
(१४३)	आश्वलायन श्रौत सूत्र (का प्रमाण)-	१०८
(१४४)	मनुस्मृति (का प्रमाण)-	१०९
(१४५)	शाबर मीमांसा भाष्य (का प्रमाण)	१०९
(१४६)	चरणव्यूह (का प्रमाण)	१०९
(१४७)	आपस्तम्ब श्रौत सूत्र (का प्रमाण-)-	११०
(१४८)	बौधायन गृह्य सूत्र (का प्रमाण)-	११०
(१४९)	सत्याषाढ श्रौत सूत्र (का प्रमाण)-	११०
(१५०)	कौशिक-सूत्र (का प्रमाण)-	११०

संख्याङ्क-	विषय-		पृष्ठाङ्क-
(१५१)	कात्यायन-सूत्र (का प्रमाण)-		११०
(१५२)	सायणाचार्य्य भाष्य (का प्रमाण)		१११
(१५३)	वात्स्यायन भाष्य (का प्रमाण)-		१११
(१५४)	शतपथ (का प्रमाण)		१११
(१५५)	ब्राह्मण भाग के वेदत्व में आठ युक्तियां		१११
(१५६)	हुज्जतों की मरम्मत		११३
(१५७)	वेदों में अष्टादश पुराणों के नाम-		११४
(१५८)	ब्रह्म-पुराण—	(का नाम)-	११४
(१५९)	पद्म-पुराण—	(का नाम)-	११४
(१६०)	विष्णु-पुराण—	(का नाम)-	११५
(१६१)	अग्नि पुराण—	(का नाम)-	११५
(१६२)	भविष्य-पुराण—	(का नाम)-	११५
(१६३)	गरुड पुराण—	(का नाम)-	११५
(१६४)	कूर्म्म पुराण—	(का नाम)-	११५
(१६५)	मत्य-पुराण—	(का नाम)-	११६
(१६६)	वाराह पुराण—	(का नाम)-	११६
(१६७)	वामन पुराण—	(का नाम)-	११६
(१६८)	ब्रह्माण्ड पुराण—	(का नाम)-	११६

कर्तृनिर्णयाध्यायः।

(पांचवां अध्याय-पृष्ठ ११८ से १५१ तक)

संख्याङ्क-	विषय-	पृष्ठाङ्क
(१६९)	(पुराणों के व्यासकृत न होने में) आक्षेप और उनका समाधान	११९
(१७०)	बुद्धवर्णन का आक्षेप और उसका समाधान	११९
(१७१)	तम्बाकू वर्णन का आक्षेप और उसका समाधान	१२०
(१७२)	शंखचक्र वर्णन का आक्षेप और उसका समाधान	१२६
(१७३)	मायावादवर्णन का आक्षेप और उसका समाधान	१२८

संख्याङ्क-	विषय-	पृष्ठाङ्क-
(१७४)	शुकदेवजी की मृत्यु के आक्षेप से भागवत की नवीनता और उसका परिहार	१२६
(१७५)	महाभारत में पुराणों के अनुल्लेख का आक्षेप और उसका समाधान	१३३
(१७६)	देवी भागवत पर मुसलमान वेश्या वर्णन का आक्षेप और उसका समाधान	१३४
(१७७)	श्रीमद्भागवत पर औरंगजेबी अत्याचारों के वर्णन का आक्षेप और उसका समाधान	१३५
(१७८)	पद्मपुराण के नाम पर उपर्युक्त आक्षेप और उसका समाधान	१३६
(१७९)	व्यासकृत वेदान्तदर्शनादि से पुराणों के वैषम्य का आक्षेप और उसका समाधान	१३८
(१८०)	अत्रिस्मृति के नामपर पुराणनिन्दा का आक्षेप और उसका समाधान	१४१
(१८१)	बुद्ध के कलंकहीन वर्णन से पुराणों के बौद्धकृत होने का आक्षेप और उसका समाधान	१४२
(१८२)	स्कन्द पुराण पर जगन्नाथ जी के वर्णन का आक्षेप और उसका समाधान	१४२
(१८३)	महाभारत के पद्य से पुराणों के अनस्तित्व का आक्षेप और उसका समाधान	१४३
(१८४)	विष्णुपुराण पर पराशरकृत होने का आक्षेप और उसका समाधान	१४४
(१८५)	यवनाक्रान्त भारत वर्णन का आक्षेप और उसका समाधान	१४५
(१८६)	यवन शब्द की विद्यमानता का आक्षेप और उसका समाधान	१४६
(१८७)	सांप्रदायिक विरुद्ध वर्णनों का आक्षेप और उसका समाधान	१४६
(१८८)	भागवत के बोपदेवकृत होने का आक्षेप और उसका समाधान	१४७
(१८९)	महाभारत और पुराणों के भाषावैषम्य का आक्षेप और उसका समाधान	१४९

शैलीवर्णनाध्यायः ।

(छठा अध्याय—पृष्ठ १५२ से १८६ तक)

संख्याङ्क-	विषय-	पृष्ठाङ्क
(१६०)	शैली शब्दार्थ विवेचन-	१५२
(१६१)	(पौराणिक) शब्द विचार-	१५४
(१६२)	पौराणिक) वाक्य-विचार-	१५७
(१६३)	रोचक-वचन-	१५७
(१६४)	भयानक-वचन-	१५६
(१६५)	यथार्थ-वचन-	१६०
(१६६)	(पौराणिक) भाषा विचार	१६१
(१६७)	समाधि-भाषा	१६२
(१६८)	लौकिकी-भाषा	१६४
(१६६)	परकीया-भाषा	१७१
(२००)	(पौराणिक) अर्थ-विचार (आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक)	१७८
(२०१)	पुराण-शैलीकी विशेषता (विमिश्रण)-	१८२
(२०२)	इतिहास और धर्म्मतत्व का विमिश्रण-	१८३
(२०३)	इतिहास और भौतिक विज्ञान का विमिश्रण-	१८६

विषय-विवेचनाध्यायः ।

(सातवां अध्याय—पृष्ठ १६० से २२६ तक)

सख्याङ्क-	विषय-	पृष्ठाङ्क-
(२०४)	पुराणों के पांच विषय-	१६०
(२०५)	सर्ग (सृष्टि की उत्पत्ति)	१६१
(२०६)	(सृष्टि के विषय में) अहिन्दू मत	१६१
(२०७)	(सृष्टि के विषय में) साइन्स की दौड़ धूप-	१६२

संख्याङ्क-	विषय-	पृष्ठाङ्क-
(२०८)	(सृष्टि के विषय में) कुरान बाइबिल मत	१९३
(२०९)	(सृष्टि के विषय में) पुराण-मत	१९४
(२१०)	(सृष्टि गणना में) स्वामी दयानन्द की भारी भूल (आर्य्य सम्वत्सर अशुद्ध है)	१९६
(२११)	प्राकृत-सर्ग (महत्तत्व से तमः पर्य्यन्त छः प्रकार का है)	१९९
(२१२)	प्रतिसर्ग (स्थूल चराचर का विकाश)	२००
(२१३)	वैकृत-सर्ग (उद्भिज्जों से मनुष्यपर्य्यन्त तीन प्रकारका है)	२०२
(२१४)	सृष्टि का आदिम स्थान (आदि सृष्टि कहां उत्पन्न हुई?) 'कुरुक्षेत्र में'	२०५
(२१५)	स्वायम्भू मनु का निवास स्थान ('ब्रह्मावर्त')	२१०
(२१६)	ब्रह्मपुत्र कर्दम का आवास ('सरस्वतीतट')	२१०
(२१७)	नगर ग्राम आदि की नींव डालने वाले पृथु का स्थान ('कुरुक्षेत्रीय प्राची सरस्वती')	२१०
(२१८)	प्रलय-(कब और किस तरह होगी?)	२१४
(२१९)	वंश (ब्रह्मा से आज तक के महापुरुषों की वंशपरम्परा)	२१७
(२२०)	मन्वन्तर ('कौन कब उत्पन्न हुवा था' यह रहस्य जानने का अपूर्व विधान)	२१९
(२२१)	वंशानुचरित (प्रसिद्ध आर्य्य पुरुषों के शिक्षाप्रद जीवनों का संग्रह)	२२३

वेद-पुराण-समन्वयाध्यायः।

(आठवां अध्याय-पृष्ठ २२७ से २६४ तक)

संख्याङ्क-	विषय-	पृष्ठाङ्क-
(२२२)	सृष्टिविषयक भावों की वैदिकता-	२२८
(२२३)	विष्णु की नाभि में कमल-	२२८
(२२४)	जलज या कमल पर सृष्टि का आवास-	२२९

संख्याङ्क-	विषय-	पृष्ठाङ्क
(२२५)	सृष्टि के आदिम पुरुष ब्रह्मा जी-	२२६
(२२६)	ब्रह्मा से दश महर्षि-	२२६
(२२७)	उक्त महर्षियों की अलौकिक उत्पत्ति-	२३०
(२२८)	प्रजापति दक्ष-	२३०
(२२९)	मानव सृष्टि के प्रथम सम्राट्-पृथु	२३०
(२३०)	इन्द्र ने पर्वतों के पक्ष काटे-	२३१
(२३१)	दक्ष यज्ञ में शिव का अपमान-	२३१
(२३२)	भग की आंखें और पूषा के दांत (टूटे)	२३१
(२३३)	इन्द्र-वृत्रासुर संग्राम-	२३२
२३४)	दधीचि की हड्डी से वज्र निर्माण-	२३२
(२३५)	नमुचि दैत्य का वध-	२३२
(२३६)	त्वष्टा का पुत्र विश्वरूप (तीन शिर छः आंख तीन मुख थे)	२३३
(२३७)	वेद विद्या के चमत्कार-	२३३
(२३८)	वृद्ध च्यवन युवा होगया-	२३३
(२३९)	कटा मस्तक जोड़ दिया-	२३४
(२४०)	कटजाने पर लोहे को टांग जोड़ दी-	२३५
(२४१)	मृत को जीवित कर दिया-	२३५
(२४२)	हज़ार वर्ष की आयु-	२३६
(२४३)	वैदिक देवतावाद-	२३६
(२४४)	देवताओं की श्रेणियें-	२३६
(२४५)	देवताओं का निवास-	२३६
(२४६)	देवता सर्वज्ञ होते हैं-	२३७
(२४७)	देवता अमर होते हैं-	२३८
(२४८)	देवताओं के विशेष गुण-	२३८
(२४९)	उनका रहन सहन-	२३९
(२५०)	देवता युवा ही रहते हैं-	२३९
(२५१)	(देवता) अनधिकारी को दीखते नहीं-	२४०
(२५२)	वेदोक्त पितृयोनि-	२४१
(२५३)	मृतों की ही पितर संज्ञा है-	२४१

संख्याङ्क-	विषय-	पृष्ठाङ्क-
(२५४)	(पितर) कहां रहते हैं-	२४२
(२५५)	पितृ-लोक की विशेषता-	२४२
(२५६)	श्राद्ध कैसे पहुंचता है ?	२४३
(२५७)	ब्राह्मण-भोजन (में वेद प्रमाण)	२४३
(२५८)	अग्निष्वात्ता 'फायर मैन' नहीं होते-	२४३
(१५९)	यमराज-	२४३
(२६०)	मालपूवा (गरमागरम और घी चूता हुवा)	२४४
(२६१)	भूतयोनि-	२४४
(२६२)	पिशाच योनि-	२४४
(२६३)	राक्षसी योनि-	२४६
(२६४)	गन्धर्व और अप्सरा	२४६
(२६५)	दिव्यशक्ति और योगशक्ति (के चमत्कार)	२४७
(२६६)	आकाश में चढना-	२४७
(२६७)	सूर्य्य में घुसना-	२४७
(२६८)	दूसरों के शरीर में घुसना-	२४८
(२६९)	वेदोक्त-तांत्रिक-विधान-	२४९
(२७०)	वशीकरण-	२४९
(२७१)	मोहन-	२४९
(२७२)	उच्चाटन	२४९
(२७३)	मारण-	२५०
(२७४)	वैदिक-अवतार-वाद	२५१
(२७५)	मत्स्य (अवतार का वर्णन)	२५१
(२७६)	कूर्म्म (" " ")	२५१
(२७७)	वराह (" " ")	२५२
(२७८)	नृसिंह (" " ")	२५२
(२७९)	वामन (" " ")	२५२
(२८०)	परशुराम (" " ")	२५३
(२८१)	रामचन्द्र (" " ")	२५३
(२८२)	अयोध्या-	२५३

संख्याङ्क-	विषय-	पृष्ठाङ्क
(२८३)	सरयू नदी-	२५३
(२८४)	महाराजा दशरथ	२५३
(२८५)	शक्तिरूप सीता की वन्दना-	२५३
(२८६)	शिवधनुर्भङ्ग	२५४
(२८७)	रामविवाह-	२५४
(२८८)	विश्वामित्रयज्ञरक्षा-	२५४
(२८९)	वनगमन-	२५४
(२९०)	सीताहरण-	२५४
(२९१)	रावण (दश मुख दश शिर)	२५४
(२९२)	सीता की अग्निपरीक्षा-	२५५
(२९३)	रामराज्य-	२५५
(२९४)	कृष्णावतार-	२५५
(२९५)	विद्याध्ययन-	२५५
(२९६)	माखनलीला-	२५५
(२९७)	चीरहरण-	२५६
(२९८)	कालीयदमन-	२५६
(२९९)	कृष्ण जो विष्णु थे-	२५६
(३००)	द्वारकापुरी	२५६
(३०१)	वैदिक-ग्रह-शान्ति-	२५७
(३०२)	वैदिक-प्रतिमा-पूजन-	२५८
(३०३)	मूर्ति के अङ्ग प्रत्यङ्ग	२५८
(३०४)	पत्थर में आवाहन-	२५८
(३०५)	प्राणप्रतिष्ठा-	२५९
(३०६)	मूर्ति को नमस्कार-	२५९
(३०७)	वैदिक-शकुनवाद-	२५९
(३०८)	वैदिक-वर्ण-व्यवस्था	२६१
(३०९)	विराट् के अङ्गों से चारो वर्ण-	२६१
(३१०)	वर्ण जन्म से होता है-	२६१
(३११)	केवल कर्म्म से वर्ण नहीं बदलता-	२६२

संख्याङ्क-	विषय-	पृष्ठाङ्क-
(३१२)	वेदोक्त-तीर्थ-महिमा-	२६२
(३१३)	प्रयाग में गङ्गा यमुना सङ्गम-	२६३
(३१४)	गङ्गाजल महौषधि है-	२६३
(३१५)	जगन्नाथ जी-	२६३

सन्देहाभासनिवारणाध्यायः ।

(नौवां अध्याय–पृष्ठ २६५ से ४८१ तक)

संख्याङ्क-	विषय-	पृष्ठाङ्क
(३१६)	ब्रह्मा–दुहिता–प्रसङ्ग (ब्रह्मा का सरस्वती के पीछे भागना)	२६७
(३१७)	वैदिक–स्वरूप	२६७
(३१८)	पौराणिक–स्वरूप-	२६८
(३१९)	आधिभौतिक अर्थ-	२६९
(३२०)	कुमारिलभट्ट की सम्मति-	२७०
(३२१)	स्वामीदयानन्द की सम्मति-	२७१
(३२२)	आध्यात्मिक अर्थ-	२७२
(३२३)	आधिदैविक अर्थ-	२७४
(३२४)	अन्य मत वालों से दो दो बातें	२७५
(३२५)	ब्रह्मा और बालखिल्य (पार्वती को देखकर ब्रह्मा का वीर्य्य पात और उससे साठ हजार पुत्र)	२७९
(३२६)	वैदिक–स्वरूप-	२८०
(३२७)	पौराणिक–स्वरूप-	२८१
(३२८)	(दोनों स्वरूपों की) तुलना	२८२
(३२९)	वास्तविक–भाव-	२८३
(३३०)	असुरों का ब्रह्मा से बलात्कार-	२८५
(३३१)	वैदिक स्वरूप-	२८५
(३३२)	पौराणिक स्वरूप-	२८५
(३३३)	वास्तविक–भाव-	२८६

संख्याङ्क-	विषय-	पृष्ठाङ्क-
(३३४)	वृन्दा-विष्णु-समागम	२८८
(३३५)	वैदिक-स्वरूप	२८८
(३३६)	पौराणिक-स्वरूप	२९०
(३३७)	आधिभौतिक (भाव)	२९१
(३३८)	आधिदैविक (भाव)	२९५
(३३९)	ब्रह्मदृष्टि से- (उक्त कथा का परीक्षण)	२९६
(३४०)	पुरुषदृष्टि से-(„ „ „)	२९७
(३४१)	मोहिनी रूप में छल कपट (असुरों को अमृत से वंचित रक्खा	३००
(३४२)	वैदिक-स्वरूप	३००
(३४३)	पौराणिक-स्वरूप-	३०१
(३४४)	(उक्त कथा का) विवेचन	३०३
(३४५)	जलमें वीर्यस्खलन (रासलीला में कृष्ण का वीर्यपात और उससे ' विराट् ' जन्म)	३०५
(३४६)	वैदिक-स्वरूप	३०६
(३४७)	पौराणिक-स्वरूप	३०६
(३४८)	मायामोह का दुरुपदेश (दैत्यों से कपटाचार किया)	३०७
(३४९)	वैदिकस्वरूप	३०८
(३५०)	पौराणिक-स्वरूप	३०८
(३५१)	बली से छल-(वामन बन कर ठग्गी की)	३०९
(३५२)	वैदिक-स्वरूप	३०९
(३५३)	पौराणिक-स्वरूप	३१०
(३५४)	वृकासुर से कपट-	३१२
(३५५)	वैदिक-स्वरूप	३१३
(३५६)	पौराणिक-स्वरूप	३१३
(३५७)	कृष्ण की माखन चोरी	३१४
(३५८)	वैदिक स्वरूप	३१४
(३५९)	पौराणिक-स्वरूप	३१५
(३६०)	चीरहरण-	३१८
(३६१)	वैदिक-स्वरूप	३१८

संख्याङ्क-	विषय	पृष्ठाङ्क
(३६२)	पौराणिक-स्वरूप	३१८
(३६३)	रासलीला-	३२२
(३६४)	वैदिक-स्वरूप	३२२
(३६५)	पौराणिक स्वरूप	३२४
(३६६)	परीक्षित की दो जिज्ञासाएं और उनका उत्तर	३२८
(३६७)	श्रीधरस्वामी की सम्मति	३३३
(३६८)	रास (लीला) से सृष्टि रचना का सम्बन्ध	३३४
(३६९)	वास्तविक भाव	३३५
(३७०)	परीक्षित प्रश्न का समन्वय	३३७
(३७१)	ब्रह्मदृष्टि से- (रासलीला का परीक्षण)	३३८
(३७२)	योगिराज दृष्टि से (,, ,, ,,)	३३९
(३७३)	पुरुषदृष्टि से (,, ,, ,,)	३४२
(३७४)	कुब्जा समागम-	३४४
(३७५)	वैदिक-स्वरूप	३४५
(३७६)	पौराणिक-स्वरूप	३४५
(३७७)	ब्रह्मदृष्टि से- (उक्तलीला का परीक्षण)	३४९
(३७८)	पुरुषदृष्टि से- (,, ,, ,,)	३५०
(३७९)	अनेक मुनि गोपी बने	३५२
(३८०)	वैदिक-स्वरूप-	३५३
(३८१)	पौराणिक-स्वरूप-	३५३
(३८२)	शिवलिङ्ग की उत्पत्ति-	३५४
(३८३)	पौराणिक स्वरूप-	३५४
(३८४)	वैदिक स्वरूप	३५५
(३८५)	वास्तविक भाव-	३५६
(३८६)	शिव शब्द का अर्थ	३५७
(३८७)	लिङ्ग शब्द का अर्थ	३५८
(३८८)	'भग' (जलाधारी) शब्द का अर्थ	३५९
(३८९)	शिवपुराण का निर्वचन	३६०
(३९०)	आकार निरूपण (शिवलिङ्ग अण्डाकार ? क्यों)	३६१

संख्याङ्क-	विषय	पृष्ठाङ्क-
(३९१)	ब्रह्मा और विष्णु में विवाद (शिवलिङ्ग का ओर छोर न मिला)	३६१
(३९२)	दारुक बन में दिगम्बर शिवजी	३६३
(३९३)	उक्तलीला का परिणाम	३७१
(३९४)	आध्यात्मिक अर्थ	३७३
(३९५)	आधिभौतिक अर्थ	३७५
(३९६)	आधिदैविक अर्थ	३७६
(३९७)	पुरुषदृष्टि से- (उक्तलीला का परीक्षण)	३७७
(३९८)	उक्त कथा से शिक्षाएं-	३७८
(३९९)	महानन्दा वेश्या से सम्भोग-	३७९
(४००)	पौराणिक स्वरूप	३७९
(४०१)	ब्रह्म-दृष्टि से- (उक्तलीला का परीक्षण)	३८३
(४०२)	पुरुषदृष्टि से-(,, ,, ,,)	३८४
(४०३)	मोहनी को देख कर (शिव का) वीर्य्यपात-	३८५
(४०४)	वैदिक स्वरूप	३८६
(४०५)	पौराणिक स्वरूप	३८७
(४०६)	वास्तविक भाव-	३८८
(४०७)	त्रिदेव और अनसूया (ब्रह्मा विष्णु महेश की अनसूया से रतिकामना)	३९२
(४०८)	पौराणिक-स्वरूप	३९२
(४०९)	वास्तविक भाव	३९४
(४१०)	आध्यात्मिक भाव	३९६
(४११)	त्रिदेव को शाप- (ब्रह्मा की पत्नी स्वरा ने त्रिदेव को जड़ बना दिया)	३९७
(४१२)	पौराणिक-स्वरूप	३९८
(४१३)	वैदिक स्वरूप	३९९
(४१४)	वास्तविक-भाव	४००
(४१५)	बेटी, मां, और बहिन से विवाह (?)	४०२
(४१६)	वैदिक-स्वरूप	४०३
(४१७)	पौराणिक-स्वरूप	४०४

संख्याङ्क-	विषय-	पृष्ठाङ्क-
(४१८)	वास्तविक भाव	४०५
(४१९)	त्रिदेव का वृक्षों में आवास	४०७
(४२०)	वैदिक-स्वरूप	४०७
(४२१)	पौराणिक स्वरूप	४०८
(४२२)	वास्तविक भाव	४०८
(४२३)	इन्द्र और अहल्या	४०९
(४२४)	वैदिक-स्वरूप	४०९
(४२५)	पौराणिक-स्वरूप-	४१०
(४२६)	वास्तविक-भाव-	४११
(४२७)	ऐतिहासिक-समन्वय-	४१२
(४२८)	विश्वरूप वध से (इन्द्र को) ब्रह्महत्या	४१९
(४२९)	वैदिक स्वरूप	४१९
(४३०)	पौराणिक-स्वरूप	४२०
(४३१)	विवेचन (दोनों स्वरूपों पर तुलनात्मक विचार)	४२१
(४३२)	वृत्र वध से ब्रह्महत्या-	४२३
(४३३)	वैदिक स्वरूप	४२३
(४३४)	पौराणिक-स्वरूप	४२४
(४३५)	(उक्त कथा का) वैज्ञानिक और ऐतिहासिक विवेचन	४२६
(४३६)	यास्क की सम्मति	४२६
(४३७)	दयानन्द का वाक्छल	४२६
(४३८)	हत्या और प्रायश्चित्त	४२७
(४३९)	(इन्द्रकृत) भ्रूण हत्या का उद्योग	४२८
(४४०)	वैदिक-स्वरूप	४२८
(४४१)	पौराणिक-स्वरूप	४३०
(४४२)	वास्तविक-भाव	४३२
(४४३)	ऐतिहासिक समन्वय	४३४
(४४४)	चन्द्रमा और तारा (चन्द्रदेव का गुरुपत्नी धर्षण)	४३५
(४४५)	वैदिक-स्वरूप	४३५

संख्याङ्क-	विषय-	पृष्ठाङ्क-
(४४६)	पौराणिक-स्वरूप-	४३६
(४४७)	आध्यात्मिक अर्थ-	४३६
(४४८)	ऐतिहासिक-समन्वय-	४३७
(४४९)	बृहस्पति और ममता (सगर्भाउतथ्यपत्नी से बृहस्पति का बलात्कार)	४३७
(४५०)	वैदिक-स्वरूप	४३८
(४५१)	पौराणिक-स्वरूप	४३८
(४५२)	वास्तविक-भाव	४३९
(४५३)	भाई बहिन का विवाह	४४१
(४५४)	पौराणिक-स्वरूप	४४१
(४५५)	यज्ञ का दक्षिणा से विवाह-	४४२
(४५६)	पौराणिक-स्वरूप	४४२
(४५७)	वैदिक-स्वरूप	४४३
(४५८)	विवेचन	४४४
(४५९)	सुद्युम्न का (पुरुष से) स्त्री होजाना	४४४
(४६०)	पौराणिक-स्वरूप	४४५
(४६१)	समाधान	४४६
(४६२)	दो लड़कियों का बाप औरत होगया	४४८
(४६३)	युवनाश्व की कोख से मांधाता	४४८
(४६४)	पौराणिक-स्वरूप	४४९
(४६५)	समाधान-	४४९
(४६६)	पुरुष के पेट से दो बच्चे-	४५०
(४६७)	मनु की नाक से इक्ष्वाकु	४५०
(४६८)	समाधान	४५०
(४६९)	मृत वेन को मथने से पुत्र	४५२
(४७०)	पौराणिक-स्वरूप-	४५२
(४७१)	समाधान-	४५२
(४७२)	अरणि का से शुकदेव जन्म-	४५५
(४७३)	पौराणिक-स्वरूप-	४५५

संख्याङ्क-	विषय-	पृष्ठाङ्क-
(४७४)	समाधान-	४५६
(४७५)	घड़े से अगस्त्य और वशिष्ठ (जन्म)	४५७
(४७६)	वैदिक-स्वरूप-	४५७
(४७७)	सायणभाष्योद्धृत इतिहास-	४५८
(४७८)	सगर के साठ हजार बेटे-	४५८
(४७९)	वैदिक-स्वरूप	४५९
(४८०)	सौ कौरव-	४६०
(४८१)	बुढापे के बदले जवानी (ययाति ने अपने पुत्र पुरु से ली)	४६०
(४८२)	समाधान-	४६१
(४८३)	धृष्टद्युम्न और द्रौपदी (का अग्नि कुण्ड से जन्म)	४६२
(४८४)	मत्स्यगन्धा और मत्स्यराज	४६२
(४८५)	गोकर्ण जन्म (गाय से मनुष्य की उत्पत्ति)	४६२
(४८६)	समाधान-	४६३
(४८७)	चौपाया बच्चा	४६३
(४८८)	तीन टांग का अर्धनारीश्वर	४६३
(४८९)	रीछ और गधे का मिक्स-	४६४
(४९०)	ब्रह्मा के कानों से दिशाओं की उत्पत्ति-	४६४
(४९१)	सात महीने की लड़की के शिर से बच्चा पैदा हुवा-	४६५
(४९२)	शिल्प निन्दा का आक्षेप-	४६५
(४९३)	समाधान-	४६६
(४९४)	मद्य मांस से देवी का पूजन-	४६७
(४९५)	समाधान-	४६७
(४९६)	(पुराणों में) जुआ खेलने की आज्ञा-	४६९
(४९७)	समाधान-	४६९
(४९८)	वेश्याओं की मुक्ति का अपूर्व उपाय-	४७१
(४९९)	समाधान-	४७१
(५००)	पुराणों में शास्त्रों का खण्डन	४७२
(५०१)	समाधान	४७४
(५०२)	आयुर्निर्णय-	४७५

संख्याङ्क-	विषय-	पृष्ठाङ्क-
(५०३)	वेदोक्त आयुष्यवाद	४७६
(५०४)	आयुष्य पर मनुष्य का अधिकार	४७८
(५०५)	आयुष्य पर युग का प्रभाव-	४७६
(५०६)	देव पितर और मनुष्यायुः का भेद-	४८०
(५०७)	हम देवताओं के वंशज हैं-	४८०
(५०८)	संवत्सर शब्द का अर्थ 'दिन' भी है-	४८१
(५०६)	शत सहस्र आदि शब्दों का अर्थ 'बहुत' भी है-	४८३
(५१०)	सौ वर्ष की आयुः का तात्पर्य्य	४८४
(५११)	आयुष्य विषय में विदेशियों की राय	४८७
(५१२)	आधुनिक दीर्घजीवी मनुष्यों का ब्यौरा	४८७

विश्व-विद्या-निरूपणाध्यायः।

(दशवां अध्याय-पृष्ठ ४१० से ५२८ तक)

संख्याङ्क-	विषय-	पृष्ठाङ्क-
(५१३)	भू-मण्डल-विद्या-	४६१
(५१४)	(पौराणिक-भूगोल पर पहिला आक्षेप) अनुपलब्धि-	४६२
(५१५)	(पौराणिक-भूगोल पर दूसरा आक्षेप) असम्भवता-	४६२
(५१६)	(पौराणिक-भूगोल पर तीसरा आक्षेप) परिमाण-वैपरीत्य-	४६३
(५१७)	पौराणिक-भूगोल शैली-	४६५
(५१८)	पौराणिक-भूगोल के पारिभाषिक-शब्द-	४६६
(५१६)	'भूमण्डल' शब्द का परिभाषार्थ-	४६८
(५२०)	सातों द्वीप और सातों समुद्र कहां हैं ?-	४६८
(५२१)	लक्षणा से असम्भवता परिहार-	४६६
(५२२)	परिमाण ठीक हैं-	५००
(५२३)	पचास करोड़ योजन भूमण्डल-	५०१
(५२४)	हमारी-पृथ्वी-	५०१

संख्याङ्क-	विषय-	पृष्ठाङ्क-
(५२५)	सातद्वीप-(वर्तमान समयमें कौनसे माने जासकतेहैं?)	५०२
(५२६)	सातसमुद्र-(,, ,, ,, ,, ,,)	५०२
(५२७)	पार्थिव-सुमेरु-(,, ,, कौनसा माना जासकता है)	५०३
(५२८)	हमारी पृथ्वी का परिमाण-	५०३
(५२९)	खगोल-विद्या-	५०६
(५३०)	खगोल की विस्तृत सीमा-	५०७
(५३१)	शनि गुरु और मङ्गल की विशेषता-	५०७
(५३२)	विज्ञान-विद्या-	५०९
(५३३)	ज्वारभाटा- (कब? कितना? और क्यों? होता है)	५१०
(५३४)	वर्षा- (कब? और क्यों? होती है!)	५१०
(५३५)	दक्षिणोत्तर अयन (रात दिनके घटने बढ़नेका कारण)	५११
(५३६)	तड़ित् (बिजली) (का प्रभाव और उससे बचने के उपाय)	५१२
(५३७)	ध्रुव का आकर्षण-	५१३
(५३८)	वनस्पति-चैतन्य (उद्भिज्जों में भी जीव है)	५१४
(५३९)	सूर्य्य में काला धब्बा-	५१४
(५४०)	छन्दः शास्त्र-	५१५
(५४१)	व्याकरण-शास्त्र	५१६
(५४२)	अलङ्कार-शास्त्र-	५१६
(५४३)	शब्द-कोश-	५१७
(५४४)	निरुक्त शास्त्र	५१८
(५४५)	आयुर्वेद-	५२०
(५४६)	गजायुर्वेद-	५२०
(५४७)	अश्वायुर्वेद-	५२०
(५४८)	गवायुर्वेद-	५२१
(५४९)	विषचिकित्सा-	५२१
(५५०)	स्वप्न-ज्ञान-	५२२
(५५१)	शकुन-शास्त्र-	५२२
(५५२)	सामुद्रिक-शास्त्र-	५२३

संख्याङ्क-	विषय-	पृष्ठाङ्क-
(५५३)	गृहशिक्षा-	५२३
(५५४)	पुराणों के सम्बन्ध में प्रतिष्ठित आर्यसमाजियों के उद्गार	५२६
(५५५)	ग्रन्थकर्तुर्वंशवर्णनम्	५२६
(५५६)	श्री सनातनधर्म्म सभा नैरोबी (अफरीका) का संक्षिप्त परिचय-	५३०
(५५७)	पुराण दिग्दर्शन के सम्बन्ध में-	५३३
(५५८)	दान देने वाले सज्जनों की नामावलि	५३५
(५५९)	शुद्धि-पत्र-	५३७
(५६०)	'क्यों' ग्रन्थ का विज्ञापन (टाइटिल की पीठ पर)	

——:o:——

आरंभिक पृष्ठ संख्या (चित्रादि सहित)-	५८
ग्रन्थान्तर्गत पृष्ठ संख्या-	५४२
समग्र पृष्ठ-	६००

पुस्तक मिलने का पता—

पं० माधवाचार्य्य शास्त्री

मु० पो० कौल ज़िला करनाल । P. O. KAUL [KARNAL]

* श्रीगणेशाय नमः *

अथ

पुराण-दिग्दर्शनम्

—आरभ्यते ।

मङ्गलाचरणम्

धर्म्मदृढबद्धमूलो, वेद-स्कन्धः पुराणशाखाढ्यः ।
क्रतुकुसुमो मोक्षफलो, मधुसूदनपादपो जयति ॥१॥

यो वै पुराण-पुरुषो ह्यवतीर्य्य लोके,
प्राप्तं विचिन्त्य कलिकालमनर्थमूलम् ॥
तेने त्रयीं तदुपबृंहण-हेतवे च,
चक्रे पुराणकलनं स कथं न वन्द्यः ॥२॥

मन्दोऽप्यहं यत्कृपया गभीरं, पुराण-सिन्धुं मथितुं प्रवृत्तः ।
प्रणम्य तच्श्री गुरुपादपद्मं, 'पुराण-दिग्दर्शन'-मातनोमि ॥३॥

ग्रन्थविषयसारः

* ग्रन्थेऽस्मिन् (१) नाम-लक्षम-प्रभृति-परिचयो (२) ह्यासप्रामाण्यवादः,
(३) पारम्पर्य्यं (४) स्वरूपः (५) प्रवचन-सहिता व्यासकर्तृत्वसिद्धिः ।
(६) शैलीनां सद्विवेको (७) विषय-विवरणं (८) वेद-मन्त्रार्थ-साम्यं,
(९) सन्देहाभासनाशो(१०)ऽखिल-विषयचयो-दिङ्निबन्धा निबद्धाः ॥४

☞ * अस्मिन् पद्ये कोष्ठगताः सर्वेऽप्यङ्का अस्य ग्रन्थस्याध्यायसंख्यासूचका ज्ञातव्याः ।

ग्रन्थ-प्रयोजनम्

मेयो * दयानन्द-समाज-भृत्यकैः,
पुराण-निन्दा क्रियते ह्यहर्निशम् ।
तथापि चेतांसि मनीषिणामहो !
कथं न दूयन्त इति स्म कौतुकम् ॥५॥

कृतिर्ममैषा विदुषां समाजे,
भवेत्प्रशस्या बत ! निन्दिता वा ।
नूनं पुराणार्थ-विदूषकाणां,
कृते परं स्यात्सुविभीषिकेयम् ॥६॥

अतो यथास्मत्प्रपितामहाद्यै-
र्महर्षिभिः प्राणपणेन नित्यम् ।
कृता पुरावेद-पुराण-रक्षा,
कार्य्या तथास्माभिरितीह हेतुः ॥७॥

ग्रन्थ-सम्बन्ध-विनिर्णयः

पुराण-तत्त्वेन तु बोध्य-बोधको,
विनिन्दकैश्चापि हि शास्य-शासकः ।
सुपाठकैः साकमु ! पाठ्य-पाठको,
ज्ञेयोऽत्र सम्बन्धविनिर्णयो बुधैः ॥८॥

ग्रन्थाधिकारिणः

ये केऽपि संप्रति च पान्ति पुराणवृन्दं,
सद्विद्यया प्रतिभया च धनेन वापि ।
तेषां कृते लघुतरो हि मम प्रयासो,
ज्ञेयास्त एव विबुधा अधिकारिणोऽस्य ॥९॥

टिप्पणी * 'मदर-इन्डिया' 'देवताओं के गुलाम' प्रभृति मिथ्याग्रन्थानां कर्त्री दुर्विख्याता 'मिस मेयो' नाम्नी पाश्चात्यप्रचारिका ।

पुराण-परिचयाध्यायः ।

(पहिला अध्याय)

नाम-संख्या-क्रम-न्यास, लक्षणानां समन्वयः ।
न्यनाधिक्याप्रमाणत्व-परिहार इहोच्यते ॥

पुराण-शब्द

किसी पदार्थ के निर्णय में उसका नाम भी गुण अथवा अवगुण बताने का एक साधन माना जाता है। प्राचीन काल से यह प्रथा चली आती है कि किसी भी पदार्थ-विशेष का वैसा ही नामकरण-संस्कार किया जाए जो कि अधिक से अधिक सीमा तक उसके गुण और अवगुणों को प्रकट करने की शक्ति रखता हो, ग्रन्थ लेखक एवं कवि अपने निबन्धों का नाम चुनने में बहुत सोच विचार किया करते हैं और चाहा करते हैं कि ग्रन्थ का विस्तृत प्रतिपाद्य विषय हमारे निर्वाचित (कम से कम अक्षरों वाले) नाम से अभिव्यक्त होसके। शायद विज्ञ पाठकों को यह बताने की आवश्यकता न हो कि हमारे संस्कृत साहित्य के ग्रन्थकारों को नाम चुनने में प्रायः सफलता मिली है, जहां वेद, उपनिषद्, स्मृति और पुराण आदि नाम अपने २ प्रतिपाद्य विषयों को स्पष्टतया घोषित कर देते हैं तथा उक्त शब्दों के निर्वचनमात्र जान लेने से मूल ग्रन्थों के विषयों का भान होजाता है, वहां रघुवंश, कुमार-संभव, मुद्राराक्षस आदि आधुनिक ग्रन्थ भी इसी शैली का अनुसरण करते हुवे अपने २ प्रतिपाद्य विषयों का पता देते हैं। यही क्यों? हमारे पूर्वजों ने इस नामकरणशैली की प्रथा को ऐसी सुव्यवस्थित बनाने की चेष्टा की थी कि जिसे ध्यानपूर्वक देखने पर चकित सा रहना पड़ता है। रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थों में नायक प्रतिनायक तथा अन्यान्य मुख्य पात्रों तक के नाम ऐसे विलक्षण हैं कि जो उस २ व्यक्ति के चरित्रों की विशेषता को सहसा प्रकट कर देते हैं। 'राम' जहां मर्य्यादाओं के आदर्शपालक होने के कारण प्रत्येक प्राणी के चित्त में रमण करने वाले थे, वहां 'रावण' भी अपने अन्वर्थ गुण में कम न था

अर्थात्—प्राणिमात्र का सर्वोपरि रुलाने वाला था। 'युधिष्ठिर' को महाभारत के युद्ध में स्थिर होना पड़ा और उसने अपनी इस स्थिरता को अनेक धर्म्मसंकटों के अवसरों में भी हाथ से न जाने दिया। 'दुर्योधन' भी अपने नाम के अनुरूप योधन (योद्धा) तो अवश्य था परन्तु दुर्=दुष्ट खोटा-अन्याययुक्त युद्ध ही उसे प्रिय था, 'भीम' के समान भयङ्कर और 'अर्जुन' के समान अपने गुणों से दूसरों को अपना बनाने वाला वीर दूसरा मिलना कठिन है, यह दोनों विशेषताएं दुश्शासन की छाती फाड़ कर रुधिर की चुल्लू भरते हुवे भीम के दर्शन करने पर और अपने रथ के सारथ्य के लिये जगद्बन्धु श्रीकृष्ण को नियुक्त करते हुवे अर्जुन को देख कर स्फुट हो जाती हैं। द्रौपदी जैसी प्रातःस्मरणीया अबला को भरी सभा में नग्न करने में ही जिसके शासन की शान बरकरार रहती हो उससे बढ़कर 'दुश्शासन' और कौन हो सकता है। इसी प्रकार दूसरे व्यक्तियों के नाम और गुण में समता है।

यहां तक यह बताने की चेष्टा की गई है कि प्राचीन समय में आर्य्य जाति में बहुत कुछ सोच समझ कर नामकरण-करने की रीति प्रचलित थी अब भले ही हज़ारों विद्यासागर, विद्याधर, वेदप्रकाश और वेदालङ्कार नाम वाले वज्रमूर्ख मिलते हों, और बहादुरसिंह नामधारी चूहों की खड़खड़ाहट को चोर की सेंध समझ कर लिहाफ़ से मुँह ढांप लेते हों परन्तु प्राचीन समय में 'यथा नाम तथा गुणः' सिद्धान्त पर बहुत बल दिया जाता था। खास कर ग्रन्थों के नाम-करण में तो कभी भी असावधानी नहीं की जाती थी यह बात संस्कृत साहित्य के मर्मज्ञ भली भांति जानते हैं। ईश्वर कृपा से ग्रन्थों के सम्बन्ध में तो अभी तक भी इस शिष्ट शैली का बहुत कुछ पालन किया जा रहा है अब भी सिद्धहस्त लेखक अपने ग्रन्थ का नाम उस ग्रन्थ की विशेषता व्यक्त कर सकने योग्य ही रखते हैं। इस लिये हम सर्वप्रथम पुराण शब्द की व्युत्पत्ति का विचार करना आवश्यक समझते हैं।

'पुराण'—शब्द, पुरा अन्वयपूर्वक णीञ् (प्रापणे) धातु से ड प्रत्यय करने पर बनता है। पुरा+नी+ड यह तीनों जुज व्याकरण शास्त्र के नियमानुसार 'पुराण' रूप में परिवर्तित होजाते हैं। अथवा पुरा अव्यय से 'पुराभवं'=(पहिले होने वाला) अर्थ में 'ट्यु' प्रत्यय होजाने पर सिद्ध होजाता है।

पाणिनीय व्याकरण में—

(क) सायं चिरं प्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च (४।३।२३) (ख) पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन। २।१।४९) (ग) पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु (४।३।१०५) (घ) युवोरनाकौ (७।१।१) (ङ) अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि (८।४।२)

यह पांच सूत्र 'पुराण' शब्द की सिद्धि में काम आते हैं। शास्त्र विशेषण होने के कारण यह शब्द 'नपुंसक' लिङ्ग प्रयुक्त हुवा है।

निरुक्तकार यास्काचार्य्य ने अपने परम प्रसिद्ध वेदाङ्गभूत निरुक्त ग्रन्थ में 'पुराण' शब्द का निर्वचन इस प्रकार किया है—

पुराणं कस्मात्-'पुरानवं' भवति।

(निरुक्त ३।१६।२४)

अर्थात्—पुराण क्यों कहा जाता है? इस लिये कि 'जो कभी पहिले नया हो' यानी वर्तमान समय में जिस की नवीनता अभीष्ट न हो। सीधे शब्दों में पुराने को पुराण कहा जाता है, प्रायः सभी कोशकार एक स्वर से इस अर्थ को स्वीकार करते हैं। प्रतन, प्रत्न, पुरातन, चिरंतन इसके पर्य्यायवाची शब्द हैं परन्तु पुराण शब्द विशेष रूप से अष्टादश ग्रन्थों में रूढसा होगया है। इस लिये अमरकोश (१।६।५) में—

'पुराणं पंचलक्षणम्।

अर्थात्—सृष्टि की उत्पत्ति और विनाश, वंशपरम्परा, मनुओं का वर्णन तथा विशिष्ट व्यक्तियों का चरित्र-यह पांच विषय जिन ग्रन्थों में मुख्यतया वर्णित हों उन्हें 'पुराण' कहते हैं—ऐसा लिखा है।

यह लक्षण वर्तमान पुराण-ग्रन्थों में सर्वथा घटित होता है, संसार की किसी भी भाषा में पुराणों के समान सृष्टि-विषय-विधायक, सर्वतोमुख ग्रन्थ देखने में नहीं आते, संस्कृत साहित्य में भी पुराणों को छोड़ कर अन्य किसी ग्रन्थ में इस प्रकार का सुसम्बद्ध एवं वैज्ञानिक सृष्टिक्रम विस्तार पूर्वक नहीं मिलता। इस लिये पुराण शब्द का वास्तविक अर्थ ही इस बात का सब से बड़ा प्रमाण है कि ये ग्रन्थ पुराने से पुराने-यहां तक कि मनुष्यादि प्राणियों की उत्पत्ति-काल से भी पूर्वतम रहस्यों का प्रत्यक्ष की भांति वर्णन करते हैं, सूर्य्य, चन्द्र, आदि ग्रह, अश्विनी आदि नक्षत्र, तारे सितारे और सियारे-कब? कैसे? किस प्रकार बने? यह सब बातें केवल पुराणों से ही जानी जा सकती हैं। इतने पर भी जो मूसलचन्द पुराणों को नवीन कहने की धृष्टता करते हैं वे न केवल पुराणों के प्रतिपाद्य विषय से ही अपरिचित हैं बल्कि पुराण शब्द की व्युत्पत्ति से और इसके साधक व्याकरण सूत्रों से भी सर्वथा अनभिज्ञ ही समझने चाहिये।

अष्टादश-पुराण-नाम

सृष्टि की उत्पत्ति के समय से आरम्भ करके प्रलय काल पर्य्यन्त ब्रह्माण्ड का क्रमबद्ध इतिहास बताने वाले, तथा इस लम्बे अर्से के बीच ब्रह्माण्ड में जो जो तात्विक परिवर्तन हुवे या होंगे उन सब का वैज्ञानिक-किन्तु सरल और विश्वस्त-वर्णन करने वाले एवं आर्य्य संस्कृति की सजीव-मुंह बोलती-प्रतिमाओं के मणि मन्दिर विरोधी भी जिनके चमत्कारों से विमुग्ध होकर सहसा उन्हें 'वास्तविक-विश्व-कोश' कहने के लिये विवश होते हैं उन सर्वगुण सम्पन्न पुराणों के नाम नीचे लिखे जाते हैं। यथाः—

ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवं च शैवं लैङ्गं सगारुडम्।
नारदीयं भागवतमाग्नेयं स्कान्दसंज्ञितम्॥
भविष्यं ब्रह्मवैवर्तं, मार्कण्डेयं सवामनम्।
वाराहं मात्स्यं कौर्मं च, ब्रह्माण्डाख्यमितित्रिषट्॥

(श्रीभागवत १२।७।२३-२४)

(१) ब्रह्म (२) पद्म (३) विष्णु (४) शिव (वायु) (५) लिङ्ग (६) गरुड़ (७) नारद (८) भागवत (९) अग्नि (१०) स्कन्द (११) भविष्य (१२) ब्रह्मवैवर्त (१३) मार्कण्डेय (१४) वामन (१५) वाराह (१६) मत्स्य (१७) कूर्म्म (१८) ब्रह्माण्ड-ये सब अठारह पुराण हैं।

उप-पुराण

पुराणों की भांति उप पुराण भी अठारह हैं। वेदों के विशेषमर्मज्ञ श्री षड्गुरु शिष्य ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'वेदार्थ दीपिका' में नृसिंह उपपुराण के श्लोक उद्धृत किये हैं। इतिवृत्त विशेषज्ञों के निर्णयानुसार षड्गुरु शिष्य का प्रादुर्भाव विक्रम की ११ वीं शताब्दी के आरम्भ में माना जाता है, इससे उपपुराणों की प्राचीनता का पता भली भांति लग जाता है। इसी प्रकार यवन जाति के विद्वान् अल्बेरूनी ने अपने भ्रमण वृत्तान्त में—नन्दा, आदित्य, सोम, साम्ब और नृसिंह आदि उपपुराणों का जिक्र किया है। यह महोदय निर्विवाद सन् १०३० ईसवी में भारत में आये थे। सभी साहित्य वेत्ता इस बात को अच्छी तरह जानते हैं। उस समय उपपुराण विद्यमान थे और पण्डित मण्डल में उनका विशिष्ट आदर था यह उपर्युक्त अल्बेरूनी के उद्धरण से विदित होता है। उपपुराणों के नाम निम्नलिखित हैं—

आद्यं सनत्कुमारोक्तं नारसिंहमथापरम् ।
तृतीयं स्कान्दमुद्दिष्टं कुमारेण तु भाषितम् ॥१॥
चतुर्थं शिवधर्म्माख्यं साक्षान्नन्दीशभाषितम् ।
दुर्वाससोक्तमाश्चर्य्यं नारदोक्तमतः परम् ॥२॥
कपिलं वामनं चैव तथैवोशनसेरितम् ।
ब्रह्माण्डं वारुणं चाथ कालिकाह्वयमेवच ॥३॥
माहेश्वरं तथा साम्बं सौरं सर्वार्थसंचयम् ।
पराशरोक्तमपरं मारीचं भास्कराह्वयम् ॥४॥

(१) आदि पुराण–सनत्कुमार का बनाया (२) नरसिंह पुराण (३) स्कन्द पुराण कुमार का बनाया (४) शिवधर्म्म पुराण–नन्दीश का बनाया (५) दुर्वासा पुराण (६) नारदोक्त पुराण (७) कपिल पुराण (८) वामन पुराण (९) औशनस पुराण (१०) ब्रह्माण्ड पुराण (११) वरुण पुराण (१२) कालिका पुराण (१३) माहेश्वर पुराण (१४) साम्ब पुराण (१५) सौर पुराण (१६) पाराशर पुराण (१७) मारीच पुराण (१८) भास्कर पुराण—ये अठारह उपपुराण हैं।

औपपुराण

औपपुराणों की संख्या भी अठारह ही है, जिनमें बृहन्नारद और खास कर हरिवंश का तो बहुत ही प्रचार है। अल्बेरूनी के वृत्तान्त में आदित्य और नन्दा (जो नन्दिकेश्वर का अपभ्रंश प्रतीत होता है—) नामक औपपुराणों का भी उल्लेख मिलता है अतः निर्विवाद यह ग्रंथ भी उतने नवीन नहीं हैं जितने कि कुतर्की लोग कहते हैं। औपपुराणों के नाम इस प्रकार हैं—

आद्यं सनत्कुमारं च नारदीयं बृहच्च यत् ।
आदित्यं मानवं प्रोक्तं नन्दिकेश्वरमेव च ॥३७॥
कौर्म्मं भागवतं ज्ञेयं वाशिष्ठं भार्गवं तथा ।
मुद्गलं कल्किदेव्यौ च महाभागवतं तथा ॥३८॥
बृहद्धर्म्मं परानन्दं बह्निं पशुपतिं तथा ।
हरिवंशं तनोज्ञेयमिदमौपपुराणकम् ॥३९॥

(बृहद् विवेक अध्याय ३)

(१) सनत्कुमार पुराण (२) बृहन्नारदीय पुराण (३) आदित्य पुराण (४) मानव पुराण (५) नन्दिकेश्वर पुराण (६) कौर्म पुराण (७) भागवत पुराण (८) वशिष्ठ पुराण (९) भार्गव पुराण (१०) मुद्गल पुराण (११) कल्कि पुराण (१२) देवी पुराण (१३) महाभागवत पुराण (१३) बृहद्धर्म्म पुराण (१५) परानन्द पुराण (१६) पशुपति पुराण (१७) वह्नि पुराण (१८) हरिवंश पुराण ये सब अठारह औपपुराण हैं।

ये सब मिल कर ५४ ग्रन्थ पुराण नाम से विख्यात हैं, इस समय लगभग ३२ ग्रन्थ यत्र तत्र छप चुके हैं जो सर्वसाधारण को सुलभता से मिल सकते हैं। कई एक ग्रन्थों का– सेठ चान्दमल हैदराबाद दक्षिण की लाइब्रेरी में— नाथद्वारे के गोस्वामियों के पुस्तकालय में– एवं काश्मीर और नैपाल के राजकीय पुस्तक भण्डार में पता लगा है। कई एक पुस्तक अभी तक हमारे देखने या सुनने में भी नहीं आए। शायद कहीं छुपे पड़े हों! अथवा वैदिक साहित्य के अन्यान्य अमूल्य रत्नों की भांति यवन बादशाहों के हमामों की धधकती आग में सदा के लिये विलुप्त होगए हों!! इस भेद को ईश्वर के अतिरिक्त अन्य कौन जान सकता है।

यद्यपि हमने प्रसङ्गवशात् यहां पुराणों के साथ २ उपपुराणों और औपपुराणों का भी उल्लेख किया है और आवश्यकतानुसार आगे भी किया जा सकता है, तथापि हमारी विवेचना की सीमा सर्व विदित और सर्व सुलभ अष्टादश पुराण ग्रन्थों तक ही परिमित है अतः मुख्यतया इन पर ही विचार किया जाता है।

संख्या-व्यत्यय-आभास

पुराणों की संख्या अठारह है, यह पूर्वोक्त नामों की गणना से भली भाँति ज्ञात होसकता है परन्तु येन केन प्रकारेण पुराणों के खण्डन की शपथ खाने वाले लोगों ने कई प्रकार के हेत्वाभास देकर पुराणों की संख्या को न्यून या अधिक बनाने का शिर तोड़ प्रयत्न किया है। यद्यपि किसी ग्रन्थ की हेयोपादेयता में संख्या का वैशिष्ट्य कुछ मूल्य नहीं रखता तथापि ऐसे स्वयम्भू समालोचक कितनी योग्यता के अधिपति होते हैं यह प्रकट करने के लिये इस विषय पर भी विचार करना अनुचित न होगा।

शिव और वायु

शङ्कावादियों का कथन है कि अग्नि, कूर्म्म और देवीभागवतादि कई पुराणों

में शिव पुराण की गणना नहीं है किन्तु इसके स्थान में वायु पुराण का नाम लिखा है परन्तु अन्यान्य पुराणों में शिव पुराण को गिना है इस प्रकार दोनों को पुराण मान लेने पर पुराणों की संख्या १६ होजाती है। इस नाम भेद पर भी शङ्कावादियों को खासी बक झक का अवसर मिल जाता है परन्तु उन्हें यह विदित नहीं कि एक ग्रन्थ के एकाधिक नाम भी हो सकते हैं। वैदिक साहित्य में चौथे वेद का नाम 'अथर्ववेद' प्रसिद्ध है परन्तु कई स्थलों पर इसे 'ब्रह्म वेद' के नाम से भी स्मरण किया गया है। यथाः—

चत्वारो वा इमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेदः।

(गोपथ पू० २।१६)

अथर्वा ऋषि द्वारा संग्रहीत होने के कारण इसे अथर्व कहते हैं और होता, अध्वर्यु, उद्गाता तथा ब्रह्मा नाम ऋत्विजों में ब्रह्माधिकृत होने के कारण इसे ही ब्रह्मवेद भी कहते हैं। संस्कृत साहित्य में भी 'उत्तर मीमांसा' या 'वेदान्त दर्शन' और 'शिशुपालवध' या 'माघ काव्य' आदि—एक २ ग्रन्थ के दो दो नाम पाये जाते हैं इसी प्रकार एक ही पुराण के शिव या वायु दो नाम हैं। यह पुराण वास्तव में एक लक्ष श्लोक संख्या वाला द्वादश संहितात्मक बृहद् ग्रन्थ था जो साक्षात् शिव भगवान् द्वारा ही उपदिष्ट हुवा था। इसके ७६ हजार पद्य तो शिव लोक में प्रसिद्ध हुवे शेष २४ हजार प्रमाण वाला अंश वायु ने भूलोक में प्रचलित किया इस लिये पुराण के दो नाम पड़ गये। जैसा कि निम्नलिखित प्रमाणों से जाना जाता हैः—

(क) **यथाशिव स्तथा शैवपुराणं वायुनोदितम्।**
शिवभक्तिसमायोगान्नामद्वयविभूषितम् ॥

(वायवीय रेवामाहात्म्य)

(ख) **तदिदं शैवमाख्यातं पुराणं वेदसम्मतम्।**
निर्मितं तच्छिवेनैव प्रथमं ब्रह्मसम्मितम् ॥४८॥

(ग) **तदेवलक्षसंख्याकं शैवसंख्याविभेदतः।**
व्यासेन तत्तु संक्षिप्तं चतुर्विंशत्सहस्रकम् ॥५५॥

अर्थात्—(क) साक्षात् शिव के समान शिवपुराण वायु ने कथन किया है वही शिव भक्ति का विधायक होने के कारण 'शिवपुराण' तथा 'वायुपुराण' इन दो नामों से विख्यात है। (ख) वेद सम्मत शिवपुराण शिव भगवान् का निर्माण किया

हुवा है। (ग) जो एक लक्ष श्लोक प्रमाण वाला था, पश्चात् व्यास जी ने २४ हजार प्रमाण में उसे संक्षिप्त किया।

दो भागवत

अठारह पुराणों में भागवत नामक पुराण के स्थान में दो ग्रन्थ गिने जाते हैं, एक श्रीमद्भागवत और दूसरा देवी भागवत। छिद्रान्वेषी महाशय इन दोनों ग्रन्थों को जुदा जुदा गिनकर पुराण संख्या को १९ बताने का प्रयास किया करते हैं। अथवा दोनों में से किसी एक को पुराण मान कर दूसरे को उपपुराण कोटि में प्रवेशित करना चाहा करते हैं। तथा वैष्णव और शाक्त सम्प्रदाय के लोगों द्वारा अपने अपने पुराण को उच्चकोटि में गिनाये जाने की चेष्टा के स्वप्न देखा करते हैं।

हमें इन विचारे अदूर-दर्शी नर-पुँगवों की विवेचना बुद्धि पर दया आया करती है कि जिन्हें संस्कृत साहित्य के साधारण से नियमों का भी रत्ती भर ज्ञान नहीं है। पुराण गणना में केवल 'भागवत' नाम ही दिया गया है, कहीं भी 'श्रीमद्' या 'देवी' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। अतः 'त्यक्तानुबन्धे सामान्यग्रहणम्' इस नियम के अनुसार भागवतत्व सामान्येन दोनों का ही ग्रहण होगा। 'भागवत' शब्द की व्युत्पत्ति भी-'भगवतो भगवत्या वा इदम्भागवतम्'-इस प्रकार दोनों पुराणों के एकत्व में प्रमाण है। श्रीमद्भागवत में पुरुष प्राधान्य से और देवी भागवत में प्रकृति प्राधान्य से उस एक ही जगन्नियन्ता का वर्णन किया गया है अतः दोनों के सम्मिलित कर देने पर एक पूरा पुराण बनता है।

शायद वेद परायण पाठकों को यह तो बताने की आवश्यकता न हो कि वेद गणना में दूसरे वेद को 'यजुर्वेद' के नाम से गिना जाता है। परन्तु यजुर्वेद के शुक्ल और कृष्ण नाम के दो भेद हैं जो भिन्न २ पुस्तकाकार में उपलब्ध होते हैं। अपनी २ शाखा के अनुसार खास खास देशों में शुक्ल संहिता का और किन्हीं देशों में कृष्ण संहिता का अधिक प्रचार है। भाष्यकारों ने भी अपनी २ शाखानुसार किसी एक पर ही भाष्य किया है, यथा-सर्ववेद भाष्यकार सायण ने कृष्णयजुर्वेद पर ही भाष्य रचा है और उव्वट तथा महीधर ने केवल शुक्ल यजुर्वेद पर आर्य्य समाज भी शुक्ल वेद का ही विशेष आग्रही है, तथापि वैदिक सिद्धान्त में मान्यता और साम्प्रदायिकता को बदस्तूर क़ायम रखते हुवे 'निरनुबन्ध-यजुः-शब्द' से दोनों भेदों को अविशेष एक वेद ही माना गया है, उक्त भेदों के कारण न तो वेदों को पांच बतानें का प्रयास किया जाता है और नाहीं पारस्परिक भेदभाव का आरोप किया जाता है ठीक इसी प्रकार की भागवत के दोनों भेदों की समस्या है। इससे अधिक कुछ कहना अनावश्यक है।

वायु और ब्रह्माण्ड

जिस प्रकार 'शिव-पुराण' का दूसरा नाम 'वायु-पुराण' है इसी प्रकार अन्तिम ब्रह्माण्ड पुराण की भी किसी २ स्थान में 'वायु पुराण' संज्ञा है, यहां भी दोनों को जुदा गिन कर पुराणों की संख्या को १६ बताने का साहस किया जाया करता है, परन्तु यह पुराण भी ब्रह्मा जी से वायु ने प्राप्त किया और आगे ऋषियों के प्रति कथन किया है, कवि समयख्याति का यह सिद्धान्त है कि ग्रन्थ का नाम उसके निर्माण करने वाले वक्ता के नाम पर तथा उसके प्रतिपाद्य विषय के नाम पर भी होसकता है यथाः—

'कवेर्वृत्तस्य वा नाम्नः काव्य-नाम भवति ।

सो प्रतिपाद्य विषय के अनुसार इसे 'ब्रह्माण्ड पुराण' कहते हैं। और वक्ता के नामानुसार इसे ही 'वायुपुराण' भी कहते हैं। इसकी वायुप्रोक्तता के विषय में नीचे लिखा प्रमाण द्रष्टव्य है यथाः—

पुराणं सम्प्रवक्ष्यामि यदुक्तं मातरिश्वना ॥३६॥

(ब्रह्माण्ड- पाद १ अध्याय १)

अर्थात्— (सूत जी ने शौनकादिक ऋषियों के प्रति कहा) मैं वायु द्वारा कथन किये हुए 'ब्रह्माण्ड-पुराण' को तुम्हारे प्रति कहता हूँ। उपलब्ध ब्रह्माण्ड-पुराण की अध्याय समाप्ति में भी 'वायुप्रोक्तसंहितायां' ऐसा उल्लेख मिलता है। ऐशियाटिक सोसाइटी द्वारा प्रकाशित ब्रह्माण्ड पुराण का मूल नाम ही वायुपुराण छपा हुआ है, कूर्म्मपुराणोक्त (१।१३—१५) पुराण गणना में भी ब्रह्माण्ड पुराण के स्थान में अन्तिम पुराण को 'वायुपुराण' के नाम से गिना है।

वायु से शिव या ब्रह्माण्ड

अब यह जिज्ञासा होसकती है कि जब शिव और ब्रह्माण्ड दोनों ही पुराणों की वायु संज्ञा है फिर गणना में वायु नाम से कहां कौनसा पुराण ग्राह्य है- इसका विवेक कैसे किया जाए! इस समस्या को हल करने का सरल उपाय यह है कि जिस गणना में शिवपुराण का नाम रहते हुए भी वायु नाम से अन्य किसी पुराण को गिना हो वहां वायु शब्द से 'ब्रह्माण्ड-पुराण' समझना चाहिये। इसी प्रकार जिस गणना में 'ब्रह्माण्ड पुराण' का नाम रहते हुए भी वायु नाम से एक पुराण को याद किया

हो वहां उसका अर्थ- ' शिव-पुराण ' समझना चाहिये। जहां पर दो वार वायु नाम से ही दोनों पुराणों को स्मरण किया हो वहां पहिले नाम से शिव-पुराण को और दूसरे नाम से ब्रह्माण्ड पुराण को जानना चाहिये, अभी तक ऐसी गणना हमारी दृष्टि में नहीं पड़ी तथापि सम्भवता में इस नियम का उपयोग होसकता है। उपपुराणों में ' शिवधर्म्मपुराण' नाम का एक उपपुराण है, कभी २ उसका संक्षिप्त नाम भी ' शिवपुराण ' कह दिया जाता है, इस लिये उक्त नामों का पार्थक्य प्रकट करने के लिये व्यवहार में महापुराण को ' वायवीय शिव-पुराण ' और उपपुराण को ' नन्दीश प्रोक्त शिवधर्म्म-पुराण ' तथा अठारहवें पुराण को ' वायवीय-ब्रह्माण्ड-पुराण ' कहना चाहिये, इस प्रकार तत्काल ही वक्ता के अभीष्ट पुराण को श्रोता जान सकेगा।

वह्नि और अग्नि

कई समालोचकों ने सर्व सुलभ ' अग्निपुराण ' के अतिरिक्त एक अप्रकाशित ' वह्नि-पुराण' का भी उल्लेख किया है, जिसके केवल १८१ अध्याय बताए जाते हैं; और इस पर्य्यायवाची नाम भेद के आधार पर उक्त दोनों के परिगणन से पुराण संख्या के आधिक्य का स्वप्न देखा जाता है, हमारी सम्मति में इस नाम का कोई स्वतन्त्र पुराण नहीं है, न तो किसी भी पुराण में उक्त नाम का निर्देश है और नाही नारदोक्त सूची से इसके विषय का सम्बन्ध है, यह तो औपपुराणों में परिगणित सत्रहवां ' वह्नि-पुराण ' है, इसकी उपलब्धि से पुराणों की अष्टादश संख्या पर आक्षेप करना अपनी अल्पज्ञता का परिचय देना है।

स्कन्द,-पुराण है या उपपुराण ?

कुमार या षणमुख का बनाया हुवा एक ' स्कन्द-महा-पुराण ' है और दूसरा इसी नाम का उपपुराण भी है, अतएव पुराणों और उपपुराणों- दोनों में ही उक्त नाम का सन्निवेश है। शङ्कावादी दोनों को एक बता कर पुराणों या उपपुराणों में से किसी एक की संख्या को १७ बताने का प्रयत्न किया करते हैं, परन्तु वास्तव में ये एक ही नाम के दो भिन्न २ ग्रन्थ हैं, इस समय जो उपलब्ध स्कन्दपुराण की महासंख्या असली प्रमाण से उन्नीस हजार के लगभग अधिक आंकी जाती है, सम्भवतः वह मुद्रण के समय पुराण और उपपुराण दोनों की सम्मिलित कापी भूल से छप जाने के कारण ही बढ़ी है। दोनों का समान वक्ता, और समान विषय होने के कारण भी एकत्व का भ्रम होजाना स्वाभाविक जान पड़ता है।

नारद, वामन, ब्रह्माण्ड, कौर्म और भागवत ?

उपपुराणों में—'नारदोक्त' 'वामन, और 'ब्रह्माण्ड' नाम के उपपुराण गिने गये हैं, इसी प्रकार, औपपुराणों में 'वृहन्नारद' 'कौर्म्म' 'और 'भागवत' नाम के औप-पुराणों की गणना है, जिसे देखकर शङ्का-पङ्क-निमग्न, महाशय उपर्य्युक्त रीति से महा-पुराणों की अष्टादश संख्या पर आक्षेप किया करते हैं, परन्तु उन्हें यह मालूम नहीं कि वाल्मीकि, तुलसीदास और राधेश्याम आदि कवियों ने अपनी २ राम चरित सम्बन्धी कृति को समान रूप से 'रामायण' नाम ही दिया है आगे भी अन्यान्य कवि यह नाम रख सकते हैं परन्तु ग्रन्थों का सन्मान कृतिकी विशिष्टता के अनुकूल ही होगा इसी प्रकार वेद व्यास जी का अनुकरण करते हुए दूसरे ऋषियों ने भी यदि प्रतिपाद्य विषय की समानता के कारण अपने निर्म्माण किये हुए ग्रन्थों के नाम वामन, कौर्म्म, भागवत और ब्रह्माण्ड आदि रख दिये तो इसमें अनर्थ कौन सा हो गया ? तथा कृति की उत्कृष्टता और सामान्यता के तारतम्य से उन २ ग्रन्थों को यदि 'महापुराण' 'उपपुराण' या औप-पुराण नामक किसी एक श्रेणी में स्थान दे दिया तो इसमें भी क्या शङ्का का पहाड़ टूट पड़ा ? इसी तरह नारद जी के उपदिष्ट तत्वों को यदि व्यास आदि ऋषियों ने अपनी २ शैली में तीन भांति से निवद्ध किया हो और वे तीनों ग्रन्थ विषय उत्कृष्टता के तारतम्य से एक 'महापुराण श्रेणी में, दूसरा उप-पुराण श्रेणी में और तीसरा औप-पुराण श्रेणी में परिगणित हुवा हो तो इसमें भी आश्चर्य्य की बात कौन सी है ?

इस प्रकार हम पुराणों की निश्चित अठारह संख्या को न्यूनाधिक बताने वाले समालोचकों या दुरालोचकों के दिये हुवे हेत्वाभासों की निस्सारता दिखाने के बाद पुनः एक बार सिंहनाद में घोषित कर देते हैं कि पुराणों की संख्या न न्यून है न अधिक है किन्तु पूरी नौ दूनी अठारह है।

अठारह पुराणों के नाम सुगमता से कण्ठस्थ करने के लिये नीचे लिखा संग्रह श्लोक उपयोगी होगा यथाः—

'म' द्वयं 'भ' द्वयं चैव, 'ब्र' त्रयं 'व' चतुष्टयम्।
अ, ना, प, लिं, कू, स्कानि पुराणानि पृथक् पृथक् ॥

(देवी भागवत १। ३। २)

अर्थात्—मत्स्य और मार्कण्डेय दो मकारादि, भविष्य और भागवत दो भकारादि, ब्रह्म, ब्रह्मवैवर्त और ब्रह्माण्ड तीन ब्रकारादि, वायु (शिव) विष्णु वामन और वाराह चार वकारादि तथा आद्यक्षरों के अनुसार—अग्नि, नारद, पद्म, लिङ्ग, गरुड़, कूर्म्म और स्कन्द—सब मिलाकर अठारह पुराण हैं।

अष्टादश-संख्या-विज्ञान

पुराणों की संख्या अठारह है यह हम पीछे सिद्ध कर चुके हैं। कई विद्वानों ने उक्त संख्या की विशिष्टता का भी मनन करने योग्य रहस्य प्रकट किया है, (पिछले दिनों पुराण मर्मज्ञ पं० गिरिधर शर्म्मा चतुर्वेदी का इसी आशय का एक लेख 'ब्राह्मण-सर्वस्व, पत्र के पुराणाङ्क में छपा था।) जब हम यह देखते हैं कि श्री वेदव्यास जी महाराज ने अपनी कृति का किसी न किसी रूप में अष्टादश संख्या से सम्बन्ध अवश्य जोड़ा है तो स्वभावतः यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि इसका कुछ न कुछ रहस्य भी अवश्य होगा! —पुराण अठारह, उपपुराण भी अठारह। महाभारत के पर्व अठारह—सर्व शास्त्रसार भूत श्री भगवद्गीता के अध्याय भी अठारह। यही क्यों—संस्कृत साहित्य के शिरोमणी-भूत श्री भागवत-पुराण की श्लोक संख्या भी अठारह हज़ार। इस अष्टादश संख्या विन्यास के बाहुल्य को 'घुणाक्षर न्याय' से आकस्मिक नहीं कहा जा सकता? अवश्य ही इसमें कुछ न कुछ गूढ़ रहस्य है। अस्तु

पुराणों का प्रधान विषय 'सृष्टि' है। इसी वर्णन की साङ्गोपाङ्गता के लिये वंश मन्वन्तर वंशानुचरित और प्रतिसर्ग आदि सापेक्ष्य हैं इस लिये जिस प्रकार पुराणों का विशिष्ट क्रम सृष्टि प्रक्रिया के तात्विक पौर्वापर्य्य का परिचायक है उसी प्रकार पुराणों की अष्टादश संख्या का विन्यास भी सृष्टि के मूल तत्वों का निदर्शक है। यथाः—

(१) शतपथ ब्राह्मण के अष्टम काण्ड में सृष्टि नाम की इष्टिकाओं के उपधान की जहां विधि है वहां सत्रह इष्टिकाओं के उपधान की उपपत्ति बताते हुवे सृष्टि के सत्रह भेद निरूपित हुए हैं और उन सत्रहों का समन्वय एक मुख्य प्रजापति में बताया है इस प्रकार वैदिक प्रक्रियानुसार सृष्टि के अठारह भेद सिद्ध हो जाते हैं यथाः—

(क) प्रतूर्तिरष्टादशः। (यजुः १४।२३)

(ख) तस्य द्वादश मासाः पञ्चर्तवः संवत्सर एव प्रतूर्तिः (सृष्टिः)
(शतपथ ८।४।१।३)

अर्थात्—बारह मास पांच ऋतुवें जिस प्रकार एक संवत्सर के अङ्ग हैं इसी तरह एक प्रजापति में सत्रह इष्टिकायें प्रवृद्ध होती हैं। सृष्टि को अष्टादश भेदों पर दृष्टि रखने के लिये सृष्टि प्रतिपादक ग्रंथ के अष्टादश भेद होना अत्यावश्यक समझा गया है।

(२) वेद में छन्द से ही सब सृष्टि मानी गई है छन्द यद्यपि गायत्री से लेकर जगती तक सात हैं किन्तु गायत्री और विराट् ये दो छन्द इस सृष्टि विद्या में प्रधान माने गये हैं। इन ही दो में सब सृष्टि का सार निहित है। वैदिक प्रक्रिया में गायत्री को भूमि स्थानीया प्रकृति की प्रतिनिधि माना गया है, और विराट् को द्यौःस्थानीय पुरुष का प्रतिनिधि स्वीकार किया गया है। द्यावाभूमि या विराट्-गायत्री ही सृष्टि के मुख्य आधारभूत तत्व हैं। सो गायत्री अष्टाक्षर पाद का छन्द है और विराट् दशाक्षर पादका। आठ और दश अठारह। यों छन्दःसृष्टिवाद की ओर दृष्टि आकृष्ट करने के लिये भी सृष्टि ग्रन्थों का अष्टादश संख्या से सम्बन्ध रखना आवश्यक है, उपर्युक्त विवेचना के आधारभूत नीचे लिखे प्रमाण द्रष्टव्य हैं। यथाः—

(क) गायत्री वा इयं पृथिवी (शतपथ ४।३।४।६)
(ख) वैराजो वै पुरुषः (ताण्ड्य २। ७। ८)
(ग) अष्टाक्षरा गायत्री (ऐतरेय ६।२०)
(घ) दशाक्षरा विराट् (तैत्तिरीय १।१।५।३)

(३) गायत्री अग्नि का छन्द है और विराट् आदित्य का। येही दोनों (अग्नि और आदित्य) सृष्टि के मुख्य कारण हैं। इनसे सृष्टि का सम्बन्ध बताने के लिये इन के छन्दों से सम्बन्ध रखना चाहिये। और इन छन्दों के ८+१०=१८ अक्षर होते हैं इस लिये भी सृष्टिप्रतिपादक पुराण अठारह बनाये गये हैं।

(४) अनन्त आकाश-जिसमें कि अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड अन्तर्गत हैं उसे वैदिक परिभाषा में 'परमाकाश' कहते हैं एक सूर्य्य का प्रकाश जितने आकाश में परि व्याप्त रहता है उस ब्रह्माण्ड परिछिन्न आकाश को 'पुराणाकाश' कहा जाता है। और अध्यात्म में प्रत्येक प्राणी के हृदयाकाश को 'दहराकाश' कहते हैं। इन आकाश के तीन भेदों में पुराणाकाश का ही पुराण से सम्बन्ध है— यह कहने की आवश्यकता नहीं। पुराणाकाश (ब्रह्माण्डपरिछिन्न आकाश) ३६० विभागों (अंशों) में बांटा जाता है। यह ज्योतिष शास्त्र के ज्ञाता अच्छी तरह जानते हैं। इन में दृश्य आकाश में १८० अंश और अदृश्य आकाश में १८० अंश होते हैं। सृष्टि का सम्बन्ध विशेषकर दृश्य आकाश से ही है। उसके १८० अंश हैं। दश दश का एक विराट्

होता है इस नियम से १८० अंश के पुराणाकाश में १८ ही विराट् हैं। बस पुराणाकाश से उक्त ग्रन्थों का सम्बन्ध बताने के लिये भी पुराणों का १८ होना आवश्यक है।

(५) आदि विद्वान् भगवान् कपिल का सांख्य दर्शन सबसे प्राचीन दर्शन है और पुराणों में सांख्य की प्रक्रिया ही सृष्टि निरूपण में बहुत अंशों में आहत हुई है, यह पुराणज्ञों से छिपा नहीं है सांख्य में २५ तत्व माने जाते हैं, मूल प्रकृति १, प्रकृति विकृति ७, (महान् अहङ्कार और पांच तन्मात्राएं) केवल विकृति १६, (एकादश इन्द्रिय, पञ्चमहाभूत) और प्रकृति भाव से अतीत पुरुष १ यही पचीस की गणना है। इन में मूल प्रकृति और पुरुष की सृष्टि नहीं होती। यह दोनों अनादि अनन्त तत्व हैं। शेष २३ में पञ्च तन्मात्रा और पञ्च महाभूतों में पौराणिक प्रक्रिया में प्रायः भेद नहीं माना गया। पञ्च तन्मात्राओं की ही स्थूल अवस्था पञ्चमहाभूत है। इन दोनों को एक कर लेने पर सृज्यमान (जिनकी सृष्टि होती है) तत्व १८ ही रहजाते हैं। तब सृष्टि प्रतिपादक ग्रन्थों का अष्टादश संख्य से सम्बन्ध होना तत्व संख्या की दृष्टि से उपयुक्त प्रतीत होता है।

(६) अध्यात्म दृष्टि से सूक्ष्म शरीर ही व्यावहारिक जीव है इस में कोई संदेह नहीं। इसही में पुण्य पाप का संस्कार रहता है। और इसकी ही लोक परलोक गति होती है। सूक्ष्म शरीर में १७ तत्व सांख्य दर्शन में बताए गए हैं। दश इन्द्रियां, मनः, पञ्च महाभूतों के सूक्ष्मांश और बुद्धि। यह संसरण काल के सूक्ष्म शरीर का निरूपण है। उस समय अहंभाव अभिव्यक्त नहीं होता, इस लिये अहंकार की गणना इस में नहीं हुई है। यदि अहंकार वा अहंकारास्पद चिदाभास (जीव) की गणना इसमें और करली जाय तो सूक्ष्म शरीर के तत्व भी १८ होते हैं। इन अठारह से पाप होना सम्भव है इस लिये उन सब की निवृत्ति के लिये उत्तम विद्या के ग्रन्थ अठारह बनाए गए हैं। ऐसी उपपत्ति भी कई विद्वान् करते हैं।

(७) दृश्य ब्रह्माण्ड के समस्त पदार्थों को स्थान सत्ता की दृष्टि से वैदिक प्रक्रिया में तीन भागों में विभक्त किया है। (क) पृथ्वी स्थानीय (ख) अन्तरिक्ष स्थानीय और (ग) द्युः स्थानीय काल-क्रम की गति से प्रत्येक पदार्थ में छः परिवर्तन होते हैं,- सत्ता, उत्पत्ति, बढना, पकना, घटना और विनष्ट होजाना,। पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युः स्थानीय प्रत्येक के छः छः भाव विकार सम्मिलित करने पर १८ बन जाते हैं। पुराण उक्त तीनों स्थानों के पदार्थों के सर्ग प्रतिसर्ग आदि का निरूपण करते हैं। अतएव भाव विकार संख्या के अनुसार पुराणों की संख्या भी अठारह है।

क्रम व्यत्यय-आभास

पुराणों की गणना प्रायः सब पुराणों में की गई है। विचार दृष्टि से देखने पर गणना के क्रम में कुछ अन्तर मालूम पड़ता है, किसी पुराण में अमुक पुराण को अमुक संख्या दी है और दूसरे में इसके विरुद्ध उल्लेख है। कई छिद्रान्वेषी महाशय उपर्य्युक्त अन्तर को लेकर शङ्कागर्त में बेतरह गिर पड़े हैं। कासगंज (यू० पी०) के एक लाला- जिनका नाम चिम्मनलाल कहा जाता है— तखड़ी बट्टे छोड़ कर कलम कुठार चलाने का अभ्यास करने चले थे। आपने 'एरण्डोऽपि द्रुमायते' वाली लोकोक्ति के अनुसार संस्कृत ज्ञान-शून्य दयानन्दियों में वाह वाही लूटने के लिये एक वृथा-पुष्ट पोथा भी लिख डाला है जिस का नाम रक्खा है ' पुराण-तत्व-प्रकाश ' आरम्भ में ही आप गणना क्रम सम्बन्धी उपर्य्युक्त भेद को देख कर ऐसे चकराए कि अन्त तक भी होश न आई। यही दशा प्रो० रामदेव और प्रो० जयचन्द्र (गुरुकुल कांगड़ी) की हुई है, आप भी उक्त गणनाक्रम को न समझ कर अपने 'पुराण मतपर्य्यालोचन' ग्रन्थ में बे पर की हांक बैठे हैं। इस लिये यह आवश्यक प्रतीत होता है कि गणनाक्रम के विरोध पर भी चन्द पंक्तियें लिखी जावें।

वैदिक साहित्यवेत्ता यह भली भांति जानते हैं कि वेदों का क्रम— ऋग्, यजुः, साम, और अथर्व- इस प्रकार प्रसिद्ध है। यत्र तत्र ग्रन्थों में प्रायः इसी क्रम से चारों का उल्लेख मिलता है। परन्तु बहुत से वैदिक ग्रन्थों में इसके विपरीत भी क्रम लिखा है यथा :—

(क) यजुश्च ऋक्च साम च त्रयी हैषा विद्या।

(शतपथ ६।३।३।१४)

(ख) ऋचो यजूंषि सामानि। (शतपथ ४।६।७।१)

(ग) ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।

(अथर्व ११।७।२४)

उपर्य्युक्त प्रमाणों में— (क) यजुः, ऋक् साम (ख) ऋक्, यजुः, साम, (ग) ऋक्, साम, यजुः—एक दूसरे के विरुद्ध क्रम लिखा है, हम पुराणों की आलोचना करने का दम भरने वाले इन महाशयों से पूछना चाहते हैं कि कभी वेद क्रम की विरुद्धता. पर भी कुछ विचार किया है ?

वस्तुतः क्रम-विन्यास कवि की भावना पर निर्भर होता है वह जिन भावों से प्रेरित होकर जिस वस्तु स्थिति को अपने क्रम से अभिव्यक्त करना चाहेगा उसी रूप में अपनी कृति को निबद्ध करेगा, उदाहरणार्थ—(१) सर्व वेद भाष्यकार सायणाचार्य्य ने चारों वेदों पर भाष्य रचते हुवे यजुर्वेद को ही प्रथम स्थान दिया है।

(२) श्रीमद्भगवद्गीता में 'वेदानां सामवेदोऽस्मि' कह कर सामवेद को ही अपनी विभूति प्रकट किया है। जिससे गीता की दृष्टि में सामवेद की मुख्यता एवं प्रथमता स्पष्ट है।

(३) यास्कादि आचार्य्यों की सम्मति में—और वर्तमान कालीन पौरस्त्य एवं पाश्चात्य समालोचकों के विचार में ऋग्वेद ही सर्व श्रेष्ठ-मुख्य-प्रथम-मानने योग्य है।

इन विविध विचार धाराओं का सामंजस्य करने के लिये तत्तद् वक्ताओं की भावनाओं का पता लगाना आवश्यक है, हमारे विचार में—यजुर्वेद की प्रथमता प्रकट करने वाले सायणादि की भावना में वेदों की प्रवृत्ति केवल 'यज्ञ' के लिये है, और यज्ञों का दारोमदार अध्वर्य्यु अधिकृत यजुर्वेद पर है। जैसा कि 'अध्वरं युनक्ति-अध्वरस्य नेता' इत्यादि निर्वचनों द्वारा यास्काचार्य्य ने प्रकट किया है। यज्ञ की साङ्गोपाङ्गता के लिये ही ऋचाओं की आवश्यकता हो सकती है और गायनार्थ भी ऋचाओं की ही अपेक्षा कृत जरूरत पड़ती है, अतः यज्ञ प्रक्रिया में-सर्व प्रथम-यजुः-फिर ऋक् और तदनन्तर साम-यही क्रम वास्तविक हो सकता है।

साम को मुख्य या प्रथम मानने वालों की भावना यज्ञमयी नहीं है बल्कि वे 'सहृदय-हृदयैकवेद्यता' की भावना से गान को ही तत्काल श्रोतृ-मनो-मुग्धकारी समझते हैं। यह प्रत्यक्ष भी अनुभव किया जा सकता है अतः वे गीति मन्त्रों को प्रथम स्थान देते हैं, इस भावना के अनुसार साम को प्रथम मानना स्वाभाविक ही है।

विज्ञानवाद में— पृथ्वी-अन्तरिक्ष- और द्यौः इन तीनों स्थानों की देवता रूप परमात्मशक्तियों का वर्णन करना ही वेदों का मुख्य उद्देश्य है, उक्त स्थानों की प्रतिनिधि शक्तियें क्रमशः अग्नि वायु और सूर्य्य माने जाते हैं सो पृथ्वी स्थानीय अग्नि देवता का निरूपक 'अग्निमीले' शब्द से आरम्भ होने वाला ऋग्वेद है। और अन्तरिक्ष स्थानीय वायु देवता का प्रतिपादक-- 'इषे त्वोर्जेत्वा वायवस्थदेवः' आदि शब्दों से आरम्भ होने वाला यजुर्वेद है। तथा द्यु स्थानीय सूर्य्य देवता का प्रस्तावक सामवेद है अतः वैज्ञानिक भावना में ऋक् यजुः साम यही क्रम युक्तिसंगत होसकता है।

वेदों की भांति पुराणों के क्रम विन्यास में भी भावनाओं की विशिष्टता का ही साम्राज्य है, वेद व्यास जी ने जिस पुराण में जो क्रम निर्दिष्ट किया है वह भी किसी

भावना विशेष से प्रेरित होकर ही किया है हमने विभिन्न पुराणों के क्रमविन्यास का पार्थक्य मिलाने पर यह परिणाम निकाला है कि मुख्यतया तीन प्रकार का गणना क्रम पुराणों में पाया जाता है पहिला— सृष्टि-प्रक्रिया-प्रतिपादक विशिष्ट क्रम— जो लिङ्ग, मार्कण्डेय और श्रीमद्भागवत पुराण में लिखा है और इस ग्रन्थ में भी 'अष्टादश—पुराण-नाम' शीर्षक के नीचे जिसे प्रधान स्थान दिया गया है। दूसरा— सृष्टि-प्रक्रिया-प्रतिपादक अविशिष्ट क्रम—जो विष्णु, मत्स्य, शिव, कूर्म्म, पद्म और श्रीमद्भागवत, आदि पुराणों में लिखा है। तीसरा— वर्ण-साम्यक्रम- जो देवी-भागवत में लिखा है।

विशिष्ट क्रम में- जीव ब्रह्म की व्यावहारिक भेद भावना को स्थिर रखते हुवे- ब्रह्म से ब्रह्माण्ड का बनना और उसी में पुनः लीन होजाना जिस प्रक्रिया से सम्पन्न होता है वह क्रम बताया गया है। अविशिष्ट क्रम में— जीव ब्रह्म की पारमार्थिक ऐक्य भावना को ध्यान में रखते हुवे- ब्रह्म का नाम रूप उपाधि द्वारा ब्राह्माण्ड रूप में भासना, और अविद्यानिवृत्ति पूर्वक पुनः अपने आप में स्थिर होना- जिस प्रक्रिया से सम्पन्न होता है— वह क्रम बताया है। वर्णसाम्यक्रम में— तात्विक पौर्वापर्य्य भावना को छोड़ कर यदृच्छा से केवल तुल्य वर्णों की समतानुसार अठारह नामों को गिन दिया है। अब इनका विशेष निरूपण किया जाता है।

पुराण-क्रम-विज्ञान

विशिष्ट-क्रम

देवीभागवत को छोड़कर प्रायः सभी पुराणों में पहिला पुराण ब्रह्म है और अन्तिम पुराण ब्रह्माण्ड है, जिससे यह सूचित किया है कि ब्रह्म ही ब्रह्माण्ड रूप में परिणत हो जाता है! यह दृश्य-ब्रह्माण्ड ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है, अस्तु। अब अन्य पुराणों का क्रम भी देखिए। आपने कभी शेषशायी भगवान् का चित्र अवश्य देखा होगा, यह एक वैज्ञानिक चित्र है जो देखने में साधारण होते हुवे भी गहरी फिलासफी से भरपूर है। हम यहां केवल उसके बहिरङ्ग रूप पर विचार करते हैं, क्षीरसागर समुद्र में शेषनाग की शय्या पर भगवान् लेटे हुवे हैं, उन की नाभि से कमल पैदा हुवा है जिस पर बैठे हुवे ब्रह्मा जी वेदपाठ कर रहे हैं। यही सृष्टि के रचयिता हैं।

पीछे कहा गया है कि ब्रह्म से ब्रह्माण्ड पर्य्यन्त तक की समस्त प्रक्रिया को वैज्ञानिक रूप से निरूपण करना ही पुराणों का विषय है, सो सर्व प्रथम यह जिज्ञासा होती है कि ब्रह्माण्ड का रचयिता कौन है ? इस प्रश्न का समाधान करने को पहिला 'ब्रह्मपुराण' उपस्थित होता है जिस से यह सूचित किया गया है कि 'ब्रह्म ब्रह्मा-भवत्स्वयम्' (तैत्ति० ३। १२। ६। ३) के अनुसार ब्रह्म ही ब्रह्मा रूप से सृष्टि का रचयिता है। यही तत्व समझाने के लिये पहिले पुराण का नाम ब्रह्म रक्खा गया है। स्वभावतः दूसरी जिज्ञासा होगी कि ब्रह्मा जी कहां से पैदा हुवे ? इस का उत्तर देने के लिये दूसरा 'पद्मपुराण' उपस्थित है, अर्थात्- ब्रह्मा जी पद्म (नाभि कमल) से पैदा हुवे हैं। पद्म कहां से निकला ? इस प्रश्न की पूर्ति तीसरा 'विष्णु-पुराण' करता है। यहां तक सर्वाधार विष्णु से कमल और कमल से ब्रह्मा, इन तीन तत्वों को विलोम क्रम से प्रकट किया है। अब जिज्ञासा होती है कि ब्रह्मा जी ने मूलसृष्टि का पता कैसे लगाया ? तब चौथा 'शिवपुराण' जवाब देता है कि 'शिव- अर्थात्- वेद से ! पौराणिक भाषा में शिव नाम वेद का है जैसा कि पद्म पुराणोक्त श्रीमद्भागवत माहात्म्य (१। ३६) के 'अट्टशूला जनपदाः शिवशूला द्विजातयः' आदि श्लोक की व्याख्या करते हुवे— 'शिवो वेदः' ऐसा लिखा है। वस्तुतः 'यथा पूर्वमकल्पयत्' सिद्धान्त के अनुसार वेद ही सृष्टि रहस्य का अपूर्व खजाना है। लीनार्थ के गमक चिन्हों को 'लिङ्ग' कहते हैं, महाप्रलय में विलीन हुवे पदार्थों के कारणात्मक तत्वों को पुनः संघीभूत करना ही सर्ग है यह रहस्य पांचवें 'लिङ्ग पुराण' से प्रकट होता है। मानव सृष्टि में प्राणियों की विविध गतियों का तारतम्य ही जन्म मरण विधायक है उसके परिज्ञानार्थ और्ध्वदैहिक रहस्य निरूपण करने वाला छठा 'गरुड़-पुराण' है। यहां तक यह व्यंजित होचुका कि वह नाभिकमलस्थ ब्रह्मा-वेदात्मक-ज्ञान, लिङ्गात्मक कारणीभूत पदार्थ और जीवों की कर्म्म परम्परा के अनुसार ही सर्गोन्मुख हुवा। तब सब से पूर्व विमिश्रित-पञ्चमहाभूतों का कलल- जिसे वैदिक भाषा में 'उच्छिष्ट' पौराणिक भाषा में 'नार' और स्मृति शब्दों में 'अपः' कहते हैं— उत्पन्न हुवा। 'अपएव ससर्जादौ' (मनुः १। ८) 'आपो नारा इति प्रोक्ताः' (मनुः १। १०) आदि प्रमाण इस विषय में द्रष्टव्य हैं। इस भाव को प्रकट करने वाला सातवां 'नारद पुराण' है। नार=(कारणजलों) का दाता होने के कारण यही तत्व नारद है। अनन्तर वह पंचमहाभूतात्मक अण्डाधिष्ठित देव-द्यौःभूमि अथवा पुरुष स्त्री नामक दो भागों में विभक्त हो जाता है जिसका ऐश्वर्य्यादि षड्गुणयुक्त दक्षिणांश भगवान्, और वामांश भगवती कहा जाता है, इस तत्व को प्रकट करने वाला आठवां पुराण भागवत है, जो

पुरुष प्राधान्य से श्रीमद्भागवत और प्रकृति प्राधान्य से देवी भागवत के नाम से विख्यात है। यहां से वैजीसृष्टि का आरम्भ हो जाताहै। इस प्रकार विष्णु से आरम्भ कर के मैथुनी सृष्टि की उत्पत्ति पर्य्यन्त-तात्विक पौर्वापर्य्य का क्रम दिखाया गया है। अब स्वभावतः यह जिज्ञासा होगी कि पूर्वोक्त रीति से जन्म मरण के बन्धन में फंसे हुवे जीव का कल्याण किस प्रकार हो सकता है? जिसका समाधान अगले पुराणों में किया गया है, 'नवम पुराण' अग्नि द्वारा यज्ञादि कर्म्म करके शुभ लोकों की प्राप्ति का आदेश करता है। 'दशम पुराण' स्कन्द-शिव भगवान् के नाना अवतारों के चरित्रों का आदेश करता हुवा पुरुषों को शिव-उपासना की शिक्षा देता है। ग्यारहवां भविष्य पुराण सूर्य्य भगवान् की उपासना का महत्व बतलाता है। बारहवां ब्रह्मवैवर्त पुराण गणेश आदि देवों के चरित्रों का विधायक है, तेरहवां मार्कण्डेय पुराण शक्ति चरित्रों का खजाना है। चौदहवां, पन्द्रहवां, सोलहवां और सत्रहवां यह चारों पुराण विष्णु भगवान् के सृष्टि क्रम से सम्बन्ध रखने वाले मुख्य अवतारों का निरूपण करते हैं। इस प्रकार जीवों के कल्याणार्थ यज्ञ और शिव, सूर्य्य, गणेश, दुर्गा तथा विष्णु आदि की पञ्चोपासना क्रमशः छहों पुराणों द्वारा बतलाई गई है। अन्तमें अठारहवां ब्रह्माण्ड पुराण इस समस्त सृष्टि प्रक्रिया का उपसंहार करता हुवा अपने मूल तत्व 'ब्रह्म' की ओर सङ्केत करता है और बतलाता है कि 'आकाशात्पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम्' के सिद्धान्तानुसार यह विविध प्रकार की उपासना एक ब्रह्मोपासना में परिणत हो जाती है। यही पुराणों के विशिष्ट क्रम का वैज्ञानिक रहस्य है।

अविशिष्ट क्रम

दूसरा क्रम इस प्रकार है—(१) ब्रह्म (२) पद्म (३) विष्णु (४) वायु (५) भागवत (६) नारद (७) मार्कण्डेय (८) अग्नि (९) भविष्य (१०) ब्रह्मवैवर्त (११) लिङ्ग (१२) बाराह (१३) स्कन्द (१४) वामन (१५) कूर्म्म (१६) मत्स्य (१७) गरुड (१८) ब्रह्माण्ड।

(श्रीमद्भागवत १२।१३।४-८)

उक्त क्रम में ब्रह्म, पद्म और विष्णु की गणना तो विशिष्ट क्रम के समान ही है अतः इन की उपपत्ति भी पूर्ववत् ही समझनी चाहिये। अब जिज्ञासा होती है कि विष्णु भगवान् किस आधार पर स्थित हैं उस तत्व (शेषशय्या) का निरूपण चौथा वायु पुराण करता है शेष भगवान् क्षीर समुद्र में हैं उस क्षीर समुद्र का तत्व बतलाने को पांचवां श्री भागवत उपस्थित है। समुद्र का नाम सरस्वान् है सरस्वान् विषय जहां प्रधान-वह सारस्वत। अतएव श्री भागवत को सारस्वत कल्परूप से आचार्य्यों ने

स्वीकार किया है। अस्तु क्षीर समुद्र में भगवान् की शय्या के समीप वीणाधारी नारद जी निरन्तर रहते हैं, यही आशय छठे नारद पुराण का है। ये छः पुराण क्रम से स्थूल से सूक्ष्म की ओर लेजाते हैं। और सृष्टिचित्र के सब तत्वों को खोल कर जिज्ञासु जनों को समझा देते हैं। सृष्टि के अन्तर्गत साकार पदार्थों का जन्य जनक भाव यहां तक निरूपित हुवा। किन्तु इस सब सृष्टि और इन सब साकार ईश्वरों का मूल तत्व क्या है जिसकी प्रेरणा वा आज्ञा से ये सब इस सृष्टि चक्र को चला रहे हैं। यह जिज्ञासा अभी निवृत्त नहीं हुई। इस लिये आगे पुराण उस मूल तत्व के सम्बन्ध में विवेचक ऋषियों की विप्रतिपत्ति का दिग्दर्शन कराता है।

प्रकृति ही मूलतत्व है- ऐसा एक मत है, इसके निदर्शनार्थ सातवाँ मार्कण्डेय पुराण उपस्थित है। प्राणरूप अग्नि सब का मूल तत्व है, ऐसी दूसरी विप्रतिपत्ति है इसे स्पष्ट समझाने को आठवां अग्निपुराण है। अग्नि का भी उत्पादक सूर्य्य है इसलिये सूर्य्य वा आदित्य मूलतत्व है यह तीसरी विप्रतिपत्ति है इसके निरूपणार्थ नवम भविष्य पुराण है, भविष्य में सूर्य्य को ही प्रधान परमतत्व कहा गया है। इस प्रकार मूलतत्व के सम्बन्ध में कई विप्रतिपत्तियां दिखा कर पुराण अपनी ओर से 'ब्रह्म' को मूल तत्व बताता हुवा 'ब्रह्मवैवर्त' दशम पुराण के द्वारा सिद्धान्त को स्पष्ट कर देता है। यों दश पुराण तक के क्रम से सृष्टि का पूर्ण विकाश और जगत् का मूलतत्व बता दिया गया है। अब वह मूलतत्व 'ब्रह्म' किस प्रकार पहिचाना जाए? वह किन रूपों से किस प्रकार सृष्टि का निर्वाह करता है? जीव अपने कल्याण के लिये कैसे उस की उपासना करे इत्यादि जिज्ञासाएं उपस्थित होती हैं। उन्हें निवृत्त करने को आगे के छः पुराणों में उस परब्रह्म के अवतारों का निरूपण है। ग्यारहवां लिङ्गपुराण और तेरहवां स्कन्दपुराण भगवान् परम शिव के अवतारों का दिग्दर्शन कराते हैं। और १२ वां, वाराह १३ वां, वामन १५ वां, कूर्म्म और १६ वां, मात्स्य ये चारों भगवान् महाविष्णु के अवतारों का विवरण करते हैं। यद्यपि भगवान् विष्णु के अनन्त अवतारों में २४ प्रधान माने गये हैं उन में भी दश अवतार विशेष रूप से आराध्य हैं किन्तु सृष्टि प्रक्रिया में इन चार की विशेष रूप से प्रधानता है यह सृष्टि विज्ञान का मनन करने पर ठीक समझ में आसकता है। अस्तु. अब कर्म्म उपासनादि के सम्बन्ध से जीव की विविध गति बताने को सत्रहवां गरुडपुराण और उन सब गतियों का आयतन (आधार) बताने को अठारहवां 'ब्रह्माण्ड पुराण' उपस्थित होता है। यों सपरिकर प्रधान विद्या का निरूपण अठारह पुराणों द्वारा होजाता है- और आगे कोई ज्ञातव्य विषय शेष नहीं रहता। यही अविशिष्ट क्रम का रहस्य है।

यहां यह कह देना अनुचित न होगा कि पूर्वोक्त क्रम रहस्य में जिस पुराण का जो विशिष्ट स्थान नियत किया गया है वह केवल उस पुराण के प्रतिपाद्य विषय की मुख्यता के आधार पर ही किया गया है वैसे तो प्रत्येक पुराण में प्रसङ्गोपात्त अनेक विषय वर्णित हैं तथापि ' प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति ' न्याय के अनुसार किसी एक विषय की प्रधानता से ही उसका वैसा नाम पड़ा है यह विज्ञ पण्डित भली भांति जान सकते हैं।

जिन पुराणों में उक्त क्रम को रूपान्तर में प्रकट किया है वहां जिज्ञासाओं के क्रम को भी उसी रूप में स्थिर किया गया है ऐसा समझना चाहिये।

वर्ण साम्यक्रम

देवीभागवत में जिज्ञासानिवृत्ति की दृष्टि को एक तरफ रख कर आक्षरिक समता के अनुसार ही गणना की है यथा— मत्स्य, मार्कण्डेय, भविष्य भागवत, ब्रह्म, ब्रह्मवैवर्त ब्रह्माण्ड, वामन, वाराह, विष्णु, वायु इत्यादि।

लक्षण-समन्वय-

संस्कृत साहित्य का नियम है कि ' लक्षणप्रमाणाभ्यां हि वस्तुसिद्धिः ' अर्थात्- लक्षण और प्रमाणों से ही किसी विषय की सिद्धि होती है, नाम मात्र के निर्देश से नहीं, अतः पीछे जिन अष्टादश पुराणों का नाम संख्या और क्रम का विवेचन किया गया है अब उन के लक्षणों और प्रमाणों का समन्वय पूर्वक निर्देश किया जाता है।

१— ब्रह्म-पुराण

(क) ब्रह्मणाऽभिहितं पूर्वं यावन्मात्रं मरीचये।
ब्राह्मं त्रिदशसाहस्रं पुराणं परिकीर्त्यते॥

(मत्स्य ५३। १३)

(ख) तथाचायुतसंख्याकं पुराणं ब्रह्मसंज्ञकम्।

(देवीभागवत १। ३। ५)

अर्थात्— (क) पूर्व काल में ब्रह्माजी ने मरीचि के प्रति जो कथन किया था वह ' ब्रह्म-पुराण ' है, इसकी श्लोक संख्या तेरह हजार है। (ख) ब्रह्म-पुराण का प्रमाण (अयुत) दश हजार है।

उपर्य्युक्त दोनों प्रमाणों में श्लोक संख्या विभिन्न लिखी है, उपलब्ध 'ब्रह्म-पुराण' में दश हजार सात सौ पद्य मिलते हैं, इस त्रिविध विरोध का परिहार यह है कि- वैदिक-काल से गुरु शिष्य सम्प्रदाय द्वारा उक्त पुराण के १३ हजार पद्य चले आरहे थे, परन्तु जब वेदव्यास जी ने ब्रह्म-पुराण का संकलन किया तो तात्पर्य्य प्राधान्य से वही सब प्रसङ्ग १३ हजार के बजाय १० हजार पद्यों में ही निबद्ध होगया, अतः मत्स्य पुराण में स्पष्टतया ब्रह्मा-मरीचि संवादात्मक पूर्वकालीन संख्या का उल्लेख किया गया है और देवीभागवत में वेदव्यास द्वारा परिष्कृत संकलन कालीन प्रमाण का निर्देश है, जो काल भेद से दोनों ही सुव्यवस्थित हैं। उपलब्ध ब्रह्म-पुराण में यह लक्षण प्रायः घटता है जो ७०० के लगभग अधिक श्लोक हैं वे पश्चात् प्रक्षिप्त हैं यह स्पष्ट ही है।

२— पद्म पुराण

एतदेव यदा पद्मं ह्यभूद्धैरण्मयं जगत्।
तद्वृत्तान्तादयं तद्वत् पाद्ममित्युच्यते बुधैः॥
पाद्मं तत्पञ्चपञ्चाशत् सहस्राणीह कथ्यते॥

(मत्स्य ५३। १३—१४)

अर्थात्— सृष्टि के आरम्भ में यह जगत् हिरण्मय पद्म रूप में प्रकट हुवा था, उस वैज्ञानिक वृत्तान्त का प्रतिपादक होने के कारण उक्त पुराण की 'पद्म-पुराण' संज्ञा है, और इसकी पद्य संख्या पचपन हजार है।

उपलब्ध पद्म पुराण में उपर्य्युक्त लक्षण प्रायः घटता है। परन्तु पद्य संख्या- आनन्दाश्रम ग्रन्थावली (पूना) की प्रति में ४६ हजार के लगभग है, और वेंकटेश्वर प्रेस (बम्बई) की प्रति में उल्लिखित संख्या से भी अधिक है। साम्प्रदायिकता के नाम पर शास्त्र हत्या करने वाले अहंमन्यों की कृपा से इसमें प्रक्षिप्तांश का भी अभाव नहीं है।

३— विष्णु-पुराण

वाराहकल्पवृत्तान्तमधिकृत्य पराशरः।
यत्प्राह धर्म्मानखिलां स्तदुक्तं वैष्णवं विदुः॥
त्रयोविंशतिसाहस्रं तत्प्रमाणं विदुर्बुधाः॥

(मत्स्य ५३।१६-१७)

अर्थात्—पराशर ऋषि ने बाराह कल्प के वृत्तान्त को लक्ष्य करके जो वैष्णव धर्म्मों का प्रतिपादन किया है वही 'विष्णु-पुराण' है। इसकी श्लोक संख्या तेईस हजार है।

उपलब्ध विष्णु पुराण में उपर्युक्त लक्षण सर्वथा घटता है, परन्तु इसकी श्लोक संख्या बहुत कम है, विष्णुधर्म्मोत्तर को सम्मिलित करने पर भी लगभग सात हजार श्लोकों की कमी रहती है। भारत के प्रसिद्ध ज्योतिर्विद्-ब्रह्मगुप्त ने विष्णु पुराण के जिस ज्योतिषांश के आधार पर जगत्प्रसिद्ध 'ब्रह्मसिद्धान्त' नामक ग्रन्थ का निर्म्माण किया था वह उपयोगी अंश आज लुप्तप्राय है। इसी प्रकार उक्त पुराण के नाम से संगृहीत-'कृष्णजन्माष्टमी व्रत कथा' भरताख्यान आदि स्तोत्रों के समावेश वाला अंश भी देखने में नहीं आता। अतः दुःख पूर्वक कहना पड़ता है कि यह पुराण अधूरा है।

४— शिव (वायु) पुराण

श्वेतकल्पप्रसङ्गेन धर्म्मान्वायुरिहाब्रवीत्।
यत्र तद् वायवीयं स्याद्रुद्रमाहात्म्यसंयुतम्॥
चतुर्विंशत्सहस्राणि पुराणं तदिहोच्यते॥

(मत्स्य ५३। १७-१८)

अर्थात्—वायु ने श्वेत कल्प के प्रसङ्ग से अनेक धर्म्मों का और रुद्रदेव के माहात्म्य का जिसमें वर्णन किया हो उसे ही वायु पुराण किं वा शिव पुराण कहते हैं जिसका श्लोक प्रमाण चौबीस हजार है।

उपलब्ध शिव-पुराण में यह लक्षण सर्वथा घटित होता है परन्तु पद्य-संख्या केवल १८ हजार के लगभग है, लक्षणोक्ति के अनुसार छः हजार श्लोकों की कमी है, जान पड़ता है कि यह अंश यातो लुप्त होचुका है अथवा 'शिवधर्म्म-पुराण' नामक उपपुराण में भूल से सम्मिलित कर दिया गया है।

५— लिङ्ग-पुराण

यत्राग्निलिङ्गमध्यस्थः प्राह देवो महेश्वरः।
धर्मार्थकाममोक्षार्थमाग्नेयमधिकृत्य च॥

गुरु विरजानन्द दण्डी
स्वतन्त्र पुस्तकालय
पु परिग्रहण क्रमांक 2841
दयानन्द महिला म[illegible]

कल्पान्ते लिङ्ग मित्युक्तं पुराणं ब्रह्मणास्वयम् ।
तदेकादशसाहस्रम् ।

(मत्स्य ५३ । ३६-३७)

अर्थात्—जिस ग्रन्थ में महेश्वरदेव ने आग्नेय कल्प को लक्ष्य करके और अग्नि लिङ्ग में स्थित होकर धर्म्म, अर्थ, काम और मोक्ष-चारों पदार्थों की प्राप्ति का साधन बताया हो वही 'लिङ्ग-पुराण' है। जिसकी पद्य संख्या ग्यारह हजार है।

उपलब्ध लिङ्ग पुराण में उपर्य्युक्त लक्षण सर्वथा घटित होता है पद्य संख्या भी प्रायः ठीक है।

६— गरुड-पुराण

(क) यदा च गारुडे कल्पे विश्वाण्डाद्गरुडोद्भवम् ।
अधिकृत्याब्रवीद्विष्णु र्गारुडं तदिहोच्यते ॥
तदष्टादशकं चैव सहस्राणीह पठ्यते ॥

(मत्स्य ५३ । ५२-५३)

(ख) एकोनविंशसाहस्रं तार्क्ष्यकल्पकथान्वितम् ।

(नारद-पुराण ४ । ६)

अर्थात्—(क) जिस ग्रन्थ में विष्णु भगवान् ने गारुड कल्प के प्रसंग में विश्वरूप अण्ड से लेकर सब वृत्तान्त गरुड के प्रति वर्णन किया है वही पुराण 'गरुड-पुराण' संज्ञा वाला है इसकी पद्य संख्या अठारह हजार है अथवा (ख) उन्नीस हजार है।

उपलब्ध गरुड-पुराण में यह लक्षण अंशतः घटित होता है परन्तु पद्य संख्या प्रेत कल्प सहित अन्यून ग्यारह हजार ही शेष है। वास्तव में इस पुराण का प्रमाण १८५०० था, ५०० के तारतम्य से ही मत्स्य और नारद पुराणोक्त प्रमाण में एक सहस्र का अन्तर है ऐसा कई पण्डितों का मत है।

७—नारद-पुराण

शृणु विप्र ! प्रवक्ष्यामि पुराणं नारदीयकम् ।
पञ्चविंशतिसाहस्रं बृहत्कल्पकथाश्रयम् ॥

अर्थात्— हे विप्र ! सुनो, तुम्हारे प्रति नारदीय पुराण कहता हूं। यह पुराण बृहत्कल्प की कथा संयुक्त पच्चीस हजार पद्य संख्या वाला है।

उपलब्ध नारद-पुराण में बृहत्कल्प का सम्बन्ध तो तथैव मिलता है, परन्तु अन्यान्य पुराणों की भांति उक्त पुराण के भी अन्यून तीन हजार पद्य लुप्त प्राय हैं।

८— भागवत-पुराण

यत्राधिकृत्य गायत्रीं वर्ण्यते धर्म्मविस्तरः।
वृत्रासुरवधोपेतं तद् भागवतमुच्यते॥
अष्टादश सहस्राणि पुराणं तत्प्रकीर्तितम्॥

(मत्स्य-५३। २१-२२)

अर्थात्—जिस ग्रन्थ में गायत्री अवलम्बन पूर्वक विस्तार से धर्म्म का तत्व वर्णित हो, तथा वृत्रासुर का बध कहा गया हो वही पुराण 'भागवत' संज्ञक है। जिस का प्रमाण अठारह हजार है।

उक्त लक्षण उपलब्ध श्रीमद्भागवत और देवी भागवत दौनों में ही सामान्यतया घटित है, श्लोक संख्या भी प्रायः प्रत्येक की अठारह हजार ही है।

९— अग्नि-पुराण

यत्तदीशानकं कल्पं वृत्तान्तमधिकृत्य च।
वसिष्ठायाग्निना प्रोक्तमाग्नेयं तत्प्रचक्षते॥
तच्च षोडश साहस्रं सर्वक्रतुफलप्रदम्॥

(मत्स्य ५३। २९-३०)

अर्थात्—ईशान कल्प के वृत्तान्त प्रसङ्ग में अग्नि ने वशिष्ठ को जो उपदेश दिया वही 'अग्नि-पुराण' है। जिसकी पद्य संख्या सोलह हजार है और वह सब यज्ञों का फल देने वाला है।

वर्तमान अग्नि पुराण में उपर्य्युक्त लक्षण एक अंश तक ही घटित होता है। परन्तु पद्य संख्या प्रायः ठीक है, जान पड़ता है कि इसका वास्तविक अंश लुप्त हो जाने पर अन्यान्य पुराणों या उपपुराणों का उद्धरण सम्मिलित होगया है।

१०— स्कन्द-पुराण

यत्रमाहेश्वरान्धर्म्मानधिकृत्य च षण्मुखः ।
कल्पे तत्पुरुषे वृत्तं चरितैरुपबृंहितम् ॥
स्कान्दं नाम पुराणं वै तदेकाशीति गद्यते ।
सहस्राणि शतं चैकमिति मर्त्येषु गद्यते ॥

(मत्स्य ५३ । ४१-४२)

अर्थात्— जिस ग्रन्थ में षण्मुख (स्कन्द) ने तत्पुरुष कल्प के वृत्तान्त को लक्ष्य करके अनेक चरितों से प्रबृद्ध माहेश्वर धर्म्मों का प्रतिपादन किया हो- उसकी 'स्कन्द-पुराण' संज्ञा है। जिसकी पद्य संख्या इकासी हज़ार एक सौ, मर्त्यलोक में प्रसिद्ध है।

उपलब्ध स्कन्द-पुराण में माहेश्वर धर्म्म प्रतिपादनात्मक लक्षण तो प्रायः घटता है, परन्तु श्लोक संख्या उल्लेख से अधिक पाई जाती है, जिस में कुछ भाग पुराणान्तर का सम्मिलित हुवा प्रतीत होता है और शेष पश्चात्प्रक्षिप्त जान पड़ता है।

११— भविष्य-पुराण

यत्राधिकृत्य माहात्म्यमादित्यस्य चतुर्मुखः ।
अघोरकल्पवृत्तान्तप्रसङ्गेन जगत्स्थितम् ॥
मनवे कथयामास भूतग्रामस्य लक्षणम् ।
चतुर्दश सहस्राणि तथा पंच शतानि च ॥
भविष्यचरितप्रायं भविष्यं तदिहोच्यते ॥

(मत्स्य ५३ । ३०-३२)

अर्थात्— जिस ग्रन्थ में चतुर्मुख ब्रह्मा ने मनु के प्रति अघोर कल्प के वृत्तान्त प्रसङ्ग से सूर्य्य भगवान् का माहात्म्य वर्णन करते हुवे जगत् की स्थिति और भूतग्राम का निर्देश किया हो तथा जिसमें अधिकता से भविष्यत् चरित्रों का समावेश हो वही 'भविष्य-पुराण' है जिसकी पद्य संख्या चौदह हज़ार पांच सौ है ॥

मुद्रित 'भविष्य-पुराण' की प्रति में उपर्य्युक्त लक्षण घटित नहीं होता, पद्य संख्या का भी बिलकुल मेल नहीं।- होसकता है कि इस में कुछ अंश असली

भविष्य-पुराण का सम्मिलित हो, तथापि यह प्रायः उपेक्षणीय है खास कर प्रतिसर्ग पर्व तो सर्वथा अमान्य है, हमें कहते हुवे दुःख होता है कि आपस्तम्ब धर्म्मसूत्र (२।२४।५-६) आदि प्राचीन ग्रन्थों में जिस भविष्य-पुराण का सन्मान पूर्वक उल्लेख मिलता है वह महामहिम उपयोगी ग्रन्थ आज अदृश्य होरहा है।

१२—ब्रह्म-वैवर्त-पुराण

रथन्तरस्य कल्पस्य वृत्तान्तमधिकृत्य च।
सावर्णिना नारदाय कृष्णमाहात्म्यमुत्तमम्॥
यत्र ब्रह्मवराहस्य चरितं वर्ण्यते मुहुः।
तदष्टादशसाहस्रं ब्रह्मवैवर्तमुच्यते॥

(मत्स्य ५३।३३-३४)

अर्थात्—जिस ग्रन्थ में सावर्णि ने नारद के प्रति रथन्तर कल्प के वृत्तान्त को लक्ष्य करके कृष्ण भगवान् का उत्तम माहात्म्य, और ब्रह्म वराह का विस्तृत चरित्र वर्णन किया है। वह 'ब्रह्म-वैवर्त' संज्ञा वाला पुराण है, जिसकी पद्य संख्या अठारह हजार है।

मुद्रित 'ब्रह्म वैवर्त' में सर्वांश में यह लक्षण घटित नहीं होता, पद्य संख्या की भी यही दशा है। यद्यपि इसका अधिकांश तो असली ब्रह्मवैवर्त का अंग ही जान पड़ता है, तथापि बहुत सा अंश रूपान्तर प्राप्त एवं पश्चात्प्रक्षिप्त ही है। खास कर गणेशखण्ड तो प्रत्यक्ष ही अधूरा जान पड़ता है।

१३—मार्कण्डेय-पुराण

यत्राधिकृत्य शकुनीन्धर्म्मान्धर्म्मविचारणान्।
व्याख्याता, वै मुनिप्रश्नामुनिभिर्धर्म्मचारिभिः॥
मार्कण्डेयेन कथितं तत्सर्वं विस्तरेण तु।
पुराणं नवसाहस्रं मार्कण्डेयमिहोच्यते॥

(मत्स्य ५३।२६-२७)

अर्थात्—जिस ग्रंथ में धर्म्म और अधर्म्म के विचारक पक्षियों के प्रसङ्ग से धर्म्माचरण युक्त मुनियों ने अनेक प्रश्नोत्तर किये हों और उसी वृत्तान्त को मार्कण्डेय

जी ने विस्तार पूर्वक सुनाया हो वही 'मार्कण्डेय-पुराण' है। इसकी श्लोक संख्या नौ हजार है।

उपलब्ध मार्कण्डेय पुराण में उपर्युक्त लक्षण सर्वथा घटित होता है। पद्य संख्या इस समय ७ हजार के लगभग है। मुद्रित पुराण नरिष्यन्त के चरित पर समाप्त होजाता है, परन्तु नारद पुराण की सूची के अनुसार यह पुराण इक्ष्वाकु से कुश पर्य्यंत और पुरूरवा से श्रीकृष्ण चरित्र तक विशिष्ट वर्णन करके अन्त में मार्कण्डेय चरित पर समाप्त होना चाहिये। इस लिये स्पष्ट है कि इसका अन्तिम अंश विलुप्त होचुका है अथवा पुराणान्तर में इसके दो हज़ार पद्यसम्मिलित होगये हों? प्राप्य अंश सब का सब असली 'मार्कण्डेय-पुराण' है ही यह सभी समालोचक स्वीकार करते हैं।

१४— वामन-पुराण

त्रिविक्रमस्य माहात्म्यमधिकृत्य चतुर्मुखः।
त्रिवर्गमब्रवीत्तच्च वामनं परिकीर्तितम्॥
पुराणं दशसहस्रं कूर्म्मकल्पानुगं शिवम्।

(मत्स्य ५३। ४४-४५)

अर्थात्— जिस ग्रन्थ में चतुर्मुख ब्रह्मा ने कूर्म्म कल्प के अनुसार त्रिविक्रम भगवान् का चरित्र कहते हुवे त्रिवर्ग का प्रतिपादन किया हो वह 'वामन-पुराण' है जिसका प्रमाण दश हज़ार है।

उपलब्ध वामन पुराण में यह लक्षण तो सर्वथा घटित होता है, परन्तु पद्य संख्या में चार हजार की न्यूनता है। कहा जाता है कि इसका उत्तर भाग विलुप्त होगया अतएव अपूर्ण है।

१५— वाराह-पुराण

शृणु पुत्र! प्रवक्ष्यामि वाराहं वै पुराणकम्।
भागद्वययुतं शश्वद् विष्णुमाहात्म्यसूचकम्॥
मानवस्य तु कल्पस्य प्रसङ्गं मत्कृतं पुरा।
निबबन्ध पुराणेऽस्मिंश्चतुर्विंशसहस्रके॥

(नारद ४। १२)

अर्थात्— हे पुत्र! सुनो, मैं वाराह पुराण का वर्णन करता हूँ, इसके दो भाग हैं, और यह विष्णु भगवान् की महिमा का सूचक है। मेरा उपदिष्ट मानव कल्प का प्रसङ्ग वेदव्यास ने २४ हजार श्लोकों में उक्त पुराण में निबद्ध किया है।

उपलब्ध मुद्रित वाराह पुराण में विष्णु भक्ति प्राधान्य रूप लक्षण ठीक घटता है, तथा भागद्वय का समावेश भी पाया जाता है परन्तु पद्य संख्या की बहुत कमी है मुद्रित ग्रन्थ में बारह हजार पद्य अवशिष्ट हैं। या तो इसका बहुत सा भाग पुराणान्तर में सम्मिलित होगया अथवा सर्वथा विलुप्त होगया।

१६—मत्स्य-पुराण

अथ मात्स्यं पुराणं ते प्रवक्ष्ये द्विजसत्तम!
यत्रोक्तं सप्तकल्पानां वृत्तं संक्षिप्य भूतले॥
व्यासेन वेदविदुषा नरसिंहोपवर्णनम्।
उपक्रम्य तदुद्दिष्टं चतुर्दशसहस्रकम्॥

(नारद ४। २६-३०)

अर्थात्— हे द्विजोत्तम! अब मैं तुम्हारे प्रति मत्स्य पुराण का वर्णन करता हूँ। इस पुराण में वेदवेत्ता व्यास जी ने नरसिंह वर्णन से आरम्भ करके सात कल्पों का वृत्तान्त संक्षेप पूर्वक वर्णन किया है। इसकी पद्य संख्या चौदह हजार है।

उपलब्ध 'मत्स्य पुराण' में उपर्युक्त लक्षण सर्वथा घटित होता है। पद्य संख्या भी अन्यून चौदह हजार ही है। इसलिये अहिन्दू समालोचकों ने भी इसकी वास्तविकता स्वीकार की है।

१७—कूर्म्म-पुराण

यत्र धर्म्मार्थकामानां मोक्षस्य च रसातले।
माहात्म्यं कथयामास कूर्म्मरूपी जनार्दनः॥
इन्द्रद्युम्नप्रसङ्गेन ऋषिभ्यः शक्रसन्निधौ।
अष्टादशसहस्राणि लक्ष्मीकल्पानुषंगिकम्॥

(मत्स्य ५३। ४७-४८)

अर्थात्— जिस ग्रन्थ में लक्ष्मीकल्प को लक्ष्य करके इन्द्रद्युम्न के प्रसङ्ग द्वारा रसातल में कूर्म्म रूपी भगवान् ने धर्म्म, अर्थ, काम और मोक्ष—चारों पदार्थों का ऋषियों के प्रति निरूपण किया हो वह 'कूर्म्म-पुराण' है। जिसकी पद्य संख्या अठारह हज़ार है।

इस समय उक्त पुराण की केवल एक संहिता ही प्राप्य है, शेष तीन संहिताएं नहीं मिलतीं, अतः उपर्य्युक्त लक्षण भी अपनी सीमा तक ही घटित होता है। नारद-पुराण में उक्त पुराण का प्रमाण १७ हजार लिखा है, कई पण्डितों के मत से वास्तविक प्रमाण १७६०० है, जो ६०० को अपेक्षाकृत एक हजार मानने पर या छोड़ देने पर उभयथा समन्वित होजाता है मुद्रित—ब्राह्मी-संहितात्मक-कूर्म्मपुराण की पद्य संख्या छः हजार है। जो नारदपुराण की सूची के अनुसार ठीक ही है।

१८— ब्रह्माण्ड-पुराण

ब्रह्मा ब्रह्माण्डमाहात्म्यमधिकृत्याब्रवीत्पुनः।
तच्च द्वादशसाहस्रं ब्रह्माण्डं द्विशताधिकम्॥

(मत्स्य ५३। ५५)

अर्थात्— ब्रह्माजी ने ब्रह्माण्ड का माहात्म्य दर्शाते हुवे जिसका कथन किया हो वही 'ब्रह्माण्ड-पुराण' है। इसकी पद्य संख्या बारह हजार दोसौ है।

उपलब्ध ब्रह्माण्ड पुराण में उक्त लक्षण सर्वथा घटित होता है, प्रमाण भी पूरा उतरता है, एशियाटिक सोसाइटी द्वारा प्रकाशित इस पुराण का मूलनाम—'वायु पुराण' छपा है। जिसका विवेचन यथा स्थान किया गया है। पाश्चात्य समालोचकों ने भी उक्त पुराण की वास्तविकता को माना है।

लक्षण-समन्वय-विवेचन

अष्टादश पुराणों के पुराणोक्त लक्षणों और पद्य प्रमाणों को पीछे अङ्कित किया जाचुका है, तथा वर्तमान समय में उपलब्ध- मुद्रित किं वा हस्तलिखित— प्रतियों में वे वे लक्षण कहां तक घटते हैं— तथा प्रमाणों का सामंजस्य कहां तक है यह भी प्रत्येक लक्षण के नीचे प्रकट कर दिया गया है। कोई भी विवेक शील पुरुष पूर्वोक्त 'लक्षण-समन्वय' को पढ़ कर इसी परिणाम पर पहुंचेगा कि प्राप्य पुराणों की कतिपय प्रतियें न्यूनाधिक्य और विरोध के कारण अंत्यय व्यत्यय अवश्य हैं।

हमने उक्त अत्यय व्यत्यय की स्पष्टता के लिये उपलब्ध पुराणों को निम्नलिखित छः भागों में विभक्त किया है, जिससे जिज्ञासु पाठकों को प्रत्येक पुराण का पूरा २ परिचय प्राप्त होसके। यथाः—

(१) पूर्ण पुराण—

जिन पुराणों में पूर्वोक्त लक्षण ठीक २ घटते हैं और पद्य संख्या भी उल्लेख के अनुसार ठीक पाई जाती हैं वे पुराण 'पूर्ण पुराण' कहे जाने योग्य हैं जैसे— (१) भागवत (२) लिङ्ग (३) मत्स्य और (४) ब्रह्माण्ड

(२) संभाव्य पूर्ण पुराण—

जिन पुराणों में पूर्वोक्त लक्षण तो ठीक घटते हैं परन्तु पद्य संख्या में कुछ न्यूनता (संभवतः गणनाविधान के वक्ष्यमाण नियमों के अतिक्रमण के कारण) पाई जाती है, वे पुराण 'सम्भाव्य पूर्ण-पुराण' कहे जाने चाहियें। यथा— (१) मार्कण्डेय (२) नारद और (३) पद्म

(३) अपूर्ण पुराण—

जिन पुराणों में अधिकांश लक्षण घटते हों परन्तु अधूरे होने के कारण पद्य संख्या की कमी हो वे 'अपूर्ण-पुराण' कहे जाते हैं। यथा— (१) विष्णु (२) शिव (३) गरुड (४) वामन (५) वाराह (६) कूर्म्म.

(४) अधिक पाठयुक्त—

जिन पुराणों में अधिकांश लक्षण घटते हों परन्तु पद्य संख्या उल्लेख से भी अधिक (पुराणान्तर से मिली हुई किं वा प्रक्षिप्त) पाई जाती हो वे पुराण उपर्य्युक्त संज्ञा से पुकारे जाने चाहियें। यथा— (१) स्कन्द और (२) ब्राह्म।

(५) पुराणान्तर पाठ्युक्त—

जिन पुराणों में लक्षणों या प्रमाणों का तो असामंजस्य हो परन्तु पद्य रचना आदि के विज्ञान से और ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय- की उपयोगिता से उसका आर्ष होना प्रमाणित हो वे पुराण उपर्य्युक्त कोटि में परिगणित होने चाहियें। यथा— (१) अग्नि (२) ब्रह्मवैवर्त

(६) चिन्त्य पाठ्युक्त—

जिसमें लक्षण और प्रमाण दोनों का ही प्रायः अभाव हो, साथ ही तुकड़ निठल्लों की करतूत से जिसका अधिकांश भाग अश्रद्धेय एवं चिन्तनीय जान पड़ता हो वह अन्तिम कोटि में परिगणित होने वाला (१) भविष्य-पुराण (खास कर प्रतिसर्ग पर्व) कहा जा सकता है।

हमने उपर्य्युक्त श्रेणीबन्धन में 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' वाली नीति का आश्रय लिया है, आंशिक दृष्टि से तो हमारे विभाग की सीमा का अतिक्रमण करके एक पुराण किसी दूसरी श्रेणी में भी प्रविष्ट होसकता है। परन्तु ऐसी क्लिष्ट कल्पना का कुछ अर्थ न होगा।

उपलब्ध वेदों से तुलना

ऊपर पुराणों की उपलब्ध प्रतियों के सम्बन्ध में जो विवेचना की गई है वह वेदों के विषय में भी एक सीमा तक लागू होती है। जिस प्रकार पुराणों का बहुत सा उपयोगी अंश लुप्त होचुका है अथवा भविष्य के गर्भ में लीन है, ठीक इसी प्रकार हिन्दू जाति के प्राणाधार वेदों का भी बहुत बड़ा भाग आज लुप्तप्राय है।

व्याकरण महाभाष्य में पतञ्जलि ने ऋग्वेद की २१; यजुर्वेद की १०१, सामवेद की १०००, और अथर्ववेद की ९ शाखाओं का ज़िक्र किया है। वेदों के महारथी षड्गुरु शिष्य ने भी चरणव्यूह आदि ग्रन्थों में कई बार इसका समर्थन किया है परन्तु आज अंगुलियों पर गिनने के लायक दश पांच को छोड़ कर शेष शाखाएं कहां हैं? मुद्रित और विभिन्न पुस्तकालयों में सुरक्षित- सब मिलकर भी जहां तक आज कल पता चलता है- उपर्य्युक्त संख्या का दशांश अवशिष्ट नहीं है! कहां है वह धनुर्वेद जिसके अध्ययन से द्रोण, अर्जुन और करण जैसे वीरों ने— शब्दवेध-चल लक्ष्यवेध तथा वर्तुलवेध आदि लोकोत्तर कर्तब कर दिखाए थे। आत्मा और परमात्मा की तार को मिला देने वाला गन्धर्ववेद किस गुफा में अनन्त समाधि लगाए बैठा है? समुद्रों

के पुल बांध कर जगत् को अद्यावधि चकित करने वाला, और सहस्रों सेना सहित भगवान् राम को अकिंचित् काल में अयोध्या पहुंचाने वाला शिल्प जिस 'स्थापत्यवेद' का विषय था, आज वह भी हम से ओझल होरहा है न ?

न्यून-अधिक-पाठ

पाठों की न्यूनता और अधिकता, तथा अन्यान्य वैषम्य जैसे पुराणों में उपलब्ध होते हैं वैसे ही वेदों की विभिन्न शाखाओं में भी पाए जाते हैं। वास्तव में शाखा भेद का प्रधान कारण ही पाठान्तर प्रणालि है। इस विषय में हम स्वयं कुछ अधिक न कहते हुवे वैदिक साहित्य के विशेषज्ञ श्री सत्यव्रत सामश्रमी के विचार उद्धृत करना पर्य्याप्त समझते हैं। आप लिखते हैं कि :—

तासां च सर्वासामेव संहितानां बहु प्राचीनत्वात् कालभेद, देशभेद, व्यक्तिभेदादिभिरध्ययनाध्यापनयोरुच्चारणादि भेदाःपाठभेदाश्च सम्पन्नाः। पाठन्यूनातिरिक्तता च किञ्चित् सञ्जाता। (निरुक्तालोचन पृष्ठ १७४)

अर्थात्— संहिताओं के अतिप्राचीन होने से उन में काल–देश–व्यक्ति के विभिन्न होने के कारण पढ़ते पढ़ाते समय उच्चारण और पाठ में भेद होगया। इसी प्रकार पाठ की न्यूनता और अधिकता भी होगई।

यह एक स्वाभाविक परिवर्तन है, जो हजार प्रयत्न करने पर भी टल नहीं सकता वेदों की रक्षा के लिये उनके एक एक अक्षर को गिन लिया गया तौ भी पाठान्तर का प्रवाह न रुक सका, तब तो मन्त्राक्षरों का यथार्थ क्रम स्थिर रखने के लिये ऋषि व्यग्र हो उठे और उन्होंने पद, क्रम, घन, जटा, माला, शिखा, लेखा, ध्वज, दण्ड और रथ आदि पद्धतियों द्वारा मन्त्राक्षरों के पौर्वापर्य्य को यथा तथा स्थिर रक्खा। इस लिये जब हम वेद शाखाओं में भी देश काल परिस्थिति के अनुसार अनिवार्य्य न्यूनाधिक्य देख पाते हैं तथापि प्रत्येक ग्रन्थ के लिये हमारे हृदय में तथैव श्रद्धाभाव बना रहता है, तो फिर उसी देश–काल–परिस्थिति के वक्र चक्र को भूल कर पुराणों के अगण्य परिवर्तन को पर्वतायमान करके दिखाने का उपहासास्पद प्रयत्न क्यों किया जाता है ? यह हमारी समझ में नहीं आता।

इस प्रसङ्ग में यह बता देना भी अनावश्यक न होगा कि आज से पांच हज़ार वर्ष पूर्व श्री वेदव्यास जी ने अपने नाम को अन्वर्थ करते हुवे गुरु शिष्य परम्परागत वेद मन्त्रों का याथातथ्येन स्वरूप स्थिर किया था, और उसी समय पुराणों का भी

संकलन किया था। पाठ व्यत्यय की व्यवस्था इससे पूर्व काल में कैसी थी– इसका तो अनुमान करना भी मनुष्य बुद्धि से बाहिर है, तथापि यह मानने में किसी भी सत्यप्रिय को आना कानी नहीं हो सकती कि इस समय जो पाठों की न्यूनता वा अधिकता मिलती है वह वेदों और पुराणों–दोनों में ही पांच हजार वर्ष से इधर की है। चर्वाक,– बौद्ध,– जैन– और खास कर यवन काल में धर्म्मान्धता से वेदों और पुराणों का समूलनाश करने के लिये जो जघन्य प्रयत्न वर्ताव में लाए गए हैं उनका प्रभाव प्रायः सभी हिन्दू–साहित्य पर पड़ा है। उस में भी पुराण तो सदा से कथा-प्रसङ्गों द्वारा सर्वजनीन से रहे हैं, अतः उन में वक्ताओं के बाहुल्य के कारण– मनुष्य बुद्धि सुलभ फेरफार का आजाना अधिक सम्भव है।

पद्य–संख्यान–विधि

कुछ पाश्चात्य समालोचकों ने तथा उनके चर्वित चर्वण मही चातुर्य की चरम सीमा मानने वाले दयानन्दी लोगों ने पुराणों की पद्य–संख्या गिनने की पद्धति से अनभिज्ञ होने के कारण भारी भूल खाई है। अतएव भागवत मत्स्य आदि पूर्ण–संख्या–सम्पन्न–पुराणों का प्रमाण भी अटकल पच्चू न्यूनाधिक लिख मारा है। अतः हम यहां पद्य–संख्यान–विधि का निरूपण कर देना आवश्यक समझते हैं

(१) पद्य या श्लोक सामान्यतया अनुष्टुप् संख्यात्मक ३२ अक्षरों के समुदाय को कहते हैं।

(२) अध्यायों की पुष्पिकाएं भी संख्या में सम्मिलित हैं परन्तु उन में अक्षरों की संख्या का नियम लागू नहीं प्रत्येक को एक पद्य ही माना जाता है यथा— 'इति श्री···पुराणे···अमुक चरित्र वर्णने·····अध्यायः' इत्यादि

(३) वाक्य का पूर्ण विराम होजाने पर श्लोकार्ध को भी एक पद्य गिना जाता है।

(४) वाक्य विराम की सापेक्षता में डेढ़ श्लोक को भी एक ही पद्य समझा जाता है।

(५) बहुत से स्तोत्रों में उपजाति आदि वृत्तों के प्रत्येक श्लोक को एक ही माना जाता है वहां बत्तीस अक्षरों वाला नियम लागू नहीं होता।

(६) जिन ग्रन्थों का नियमित पारायण होता है उनके मध्यवर्ती खास खास स्तोत्रों के एक ही श्लोक के अनेक 'नमः' शब्दों के अनुसार उतने ही पद्य मान लिये जाते हैं, यहां भी बत्तीस अक्षरों वाला नियम लागू नहीं होता।

(७) प्रत्येक '.....उवाच' को एक पद्य माना जाता है।

(८) मुख्य श्रोता वक्ता के सम्वाद से पूर्वापरवर्ती अंश को पारायण प्रधान पुराणों में परिगणित भी नहीं किया जाता।

उपर्य्युक्त नियमों की छाया पाठकों को मार्कण्डेय पुराणान्तर्गत जगत्प्रसिद्ध ग्रन्थ 'दुर्गा सप्तशती' की प्रत्येक प्रति में उपलब्ध होसकती है। अतः यहां उदाहरण देना व्यर्थ है। तथापि किस पुराण में किन २ नियमों के अनुसार पद्य, पद्यांश, तथा बृहद्वृत्तों की गणना होनी चाहिये, और उसके कौन २ स्तोत्र उपर्य्युक्त नियमों में आबद्ध होसकते हैं यह विवेचन गुरुशिष्य परम्परागत- सम्प्रदाय पर निर्भर है। हम नहीं कह सकते कि दूसरे संस्कृत ग्रन्थों की गणना में उपर्य्युक्त नियमों का उपयोग होसकता है या नहीं! किन्तु पुराणों के सम्बन्ध में गुरुमुख से ऐसा अवश्य सुना है। प्रत्येक पुराण के सम्बन्ध में एक २ स्वतन्त्र ग्रन्थ, उक्तमाला में ग्रथित करने का जब सुअवसर मिलेगा उस समय इस विषय को अधिक विस्तार पूर्वक लिखने का सङ्कल्प है, परमात्मा बल दे।

प्रक्षिप्त-पाठ

आज देश में एक ऐसा दल उत्पन्न होगया है जो कि प्रत्येक पुरातन ग्रन्थ को सशङ्क-दृष्टि से देखता है। उसका कथन है कि न केवल पुराण, महाभारत, रामायण और स्मृति-सूत्र ग्रन्थों में ही बल्कि वेदों में भी प्रक्षिप्त पाठों की भरमार है। यदि यह रोग वाचिक सीमा तक ही मर्य्यादित रहजाता तो इसे शङ्का-सन्निपात-जन्य-प्रलाप कह कर उपेक्षा कर देते परन्तु अब तो इस दल ने हिन्दू सभ्यता का मटियामेट करने के लिये धार्म्मिक ग्रन्थों पर खुला धावा बोल दिया है, आये दिन कतर व्योंत की काली करतूत के नमूनों से भरपूर ग्रन्थ छप कर गली २ बिक रहे हैं। चारवाक-बौद्ध-जैन और यवनों के बाद इस शताब्दी में पहिले पहिल इस धार्मिक बगावत का सूत्रपात आर्य्यसमाज प्रवर्तक स्वामी दयानन्द ने किया था, आपने ही अपने मन्तव्यों के विरुद्ध मिलने वाले प्रमाणों को अर्धचन्द्र देने का यह सुगम- किन्तु धूर्तता पूर्ण- मार्ग निकाला था, तब से यह बीमारी उत्तरोत्तर बढ़ती ही जा रही है, स्वामी दयानन्द को क्या पता था कि आज जिस मार्ग का अवलम्बन करके मैं दूसरों को झूठा बता रहा हूँ कल को इसी संघातकारी मार्ग पर आरूढ होकर मेरी शिष्यता का दम भरने वाले छोकरे

उल्टा मुझे भी धता बता सकेंगे। कौन नहीं जानता कि स्वा० दयानन्द के जीवन काल से आरम्भ करके उनके 'वैदिक यन्त्रालय' (अजमेर) में वेदों की चार शाखाएं छपती आरही हैं परन्तु अब पिछले दिनों समाजी स्वामी हरिप्रसाद ने 'साम-संहिता' के केवल पचहत्तर मन्त्र रख कर शेष सबों को निकाल डाला है और अपने आग्रहानुसार इतने को ही वे सामवेद सिद्ध करने की दुश्चेष्टा में प्रयत्न शील हैं।

इसी प्रकार 'अथर्ववेद संहिता' के कुन्तायसूक्त नामक भाग को- महाशय भगवद्दत्त रिसर्च स्कालर (डी० ए० वी० कालेज लाहौर) त्याज्य समझते हैं, जिसका ऐलान आपने 'वैदिक कोश' की भूमिका के नौवें पृष्ठ पर निम्नलिखित शब्दों में किया है :— 'अथर्व वेद के जिस सूक्त में परीक्षित शब्द आया है वह कुन्ताय सूक्तों में पहला है। कुन्ताय सूक्त अथर्वसंहितान्तर्गत नहीं हैं।' एक दूसरे साहिब काम सूक्त पर चौंका लगाना चाहते हैं, तीसरे 'बालखिल्य सूक्त' की चटनी करने को उद्यत हैं। कहा जाता है कि महाशय विश्वबन्धु जी और उनके साथी तो वेदों की अपौरुषेयता में ही सन्देह रखते हैं इसी लिये गत वर्ष लाहौर में कई दिनों तक गुप्त शास्त्रार्थ होते रहे हैं। स्वामी प्रेस (मेरठ) द्वारा प्रकाशित मनुस्मृति, आर्ष ग्रन्थावलि (लाहौर) के समस्त ग्रन्थ तथा अन्यान्य समाजी प्रेसों की छपी पुस्तकों के देखने पर कांट छांट और डांट फांट के हृदयविदारक दृश्य आंखों के सामने नाचने लग जाते हैं। औरंगजेब आदि यवन बादशाहों ने हमारे- ग्रन्थ भण्डार को फूंक डाला जिस से महामहिम ग्रन्थ लुप्त होगये, लेकिन इस नई औरंगजेबी का भी कोई ठिकाना है कि ग्रन्थों का रूप बदला जारहा है, हिन्दू जाति के दौर्भाग्य से यदि यह "बेढंगी रफ़्तार" इसी प्रकार कुछ दिन तक और जारी रही तो ग्रन्थों के वास्तविक स्वरूप का पता लगाना भी- कठिन ही नही- बल्कि असम्भव होजाएगा। इस दल की कतर ब्यौंत का पता इस से लग सकता है कि हमने इस दल की ओर से प्रकाशित हुई तीन चार प्रकार की गीताओं को देखा है॥ एक में सिर्फ तेरह अध्याय हैं शेष अंश को दूध की मक्खी की तरह निकाल फैंका है, यह 'भास्कर प्रेस' मेरठ में भूमित्र शर्मा आर्य्योपदेशक और शिवदत्त शास्त्री ने छपाई है। दूसरी में केवल ७० श्लोक लिख कर उसे ही यथार्थ गीता सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, यह लाहौर में मिलती है। तीसरी में श्लोक तो सब छाप दिये हैं, परन्तु जो २ श्लोक अपने मन घड़न्त आपापन्थ के विरुद्ध देखा, उस पर लम्बी चौड़ी टिप्पणी लिख डाली कि "यह प्रक्षिप्त है" प्रोफेसर राजाराम इसके सम्पादक हैं। जिस गीता के ज्ञान पर विश्व की समस्त सभ्य जातियें

मुग्ध होरही हैं, उसी गीता के लिये, आर्य जाति का एक दल इस प्रकार अनधिकार चेष्टा करे यह कितने शोक की बात है।

इस से भी महाशोक की बात यह है कि इस दल के पास किसी भी श्लोक के प्रक्षिप्त होने का कोई प्रमाण नहीं है। केवल कपोल कल्पना के आधार पर ही यह सब कुछ किया जाता है— इस दल की तो यह नीति है, कि, जो उसे अपने विचारों के प्रतिकूल जान पड़ा या जिसकी व्यवस्था लगाने में काठिन्य दीखा, बस, झट उसे "प्रक्षिप्त" कह दिया, उस दल का यह "ब्रह्मास्त्र" है जहां कुछ न कह सके, और पराजित होने लगे कि इसका प्रयोग कर डाला, फिर चाहे उससे आत्म संहार ही क्यों न हो जावे।

आर्य्यसमाज की इस अनधिकार चेष्टा पर हम स्वयं कुछ न कह कर आर्य्य-समाज के एक कट्टर भक्त के शब्दों को उद्धृत करते हैं, जो आपने इन मूसापन्थियों की कतर ब्योंत से ऊब कर कहे हैं पढिये—

पं० नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ "आर्य्यसमाज का इतिहास" पृष्ठ २३५ पर लिखते हैं:-

"इस गीता को अपने मत में ढालने के लिये स्वामी जी ने तो कोई यत्न नहीं किया था परन्तु उनके पीछे कतिपय अनुयायियों ने विचित्र प्रयत्न किये। सबसे प्रथम प्रयत्न श्री पं० भीमसेन शर्म्मा इटावा निवासी ने किया था। आपने जिस २ श्लोक में भी "अहं" या "मां" पद देखा झट उस श्लोक को अर्धचन्द्र देकर बाहर निकाला और लगभग २३८ श्लोकों को प्रक्षिप्त बतलाया। इसके पश्चात् दूसरा प्रबल प्रयत्न—हम प्रबल प्रयत्न इस लिये कहते हैं कि श्लोकों को प्रक्षिप्त बताकर अपने मतानुकूल संगति लगाना सहज कार्य्य था परन्तु श्लोकों को रखते हुवे अपने मत में ढालना जरा कठिन बात थी। परन्तु ऐसा प्रबल प्रयत्न—कतिपय माननीय वृद्धों की ओर से हुवा (शायद यह इशारा पं० आर्य्यमुनि की ओर है) उन्होंने जहां जहां 'अहं' पद देखा वहां "ईश्वर" अर्थ किया और 'मां' से "वैदिक धर्म्म" लिया। बस कुरुक्षेत्र की गीता एक दम अपना स्वरूप बदल कर गुफा में बैठकर ध्यान योग सिखाने वाली पुस्तक बन गई। और गीता का वह सुन्दर स्वरूप पार जाता रहा। और "गणेशं कुर्वाणो वानरं चकार" यह उक्ति सर्वथा चरितार्थ होगई। श्री पं० भीमसेन

जी की गीता में एक बात तो थी कि श्लोकों के निकालने पर भी गीता का स्वरूप विकृत न हुवा था। पर हमारे वृद्ध महानुभावों की गीता कुछ की कुछ बन गई। हमारी समझ में यह दोनों प्रकार के प्रयत्न उचित नहीं थे। ....."प्रक्षिप्त" "अनुक्षिप्त" और "विक्षिप्त" का प्रत्येक ग्रन्थ में अडंगा लगाने वाले हमारे आर्य्य भाई "उत्साह" की भी कोई अवधि है। वह उत्साह ग्रन्थों की कतर ब्योंत में न लगाना चाहिये।

यहां तक उस दल की दुस्साहस पूर्ण नीति का पड़दा फाश किया है जो कि अन्ध अविश्वास की दलदल में आशिरोमग्न होकर वेदों का भी सफाया करने पर तुला है। परन्तु इसके अतिरिक्त एक दूसरा दल भी महाभयानक है जो कि अन्ध विश्वास के कारण एक अक्षर को भी प्रक्षिप्त मानने के लिये तयार नहीं है। हम इसे 'महाभयानक' इस लिये कह रहे हैं कि जिस प्रकार आर्य्यसमाजी आदि अन्ध-अविश्वास के कारण ग्रन्थों के रूप को विगाड़ रहे हैं, इसी प्रकार चन्द सनातनधर्मी भी अन्ध-विश्वास के कारण प्रत्येक पाठ के समर्थन की धुन में आकाश पाताल को एक करने में कोर कसर नहीं रखते। हम 'अन्ध-विश्वास' और 'अन्ध-अविश्वास' दोनों को ही बराबर समझते हैं, तथा प्रक्षिप्त मान कर किसी अंश को निकाल देना उतना ही अपराध समझते हैं जितना कि अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिये अधिक मिला देने में समझा जा सकता है। इस लिये हम तो निस्सङ्कोच भाव से यह कह सकते कि पुराणों में प्रक्षिप्त है और अवश्य है परन्तु उसके एक भी अक्षर को निकाल डालने का किसी व्यक्ति को अधिकार नहीं है,— कुछ दिन से लोगों में भले ही यह धारणा परिपक्व होजाए कि 'प्रक्षिप्त' किसी हेय, अनुपादेय, एवं दूरतस्त्याज्य वस्तु का नामान्तर है परन्तु वास्तव में- 'मूल ग्रन्थ के रचयिता से भिन्न व्यक्त्यन्तरनिर्मित' ही इसका अर्थ होसकता है।

वेदों को छोड़ कर अन्य किसी भी ग्रन्थ में यदि ऐसे पाठों की सम्भावना हो तो उसकी हेयोपादेयता की व्यवस्था वेद मूलकता पर ही निर्भर है, कोई प्रक्षिप्त अंश केवल इस लिये ही त्याज्य नहीं होसकता कि वह व्यक्त्यन्तर निर्मित है और नाहीं स्मृति पुराण आदि किसी ग्रन्थ विशेष का मूल पाठ केवल इस लिये ही ग्राह्य हो सकता है क्यों कि वह मूलग्रन्थ निर्माता की कृति है।- इस प्रकार के विचार ग्रन्थ निर्माता के विषय में श्रद्धातिरेक के परिचायक भले ही होसकते हों परन्तु धर्म्माधर्म्म के निर्णय में निर्माता के बजाय वेदमूलकता ही कसौटी होनी चाहिये।

इस प्रकार पुराणों में प्रक्षिप्त अंश ज्यों का त्यों बना रहने पर भी वह किसी के गले चिपता नहीं फिरेगा— प्रक्षिप्त की तो गाथा ही क्या है- पुराणेतिहास का मूल पाठ भी किसी व्यक्ति के गले का हार नहीं बनता क्यों कि हमारे महर्षियों ने धर्म्माधर्म्म निर्णय में जहां— श्रुति (वेद) स्मृति (मन्वादि धर्म्मशास्त्र) और सदाचार (पुराणेतिहास) को कसौटी माना है वहां 'स्वस्य च प्रियमात्मनः' कह कर वैयक्तिक स्वतन्त्रता को भी पर्य्याप्त स्थान दिया है। ऐसे उदार एवं सार्वभौम धर्म्म को प्रक्षिप्तांश की उपस्थिति से ठेस पहुंचने की सम्भावना करना भी धर्म्म का अपमान करना है, इस लिये हम तो यही कहेंगे कि पुराणों में प्रक्षिप्त रहे। और मूल से भी अधिक सुरक्षित रहे-तथा एक सद् गृहस्थी के घर में दूरागत अतिथि जिस प्रकार सन्मान पूर्वक रहा करता है उसी भान्ति शिरोधार्य्य बनकर रहे।

पुराणों के जिन २ अंशों को आधुनिक समालोचक प्रक्षिप्त समझते हैं उनकी इयत्ता और यथार्थता को मर्य्यादित करने के लिये हमने नीचे लिखे विभागों की कल्पना की है, जिससे थोड़े ही प्रयास से इस विषय का अधिक ज्ञान हो सकता है। यथाः—

(१) अपेक्षित प्रक्षिप्त—

किसी प्रसंग की अपेक्षा कृत जिज्ञासा को पूर्ण करने के लिये जो आवश्यक अंश किसी महानुभाव ने उपकार दृष्टि से बढाया है उसे 'अपेक्षित-प्रक्षिप्त' समझना चाहिये। मुद्रित प्रतियों में ऐसे अंश को प्रायः धनुषाकार ( ) चिन्हों से मर्य्यादित छापा है, अथवा स्पष्ट ही 'इतः प्रभृतिप्रक्षिप्ता अध्यायाः पञ्च' ऐसा लिख दिया है। यथा— श्रीमद्भागवत दशमस्कन्ध, अध्याय तीसरे के ४५ वें श्लोक से आगे 'यदि कंसाद् बिभेषि त्वं तर्हि मां गोकुलं नय' आदि पद्य अपेक्षाकृत आवश्यकता पूरक है।

(२) साम्प्रदायिक-प्रक्षिप्ताभास—

वेदादि ग्रन्थों में एक ही परमात्मा की उपासना के लिये मनुष्य प्रकृति के मुख्य पांच विभागों के विचार से वैष्णव, शैव, शाक्त, सौर और गाणपत्य नामक पांच सम्प्रदायों का निर्देश मिलता है, आरम्भ में प्रत्येक अधिकारी के लिये किसी एक ही रूप के आश्रय से 'अनन्यताभाव' की भी एक सीमा तक आवश्यकता प्रकट की गई है, अन्त में यही अनन्यता

भाव 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' के रूप में परिणत हो जाता है, इस वैज्ञानिक उपासना पद्धति का विवेचन उक्त ग्रन्थ में यथास्थान किया जायगा। यहां केवल इतना समझ लेना चाहिये कि पुराणों में भी उक्त वैदिक सिद्धान्त का पर्य्याप्त पोषणकिया गयाहै। तदनुसार प्रत्येक पुराण में यथासम्भव पांचों सम्प्रदायों के वर्णन के साथ २ किसी एक सम्प्रदाय को विशिष्ट स्थान दिया गया है, इस सीमा तक वर्णित साम्प्रदायिकता को हम प्रक्षिप्त मानने के लिये तयार नहीं, जो शब्द-- आधुनिक समालोचकों से 'जिसका विवाह उसके गीत' वाली लोकोक्ति के अनुसार प्रत्येक पुराण अपने २ वर्णित ग्रन्थनायक को सब कुछ मान कर बाकियों को उसके अनुचर सिद्ध करता है'—ऐसे उद्गार प्रकट करवाते हैं वही शब्द सम्प्रदाय-समन्वय के तत्वज्ञों को अधिकारी भेद से सुव्यवस्थित एवं अनन्यता-प्रतिपादक प्रतीत होते हैं, इस में केवल संकुचित और व्यापक दृष्टि का ही अन्तर है। अतः हम पाश्चात्य समालोचकों की, और उनके पीछे लगुवे समाजियों की दृष्टि में प्रक्षिप्त जंचने वाले प्रदर्शित सीमा के अन्तर्वर्ती साम्प्रदायिक अंशों को 'प्रक्षिप्ताभास' नाम से ही स्मरण करेंगे। यथाः— 'नास्ति विष्णोः परंधाम' (पद्म० ६। ३१। ३०६) 'योगमायावशे सर्वम्' (दे० भा० ४। १८। ३४) 'नास्ति शर्वसमो देवः' (म०भारत-अनु० १५। ११) आदि श्लोक एकेश्वर वाद में ही परिणत होजाते हैं।

(३) निन्दा परिणत प्रक्षिप्त—

जो अंश साम्प्रदायिक विभेद की वैज्ञानिक सीमा का उल्लंघन करके पारस्परिक निन्दा में परिणत होरहा है। उसे उपर्य्युक्त नाम से पुकारना चाहिये और ऐसे अंश को पक्षपातान्ध दुराग्रहियों की कलङ्कित कृति समझना चाहिये। यथा— 'शिवलिङ्गं समुत्सृज्य यजन्ते चान्यदेवताः। स नृपः सहदेशेन रौरवं नरकं व्रजेत् ॥' (लिङ्ग० उ० ११। ३५) 'येऽर्चयन्ति सुरानन्यां स्त्वां विना पुरुषोत्तम। ते पाखण्डत्वमापन्नाः सर्वलोकविगर्हिताः ॥' (पद्म० षष्ठ उत्तर० २५५। ५८)

(४) विधर्म्मिप्रवेशित प्रक्षिप्त—

पुराणों की जिन गूढ बातों को आधुनिक समालोचक नहीं समझ पाते उन्हें भी वे वाममार्गी, बौद्ध, जैन और यवन आदि विधर्म्मियों की

मिलावट कह दिया करते हैं-खास कर ऐसे अंशों में उन्हें (क) असम्भवता (ख) अश्लीलता (ग) परस्परविरुद्धता और (घ) धर्म्मविरुद्धता की गन्ध आने लगा करती है। हमारी सम्मति में पुराणों में-विधर्म्मियों द्वारा प्रवेशित प्रक्षिप्त का सर्वथा अभाव है। जिन अंशों को असम्भवादि दोष ग्रस्त समझा जाता है वास्तव में वे गूढ रहस्यों से परिपूरित हैं, हमने उक्त दोषों के निराकरणार्थ इस ग्रन्थ में 'सन्देहाभासनिवारणाध्याय' नामक एक स्वतन्त्र अध्याय का समावेश किया है।

इस प्रकार हम कई दृष्टियों से प्रक्षिप्तांश की विवेचना करने के बाद अन्त में यह बता देना आवश्यक समझते हैं कि अटपटी बातों की व्यवस्था लगाने के काठिन्य से किं वा विधर्म्मियों की अप्रिय समालोचनाओं के भय से पुराणों के ऐतिहासिक तथ्यों को 'प्रक्षिप्त' बताकर टालना या निकालना न चाहिये, बल्कि उनके उपलब्ध रूपों को सुरक्षित रखते हुवे शान्त चित्त से 'धर्म्मस्य तत्वं निहितं गुहायाम्' के अनुसार-अत्यन्त गूढधर्म्मतत्वों को खोजने का प्रयत्न करना चाहिये।

यह बात सदैव ध्यान में रहनी चाहिये कि-हमारे पूर्वजों में सबसे बड़ा यह गुण था कि वे राजा रंक की कौन कहे—अपने पूज्य माता पिता और गुरु के तथा स्वयं अपने भी अणुमात्र दोष को डंके की चोट घोषित कर दिया करते थे। यह कार्य्य कोई दुर्बल-हृदय मनुष्य नहीं कर सकता, इसके लिये महान् आत्मा सम्पन्न होने की आवश्यकता है।

पिछले दिनों म० गान्धी ने स्वलिखित आत्म कथा प्रकाशित की थी, उक्त कथा में कई ऐसी घटनाओं का उल्लेख है जो कि मानव सुलभ कमजोरियों से भरपूर होने के कारण अत्यन्त लज्जास्पद हैं परन्तु किसी भी मनुष्य को उक्त घटनाओं के पढ़ने से महात्मा जी के व्यक्तित्व पर घृणा हुई हो सो बात नहीं, बल्कि जो भी पढता है उनकी सत्यवादिता पर मुग्ध हुवे विना नहीं रहता। कल्पना कीजिये कि सौ वर्ष के बाद कोई मनुष्य उक्त लज्जास्पद अंशों को उनके विरोधियों द्वारा प्रक्षिप्त कहने लगे तो यह कहां तक न्याय होगा ? इसी प्रकार आज कल अंग्रेजों में यह रिवाज है कि वे स्त्री पुरुष इकट्ठे होकर नृत्य (DANCE) करते हैं और वहां के पाहुने बिदा होते समय सम्बन्धियों की महिलाओं का मुख चुम्बन करते हैं, तथा ऐसा करना वे ऐन सभ्यता के अनुकूल समझते हैं, परन्तु भारतीय महिलाओं के साथ पत्यन्तर

पुरुष का ऐसी चेष्टा करना 'सरफुट बाल' काण्ड का कारण समझा जाता है, कल्पना कीजिये कि भारतीयों के संसर्ग से यह योरपीन रिवाज क्रमशः विलुप्त होजाय और अंग्रेजों की आने वाली सन्तति भी हमारी तरह इसे लज्जास्पद समझकर आज कल के लिखे गये ग्रन्थों में सौ वर्ष के बाद इस तथ्य को दूसरों की मिलावट कहने लगे तो यह कहां तक सत्य होगा ? इस लिये हम तो यही कहेंगे कि पुराण वा इतिहास में जो ऐतिहासिक तत्व जैसे लिखे हैं उनके ज्यों के त्यों बने रहने पर भी-फिर चाहें वे धर्म्म विरुद्ध हों या वर्तमान रिवाज के प्रतिकूल हों—आर्य्य संस्कृति को कुछ भी बट्टा नहीं लग सकता—क्योंकि आर्य्य जाति का तो यह अटल सिद्धान्त है कि-ऐतिहासिक पुरुषों की कौन कहे- अपने माता पिता और साक्षात् गुरु का आचरण भी शिष्य के लिये वहीं तक अनुकरणीय होसकता है जहां तक कि वह धर्म्मानुकूल हो, अतएव हमारे यहां गुरु लोग अपने शिष्य को पहिले पाठ में ही यह शिक्षा दे छोड़ते हैं कि—

यान्यस्माकꣳ सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि ।

(तैत्तिरीय । प्रपा० ७ अनु० ११)

अर्थात्— हे शिष्य ! तुझे हमारे धर्म्मानुकूल आचरणों का ही अनुकरण करना चाहिये, जीव सुलभ पापाचरणों का नहीं ।

इस प्रकार- इतिहास पुराणादि वर्णित पूर्वजों के आचरण यदि किसी अंश में हमें धर्म्मानुमोदित प्रतीत न हों तो वे इतिहास में ज्यों के त्यों लिखे रहने पर भी हमें किंचिन्मात्र कर्तव्य पथ से नहीं हटा सकते, बल्कि कर्तव्य पथ की कठिनाइयों की सूचना देकर अत्यधिक दृढ़ बना सकते हैं । महाभारत में युधिष्ठिर की द्यूत क्रीडा के परिणाम स्वरूप द्रौपदी नग्नीकरण-बन संकट सहन-और अन्त में सर्वान्तकारी भयङ्कर संग्राम को पढ़ कर प्रत्येक समझदार वेद की "अक्षैर्मादीव्य" उक्ति का महत्व समझ सकता है । यदि इसे आर्य्यसमाज की नीति का अवलम्बन करके "प्रक्षिप्त" के ढकोसले से निकाल दिया जावे तो सर्वसाधारण द्यूत के कुपरिणाम समझने से वञ्चित रह जायगा । अतः ऐतिहासिक सत्यताएं प्रक्षिप्त कह कर निकालना अपनी आने वाली सन्तानों पर वज्र डहाना है । ऐतिहासिक तथ्यों को मिटा कर पूर्वजों को षोडश कला पूर्ण चन्द्र बनाने के बजाय हमें मानव प्रकृति सुलभ पतन के दुष्परिणामों को देख कर स्वयं सुचरित्र बनने का प्रयास करना चाहिये ।

धर्म्म-निर्णय में पुराणों का स्थान

(पुराण—प्रक्रिया)

अनादि काल से आर्य्य जाति का यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त चला आता है कि धर्म्मनिर्णय में वेद ही सब से बड़ा साधन है। हिन्दू सभ्यता के विधायक किसी भी ग्रन्थ को उठा देखिये तथा किसी भी ऋषि मुनि एवं आप्त विद्वान् की धर्म्म निर्णय पद्धति का मनन कीजिये सर्वत्र उपर्य्युक्त भावना का ही साम्राज्य दीख पड़ेगा !

आर्य्य जाति ने अन्ध विश्वास के कारण ऐसा मान रक्खा हो सो बात नहीं है, वास्तव में वेद साक्षात् परमात्मा के उपदेशों का मूर्तिमान् भण्डार है, इस लोक और परलोक की परोक्ष समस्याओं का सरलतर विशदीकरण है, अथ से लेकर इति पर्य्यन्त मानव जीवन की जिज्ञासाओं का सर्वाङ्ग पूर्ण समाधान है। क्या पौरस्त्य और क्या पाश्चात्य सभी समालोचकों ने अब भी यदि किसी ग्रन्थ को 'विश्व का आदिम ग्रन्थ' कहकर पुकारा है तो वह अन्यतम वेद ऋग्वेद ही है। इस लिये वेदों को सर्वोच्च मानना न्याय्य धर्म्य एवं नैसर्गिक है।

यह सभी जानते हैं कि सर्वज्ञ परमात्मा की वाणी को याथातथ्येन समझना अल्पज्ञ जीवों के लिये नितान्त दुरुह है, अतः मन्वादि ऋषियों ने समाधि लब्ध वेद तत्वों को उपकार दृष्टि से धर्म्म शास्त्रों के रूप में निबद्ध किया, तब से धर्म्म निर्णय में स्मृति ग्रन्थों को भी यथेष्ट स्थान मिल गया तथापि प्राधान्य वेदों का ही रहा।

श्रुति प्रतिपादित और स्मृति अनुमोदित धर्म्म तत्वों को अधिकारी विशेष की सीमा से बाहिर निकाल कर सर्व साधारण तक पहुंचाने के अर्थ श्रीवेद व्यास जी महाराज ने पुराणों का निर्माण किया है यह स्वयं पुराणों में यत्र तत्र लिखा है इस लिये वेद प्राधान्य का अनादि सिद्धान्त पुराणों में भी तथैव आहत रहा है। इस प्रकार वेद-स्मृति-पुराण इन तीनों को धर्म्म निर्णय में परके प्रति पूर्व पूर्व यथाक्रम मुख्य माना जाता है। यथाः—

श्रुतिस्मृतिपुराणानां विरोधो यदि दृश्यते।
तत्र श्रौतं प्रमाणं तु द्वयोर्द्वैधे स्मृतिर्वरा॥

(व्यास स्मृति १। ४)

अर्थात्— यदि श्रुति स्मृति और पुराण इन तीनों में परस्पर विरोधी वाक्य मिलें तो वहां श्रुति वाक्य ही प्रमाण होगा, यदि स्मृति और पुराण दोनों में विरोध दीख पड़े तो वहां स्मृति को प्रमाण मानना चाहिये।

इसी प्रकार पुराण ग्रन्थों में भी वेदों को ही सर्वोच्च मान कर अन्यान्य ग्रन्थों के प्रामाण्य की सीमा निर्धारित की गई है, यथाः—

(क) सर्वज्ञात्सर्वशक्तेश्च मत्तोवेदः समुत्थितः।
अज्ञानस्य ममाभावादप्रमाणा नच श्रुतिः ॥१६॥

(ख) बहुत्वादिह शास्त्राणां निश्चयः स्यात्कथं मुने ?
कियत्प्रमाणं तद्ब्रूहि धर्म्ममार्गविनिर्णये ॥

(ग) श्रुतिस्मृति उभे नेत्रे पुराणं हृदयं स्मृतम्।
एतत्त्रयोक्त एवस्याद्धर्म्मो नान्यत्र कुत्रचित् ॥
विरोधो यत्र तु भवेत् त्रयाणां तु परस्परम्।
श्रुतिस्तत्र प्रमाणं स्याद् द्वयोर्द्वैधे स्मृतिर्वरा ॥
श्रुतिद्वैधे भवेद्यत्र तत्र धर्म्मावुभौ स्मृतौ।
स्मृतिद्वैधं तु यत्रस्याद्विषयः कल्प्यतां पृथक् ॥
पुराणेषु क्वचिच्चैव तंत्रदृष्टं यथातथम्।
धर्म्मं वदन्ति तं धर्म्मं गृह्णीयान्न कथंचन ॥
वेदाविरोधि चेत्तन्त्रं तत्प्रमाणं न संशयः।
प्रत्यक्षश्रुतिरुद्धं यत्तत्प्रमाणं भवेन्न च ॥
सर्वथा वेद एवासौ धर्म्ममार्गप्रमाणकः।
तेनाविरुद्धं यत्किंचित् तत्प्रमाणं नचान्यथा ॥

(देवीभागवत ११। १। २०–२६)

अर्थात्— (क) [भगवान् कहते हैं कि–] सर्वज्ञ और सर्व शक्तिमान् मुझ से वेदों का प्रादुर्भाव हुवा है, मुझ में अज्ञान का सर्वथा अभाव है अतः श्रुति के प्रमाण में कोई बाधा नहीं होसकती। (ख) [नारद जी पूछते हैं कि–] शास्त्र बहुत हैं, अतः किस प्रकार निश्चय किया जाय– धर्म्म निर्णय में किसको कहां तक प्रमाण मानना चाहिये यह बतलाइये! (ग) [नारायण ने कहा] श्रुति और स्मृति को धर्म्म निर्णय में नेत्र समझना चाहिये, तथा पुराणों को हृदय मानना चाहिये, अतः इन तीनों में जो कुछ कहा है वही धर्म्म है। जहां वेद, स्मृति और पुराण इन तीनों में विरोध दीख पड़े वहां वेद को प्रमाण मानना चाहिये। जहां स्मृति और पुराण दोनों में विरोध उपस्थित हो वहां स्मृति को प्रमाण मानना चाहिये। जहां श्रुति में ही दो प्रकार के परस्पर विरुद्ध वचन मिलें तो वहां अधिकारी भेद से दोनों को ही धर्म्म

समझना चाहिये। इसी प्रकार स्मृति की श्रुति अविरुद्ध दो तरह की आज्ञाओं में विषयान्तर की कल्पना करके व्यवस्था करनी चाहिये। [यदि कोई ऐसा विचार करे कि जिस प्रकार श्रुति मात्र मूलक होने के कारण स्मृति को प्रमाण माना जाता है इसी प्रकार पुराण को भी श्रुति मात्र मूलक होने पर स्मृतियों के बराबर पद देना चाहिये। अतः स्पष्ट किया जाता है कि पुराण केवल वेद मूलक नहीं हैं बल्कि एक सीमा तक तन्त्र मूलक भी हैं इस लिये] पुराणों में जहां तहां तांत्रिक विधानों को भी अधिकारी विशेष के लिये उद्धृत किया है। अतः वे सर्वथा ग्राह्य नहीं है। हां! यदि तन्त्र भी वेदानुकूल हो तो उसे निस्सन्देह प्रमाण मानना चाहिये परन्तु प्रत्यक्ष श्रुति के विरुद्ध किसी भी अंश को कभी प्रमाण नहीं माना जासकता। क्योंकि केवल वेद ही धर्म्म निर्णय में सर्वथा प्रमाण है अतः जो भी तदनुकूल हो सो प्रमाण है और जो तद्विरुद्ध हो सो अप्रमाण है।

(मीमांसा-प्रक्रिया)

धर्म्म निर्णय के सर्वोत्तम ग्रन्थ, मीमांसा शास्त्र में उक्त प्रामाण्याप्रामाण्य के विषय में एक विशेषता प्रकट की है। वह यह है कि यदि स्मृति पुराण आदि ग्रन्थों का कोई वाक्य प्रत्यक्ष श्रुति के विरुद्ध दीख पड़े तब तो वह उपेक्षणीय है परन्तु प्रत्यक्ष श्रुति में यदि किसी स्मृति आदि वाक्य के अनुकूल या विरुद्ध दोनों प्रकार का ही उल्लेख न मिले तो उस वाक्य को अनुमित श्रुति मूलक मानकर प्रमाण कोटि में समझना चाहिये। यथाः—

विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्॥

(पूर्व मीमांसा १। ३। ३)

अर्थात्—स्मृत्यादि ग्रन्थों का प्रत्यक्ष श्रुति विरुद्ध अंश प्रमाण नहीं हो सकता परन्तु वेद में (असति) जिस वाक्य के विरुद्ध या अनुकूल कोई वचन उपलब्ध ही न हो तो वहां—परोक्ष श्रुति का अनुमान करके उसे वेद मूलक एवं प्रमाण मानना चाहिये।

(न्याय-प्रक्रिया)

न्याय-दर्शन के टीकाकार महर्षि वात्स्यायन ने 'समारोपणादात्मन्यप्रतिषेधः' (४। १। ६२) सूत्र की व्याख्या करते हुवे लिखा है कि—

यथाविषयं प्रामाण्यम्। इन्द्रियादिवत्। अन्यो मन्त्रब्राह्मणस्य विषयोऽन्यश्चेतिहासपुराणधर्म्मशास्त्राणामिति। यज्ञो मन्त्रब्राह्मणस्य, लोकवृत्तमितिहासपुराणस्य, लोकव्यवहारस्थापनं धर्म्मशास्त्रस्य विषयः।

अर्थात्— वेद, स्मृति और पुराण विषय व्यवस्था के अनुसार अपने २ विषय में इन्द्रियों की भांति निरपेक्ष प्रमाण हैं। वेद का एक भिन्न विषय है, और इतिहास पुराण तथा धर्म्मशास्त्र का अलग २ विषय है। मन्त्र ब्राह्मणात्मक वेद का विषय है 'यज्ञ'। इतिहास पुराण का विषय है लोक बीती। और धर्म्म शास्त्र का विषय है लोक व्यवहार की स्थापना।

उपर्य्युक्त सम्मति का यह तात्पर्य्य है कि जिस प्रकार देखने में नेत्र ही प्रमाण है, और सुनने में कान ही प्रमाण है, इसी प्रकार गन्ध में नासिका, स्पर्श में त्वचा, रस में जिह्वा आदि इन्द्रियें भी अपने २ विषय में प्रमाण हैं। एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रिय के विषय का निरूपण नहीं कर सकती! इसी भांति वेद स्मृति और पुराण भी अपने २ विषयों में निरपेक्ष प्रमाण हैं सो सर्ग प्रतिसर्गादि का क्रम बद्ध वर्णन, और लोक वृत्तान्त केवल पुराणों का विषय है अतः उक्त विषय में पुराणों की प्रामाण्यता न्याय-युक्त है।

हम नहीं समझते कि जो लोग मेवाड के यवन कालीन इतिहास के लिये 'टाड राजस्थान' को और अंग्रेज कालीन इतिहास के लिये 'ई० मार्सडन, आदि की किताबों को प्रमाण मान कर तत्तत्कालीन घटनाओं पर विश्वास कर सकते हैं वे ही महाशय पुराणों की इस आंशिक प्रामाण्यता पर क्यों आपत्ति करते हैं?।

न्याय में पंचावयव वाक्य द्वारा ही प्रत्येक विषय की साधना मानी जाती है, लोक में भी न्यूनातिरिक्त इसी शैली से समस्त निर्णय किये जाते हैं, इस प्रकार भी वेद और स्मृति को पक्ष ग्रन्थ- दर्शनों को हेतु ग्रन्थ, और पुराणों को दृष्टान्त ग्रन्थ कहा जा सकता है, इन तीनों के सम्मेलन से जो निश्चित होगा वास्तव में उसे ही 'सिद्धान्त' कहा जासकता है। हेतुविकल या दृष्टान्त विकल पक्ष को सिद्धान्त मानना युक्तियुक्त नहीं जँचता। इसी लिये 'यस्तर्केणानुसन्धत्ते' 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थ-मुपबृंहयेत्' इत्यादि वचनों द्वारा वेदार्थ निर्णय में दर्शनों और पुराणों की उपयोगिता प्रकट की गई है।

(अलङ्कार प्रक्रिया)

अलङ्कार शास्त्र में उपदेश विधायक ग्रंथों को तीन भागों में बांटा है (१) प्रभु-सम्मित (२) मित्रसम्मित और (३) कान्तासम्मित। अर्थात्—धर्म्म पर आरूढ होने के लिये स्वामी की भांति हुक्म देने वाले वेद और स्मृति शास्त्र, प्रभु सम्मित हैं, और मित्रों की तरह कार्य्य कारण पूर्वक हानि लाभ समझा कर धर्म्म मार्ग पर तत्पर रहने का परामर्श देने वाले पुराण और इतिहास ग्रन्थ, मित्रसम्मत हैं। तथा कान्ता की

तरह हाव भाव कटाक्ष रूप अभिनय रसादि द्वारा सन्मार्ग पर आकृष्ट करने वाले काव्य और नाटक ग्रन्थ, कान्तासम्मित हैं। इस प्रकार भी मान्य-किन्तु-रूखी वेद आज्ञाओं का पालन करवाने के लिये पुराणों का विशिष्ट पद है।

(लौकिक प्रक्रिया)

आज कल प्रत्येक सभ्य देश ने अपनी २ परिस्थिति के अनुसार कुछ क़ानून बना रक्खे हैं, छोटी बड़ी सभी अदालतों में प्रायः उन क़ानूनों के आधार पर ही अभियुक्तों के कार्य्यों को न्यायोचित या अपराध ठहराया जाता है। यदि विचार दृष्टि से देखा जाए तो प्रत्येक अभियोग के तीन ही अङ्ग होते हैं (१) दावा। (२) दलील और (३) मिसाल। योग्य वकील सर्व प्रथम अपना दावा पेश करता है, फिर उसकी वास्तविकता को सिद्ध करने के लिये युक्तियें देता है, तदनन्तर पुरानी मिसालों के निर्णयों का दृष्टान्त देकर सिद्धान्त की ओर सङ्केत करता है, उक्त तीनों अङ्गों में से किसी भी एक के न होने पर पक्ष समर्थन की अपूर्णता स्पष्ट है इसी प्रकार धर्म्मनिर्णय में- वेद और स्मृति के विधि निषेधात्मक वचन 'दावा' हैं, और उनके त्याग या संग्रह का कारणात्मक विवेचन करने वाले दर्शन शास्त्र 'दलील' हैं, तथा वेदविहित विधि-निषेध के अनुकूल या प्रतिकूल आचरण करने वाले राम, रावण, और युधिष्ठिर दुर्योधनादि के आदर अनादर के दृष्टान्त रूप इतिहास पुराणादि 'मिसाल' हैं।

इस प्रकार भी दावा दलील के साथ पुरानी मिसालों की अत्यावश्यकता है और वह पद केवल पुराणेतिहास को ही दिया जासकता है।

वेद-मूलकता

पुराणों का निर्माण वेद ग्रन्थों के गूढ रहस्यो को स्फुट करने के लिये हुवा है यह बात प्रायः सभी पुराणों में डंके की चोट घोषित करदी गई है, निष्पक्ष एवं तटस्थ दृष्टि से किसी भी पुराण का पाठ मात्र करलेने से हर एक सहृदय का हृदय ही इस घोषणा की सत्यता का साक्षी बन जाता है।-बहुत सी वैदिक आख्यायिकाएं तो पुराणों में शब्द परिवर्तन मात्र के भेद से ज्यों कि त्यों लिखी गई हैं, उदाहरण के लिये— ! उर्वशी, शुनःशेपः, सुदास, हरिश्चन्द्र, विश्वामित्र, वशिष्ठ, देवापि-शन्तनु, भृगु, अङ्गिरा, नमुचि, दधीचि, दिवोदास, त्रित, और वृत्रासुर आदि से सम्बन्ध रखने वाली समस्त कथाओं को पेश किया जा सकता है। निरुक्त ग्रन्थ में जहां तहां ऐसी

ऋचाओं की व्याख्या करते हुवे 'अत्रेतिहासमाचक्षते' कह कर स्पष्टतया उन में ऐतिहासिक आख्यानों का अस्तित्व स्वीकार किया गया है। सायणाचार्य्य के भाष्य में भी इसी रीति से सैंकड़ों आख्यानों का उल्लेख मिलता है, प्रसिद्ध इतिहासकार मि० मैकडानल्ड जैसे पाश्चात्य पण्डितों ने और मिश्रबन्धु आदि भारतीय इतिहासकारों ने भी प्राचीन इतिहास की आधारशिला वेद की विशिष्ट ऋचाएँ ही स्वीकार की हैं। अतः पुराणों में अनूदित ऐसी आख्यायिकाओं की वेदमूलकता तो स्पष्ट ही है। हमने इस ग्रन्थ के 'वेदपुराण समन्वयाध्याय' में ऐसी बहुत सी आख्यायिकाओं का संग्रह किया है जिनके साथ पौराणिक गाथाओं की तुलना करने पर हमारे विचारों की सत्यता प्रकट हो सकती है।

इसके अतिरिक्त पुराणों में जहां कहीं स्तुति प्रसङ्ग उपस्थित हुवा है वहां वेद मन्त्रों का अविकल रूपान्तर लिखा है जिससे द्विजेतर भी सुगमता से वेद पाठ का फल प्राप्त कर सकें।

ऐसी स्तुतियों का दिग्दर्शन वेद मन्त्रों सहित नीचे अङ्कित किया जाता है, पाठक वेद व्यास जी की शब्दविन्यासचातुरी का मनन करें और देखें कि किस प्रकार वेद के विस्तृत सूक्तों को परिमित अक्षरों वाले श्लोक में बांध कर 'गागर में सागर' वाली लोकोक्ति के चारितार्थ्य की सीमा को पार कर दिखाया है। यथा—

विराट्-रूप

वेद—

(क) चन्द्रमा मनसो जात-
श्चक्षोः सूर्य्यो अजायत।
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च,
मुखादग्निरजायत॥

(ख) नाभ्या आसीदन्तरिक्षं-
शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत॥
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रा-
त्तथा लोकां २॥ अकल्पयन्॥
(यजुः ३१। १२-१३)

(ग) अपामेकं वेधसां रेत आहुः।
(अथर्व ५। ५८। ६)

पुराण—

(क) नाभिर्नभोऽग्निर्मुखमंबुरेतोः—
द्यौः शीर्षमाशाश्रुतिरङ्घ्रिरुर्वी॥
चन्द्रो मनो यस्य दृगर्क आत्मा,
अहं समुद्रो जठरं भुजेन्द्रः॥
(श्रीमद्भागत १०। ६३। ३५)

(क) ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्;
बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः,
पद्भ्यांछशूद्रो अजायत ॥
(यजुः ३१। ११)

(क) पुरुषस्य मुखं ब्रह्म,
क्षत्रमेतस्य बाहवः।
उर्वो वैश्यो भगवतः,
पद्भ्यां शूद्रोऽभ्यजायत ॥
(श्रीमद्भागवत २।५।३७)

अनादि-परमात्मा

वेद—

(क) नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं,
नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
(ऋग्वेद ८। ७। ७। १)

पुराण—

(क) इदं दृश्यं यदा नासीत्,
सदसदात्मकं च यत्।
तदा ब्रह्ममयं तेजो,
व्याप्तिरूपं च सन्ततम् ॥
(शिव पुराण, धर्म्म० २। १)

इस प्रकार पुराणों का स्तुति समुदाय भी न केवल वेदमूलक अपितु 'वेद तुल्य' कहा जाने योग्य है।

पुराणोक्त 'सृष्टितत्व' की वेदमूलकता में तो किस 'देवानांप्रियः' को सन्देह हो सकता है ? क्योंकि मोटे २ सिद्धान्तों के बीज रूप मन्त्र तो प्रायः वेदों में उपलब्ध होते ही हैं, उनका विस्तार पुराणों के अतिरिक्त अन्य किसी ग्रन्थ में देखने को भी नहीं मिल सकता अतः अगत्या प्रत्येक पुरातत्व-अनुसन्धायक को पुराणों की शरण में ही आना पड़ेगा।

शेष रहा अर्वाचीन इतिहास—वह वेदमूलक न होने पर भी आप्तोपदिष्ट अवश्य है अतः श्रद्धेय है। इसके अतिरिक्त महाभारत के समय से पूर्व काल का इतिहास, पुराणों को छोड़ कर अन्यत्र किसी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होता, ऐसी दशा में दो ही मार्ग हो सकते हैं-प्रथम—पुराणोक्त, यथालब्ध इतिहास को बुद्धि पूर्वक सुव्यस्थित कर लिया जाए। दूसरा—ननु नच के झमेले में पड़ कर पूर्वजों के इतिवृत्तों से 'पञ्चम अन्यथा सिद्ध' होजायें। इस प्रकार पुराणों के अर्वाचीन इतिहास अंश को छोड़ कर शेष सब अंश वेद तुल्य, वेद मूलक एवं वेदानुमोदित है।

* प्रथम अध्याय समाप्त *

प्रमाण-सङ्ग्रहाध्यायः ।

(दूसरा-अध्याय)

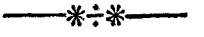

हिन्दी-भाषा निबन्धेषु, भाष्ये सूत्रे जये स्मृतौ ।
श्रुतावपि पुराणानां, प्रामाण्यमिह दर्श्यते ॥

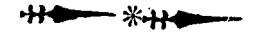

वैदिक काल से लेकर कल तक के भारतीय ग्रन्थ निर्माताओं ने अपने २ ग्रन्थों में पुराणों को उसी रूप में स्मरण किया है कि जिस रूप में वे वेदों को जानते मानते या पहिचानते थे, दोनों की अविशेष-मान्यता में नाम मात्र का भेद भी कहीं ढूंढने पर उपलब्ध नहीं होसकता, कोई भी विचार शील यदि निष्पक्ष भाव से हिन्दी और संस्कृत के धुरन्धर कवियों की कृतियों का अध्ययन करेगा अथवा पुरातन ऋषियों और मुनियों के अमर ग्रन्थों का स्वाध्याय करेगा तो उसे यही प्रतीत होगा कि वेद और पुराण मानों दो सहोदर भ्राता हैं जो परम पिता परमात्मा की गोद में औरस पुत्रों की भांति समान रूप से पालित व पोषित होकर ब्रह्माण्ड रक्षा के लिये कन्धे से कन्धा भिड़ाए एक दूसरे के बराबर खड़े हैं।

हमने अपनी उपर्य्युक्त सम्मति के समर्थन के लिये इस अध्याय में अनेक ग्रन्थों का पारायण करके एक विस्तृत-किन्तु सुसम्बद्ध प्रमाण-परम्परा दर्ज की है, जो आधुनिक हिन्दी भाषा के धुरन्धर कवियों के निर्माण किये हुवे ग्रन्थों के प्रमाणों से आरम्भ करके क्रमशः पूर्व पूर्ववर्ती सभी शास्त्रों के प्रमाणों द्वारा अनादि वेदों पर्य्यन्त चली गई है। इससे जहां पुराणों के प्रामाण्य का बोध होगा वहां अनेक ग्रन्थकारों के बहुसम्मत समयों की सूचना के साथ २ कविता रसास्वादन का भी पर्य्याप्त आनन्द मिल सकेगा। आशा है विज्ञ पाठक इस क्रमबन्धन विधान को पसन्द करेंगे।

देव कवि

(१) आंखिन देख्यो सुन्यो सोई कानन, वेद पुरानन भेद बताया।
जोगि जपी तपी पंडित प्रेमी, प्रतीत विना पचिहारे न पाया॥
आदि न अन्त अनादि अनन्त, निरन्तर अन्तर लोक लगाया।
देव कहों कि अदेव कहों वह 'देव' सुएक अनेक सुमाया॥१॥

(तत्वदर्शनपचीसी)

गिरिधर कविराय

(२) आँधी आई अज्ञान की, उड़ गयो सभी वकूफ।
शास्त्र वेद पुराण का, पढ़ना भयो मकूफ॥

(कुण्डलिया संग्रह)

अहिन्दू कवि—कादिरबक्स

(३) गुन को न पूछे कोई औगुन की बात पूछे,
कहा भयो दई कलियुग यों खरानो है।
पोथी औ पुरान ज्ञान ठट्टन में डारी देत,
चुगल चबाइन को मान ठहिरानो है॥

(मिश्रबन्धु विनोद भाग १ पृष्ठ ३५१)

कुतबन शेख

(४) साह हुसेन अहें बड़राजा। छत्र सिंघासन उनको छाजा॥
पंडित औ बुधिवन्त सयाना। पढ़ें पुरान अरथ सब जाना॥

('मृगावती' से—मि०बं०वि०भाग १ पृ० २२६)

रसखान

(५) ब्रह्म में ढूंढ्यो पुरानन वेद, कुरान हदीसन औगुन चाइन।
देख्यो सुन्यो न कहूँ कितहूँ, वह कैसे स्वरूप औ कैसे सुभाइन॥
ढूंढत ढूंढत ढूंढ फिर्‌यो 'रसखान' बतायो न लोग लुगाइन।
देख्यो कहां जब चीर खिंच्यो, तब लोटत पायो है द्रौपदी पाइन॥

(रसखान संग्रह)

भूषण कवि

(६) राखी हिन्दुवानी; हिन्दुवान को तिलक राख्यो,
अस्मृति पुरान राखे वेद विधि सुनी में।
राखी रजपूती रजधानी राखी राजन की,
धरा में धरम राख्यो राख्यो गुन गुनी में॥
भूषन सुकवि जीति हद्द महरट्टन की,
देस देस की रीति बखानी तब सुनी में।
साहि के सपूत सिवराज, समसेर तेरी,
दिल्ली दल दाबि के दिवाल राखी दुनी में॥

(७) वेद राखे विदित पुरान राखे सारयुत,
रामनाम राख्यो अति रसना सुघर में।
हिन्दुन की चोटी रोटी राखी है सिपाहिन की,
कांधे में जनेऊ राख्यो माला राखी गर में॥
मीड़ि राखे मुगल मरोरि राखे पातसाह,
बैरी पीसि राखे बरदान राख्यो कर में।
राजन की हद्द राखी तेग बल सिवराज,
देव राखे देवल स्वधर्म राख्यो घर में॥

(भूषण ग्रन्थावलि)

कवि केशवदास

(८) जब वेद पुराण नसै हैं, जप तीरथ मध्य बसै हैं।
उपदेश जुमारि किवारे, कलि केवल नाम उधारे॥

(हिन्दी नवरत्न पृष्ठ ३०५)

(९) कैटभ सो नरकासुर सो पल में मधु सो मुरसो जेहि माख्यो।
लोक चतुरदस रछक केशव पूरन वेद पुरान विचाख्यो॥
श्री कमला कुच कुंकुम मंडित पंडित वेद पुरान उचाख्यो।
सो कन मांगन को बलि पै करतारहुने करतार पसाख्यो॥

(मि० बं० वि० भाग १ पृष्ठ २७६)

कबीर साहिब

(१०) वेद पुराण किताब कुराना, नाना भांति बखानी।
हिन्दू तुरक जैनी औ योगी, यह कल काहू न जानी॥

(बीजक शब्द ४८ तुक ५)

(११) स्मृति वेद पुराण पढ़ै सब अनुभव भाव न दरसै।
लोह हिरण्य होय धौ कैसे जो नहीं पारस परसै॥
(बीजक शब्द १४ तुक ३)

(१२) पंडित वेद पुराण पढ़ै औ मौलाना पढ़ै सो कुराना।
कहु कबीर वे नरक गए जिन हरदम रामहिं ना जाना॥
(बीजक शब्द ८३ तुक ६)

गुरु नानक जी

(आदि ग्रन्थ साहिब से)

(१३) वेद पुराण स्मृति बूझे मूल + सूक्षम में जाने स्थूल।
चौ वर्णों को दे उपदेश + नानक उस पण्डित को सदा अदेश॥
(राग पौड़ी–वाणि सुख मणी–महल्ला ५ अष्टपदी ६ तुक ४)

(१४) सन्त सभा मिली करो बखान + स्मृति शास्त्र वेद पुराण।
(राग रामकली–महल्ला ५ शब्द ५४ तुक ४)
केशो गोपाल पण्डित सद्दियो + हरि हर कथा पढ़े पुराण जी ओ।
(राग रामकली–वाणी सद–पौड़ी–५)

(१५) वेद पुराण जासु गुण गावत + ताको नाम हिये में धारो।
(राग गौड़ी–महल्ला ६–शब्द ६ तुक १)

(१६) सप्तद्वीप सप्तसागरां, नौखण्ड चार वेद, दश अष्ट पुराण।
हरि सब नां बिच वर्तदा हरिसबनां भाणा।
(श्रीराग की वार महल्ला ३ पौड़ी ४)

(१७) कुदरत वेद पुराण कतेबां।
(राग आसावरी की वार महल्ला १ श्लो० ३)

(१८) जुग जुग आयो अपणा धर्म्म है, सोध देखो वेद पुराण।
(राग विलावल महल्ला ३ शब्द ४ तुक ६)

(१९) जो शरण पड़े तिसकी पत राखे, जाय पूछउ वेद पुराणी है।
(राग मारू–हलहला ४ सोहले–शब्द २ तुक ६)

(२०) शास्त्र वेद पुराण पुकारें, धर्म्म करहु खट् करम दृढ़ाया।
(रागविलावल–महल्ला–४ शब्द २ तुक ६)

(२१) स्मृति शास्त्र वेद पुराण, पारब्रह्म का करें बखान।
(राग गौड़–महल्ला–५ शब्द १७ तुक २)

(२२) अगे गंग जल अटल सिख संगत सब न्हावे ।
नित पुराण बांचिये ब्रह्मा मुख गावे ॥
(सवैय्या-महल्ला ५-के सवैय्या २०)

ग्रन्थ साहिब के अधिक प्रमाण इस लिये उद्धृत किये गये हैं कि कुछ दिन से हिन्दू-धर्म्म-रक्षक इस ऐतिहासिक सम्प्रदाय में भी अहिन्दू भावों का सन्निवेश होचला है, जिस प्रकार वेदानुयायियों में आर्य्यसमाजी और कुरानानुयायियों में अहमदी लोग मनघड़न्त अर्थ लगा कर अपने निज़ी खयालात को ज़बर्दस्ती धार्म्मिक चोला पहिनाने का प्रयास करते हैं । इसी प्रकार सिक्खों में भी अकाली नामक फिरका ग्रन्थ साहिब की मनमानी व्याख्या करके हिन्दुत्व से बचना चाहता है । यह तीनों फिरके अपने नामों के आदिम अक्षर की समानता के अनुसार विचारों में भी प्रायः समता रखते हैं, भेद केवल इतना है कि एक ने वेद का, दूसरे ने कुरान का और तीसरे ने ग्रन्थ साहिब का नाम- धर कर 'टट्टी की आड़ में शिकार खेलना' आरम्भ कर रक्खा है । पञ्जाब में भ्रमण करते हुवे हमें अकालियों से भी लोहा लेना पड़ता है अतः एतद्देशीय उपदेशकों के लाभार्थ यह विस्तार किया गया है ।

गोस्वामी तुलसीदास जी

(२३) नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्,
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि
स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा-
भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति ॥
(रामायण-बालकाण्ड का आरम्भ)

(२४) आगम निगम प्रसिद्ध पुराणा । षण्मुख जन्म कर्म जग जाना ।
(रामायण-बाल० दोहा ११२-११३)

(२५) शुचि सुशील सेवक सुमति, कहु प्रिय काहु न लाग ।
श्रुति पुराण कह नीति अस, सावधान सुनु काग ॥
(रामायण उत्तर० दो० १२६)

(२६) स्रुति पुरान सब को मत यह सतसंग सुदृढ़ धरिये ।
निज अभिमान मोह इरषा बस, तिन्हहिं न आदरिये ॥
(विनय पत्रिका)

सूरदास जी

(२७) कर्म्म की रेख मिटे ना सजनी वेद पुरानन गायो।
सूरदास प्रभु तुम्हरे मिलन को वेद विमल जस गायो॥
(राग रत्नाकर पृष्ठ ६२)

(२८) पूरण ब्रह्म पुरान वखाने। चतुरानन शिव अन्त न जाने।
(राग रत्नाकर पृष्ठ ६)

(२९) साख मुनिजन भरैं, देव अस्तुति करैं, स्मृति पुराण, गुण वेद गावैं।
(राग रत्नाकर ७)

(३०) अष्टादश, षट् तीन चार मिली करते एक विचार।
एको ब्रह्म सकल घट पूरण केवल नाम अधार।
(राग रत्नाकर २२७)

पृथ्वीराज रासो

हिन्दी भाषा का परम प्रसिद्ध ग्रन्थ है। आर्य्य समाज की आदिम संस्था परोपकारिणी सभा के मन्त्री पं० मोहनलाल विष्णुलाल पंडया के लेखानुसार यह ग्रन्थ सं० ११२० से ११४८ तक का बना हुवा है महाकवि चन्द्र बरदाई इसके निर्माता हैं, जो हिन्दी कविता के वाल्मीकि कहे जाते हैं— आप उक्त ग्रन्थ के आदि पर्व में लिखते हैं:—

(३१) ब्रह्मन्यदेव सम वासुदेव,
अष्टादश पुरान तिन कहे सभेव।
तिन कहों नाम परिमान व्रन्नि। जिन सुनत सुद्ध भवहोत न्नानि।
ब्राह्मह पुरान दस सहस जुट्टि। जिहि पढ़त सुनत तन तप्प छुट्टि।
पंचास पंचह हजार गन्नि। पद्म पुरान तिन कह्यो व्रन्नि।
ते वीस सहस सैं चार जानि। विष्णुपुरान विष्णु समानि।
चौवीससहस कहि शिवपुरान। तिहि पढ़त सुनत सम अमियपान।
अठार सहस भागवतभेव। करि पार परिष्यत सुकदेव।
नारद पुराण कहि पाव लाख। तहां मुक्तिमोद आनन्द भाष।
मारकंड नाम तईस हजार। पौरान पवित्र सो दुख जार।
पंद्रह हजार संख्या संपूर। अग्निपुरान पढि पाप दूर।
चवदैह हजार सैं पांच पढि। भवषित पुरान सो पाप जड्ढि।

ब्रह्मवैवर्त सहसं अठार। केवल गिनान कथि भक्ति सार।
रुद्रह हजार लिंगह पुरान। आनन्द अर्थ आगम गुरान।
चौबीस सहस बाराह भक्ति। पौरष पुरान तिन अमित सक्ति।
हजार इक्यासी कहि विवेक। स्कन्द पुरान भव भक्ति एक।
इग्यार सहस बावन सु अछ। पौरान सुनत सुधि अग्ग पछ।
सत्रह हजार कूरम पुरान। भाषा विनोद प्राक्रम गुरान।
विद्या हजार मित मछ देव। विधि संष उद्धरे सेव भेव।
गुण ईस सहस गरुडह पुरान। श्रोता न वक्त भक्ति डरान।
ब्रह्मांड पुरान बारह सहस। करि व्यास भक्ति प्रभु कंस नंस।
पंद्रह हजार अरु चारि लाख। सम ब्रह्म व्यास कहि चन्द्रभाष।

इस प्रकार पुराणों के संबन्ध में विक्रम की १८ वीं शताब्दी में होने वाले हिन्दी कवियों से आरम्भ करके, हिन्दी युग के आदिम आचार्य्य चन्द्र बरदाई के समय—विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी–तक के प्रतिष्ठित ग्रन्थकारों की विचार परम्परा दिखाकर हम संस्कृत साहित्य में प्रवेश करते हैं। संस्कृत उद्धरणों के शीर्षक स्थान में हमने निर्माताओं के नाम न रखकर ग्रन्थों के नाम रखना ही अधिक उपयुक्त समझा है क्यों कि देववाणी के विशेषज्ञों में ऐसी ही परिपाटी चली आती है।

पञ्चदशी

(३२) सपुराणान्पञ्च वेदान्, शास्त्राणि विविधानि च।
ज्ञात्वाप्यनात्मवित्तेन, नारदोऽतिशुशोच ह॥

अर्थात्—नारदजी ऋग् आदि चारों वेदों, और पुराण नामक पांचवें वेद को तथा अनेक शास्त्रों को जानकर भी आत्मज्ञान के विना अतिशोक ग्रस्त हुवे।

वेदान्त सिद्धान्त का यह वही अद्वितीय ग्रन्थ है कि जिसकी अर्थ सङ्गति लगाने में प्रतिशत निन्यानवें समाजी मूकप्राय होजाते हैं।

शारीरिक भाष्य

वेदों के विशेषज्ञ श्री कुमारिल भट्ट ने अपने 'तन्त्र वार्तिक' नामक ग्रन्थ में जो पुराणों के प्रामाण्य विषय पर विचार किया है, उसकी समालोचना करते हुवे श्री आद्यशङ्कराचार्य्य लिखते हैं:—

(३३) इतिहासपुराणमपि व्याख्यातेन मार्गेण सम्भवन्मन्त्रार्थवादमूलत्वात् प्रभवति देवताविग्रहादि साधयितुम्।
(उत्तर मीमांसा)

अर्थात्—इतिहास और पुराणों का मूल भी श्रुत्युक्त अर्थवाद है इस लिये वे (इतिहास और पुराण) भी व्याख्यात मार्ग के अनुसार देवताओं के विग्रह आदि की सिद्धि में समर्थ माने जा सकते हैं।

(३४) तस्मात्समूलमितिहासपुराणम्।

(उत्तर मीमांसा- ६। १३। ३३)

अर्थात्— पूर्वोक्त कारण से इतिहास और पुराण भी वेद मूलक हैं।

कृष्णयजुर्भाष्योपोद्घात—

(३५) उपनीतस्यैवाध्ययनाधिकारम्.....।

.....कथं तर्हि तयोः- पुराणादिभिरिति ब्रूमः।

(सायण भाष्य पृ० ३)

अर्थात्— उपनीत के लिये ही वेदाध्ययन के अधिकार को कहा है। तो फिर स्त्री शूद्रों का कल्याण कैसे होगा? पुराणादि द्वारा, ऐसा कहेंगे।

ऋग्वेद उपोद्घात—

(३६) [illegible]डङ्गवत्पुराणादीनामपि वेदार्थज्ञानोपयोगो याज्ञवल्क्येन [illegible]मर्य्यते। (सायण भाष्य)

अर्थात्— शिक्षा कल्पादि वेदाङ्गों की तरह पुराण और उपपुराणों को भी वेद का अर्थ जानने के लिये याज्ञवल्क्य जी ने अपनी स्मृति में उपयोगी माना है।

(३७) [illegible]तरेयतैत्तिरीयकाठकादिशाखासूक्तानिहरिश्चन्द्रनचिकेतोपाख्यानानि धर्म्मब्रह्मावबोधोपयुक्तानि तेषुतेष्वितिहासग्रन्थेषु स्पष्टीकृतानि, उपनिषदुक्ताश्च सृष्टिस्थितिलयादयो ब्राह्मपाद्मवैष्णवादिपुराणेषु स्पष्टीकृताः।

(सायण-भाष्य)

अर्थात्— ऐतरेय तैत्तिरीय काठक आदि वेद शाखाओं में जो हरिश्चन्द्र नचिकेता के धर्म्म और ब्रह्मज्ञानोपयोगी उपाख्यान लिखे हैं वे महाभारतादि में स्पष्ट किये गये हैं। और उपनिषद्वर्णित सृष्टि, पालन, प्रलय आदि विषय ब्राह्मपुराण पद्मपुराण और विष्णु पुराण आदि में स्पष्ट किये गये हैं।

(३८) [illegible]ष्ट्यादेः पुराणप्रतिपाद्यत्वावगमात्।

(सायण भाष्य)

अर्थ— इस प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति प्रलय आदि पुराणों का प्रतिपाद्य विषय जानने से।

(३९) उक्तप्रकारेण पुराणादीनां वेदार्थज्ञानोपयोगाद् विद्यास्थानत्वं युक्तम्। (सायण भाष्य)

अर्थ— इस प्रकार पुराण उपपुराण भी वेदार्थ जानने में उपयोगी होने से "विद्या के स्थान" ठीक ही हैं।

(४०) एतैः पुराणादिभिश्चतुर्भिर्विद्यास्थानैरुपबृंहिताया विद्याया ग्रहणेऽधिकारविशेषः शाखान्तर्गतैश्चतुर्भिर्मन्त्रैरुपदर्शितः। (सायण भाष्य)

अर्थ—पुराणादि चार विद्या स्थानों द्वारा उपबृंहित विद्या के ग्रहण में अधिकार विशेष अन्य शाखाओं के चार मन्त्रों में दिखाया है॥

अथर्वभाष्य—उपोद्घात

(४१) तथा स्कान्दे कमलालयखण्डे आथर्वणमन्त्राणां जपमात्रेणाभिमतफलसाधनत्वम् उक्तम्।

यस्तत्राथर्वणान् मन्त्रान् जपेच्छ्रद्धासमन्वितः।
तेषामर्थोद्भवं कृत्स्नं फलं प्राप्नोति सो ध्रुवम्॥ इति॥

(अथर्व सायणभाष्य पृष्ठ ५)

अर्थात्—स्कन्द पुराण के कमलालय (कुमारिका) खण्ड में—अथर्व मन्त्रों के जप मात्र से इच्छित फल की प्राप्ति होती है— ऐसा कहा है—यथा:—'स्कन्दादि' जो पुरुष श्रद्धा पूर्वक अथर्व मन्त्रों का जाप करेगा उसे निश्चित ही अर्थ सहित [illegible] पाठ का पूर्ण फल प्राप्त होगा।

(४२) पौरोहित्यं च अथर्ववित्दैव कार्य्यम्। तत्कर्तृकाणां कर्म्मणां राजाभिषेकादीनां तत्रैव विस्तरेण प्रतिपादितत्वात्। तथा च विष्णुपुराणे— पौरोहित्यं शान्तिकपौष्टिकादि राज्ञामथर्ववेदेन कारयेद् ब्रह्मत्वं च।

(अथर्व सायण भाष्य पृष्ठ ६)

अर्थात्—पुरोहित का कार्य्य अथर्ववेदज्ञ से ही करवाना चाहिये। क्योंकि राज

अभिषेक आदि पुरोहित कर्तृक कर्म्मों का उल्लेख विस्तार पूर्वक अथर्व में ही है जैसा कि विष्णु पुराण में कहा है:—

'राजाओं के यहां शान्तिक पौष्टिक आदि पुरोहित सम्बन्धी कार्य्य-अथर्व वेद द्वारा कराने चाहियें। तथा यज्ञादि में ब्रह्मात्व भी इस वेद से होता है।

(४३) मत्स्यपुराणे—

'पुरोहितं तथाथर्वमन्त्रब्राह्मणपारगम्। इति।

(अथर्व सायण भाष्य पृ० ६)

अर्थात्—मत्स्य पुराण में लिखा है:—

'अथर्व वेद के मन्त्रब्राह्मणात्मक दोनों भागों का पारंगत पुरोहित होना चाहिये।

(४४) मार्कण्डेयपुराणे:—

'अभिषिक्तोऽथर्वमन्त्रैर्महीं भुङ्क्ते ससागराम्।

(अथर्व सायण भाष्य पृ०६)

अर्थात्—मार्कण्डेय पुराण में लिखा है:—

'अथर्वमन्त्रों द्वारा अभिषिक्त होकर वह समुद्र पर्य्यन्त पृथ्वी का राजा हुवा इस प्रकार सायण भाष्य में अनेक स्थलों पर पुराणों की महिमा का गान किया है। सायण भाष्य सनातन धर्म्मियों का तो सर्वस्व है ही परन्तु विदेशीय निष्पक्ष समालोचकों की दृष्टि में भी वह अद्वितीय है। सौभाग्य की बात है कि अब पचास वर्ष के बाद आर्य्य समाजी विद्वान् भी सायण भाष्य का लोहा मानने लगे हैं। कल तक जो लोग स्वामी दयानन्द के भ्रममूलक मतानुसार दयानन्द भाष्य के सामने शेष भाष्यों के भ्रष्ट होने की ढपली पीटते थे; आज वही लोग निम्न लिखित शब्दों में सायण भाष्य की यशोदुंदुभि बजाते हैं "सायणाचार्य्यादिकों की विद्वत्ता के विषय में संदेह करना मानो अपनी अज्ञता प्रकट करना है उनके भाष्य को देखने से जैसा वह सुसंगत सुसम्बद्ध प्रतीत होता है वैसा दूसरा प्रतीत नहीं होता। यह ठीक है कि (दयानन्दकृत भाष्य की) प्रथा नई है, आधार तर्क शिला है, कार्य्य नया है, सयुक्तिक, सोपपत्तिक है पर सन्तोष जनक नहीं। इस (दयानन्द कृत) भाष्य को देखकर प्रायः अंग्रेजी पढे संशय सागर में पड़ जाते हैं और इस अभिप्राय पर पहुंचते हैं कि वेदों में प्रकरणबद्ध कोई बात नहीं, सब जगह केवल ईश्वर का ही वर्णन आता है क्रम कोई

नहीं इत्यादि। सारांश (दयानन्दकृत) भाष्य ऐसा नहीं बना जो संसार पर धाक बैठती"। (पं० नरदेवशास्त्रिकृत "आर्य्यसमाज का इतिहास" भाग १ पृ० १६५)

कौटिलीय अर्थशास्त्र

(४५) पश्चिममितिहासश्रवणे। पुराणमितिवृत्तमाख्यायिकोदाहरणं धर्म्मशास्त्रमर्थशास्त्रं चेतीतिहासः।

(अध्याय ५ गद्य १३-१४)

अर्थात्— (प्रो० उदयवीर शास्त्री स्नातक महाविद्यालय ज्वालापुर कृत अर्थ) दिनके पिछले भाग को इतिहास आदि सुनने में व्यतीत करे। ब्राह्म आदि पुराण रामायण महाभारत आदि इतिहास आख्यायिका उदाहरण मीमांसा आदि मन्वादि धर्म्मशास्त्र और अर्थशास्त्र ये सब ही इतिहास शब्द से समझने चाहियें।

परिणाम— यह ग्रन्थ बहुमत से ईसवी सन् पूर्व ३०० वर्ष का पुराना है, और इसके लेखक राजनीति, कूटनीति आदि राष्ट्रीय विषयों के धुरंधर आचार्य्य तथा प्रख्यात नन्दवंश के संहारक और चन्द्रगुप्त के राज्य की नींव डालने वाले श्री चाणक्य जी हैं। आप राजाओं को पुराण सुनने का आदेश इस लिये करते हैं कि विना पुराण सुने शासनानेपुणता दुष्प्राप है, जो सज्जन पुराणों को राष्ट्रीयता के लिये विघातक बता कर अपनी योग्यता का परिचय दिया करते हैं उन्हें यह पंक्तियें आंख उघाड़ कर पढ़नी चाहियें।

शुक्रनीति

(४६) अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसान्यायविस्तरः।
धर्म्मशास्त्रपुराणानि त्रयीदं सर्वमुच्यते॥

(१।१५४)

अर्थात्— छः अङ्ग, चार वेद, मीमांसा, न्याय, धर्म्मशास्त्र और पुराण इन सबको 'त्रयी' कहते हैं।

(४७) पठनं पाठनं कर्तुं क्षमास्तदभ्यासशालिनाम्।
श्रुतिस्मृतिपुराणानां श्रुतज्ञास्ते प्रकीर्तिताः।

(२।१७७)

अर्थात्— वेद स्मृति और पुराणों के अभ्यास करने वालों में जो लोग पढ़ और पढ़ा सकते हैं वे 'श्रुतज्ञ' कहे जाते हैं।

(४८) साहित्यशास्त्रनिपुणः सङ्गीतज्ञश्च सुस्वरः।
सर्गादि पञ्च ज्ञाता स वै पौराणिकः स्मृतः॥
(२।१७८)

अर्थात्— जो साहित्य शास्त्र में चतुर हो, गाना बजाना जानने के साथ कोमल स्वर वाला हो, तथा सृष्टि की उत्पत्ति, विनाश, वंश, मन्वन्तर और वंश चरित- पांचों तत्वों को जानता हो वह 'पौराणिक' कहा जाता है।

(४९) मीमांसातर्कसांख्यानि वेदान्तो योग एव च।
इतिहासपुराणानि स्मृतयो नास्तिकं मतम्॥
(४।२६९)

अर्थात्— मीमांसा, न्याय, सांख्य, वेदान्त, योग, इतिहास, पुराण, स्मृति और नास्तिकों का मत (ये सब बत्तीस विद्याओं के अन्तर्गत हैं)

(५०) सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं यस्मिन्पुराणं तद्धि कीर्तितम्॥
(४।२६४)

अर्थात्— सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित ये पांच विषय जिस में वर्णित हों उसे पुराण कहते हैं।

(५१) धर्म्मतत्वं हि गहनमतः सत्सेवितं नरः।
श्रुतिस्मृतिपुराणानां कर्म्म कुर्य्याद्विचक्षणः॥
(३।३८)

अर्थात्— धर्म्म का तत्व गहन है अतः बुद्धिमान् को उचित है कि वह सत्सेवित श्रुति स्मृति पुराणोक्त कर्म्मों का ही अनुष्ठान करे।

(५२) श्रुतिस्मृतिपुराणानामभ्यासः सर्वदा हितः।
(३।१५०)

अर्थात्— [राजा के लिये] वेद, धर्म्मशास्त्र और पुराणों का अभ्यास सदैव हितकारी है।

नीति ग्रन्थों में शुक्रनीति का स्थान बहुत ऊँचा है। इसमें धर्म्मनीति, राजनीति और कूटनीति के अतिरिक्त शासनोपयोगी सभी बातों का विशद वर्णन है। जो लोग बन्दूक, तोप और बम्बगोलों के आविष्कार को अंग्रेजी शासन की करामात समझते

हों उन्हें उक्त ग्रन्थ का एक बार अध्ययन अवश्य करना चाहिये। ऐसे राष्ट्रीय ग्रन्थ में पुराणों का विस्तृत वर्णन लिखा देख कर सर्वसाधारण को यह खूब जान लेना चाहिये कि स्वतन्त्रता के पुजारियों को पुराणों की स्वाध्याय की कितनी आवश्यकता है।

वात्स्यायन-भाष्य

(५३) प्रमाणेन खलु ब्राह्मणेन इतिहासपुराणस्य प्रामाण्यमभ्युपगम्यते। ते वा खल्वेतेऽथर्वाङ्गिरस एतदितिहासपुराणस्य प्रामाण्यमभ्यवदन् 'इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेद इति-छान्दोग्यः ७। २'

(न्यायदर्शन ४। १। ६२)

अर्थात्— [प्रो० राजाराम डी० ए० वी० कालेज का भाषार्थ] प्रमाण भूत ब्राह्मण से इतिहास पुराण की प्रमाणता मानी गई है। ये जो अथर्वांगिरस हैं उन्होंने इतिहास पुराण का प्रामाण्य कथन किया है 'इतिहास पुराण पांचवां वेदों का वेद है'।

(५४) य एव मन्त्रब्राह्मणस्य द्रष्टारः प्रवक्तारश्च ते खलु इतिहासपुराणस्य धर्म्मशास्त्रस्य च।

(न्यायदर्शन ४। १। ६२)

अर्थात्— [वही भाषार्थ] जो मन्त्र ब्राह्मण के द्रष्टा हैं वेही इतिहास पुराण और धर्म्मशास्त्र के प्रवक्ता हैं।

पातञ्जल महाभाष्य

(५५) ...वाकोवाक्यमितिहासः पुराणं वैद्यकमित्येतावच्छब्दस्य प्रयोगविषयः। (पस्पशाह्निक १। १। १)

अर्थात्— वाकोवाक्य, इतिहास, पुराण और वैद्यक-वेदादि ये सब शब्द का प्रयोग विषय है।

संस्कृत साहित्य में दर्शन शास्त्र का स्थान बहुत ऊँचा है, पाश्चात्य पण्डितों का कथन है कि— "उन्नत * योरोप का दार्शनिक ज्ञान जहां समाप्त होता है, भारतवर्ष

* टिप्पणी- यूरोप के प्रथम दार्शनिक (प्लेटो और पीथा गौरस) दोनों ही दर्शन शास्त्र के सम्बन्ध में भारतवासी हिन्दुओं के निकट सब तरह से ऋणी हैं।
(मानियर विलियम्स)

का वहां से आरम्भ होता है। उन दर्शनों में भी महामुनि गौत्तम का न्यायशास्त्र और उसकी कुंजी वात्स्यायन भाष्य भारत का सर्वस्व है, तर्क वितर्क से संसार भर के पदार्थों की छान बीन कर डालना, यह इसी ग्रन्थ का गौरव है। आस्तिक और नास्तिक सभी प्रकार के तार्किक उसकी युक्तियों के सामने मस्तक झुकाते हैं। उसी ग्रन्थ के भाष्य की २ सम्मतियां और उन पर आर्य्यसमाजी पं० राजाराम प्रोफैसर डी०ए०वी० कालेज का भाषार्थ देकर हमने स्पष्ट कर दिया है कि- पुराण ग्रन्थ दर्शन काल से पूर्व भी विद्यमान थे। तथा- उन्हें वेदों के समान प्रमाण माना जाता था। पातञ्जल महाभाष्य के सम्बन्ध में कुछ कहना मानो सूर्य्य को दीपक दिखाना है, प्रत्येक संस्कृतज्ञ इसकी खूबियों का कायल है। कितनी स्पष्टता से इस में पुराण-साहित्य का उल्लेख किया गया है यह भी माननीय है।

सिद्धान्त शिरोमणि

(५६) दिग्देशकालावरणादिभेदान्नछादको राहुरितिब्रुवन्ति।
यन्मानिनः केवलगोलविद्या तत्संहितावेदपुराणवाह्यम्॥

(गणिताध्यायः)

अर्थात्— जो लोग- दिशा, देश, काल और आवरणादि के कारण राहु चन्द्रमा का आच्छादक नहीं ऐसा कहते हैं— वे न केवल भूगोल विद्या के ही विरुद्ध कहते हैं बल्कि वेद, संहिता और पुराणों के भी सर्वथा प्रतिकूल बोलते हैं।

महाभारत

(५७) पुराणमितिहासश्च तथाख्यानानि यानिच।
महात्मनां च चरितं श्रोतव्यं नित्यमेव तत्॥

(दान धर्म्म अध्याय ६०)

अर्थात्— पुराण, इतिहास, आख्यान और महात्माओं के चरित नित्य श्रवण करने चाहिये।

(५८) अष्टादशपुराणानां श्रवणाद्यत्फलं लभेत्।
तत्फलं समवाप्नोति वैष्णवो नात्र संशयः॥

(स्वर्गारोहण अध्याय ६)

अर्थात्— अठारह पुराणों के श्रवण करने से जो फल प्राप्त होता है वही फल विष्णु भक्त को महाभारत के पढ़ने से मिलेगा, इस में संदेह नहीं।

(५९) हरिवंशं ततः पर्व पुराणं खिलसंज्ञितम्।

(आदिपर्व २। ८३)

अर्थात्— हरिवंश नाम का पुराण खिलसंज्ञा वाला पर्व है।

(६०) ये च भाष्यविदः केचिद्ये च व्याकरणे रताः।
अधीयन्ते पुराणानि धर्म्मशास्त्राण्यथापि वा॥

(दान धर्म्म अध्याय ६०)

अर्थात्— जो भाष्य के ज्ञाता हैं और जो व्याकरण के वेत्ता हैं वे भी (धर्म्म ज्ञान के लिये) पुराणों और धर्म्मशास्त्रों को पढ़ते हैं।

(६१) पुराणं मानवो धर्म्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम्।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः॥

(अनुशासन)

अर्थात्— पुराण, मन्वादि स्मृति, षडङ्ग वेद, और चिकित्सा शास्त्र यह चारों ईश्वराज्ञा से सिद्ध हैं, तर्क के आश्रय से इनका हनन नहीं करना चाहिये।

(६२) अष्टाभिश्च गुणैर्युक्तं, सूतं पौराणिकं तथा।
पञ्चाशद्वर्षवयसं, प्रगल्भमनसूत्रकम्॥

(शान्तिपर्व ८५। ६)

अर्थात्— (व्यवस्थापिका राजपरिषद् में) अष्ट-गुण युक्त, प्रगल्भ, अचिरक्रिय और पचास वर्ष की अवस्था वाला पुराणों का ज्ञाता सूत भी होना चाहिये।

(६३) पुराणे हि कथा दिव्या आदिवंशाश्च धीमताम्।
कथ्यन्ते ये पुरास्माभिः श्रुतपूर्वाः पितुस्तव॥

(आदि पर्व ५। २)

अर्थात्— [शौनक जी कहते हैं कि-] पुराण में अनेक दिव्य कथाएं और विशिष्ट पुरुषों के आदि-वंशों का वर्णन कहा जाता है जो कि हमने पूर्व काल में आपके पितृ चरणों से सुना था।

(६४) साङ्गोपनिषदां चैव वेदानां विस्तरक्रिया।
इतिहासपुराणानामुन्मेषं निर्म्मितं च यत्॥

(आदि पर्व ६२। ६३)

अर्थात्— साङ्गोपाङ्ग-उपनिषद् और वेदों का विस्तार, तथा इतिहास और पुराणों का प्रवर्द्धन श्री वेदव्यास जी की कृति है।

(६५) इमं वंशमहं पूर्वं भार्गवं ते महामुने !
निगदामि यथायुक्तं पुराणाश्रयसंयुतम् ॥
(आदिपर्व ५ । ६७)

अर्थात्— [उग्रश्रवा ने कहा कि-] हे महामुने! मैं तुम्हारे प्रति सर्व प्रथम इस भृगुवंश का वर्णन करता हूँ। पुराणों में इस वंश का जो जैसा वर्णन किया है सो सुनो।

(६६) माहात्म्यमपि चास्तिक्यं सत्यंशौचंदयार्जवम् ।
विद्वद्भिः कथ्यते लोके पुराणे कविसत्तमैः ॥
(आदिपर्व १ । २४०)

अर्थात्— संसार में महिमा, आस्तिकपन, सत्यता, शौच, दया और नम्रता का विद्वान् जो वर्णन किया करते हैं वह उत्तम कवियों ने पुराणों में लिखा है।

(६७) अष्टादश पुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुतः ।
पश्चाद्भारतमाख्यानं चक्रे तदुपबृंहितम् ॥
(आदिपर्व अनुक्रमणिका)

अर्थात्— सत्यवती के पुत्र श्री व्यासजी ने अष्टादश पुराणों का संकलन करने के बाद पुराणों का उपबृंहण रूप महाभारत का निर्माण किया।

(६८) लोमहर्षणपुत्र उग्रश्रवाः सौतिः पौराणिकः ।
(आदिपर्व १ । ११)

अर्थात्— सूत पुत्र लोमहर्षण का आत्मज उग्रश्रवा पुराणों का ज्ञाता था।

(६९) पुराणसंश्रिताः पुण्याः कथा धर्म्मार्थसंश्रिताः ।
(आदि १ । १६)

अर्थात्— पुराणों की पवित्र कथायें धर्म्म और अर्थ की देने वाली हैं।

(७०) पुराणपूर्णचन्द्रेण श्रुतिज्योत्स्ना प्रकाशिता ।
(आदिपर्व १ । ८६)

अर्थात्— पुराण रूप पूर्ण चन्द्रमा से वेद रूप चाँदनी छिटकती है।

(७१) इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ॥
(आदिपर्व १ । १६४)

अर्थात्— इतिहास और पुराणों द्वारा वेदों को प्रबृद्ध करना चाहिये।

महाभारत ग्रन्थ आर्य्य जाति का विश्वकोश कहा जाता है उक्त ग्रन्थ के उपर्युक्त प्रमाणों में कितने सौष्ठव के साथ पुराणों को स्मरण किया गया है यह दर्शनीय है।

बाल्मीकीय-रामायण

(७२) एतच्छ्रुत्वा रहः सूतो राजानमिदमब्रवीत् ।
श्रूयतां यत्पुरावृत्तं पुराणेषु मया श्रुतम् ॥

(बालकाण्ड ६ । १)

अर्थात्— [सन्तान के अभाव से दुःखित हुवे दशरथ जी के प्रति सुमन्त्र मन्त्री ने कहा-] राजा के ऐसे वचनों को सुनकर एकान्त में सूत ने कहा कि महाराज! मैंने आपके सम्बन्ध में पुराण ग्रन्थों में जो कुछ सुन रक्खा है वह श्रवण कीजिये।

(७३) इत्युक्त्वान्तःपुरद्वारमाजगाम पुराणवित् ।

(अयोध्या १५ । १८)

अर्थात्— पुराणों के ज्ञाता सुमन्त्र लोगों को समझा कर अन्तःपुर के द्वार पर पहुंचे।

(७४) स तदन्तःपुरद्वारं समतीत्य जनाकुलम् ।
प्रविभक्तां ततः कक्ष्यामाससाद पुराणवित् ॥

(अयोध्या० १६ । १)

अर्थात्— पुराणों का ज्ञाता सुमन्त्र राज महल के जनाकुल (भीड़भाड़ वाले) दर्वाजे को लांघ कर एकान्त एवं शान्त ड्योढी में पहुंचा।

बाल्मीकीय रामायण संस्कृत साहित्य का आदि काव्य माना जाता है इसके शब्दविन्यास और चरित्र चित्रण को देख कर आज भी समालोचक चक्र चूड़ामणि चकित से रह जाते हैं। यद्यपि पुराणों का वर्तमान संकलन रामचन्द्र जी के समय से लाखों वर्ष बाद हुवा है तथापि उस समय या उससे भी पूर्व वे रूपान्तर में विद्यमान थे यह रहस्य इस ग्रन्थ के 'पुराण परम्पराध्याय' में स्फुट किया गया है। कहना न होगा कि सुमन्त्र ने दशरथ के भावि जीवन की सब घटनाएं पुराणों के भविष्य वर्णनों द्वारा जान रक्खी थीं जिनका उल्लेख बालकाण्ड के नौवें सर्ग में विस्तार पूर्वक किया गया है।

स्मृतिग्रन्थ

(७५) ब्राह्मणक्षत्रियविशस्त्रयो वर्णा द्विजातयः ।
श्रुतिस्मृतिपुराणोक्तधर्म्मयोग्यास्तु नेतराः ।

(व्यासस्मृति १ । ५)

अर्थात्— ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये तीनों वर्ण द्विजाति कहे जाते हैं। श्रुति स्मृति पुराणोक्त धर्म्म का अधिकार इन्हीं को है अन्य को नहीं।

(७६) मीमांसते च यो वेदान् षड्भिरङ्गैः सविस्तरैः।
इतिहासपुराणानि स भवेद् वेदपारगः॥
(व्यासस्मृति ४। ४५)

अर्थात्— जो विद्वान् विस्तार सहित शिक्षा आदि छः अङ्गों के साथ वेद इतिहास और पुराणों की मीमांसा करता है वही वेद का पारंगत हो सकता है।

(७७) सएष बहुश्रुतो भवति लोकवेदवेदाङ्गविद्-
वाकोवाक्येतिहासपुराणकुशलः॥
(गौत्तम स्मृति ८। २)

अर्थात्— जो विद्वान्- लोक व्यवहार, वेद, वेदाङ्ग, वाकोवाक्य (प्रश्नोत्तर रूप वैदिक ग्रन्थ) इतिहास और पुराणों को भली प्रकार जानता है वही 'बहुश्रुत' होता है।

(७८) तस्य व्यवहारो वेदो धर्म्मशास्त्राण्यङ्गान्युपवेदाः पुराणम्।
(गौत्तम स्मृति ११। १)

अर्थात्— उस [राजा] का व्यवहार वेद धर्म्मशास्त्र वेदाङ्ग उपवेद और पुराण शास्त्रों पर अवलम्बित होना चाहिये।

(७९) वेदं धर्म्मं पुराणं च तथा तत्वानि नित्यशः।
संवत्सरोषिते शिष्ये गुरुज्ञानं विनिर्दिशेत्॥
(उशनः स्मृति ३। ३४)

अर्थात्— एक वर्ष शिष्य के ठहर जाने पर (परीक्षा करने के बाद) गुरु उसे वेद, धर्म्म, पुराण और अन्यान्य तत्वों का नित्य प्रति उपदेश देने लगे।

(८०) पुराणन्यायमीमांसाधर्म्मशास्त्राङ्गमिश्रिता।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्म्मस्य च चतुर्दश॥
(याज्ञवल्क्य स्मृति उपोद्घात ३)

अर्थात्— पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्म्मशास्त्र, वेदों, के छहों अङ्ग और चारों वेद सब मिला कर चौदह विद्याएं हैं, और यही धर्म्म के स्थान हैं।

(८१) स्वाध्यायं श्रावयेत् पित्र्ये धर्म्मशास्त्राणि चैव हि।
आख्यानानीतिहासांश्च पुराणानि खिलानि च॥
(मनुस्मृति ३। २३२)

अर्थात्— [पं० राजाराम कृत भाषार्थ] श्राद्ध में (यजमान निमन्त्रित ब्राह्मणों को) वेद, धर्म्मशास्त्र, आख्यान, इतिहास, पुराण और खिल सुनावे।

(८२) वेदाथर्वपुराणानि सेतिहासानि शक्तितः।
जपयज्ञप्रसिध्यर्थं विद्यां चाध्यात्मिकीं जपेत्।
(याज्ञवल्क्य स्मृति १। १०१)

अर्थात्— वेद, अथर्व, पुराण इतिहास और अध्यात्म विद्या का जप यज्ञ की सिद्धि के लिये यथाशक्ति जाप करे।

(८३) वाकोवाक्यं पुराणं च नाराशंसी च गाथिका।
इतिहासांस्तथा विद्याः शक्त्याधीते हि योन्वहम्॥
(याज्ञ० १। ४५)

अर्थात्— जो वाकोवाक्य, पुराण, नाराशंसी, गाथा, इतिहास और अन्यान्य विद्याओं का प्रतिदिन यथाशक्ति अध्ययन करता है (वह अपने पितरों को तृप्त करता है)

(८४) यतो वेदाः पुराणं च विद्योपनिषदस्तथा।
श्लोकाः सूत्राणि भाष्याणि यत्किंचिद् वाङ्मयं जगत्॥
(याज्ञ० प्रायश्चित्ताध्याय ३। १८९)

अर्थात्— जिन मुनियों से वेद, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र और भाष्य— जो कुछ भी वाङ्मय है— [सब प्रचरित हुवे वेही मुनि धर्म्म प्रवर्तक हैं]

स्मृति ग्रन्थों में अन्यान्य भी सैंकड़ों प्रमाण विद्यमान हैं जो विस्तार भय से अनावश्यक समझ कर उद्धृत नहीं किये जारहे हैं। आर्य्य समाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द ने 'भेषजं वै यद् मनुरब्रवीत्' ऐसा वेद प्रमाण देकर मनुस्मृति का प्रमाण माना है क्या हम आशा करें कि मनु जी के कथनानुसार समाजी भाई श्राद्ध में— फिर चाहे वह जीवित ही क्यों न हो— पुराणों का पाठ किया करेंगे ?

सूत्रग्रन्थ

(८५) अथ स्वाध्यायमधीयीत, ऋचोयजूंषि सामान्यथर्वाङ्गिरसो ब्राह्मणानि कल्पान गाथा नाराशंसीतिहासः पुराणानि इतिअमृताहुतिभिः ..... ।
(आश्वलायन सूत्र ३। ३। १)

अर्थात्— वेदों का स्वाध्याय करना चाहिये। ऋगादि चारों वेद, ब्राह्मण, कल्प, गाथा, नाराशंसी, इतिहास और पुराण- [इनका पाठ करने वाले के पितरों को] अमृत की आहुतियों से तृप्ति होती है।

(८६) इतिहासपुराणानि अमृतस्य कुल्याः।

(आश्वलायन सूत्र ३। ३। ३)

अर्थात्—इतिहास और पुराणों [का पाठ करने वाले मनुष्य के पितरों को] अमृत की नहरें प्राप्त होती हैं।

(८७) आयुष्मतां कथा कीर्तयन्तो माङ्गल्यानीतिहासपुराणानि।

(आश्वलायन गृह्यसूत्र ४। ६)

अर्थात्—चिरजीवी मनुष्यों की कथाएँ और मांगलिक इतिहास पुराणों का पाठ करते हुवे [समय यापन करे]

(८८) अथ पुराणे श्लोकावुदाहरन्ति—

'अष्टाशीति सहस्राणि ये प्रजामीषिरर्षयः।
दक्षिणेनार्यम्णः पन्थानं ते श्मशानानिभेजिरे॥
अष्टाशीति सहस्राणि ये प्रजां नेषिरर्षयः।
उत्तरेणार्य्यम्णः पन्थानं तेऽमृतत्वं हि कल्पते॥'

(आपस्तम्बधर्म्म सूत्र २। २३। ३५)

अर्थात्—पुराण में नीचे लिखे दो श्लोकों का उदाहरण मिलता है कि—जो अठासी हजार ऋषि सन्तान की कामना करते थे वे अर्य्यमा के दक्षिण मार्ग से प्रयाण करके श्मशान में पहुंचे (अर्थात्-प्रवृत्ति मार्ग के जन्म मरणात्मक चक्र में पड़े रहे) और जो अठासी हजार ऋषि प्रजा की कामना नहीं रखते थे वे यम के उत्तर मार्ग से प्रयाण करके सदा के लिये अमर बन गये [अर्थात्—निवृत्ति मार्ग के आश्रयण से मुक्त होगये]।

(८९) आभूतसंप्लवास्ते स्वर्गजितः पुनः स्वर्गे बीजार्था भवन्ति, इति भविष्यत्पुराणे।

(आपस्तम्बधर्म्म सूत्र २। २४। ५-६)

अर्थात्—वे लोग प्रलय पर्य्यन्त स्वर्ग में निवास करते हैं और सृष्टि के पुनः उत्पन्न होने के समय स्वर्गादि लोकों के बीज भूत होते हैं-ऐसा भविष्यत्पुराण में लिखा है।

उपर्युक्त प्रमाण में 'अष्टाशीति-आदि जो श्लोक उद्धृत किये हैं वे ज्यों के त्यों ब्रह्माण्ड-पुराण में—(अनुषङ्गपाद अध्याय ५४ श्लोक १५६ से १६६ तक) उपलब्ध होते हैं। और विष्णुपुराण (३ । ८) में तथा मत्स्य पुराण में (अध्याय १२४ श्लोक १०२ से ११० तक) और पद्मपुराण के सृष्टि खण्ड में भी ठीक इसी प्रकार मिलते हैं। डाक्टर बुलर (Dr. Buhlar) आदि पाश्चात्य विद्वानों ने सूत्र ग्रन्थों को-विशेषतः आपस्तम्बधर्म्म सूत्र को पाणिनीय से पूर्व का बना हुवा तथा बौद्ध जैन समय से ५ । ६ सौ वर्ष पूर्व का ठहराया है, पाठक इस बात से तो खूब परिचित होंगे कि पाश्चात्य विद्वान् अनादि वेदों का समय अधिक से अधिक ईसा पूर्व ४ हजार वर्ष ठहराते हैं, उक्त समालोचकों के समय निर्णय पर हम कुछ न कहते हुवे अपने पाठकों का ध्यान केवल इस बात की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं-कि पाश्चात्य विद्वानों की सम्मति में भी सूत्र काल वैदिक काल के अति निकट ठहरता है, अतः आपस्तम्ब धर्म्म सूत्र में स्पष्ट शब्दों में "पुराणे श्लोकावुदाहरन्ति" कह कर ब्रह्माण्ड पुराण के श्लोक उद्धृत करना सिद्ध कर रहा है कि उस समय से पूर्व ही पुराण ग्रन्थों का रूपान्तर में सूत्रपात होचुका था, ब्रह्माण्ड पुराण गणना में बहुमत से १८वां पुराण है। यदि गणनाक्रम दृष्टि कोण से इसका परीक्षण किया जाय तब तो रूपान्तर में सभी पुराणों का सूत्रकाल से पूर्व होना सिद्ध होता है तथा भविष्यत्पुराण का साक्षात्नाम आ जाने से यह भी विदित होता है कि उस समय पुराणों के वर्तमान नामों का भी विषय व्यवस्था के अनुसार व्यवहार होता था।

उपनिषद् ग्रन्थ—

छान्दोग्य उपनिषद् में वर्णन आता है कि— एक वार नारदमुनि पढ़ने के लिये सनत्कुमार के पास गए, सनत्कुमार ने पूछा कि- अब से प्रथम तैंने क्या २ पढ़ा है ? नारद ने कहा—

(६०) ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदꣳसामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम् ॥

(छान्दोग्य० ७ । १ । २)

अर्थ— (पं० राजाराम प्रोफैसर का भाषार्थ) नारद ने कहा भगवन् ! मैं ऋग्वेद पढ़ा हूँ, तथा यजुर्वेद, सामवेद और चौथा आथर्वणवेद, पांचवां इतिहास पुराण वेदों का वेद ॥

(६१) स यथाऽऽर्द्रैधाग्नेरभ्याहितात् पृथग्धूमा विनिश्चरन्ति एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्, यदृग्वेदो

यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासपुराणम् ॥

(बृहदारण्यक २ । ४ । ११)

अर्थात्— (पं० राजाराम प्रोफैसर का भाषार्थ) जो आग गीली लकड़ियों से जलाई है, जैसा कि- उससे अलग धूम (के बादल) बाहर निकलते हैं, इसी प्रकार हे (मैत्रेयी) इस बड़ी सत्ता से यह बाहर की ओर सांस लिया गया है जो ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद अथर्वाङ्गिरस इतिहासपुराण.....हैं इसी के ही यह सांस लिये हुवे हैं ॥

(९२) नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद आथर्वणश्चतुर्थ इतिहास-पुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः.....उपास्वेति ॥

(छान्दोग्य० ७ । १ । ४)

अर्थ— ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद और चौथा अथर्ववेद तथा पांचवां वेदों का वेद इतिहास पुराण यह सब ब्रह्मरूप है, इनकी उपासना कर ! ॥

(९३) वाग्वा ऋग्वेदं विज्ञापयति यजुर्वेदंᳬसामवेदमाथर्वणं चतुर्थ-मितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम् ॥

(छान्दोग्य ७ । २ । १)

अर्थ— ईश्वर की वाणी ही ऋग्वेदादि चार वेदों और इतिहास पुराण नामक पांचवें वेद को विज्ञापित करती है ॥

उपर्युक्त उपनिषद्-ग्रन्थों के प्रमाणों में पुराणों को बार २ पांचवें वेद के नाम से याद किया है, उपनिषद् काल में वर्तमान रूपापन्न अठारह पुराण न थे, बल्कि इन सबका मौलिक तत्व भूत एक ही ग्रन्थ था जो वेदों की भांति गुरु शिष्य सम्प्रदाय द्वारा पढा पढाया जाता था। इस रहस्य का पूरा विवरण-परम्पराध्याय में लिखा जायेगा-यहां केवल एतावन्मात्र समझलेना आवश्यक होगा कि उक्त प्रमाणों में जो एक वचन का निर्देश किया गया है वह उसी एकत्व संख्यावच्छिन्न ग्रन्थ का संकेत करता है।

वेद-ब्राह्मण-भाग

(९४) एवमिमे सर्वे वेदा निर्मिताः सकल्पाः सरहस्याः सब्राह्मणाः सोपनिषत्काः सेतिहासाः सान्वाख्याताः सपुराणाः ॥ ...

(गोपथ पूर्व भाग प्रपाठक २ । १०)

अर्थ—इस प्रकार कल्प, रहस्य, ब्राह्मण, उपनिषद्, इतिहास, अनुख्यान और पुराण सहित सब वेद निर्मित हुवे।

(९५) मध्याहुतयो ह वा एता देवानाम्, यदनुशासनानि विद्या वाकोवाक्यमितिहासः पुराणं गाथा नाराशंस्यः ॥

(शतपथ ११।५।६।८)

अर्थ—यह जो अनुशासन, विद्या, वाकोवाक्य, इतिहास, पुराण, गाथा और नाराशंसी (वेद के भाग विशेष हैं) सो देवताओं की तृप्ति के लिये यज्ञाहुति के समान हैं।

(९६) पंच वेदान् निरमिमीत सर्पवेदं पिशाचवेदमसुरवेदमितिहासवेदं पुराणवेदम्।

(गोपथ-१।१०)

अर्थात्—पांच वेदों को निर्माण किया-सर्पवेद, पिशाचवेद, असुरवेद, इतिहासवेद और पुराण वेद।

(९७) य एवं विद्वान् अनुशासनानि विद्या वाकोवाक्यमितिहासपुराणं गाथा नाराशंसीरित्यहरहः स्वाध्यायमधीते

(शतपथ ११।५।६।८)

अर्थात्—जो पुरुष ऐसा जानते हैं वे नित्य पुराणादि सहित वेद का पाठ करते हैं॥

(९८) एष देवांस्तर्पयति य एवं विद्वान् वाकोवाक्यमितिहासः पुराणमित्यहरहः स्वाध्यायमधीते ॥

(शतपथ-११।५।७।६)

अर्थात्—वाकोवाक्य, इतिहास, और पुराणों का प्रति दिन स्वाध्याय करना चाहिये जो ऐसा जानता है वह देवताओं को तृप्त करता है।

(९९) ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वांगिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राणि अनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि, वाचैव सम्राट् प्रजायते।

(शतपथ १४।६।१०।६)

अर्थात्—ऋगादि चारों वेद, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद् आदि सब वाङ्मय है, वाणी से ही सम्राट् होता है।

(१००) तान् उपदिशति पुराणं वेदः।

(शतपथ १३।४।३।१३)

अर्थात्—[यज्ञाधिष्ठा] उन्हें उपदेश करे कि पुराण वेद हैं।

(१०१) ब्राह्मणानि इतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीरिति।

(तैत्तिरीयारण्यक २। ६)

अर्थात्—ब्राह्मण इतिहास, पुराण आदि [सब वेद के ही समान हैं]

(१०२) अथ नवमेऽहनि किञ्चित्पुराणमाचक्षीत।

(शतपथ १३। ४। ३। १२-१३)

अर्थात्—यज्ञ के नौवें दिन कुछ पुराण का पाठ किया जाये।

वेद के ब्राह्मण भाग में किस प्रकार ग्रन्थवाची पुराण शब्द का बार २ उल्लेख मिलता है, यह उपर्य्युक्त प्रमाणों द्वारा भली भांति स्पष्ट हो जाता है। कई पर-प्रत्यय-नेय-बुद्धि, नर-पुँगव दुराग्रह वश उपर्य्युक्त प्रमाणों का अपलाप करने के लिये यह कह उठा करते हैं कि 'ब्राह्मण ग्रन्थों में—पुराण शब्द का अर्थ 'पुराण-विद्या' है जो कि वेद के ही विशिष्ट मन्त्रों में वर्णित है'—मेरे विचार में यह उत्तर—'भक्षितेऽपि लशुने नशान्तो व्याधिः' का सर्वाङ्ग सुन्दर उदाहरण है क्योंकि पुराण शब्द के सम्बन्ध में यदि यह नियम ठीक है तो 'इतिहास' शब्द का अर्थ भी 'इतिहास-विद्या' होगा, और उसका अस्तित्व भी वेद मन्त्रों में ही स्वीकार करना पड़ेगा, ऐसी दशा में—'वेदों को अनैतिहासिक सिद्ध करने वाले यही लोग अनिष्टापत्ति की उभययाशा रज्जु में निबद्ध होजायेंगे। वास्तव में जिस इतिहास सम्बद्ध पुराण का उक्त प्रमाणों में वर्णन है, वह वर्तमान अष्टादश-पुराणों की मूलभूत सामग्री का सर्वस्व एक ही ग्रन्थ था जो गुरुपरम्परा से प्रचरित था, कहना न होगा कि उसी का विकसित रूप वर्तमान पुराण हैं।

वेद-मन्त्र-भाग

(१०३) तं गाथया पुराण्या पुनानमभ्यनूषत।

(ऋग्वेद ६। ६६। ४)

अर्थात्— [सायणभाष्यानुसारी भाषार्थ] (पुनानं-पूयमानं) अत्यन्त पवित्र किये गए (तं-सोमं) उस सोम रस की (पुराण्या-पुराकृतया) पुराण सम्बन्धी प्राचीनतर (गाथया-स्तुत्या) कथा स्तुतियों द्वारा (अभ्यनूषत-स्तोतारोऽभिष्टुवन्ति) स्तोता लोग स्तुति करते हैं।

(१०४) सना पुराणमध्येम्यारात्।

(ऋग्वेद ३। ५४। ६)

अर्थात्—(आरात्- अधुना) अब [मैं] (सना- सनातनं) सदा होने वाले (पुराणं) पुराण का (अध्येमि) अध्ययन करता हूँ।

(१०५) **पुराणमोकः सख्यं शिवं वाम्।**

(ऋग्वेद ३। ५८। ६)

अर्थात्—[हे अश्विनी कुमारो !] (वां) तुम दोनों का (ओकः) स्थान-(पुराणं) पुराण है [अर्थात्-पुराणों द्वारा ही तुम्हारा पता चल सकता है] और तुम्हारी (सख्यं) मैत्री (शिवं) कल्याण करने वाली है।

(१०६) **चाक्लृपे तेन ऋषयो मनुष्या यज्ञे जाते पितरो नः पुराणे।**

(ऋग्वेद- १०। १३०। ६)

अर्थात्—(पुराणे) पुराण वर्णित सृष्टिरूप (यज्ञे जाते) यज्ञके सम्पन्न होजाने पर (तेन) उससे (नः पितरः, ऋषयः, मनुष्याः) हमारे पितृपितामहादिक ऋषि मनुष्य- (चाक्लृपे) उत्पन्न हुवे।

(१०७) **यत्र स्कम्भः प्रजनयन्पुराणं व्यवर्तयत्।**
एकं तदङ्गं स्कम्भस्य पुराणमनुसंविदुः॥

(अथर्व १०। ७। २६)

अर्थात्—(यत्र) जिस [व्यासावतार] में (प्रजनयन्) उत्पन्न होकर (स्कम्भः) सर्वाधार ईश्वर ने (पुराणं) पुराण साहित्य को (व्यवर्तयत्) [गुरुपरम्परागत रूप से लेख बद्ध रूप में] परिणत किया है (तत्) उस [वेद के] (एक) मुख्य (अङ्गं) अङ्ग (पुराणं) पुराण को (स्कम्भस्य) परमात्मा का (अनु) अनुकूल [वर्णन करने वाला] (संविदुः) भली प्रकार जानो।

(१०८) **ये अर्वाङ्मध्ये उत वा पुराणं वेदं विद्वांसमभितोवदन्ति।**
आदित्यमेव ते परिवदन्ति सर्वे अग्निं द्वितीयं त्रिवृतं च हंसम्॥

(अथर्व- १०। ८। १७)

अर्थात्— (ये) जो [विद्वान्- यज्ञके] (अर्वाक्) अन्त में (उतवा) अथवा (मध्ये) बीच में (पुराणं) पुराण ग्रन्थ (और) (वेदं) वेदों का [पाठ करते हुवे] (विद्वांसं) सर्वज्ञ परमात्मा की (अभितो वदन्ति) सब प्रकार से स्तुति करते हैं। (ते सर्वे) वे सब (आदित्यं) अखण्डनीय (द्वितीयं-अग्निं) दूसरे प्रकाश स्वरूप (च) और (त्रिवृतं) तीनों [कर्म्म उपासना और ज्ञान] को स्वीकार करने

वाले (हंसं) हंस स्वरूप [परमात्मा का] (एव) ही (परिवदन्ति) सब ओर से कथन करते हैं।

(१०९) इयं नारी पतिलोकं वृणाना, धर्म्मं पुराणमनुपालयन्ती।

(अथर्व १८। ३। १)

अर्थात्— [सायण भाष्यानुसारी भाषार्थ] (इयं-पुरोपतिनी नारी) यह सामने खड़ी हुई स्त्री (पतिलोकं) पति के [यज्ञादिकर्म्मों द्वारा अर्जित किये स्वर्गादि] लोक की (वृणाना) [सह धर्म्मचारिणी होने के कारण] हिस्सेदार होती हुई [और] (धर्म्मं पुराणं) पुराणादि प्रसिद्ध सती धर्म्म का (अनुपालयन्ती) आनुपूर्व्य पालन करती हुई [सती होती है]

(११०) सबृहतीं दिशमनुव्यचलत्। तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलत्।

(अथर्व १५। ६। १०-११)

अर्थात्— [आर्य्यसमाज के वेदज्ञ- कायस्थ क्षेमकरणदास कृत अथर्वभाष्य] वह बड़ी दिशा की ओर विचरा। इतिहास [बड़े लोगों का वृत्तान्त] और पुराण [पुराणे लोगों का वृत्तान्त] और गाथाएं [गाने योग्य वेद मन्त्र शिक्षाप्रद श्लोक आदि] और नाराशंसी [वीर नरों की गुण कथाएं] उस के पीछे चलीं।

[प्रो० रामदेव और म० जयचन्द्र गुरुकुल कांगड़ी का भाषार्थ 'पुराण मत पर्य्यालोचन' पृष्ठ २१६ से] वह व्रात्य बृहती दिशा को चला इतिहास, पुराण, गाथा, नाराशंसी भी उसके पीछे २ चलीं।

(१११) इतिहासस्य च पुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेदः

(अथर्व १५। ६। १२)

अर्थात्— [क्षेम० भाष्य] वह पुरुष निश्चय करके इतिहास का पुराण का और गाथाओं का और नाराशंसियों का प्रिय धाम (घर) होता है जो [विद्वान्] ऐसे व्यापक को जानता है।

(११२) ये त आसीद् भूमि पूर्वा या मद्धातय इद् विदुः। यो वै तां विद्यान्नामथा स मन्येत पुराणवित्॥

(अथर्व ११। ८। ७)

अर्थात्— [हेम० भाष्य] इस (दीखती हुई भूमि) से पहिली (पहिले कल्प वाली) जो भूमि थी और जिस (भूमि) को सत्य ज्ञानी पुरुष ही जानते हैं, जो निश्चय करके उस (पहिले कल्प वाली भूमि) को नाम द्वारा (तत्वतः) जान लेवे वह पुराण वेत्ता (पिछले वृत्तान्त का जानने वाला) माना जावे।

(११३) ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिवि श्रिताः॥
(अथर्व ११।७।२४)

अर्थात्— [प्रो० रामदेव जयचन्द्र के 'पुराणमत पर्य्यालोचन' पृष्ठ २१६ से] ऋक् साम छन्द और यजुर्वेद के साथ ही पुराण भी उस उच्छिष्ट जगत् पर शासन करने वाले यज्ञमय परमात्मा से पैदा हुवे। यह सब दिव्य भाव से विद्यमान नक्षत्र-तारामण्डल जो कि द्युलोक में स्थित हैं वे भी उसी परमात्मा से हुए।

[श्रीपाद दामोदर-सातवलेकर के 'वेदामृत' पृष्ठ ४३४ से] ऋग्वेद, साम, छन्दः, यजुर्वेद के साथ पुराण परमात्मा से बने हैं और ये सब देव द्युलोक में आश्रित हैं।

वेद के मन्त्र भाग में किस आदर और गौरव के साथ पुराणों को स्मरण किया है यह उपर्य्युक्त प्रमाणों में दर्शनीय है। हमने जहां तक मिल सके समाजी लोगों के किये हुवे भाषार्थों को ही अक्षरशः उद्धृत किया है, यद्यपि हम स्वयं समझते हैं कि ये अर्थ अनेक त्रुटियों से पूर्ण हैं तथा भरसक खींचा तानी करके पुराणों के प्रामाण्य को उड़ाने की दुश्चेष्टा से अस्त व्यस्त हैं। तथापि 'जादू तो वह जो शिर चढ़ बोले' वाली लोकोक्ति के अनुसार हमने उदारता पूर्वक उनको उद्धृत करके यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि कितनी ही खैंचातानी क्यों न की जाये आखीर सत्य भी सात तवे फोड़ कर प्रकट हुवे विना नहीं रहता।

श्री सायणाचार्य्य ने 'इयं नारी' मन्त्र के भाष्य में- 'धर्म्मं पुराणं' की व्याख्या करते हुवे स्पष्टतया 'स्मृतिपुराणादिप्रसिद्धं' ऐसा लिखा है, जिससे अन्यान्य मन्त्रों में भी उनकी उपर्य्युक्त सम्मति अनुमित होसकती है इस लिये प्रत्येक मन्त्र का सायण-भाष्य उद्धृत करना अनावश्यक समझा गया। इसके अतिरिक्त शास्त्रार्थों के समय प्रायः वादी प्रतिवादी एक दूसरे के किये हुवे अर्थ को मिथ्या बताकर अपनी २ विजय दुन्दुभि बजाया करते हैं और साधारण जनता 'किस पक्ष के पण्डित का अर्थ ठीकहै' यह समझने में असमर्थ होती है, अतः शास्त्रार्थों का परिणाम घड़ी के लटकन की

भांति बीच में ही रह जाया करता है। इस लिये भी समाजियों के लिक्खाड़ों के किये हुवे अर्थों को उद्धृत करना ही अधिक उपयुक्त समझा गया है। अब किसी प्रमाण को अर्थानर्थ के गड़बड़ घुटाले में डालकर टाल देने का अवसर न रहेगा।

अन्त में यह कह देना भी अनावश्यक न होगा कि पुराणों के सम्बन्ध में और भी बहुत से प्रमाण हमारे पास संगृहीत हैं जो विस्तार भय से यहां देने उचित नहीं समझे गये। बुद्धिमान् पाठक 'स्थाली पुलाक न्याय' से इतने में ही समस्त हिन्दू—साहित्य की पुराण—विषयक मान्यता का अनुमान कर सकेंगे ऐसी आशा है।

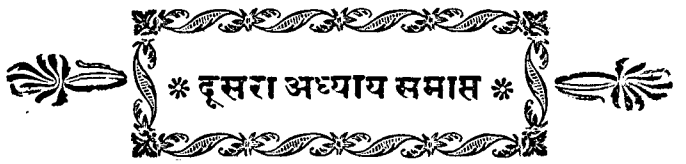

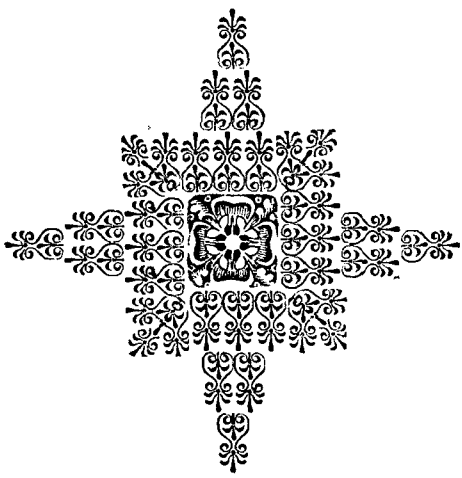

वेद-पुराण-परम्पराध्यायः।

(तीसरा-अध्याय)

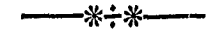

स्वाध्याये विनियोगोऽर्हः सचर्षिदेवतात्मकः।
तन्मूलकपुराणानाम्पारम्पर्य्यमिहोच्यते ॥

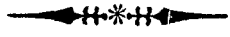

विगत अध्याय में आधुनिक ग्रन्थों से आरम्भ करके अनादि वेदों तक में पुराणों का वर्णन प्रकट किया गया है जिसे पढ़ कर प्रत्येक बुद्धिमान् इस परिणाम पर पहुंचेगा कि निःसन्देह सभी ग्रन्थों में धारा प्रवाह से पुराणों का उल्लेख मिलता है और यह भी ठीक है कि इतिहास आदि शब्दों के योग से उक्त प्रमाणों में पुराण शब्द का अर्थ ग्रन्थ परक ही उपयुक्त हो सकता है- खैंचातानी से 'पुराण-विद्या' या 'सृष्टि-प्रक्रिया-प्रतिपादक-मन्त्र-समुदाय' कहना विडम्बनामात्र है। तथापि सर्व-सम्मत प्राचीनतर सूत्रों, उपनिषदों, ब्राह्मणों और मन्त्रों में— उत्तरकालवर्ती-वेदव्यास जी के संकलित किये हुवे वर्तमान पुराणों का उल्लेख मानना वैसा ही असम्भव सा जान पड़ता है जैसा कि पुत्र के लिये पिता के जन्म समय का दृश्य देखना और उसकी छठी का मीठा भात उड़ाना। अर्थात्—कहां अनादि वेद-और कहां द्वापर के अन्त में बनने वाले पुराण ?

उपर्य्युक्त आशंका को यथेच्छ प्रवृद्ध किया जा सकता है और वास्तविक तथ्य एवं पथ्य को छुपाने के लिये इसे अनेक बिभीषिकामय रङ्गों में भी रंजित किया जा सकता है परन्तु है यह आशंका सर्वथा निर्मूल! जब विवेक पूर्वक वैदिक साहित्य का मनन किया जाता है तो अपने आप यह गूढ रहस्य प्रकट होजाता है, जो सन्देह और जो आक्षेप, सूत्रादि में पुराणों का उल्लेख देख कर साधारणतया प्रतीत होते हैं वे सब एक दम काफूर हो जाते हैं।

वेदों की परम्परा

वेद अपौरुषेय हैं-, अनादि हैं-, अनन्त हैं-, सनातन हैं-, शाश्वत हैं एवं परम पिता परमात्मा के स्वाभाविक निश्श्वासोच्छवास होने के कारण साक्षात् ब्रह्म हैं- यह आर्य्य जाति के आबाल वृद्ध आस्तिक जनों की पुरातन धारणा है। लाख बार प्रलय होजाए और करोड़ बार पुनः सृष्टि का प्रादुर्भाव हो परन्तु वेद के नित्यत्व में किञ्चिन् मात्र भी अन्तर नहीं पड़ता यह भी एक नग्न सत्य है जो कि सभी ऋषियों मुनियों एवं आचार्यों द्वारा अगणित वार घोषित होचुका है। परन्तु- जिस रूप में, जिस आकार में, जिस सांची में, जिस प्रमाण में, जिस लिपि में, और जिस संख्या में आज वे बाज़ार में मिलते हैं क्या उसी रंग में और उसी ढंग में सदा से चले आते हैं? तथा- निराकार बाबा ने अथवा ब्रह्मा दादा ने चमड़े की चमकती जिल्द में बन्धे बन्धाए, और आर्ट पेपर पर सुनहरी अक्षरों में छपे छपाए ही ये ग्रन्थ लाईब्रेरियों की आलमारियों में चुपके से रख छोड़े हैं क्या? कोई भी बुद्धिमान् पुरुष उपर्य्युक्त प्रश्नों का जवाब 'हां' में नहीं दे सकता। प्रायः सभी जानते हैं कि कल से पहिले टाइप के छापेखाने नहीं थे, परसों लीथो के पत्थरों और कागज़ों का भी आविष्कार नहीं हुवा था, तरसों ताड़ के पत्तों पर खोद लेने की व्यवस्था भी नहीं थी, इससे पूर्व किसी अतीत काल में लिपि प्रणाली के अभाव को भी स्वीकार करना ही पड़ेगा। यह हो सकता है कि हम अक्षर-समाम्नाय और लिपि प्रणाली का आरम्भ काल वर्तमान गवेषकों की अपेक्षा लाखों या करोडों वर्ष पूर्व मानें परन्तु आखीर कभी न कभी तो आरम्भ काल मानना ही पड़ेगा! तो फिर उससे पूर्व उक्त ग्रन्थ किस रूप में थे, और इससे भी पूर्व पूर्व यहां तक कि जब कभी सृष्टि का प्रादुर्भाव हुवा होगा- तब ये किस रूप में थे?- यह है एक समस्या जिसे समझ लेना प्रत्येक आस्तिक का काम है।

वेदों की उपर्युक्त परम्परा के समझ में आजाने पर पुराणों की परम्परा का भी अपने आप बोध होजाएगा एतदर्थ इस अध्याय में सृष्टि के उत्पत्तिकाल से आरम्भ करके वर्तमान कलियुग के प्रवेश समय तक वैदिक साहित्य अपने मौलिक रूप से किस प्रकार वर्तमान रूप में परिणत हुवा है यह दिखाया जाता है।

महाप्रलय के बाद ब्रह्मा का प्रादुर्भाव

एक समय था जब कि यह दृश्य जगत् अनन्त में लीन था, ग्रह नक्षत्र तारे सितारे और सियारे गर्ज है कि 'जहँ लगि सुनिय गुनिय मन मांही' के अनुसार सभी

पंचभूतात्मक पदार्थ अपनी नाम रूपात्मक उपाधि को छोड़ कर निर्विशेष रूप से शेष में समाये हुवे थे। उस समय यदि कुछ था तो वह 'कुछ' ही था, अर्थात्—जिस वस्तु का न कुछ नाम हो, न रूप हो, केवल सत्तामात्र ही जिसका लक्षण हो उस अनिर्वचनीय ब्रह्म को सिवा 'कुछ' के और कहा भी क्या जा सकता है! एक लम्बे समय के बाद उस 'कुछ' में:—

'एकोऽहं बहुः स्याम्'

की स्वाभाविक भावना का प्रादुर्भाव हुवा, जिसे कि माया या प्रकृति नाम से पुकारा जाता है, बस फिर क्या था, एक से दो होने ही इस दम्पती ने अपने अनिर्वचनीय 'कुछत्व' को छोड़ कर अपना नाम करण संस्कार कर डाला वेदादि शास्त्रों में इस आदिम व्यक्ति को 'स्वयम्भू या ब्रह्मा' नाम से स्मरण किया गया है।

निर्विशेष सत्ता मात्र से साकार ब्रह्मा की उत्पत्ति पर्य्यन्त का रहस्य अनेक ग्रन्थों में अनेकों परम्पराओं से लिखा है, इसमें शाब्दिक विभिन्नता होते हुवे भी वस्तुस्थिति में किञ्चिन्मात्र भी अन्तर नहीं है इस लिये हम इस तात्विक-किन्तु-इन्द्रियातीत पौर्वापर्य्य के झमेले में न पड़कर सर्व सम्मत आदिम भगवान् ब्रह्मा जी से ही वेदों की परम्परा का आरंभ करते हैं—ब्रह्मा की सर्व प्रथमता में अनेकों वेद प्रमाण विद्यमान है, तदनुसार सभी पुराणों में भी सृष्टि का कर्तृत्व एक मात्र ब्रह्मा जी पर ही स्थिर किया गया है। यथा:—

(क) भूतानां ब्रह्मा प्रथमोत जज्ञे।
(अथर्व १९।२२।२१)

(ख) ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव।
विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता॥
(मुण्डक)

(ग) यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्।
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै॥

(घ) तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः।
(मनुः १।९)

(ङ) अथ योगवतां श्रेष्ठमसृजद् भूरितेजसम्।
स्रष्टारं सर्वलोकानां ब्रह्माणं सर्वतोमुखम्॥
(मत्स्य १९९।१)

अर्थात्—(क) सब प्राणियों में सर्व प्रथम ब्रह्मा उत्पन्न हुवे। (ख) विश्व के कर्ता और भुवन के रक्षक श्री ब्रह्मा जी समस्त देवताओं में प्रथम उत्पन्न हुवे। (ग) जिस परमात्मा ने सर्व प्रथम ब्रह्मा जी को बनाया और उसके प्रति वेदों को भेजा। (घ) उस [हिरण्मय अण्ड] में सब लोक के पितामह ब्रह्माजी स्वयं उत्पन्न हुवे। (ङ) इसके अनन्तर योगियों में श्रेष्ठ, बहुत तेजस्वी एवं समस्त लोकों के बनाने वाले चतुर्मुख ब्रह्मा जी को उत्पन्न किया।

आदिम ॐकारात्मक वेद

उक्त ब्रह्म रूप ब्रह्मा ने सर्व प्रथम ॐकारात्मक वेद का ध्यान किया। इसी लिये प्रायः समस्त शास्त्रों में ॐकार अथवा प्रणव को समस्त वेद-ज्ञान का भण्डार, वेदों का वीज, एवं साक्षात् ब्रह्म माना गया है। आर्य्य जाति का समस्त धार्म्मिक साहित्य एक मात्र इसी अक्षर का व्याख्यान स्वरूप है। भूत भविष्यत् वर्तमान तीनों काल की ऐहिक और आमुष्मिक इतिकर्तव्यता का रहस्य इसी अकेले वीज में समाया हुवा है। जिस प्रकार विशाल-काय, वट वृक्ष के मोटे २ स्कन्ध, सहस्रों टहनियें और अगणित पत्ते एक अदृश्यप्रायः वीज में छुपे रहते हैं, और हज़ार चेष्टा करने पर भी इन चरम चक्षुओं से हम उन्हें उस वीज में साक्षात् नहीं देख पाते किन्तु पृथ्वी, ऊष्मा, जल, वायु और अवकाश का यथायोग्य सुयोग मिल जाने से अङ्कुरित एवं विकसित होजाने पर ही इस तथ्य के द्वार तक पहुंच सका करते हैं ठीक इसी प्रकार वाचिक ऊहापोह द्वारा उक्त 'वेद वीज' ओंकार की शास्त्र वर्णित महिमा की वास्तविकता जानना भी अति कठिन है, वह भी ईश्वरीय नियन्त्रण के तारतम्य से इस प्रणव के वेदादि रूप में प्रस्फुटित होजाने पर ही समाधिस्थ योगियों को दीख पड़ा करती है। अस्तु ओंकार 'वेद वीज' है, ब्रह्मा जी ने सर्वप्रथम इसी को ही प्राप्त किया था, अतएव इसे ही वेद का आदिम स्वरूप कहा जा सकता है जिसके लिये निम्नलिखित प्रमाण दर्शनीय हैं:—

(क) ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वं तस्योपव्याख्यानम्।

(माण्डूक्य १)

(ख) सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥

(कठ १। १५)

(ग) वेदः प्रणव एवाग्रे।

(श्रीमद्भागवत ११।१७। ११)

(घ) ततोऽभूत्त्रिवृदोङ्कारः ।

(श्रीमद्भागवत १२ । ६ । ३६)

(ङ) सर्वमन्त्रोपनिषद् वेदवीजं सनातनम् ।

(श्रीमद्भागवत १२ । ६ । ४१)

(च) स (ब्रह्मा) ओमित्येतदक्षरमपश्यत् ।

(गोपथ पू० १ । १६)

अर्थात्—(क) ओम् यह एक अक्षर सब कुछ है और इसी एक अक्षर की व्याख्या समस्त वेद हैं। (ख) सब वेद जिस पद का वर्णन करते हैं जिसके लिये समस्त तपः किये जाते हैं तथा ब्रह्मचर्य्य आदि व्रत धारण किये जाते हैं, वह पद संक्षेप में केवल ॐ यह एक अक्षर है। (ग) सृष्टि के आरम्भ में प्रणव ही वेद था। (घ) इसके अनन्तर तीन मात्रों वाला ओंकार उत्पन्न हुवा । (ङ) जो समस्त मन्त्रों उपनिषदों का सनातन 'वेद बीज' है। (च) ब्रह्मा जी ने 'ओम्' इस अक्षर को देखा।

उपर्युक्त प्रमाण हमारे पूर्व कथन के सोलहों आने समर्थक हैं। इसके अतिरिक्त ओंकार के विनियोग में— 'ओंकारस्य ब्रह्मा ऋषिः' इत्यादि द्वारा भी हमारी विवेचना की समूलकता स्पष्ट है। इस लिये अब किसी भी विचारशील को प्रणव के आदिम वेद होने में सन्देह नहीं रह सकता तथास्तु।

दूसरा गायत्रीरूप वेद

ओंकार में— अ-उ-म् — ये तीन वर्ण माने जाते हैं, यह सभी विद्वान् भली प्रकार जानते हैं। प्रत्येक वर्ण की व्याख्या गायत्री का एक २ पाद है इस प्रकार त्रिपदा ब्रह्म गायत्री ही वेदों का दूसरा स्वरूप है अतएव शास्त्रों में गायत्री को 'वेद माता' नाम से पुकारा गया है यथाः—

(क) आगच्छ वरदे ! देवि ! त्र्यक्षरे ! ब्रह्मवादिनि !
गायत्रि ! छन्दसांमातः! ब्रह्मयोनि नमोस्तु ते ।

(गायत्री-आवाहन)

(ख) वेदानां मातरं सावित्रीसम्पदमुपनिषदमुपास्ते ।

(गोपथ पू० १ । ३६)

(ग) त्रिपदा गायत्री

(ताण्ड्य १० । ५ । ४)

अर्थात्— (क) हे वरदायिनि, तीन अक्षरों वाली, ब्रह्मवादिनि देवि पधारिये तुम 'वेद माता' और ब्रह्म (वेद) की योनि (मूलकारण) हो, तुम्हें नमस्कार हो (ख) वेदों की माता गायत्री सम्पद् और उपनिषद् है उसकी उपासना करनी चाहिये। (ग) गायत्री के तीन पाद हैं।

इस प्रकार ओंकारात्मक आदिम वेद त्रिपदा गायत्री के रूप में परिणत होगया। श्री ब्रह्मा जी ने आगे चल कर यही ब्रह्मगायत्री विश्वामित्र ऋषि के प्रति अभिव्यक्त की इस लिये वैदिक साहित्य में गायत्री का द्रष्टा ऋषि विश्वामित्र माना जाता है यही वेद का दूसरा स्वरूप था।

त्रिकाण्डात्मक वेद

जिस प्रकार ॐकार के प्रत्येक वर्ण का व्याख्यान गायत्री का एक एक पाद है, इसी प्रकार गायत्री के प्रत्येक पाद का व्याख्यान वेद का एक २ काण्ड है। अर्थात्— कर्म्म, उपासना और ज्ञान नामक तीन काण्डों वाला वेद गायत्री का ही विकसित रूप है। इसी लिये शास्त्रों में 'वेदत्रयी' शब्द का यत्र तत्र प्रयोग देखने में आता है। परन्तु जिस प्रकार त्रिवर्णात्मक ॐकार एक अक्षर है और त्रिपदा गायत्री भी एक ही मन्त्र है इसी प्रकार आरम्भ में काण्डत्रयात्मक वेद भी एक ही था, इसे ही वेद का तीसरा स्वरूप कह सकते हैं जो कि ब्रह्मा जी के प्रादुर्भाव काल से आरम्भ करके प्रथम व्यास के अवतार समय तक प्रचलित रहा।

गुरु परम्पराश्रुत 'श्रुति'

सृष्टि के आरम्भ काल से लेकर प्रथम द्वापर की समाप्ति पर्य्यन्त उक्त वेद किस परम्परा से चालू रहे यह रहस्य निरुक्तकार यास्काचार्य्य ने इस प्रकार प्रकट किया है—

साक्षात्कृतधर्म्माण ऋषयो बभूवुस्ते ऽवरेभ्यो ऽसाक्षात्कृतधर्म्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान्सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे विल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषु वेदं च वेदाङ्गानि च।

(निरुक्त १।२०।२)

अर्थात्— पहिले पहिल ऋषि स्वभावत मन्त्रद्रष्टा थे अतः उन्होंने धर्म्म का साक्षात्कार किया था। अनन्तर मन्त्र देखने की सामर्थ्य न रखने वाले मुनियों को उन मन्त्रद्रष्टाओं ने उपदेश द्वारा मन्त्र दिये। आगे चल कर उपदेश ग्रहण करने की शक्ति

भी क्षीण प्राय होचली तब वेद का साङ्गोपाङ्ग रहस्य जानने के लिये निरुक्त, व्याकरणादि अन्यान्य अङ्गों, और उपाङ्गों की रचना हुई।

उपर्युक्त यास्कसम्मति के अनुसार ब्रह्मा और उनके मरीचि आदि मानसिकपुत्र—जिनका कि प्रायः विनियोगों में मन्त्रद्रष्टा रूप से उल्लेख मिलता है—साक्षात्कृतधर्म्मा कहे जा सकते हैं और इनके शिष्य प्रशिष्यों को उपदेश पात्र कहा जासकता है। इस प्रकार ब्रह्मा जी से आरम्भ करके प्रथम व्यास के अवतार काल तक वह त्रिकण्डात्मक एक वेद गुरु शिष्य सम्प्रदाय द्वारा उपदिष्ट होता चला आया।

एक में अनेकत्व का व्यवहार

यहां इतना और भी समझ लेना आवश्यक है कि इस समय हम जो ऋग् यजुः साम और अथर्व नामक भिन्न २ चार ग्रन्थ देख पाते हैं इनका इस प्रकार का मन्त्रसमुदायात्मक संग्रह आदिम व्यास से पूर्व नहीं हो पाया था, उस समय उस एक ही बृहत्काय श्रुति सन्दर्भ के पद्यात्मक मन्त्रों को 'ऋक्' और गद्यात्मक मन्त्रों को 'यजु' तथा गीति विशिष्ट मन्त्रों को 'साम' नाम से स्मरण किया जाता था, पश्चात् अथर्वाङ्गिरस द्वारा प्रचरित आभिचारिक मन्त्र समुदाय की भी 'अथर्व' नाम से ख्याति हो गई, इस प्रकार वह एक ही ग्रन्थ चतुर्विध प्रकारता के कारण होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा नामक चार ऋत्विजों में विभक्त समझा जाता था।

इसी प्रकार उक्त वेद के विशिष्ट मन्त्र समुदाय को इतिहास और पुराण नाम से भी याद किया जाता है, जिन मन्त्रों में प्रायः किन्ही कल्पित व्यक्तियों के सम्वाद रूप से अथवा आख्यान रूप से कुछ रहस्य प्रकट किया गया हो उन मन्त्रों को इतिहास, और जिन मन्त्रों में सृष्टि प्रक्रिया का तात्त्विक निर्देश हो उन्हें पुराण कहने का व्यवहार होगया था, गाथा नाराशंसी और श्लोक संज्ञक उपभेद भी उक्त इतिहास पुराण नामक विभाग के ही अङ्ग समझे जाते थे—इस तरह ऋगादि चार भेदों के साथ 'इतिहास पुराण' नामक भाग को सम्मिलित करने पर उस एक ही वेद में पांच भागों का समावेश भी समझा जाता है।

कुछ ऋषि—उसी एकत्व संख्यावच्छिन्न श्रुतिसन्दर्भ में 'सर्प-वेद, पिशाच-वेद, असुर-वेद, वाकोवाक्य, अनुशासन, विद्या, उपनिषद्, सूत्र, व्याख्यान आदि अनन्त विद्याओं का समावेश देख कर उसमें अनन्तत्व बुद्धि रखते थे तात्पर्य्य यह है कि वह गुरु परम्परा द्वारा श्रुत, श्रुति समुदाय मौलिक रूप में एक होता हुवा भी विभिन्न दृष्टियों से देखा जाता था उपर्य्युक्त विचार के समर्थन में नीचे लिखे प्रमाण दर्शनीय हैं।

(क) वेदेन रूपे व्यपिबत्।

(शुक्ल यजुः १९। ७८)

(ख) ते सर्वे त्रयो वेदाः।

(शतपथ १०। ४। २। २५)

(ग) चत्वारो वा इमे वेदाः

(गोपथ-पूर्व० २। १६)

(घ) इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्।

(छान्दोग्य ७। २। १)

(ङ) अनन्ता वै वेदाः।

(तैत्तिरीय ३। १०। ११। ३)

अर्थात्— एक, तीन, चार, पांच और अनन्त वेद हैं। यह इन प्रमाणों में यथाक्रम दर्ज है। कहना न होगा कि यह संख्या-वैचित्र्य पूर्वोक्त भावनाओं के ऊपर ही अवलम्बित है। यहां तक हमने वेदों की परम्परा का निरूपण किया है, अब पुराणों के मौलिक तत्व और उसके परम्पराजन्य विकाश का रहस्य प्रकट किया जाता है।

पुराणों की मौलिक सामग्री

वेदान्तवर्ती-इतिहास पुराण

हम पीछे कह चुके हैं कि वेद का एक विशिष्ट भाग इतिहास और पुराण नाम से विख्यात था। उपलब्ध संहिताओं में और ब्राह्मणादि ग्रन्थों में अब भी ऐतिहासिक और सृष्टि प्रक्रिया प्रतिपादक सहस्रों वाक्य विद्यमान हैं, यह बात सायण यास्क आदि सभी वेदवेत्ताओं ने स्वीकार की है यथाः—

(क) 'इदं वा अग्रे नैव किंचनासीन्न द्यौरासीत्' इत्यादिकं जगतः प्रागनवस्थानमुपक्रम्य सर्गप्रतिपादकं वाक्यजातं पुराणम्

(ऐतरेय सायण-भूमिका)

(ख) 'विप्रपरिव्राजक' न्यायेन ब्राह्मणाद्यवान्तरभेदानामिवेतिहासादीनां पृथगभिधानात्।

(ऐतरेय सायण भूमिका)

अर्थात्— (क) ' यह दृश्य जगत् पहिले कुछ भी न था, द्यौ भी नहीं थी ' इस प्रकार जगत् की अनुत्पन्नता से आरम्भ करके सृष्टि का प्रादुर्भाव प्रकट करने वाले वाक्य समुदाय को 'पुराण' कहते हैं। (ख) जिस प्रकार ब्राह्मणसंन्यासी न्याय में एक ही व्यक्ति में दोनों धर्म्मों का समावेश है इसी प्रकार इतिहास-पुराण-गाथा-नाराशंसी आदि भी वेद के ही अवान्तर भेदों का नाम है।

विनियोग वर्णित ऋषि देवता

पूर्वोक्त वाक्य समुदाय तो पुराणों की मूल सामग्री का एक अंश था ही इस के अतिरिक्त ब्रह्मा जी के समय से ही ऋषि देवता-चरित्रात्मक एक प्रधान अंश भी गुरु परम्परा द्वारा उपदिष्ट होने लगा था जो कि वर्तमान पुराणों में साङ्गोपाङ्ग उपलब्ध होता है। यास्क के कथनानुसार जब असाक्षात्कृतधर्म्म-ऋषियों को उपदेश द्वारा वेद मन्त्र समझाने का युग आरम्भ हुवा तो उस समय वेदमन्त्रोपदेश से पूर्व विनियोगों का बतलाना आवश्यक समझा गया, वैदिक साहित्य का यह अनादि एवं सर्वतन्त्र सिद्धान्त चला आता है कि विनियोग ज्ञान के विना मन्त्रों का पढ़ना पढ़ाना न केवल निरर्थक ही है अपितु महान् पाप का कारण भी है, विनियोग का सीधा अर्थ है— मन्त्र को वर्ताव में लाने का परिपूर्ण विधान। उसके चार अङ्ग हैं- (१) ऋषि (२) देवता (३) छन्दः और (४) विशेष अनुष्ठान। अर्थात्— जिस मन्त्र को जिस ऋषि ने समाधि द्वारा प्राप्त करके प्रचरित किया हो वही व्यक्ति उस मन्त्र का ऋषि=द्रष्टा कहा जाता है। इस तरह वेद के प्रत्येक मन्त्र के साथ किसी न किसी ऋषि का नाम सम्बद्ध है। इसी प्रकार जिस मन्त्र में- मुख्यत्वेन जिस देवता का लिङ्ग विद्यमान हो अथवा उस मन्त्र में सर्वदेवमय परमात्मा की जिस दिव्य शक्ति का वर्णन हो वही शक्ति उस मन्त्र की देवता मानी जाती है। इस तरह प्रत्येक वेद मन्त्र के साथ किसी न किसी विशिष्ट देवता का नाम भी निरन्तर सम्बद्ध रहता है।

छन्दः का तात्पर्य्य-संख्यात वर्णों या मात्राओं के आधार पर मन्त्र के अक्षर परिमाण की इयत्ता स्थिर करना है, यह छन्दः भी गायत्री अनुष्टुप् आदि नामों से विख्यात हैं, और प्रत्येक मन्त्र के साथ उस की अक्षर संख्या के अनुसार कल्पित किये गये हैं।

यज्ञादि के समय अथवा अन्यान्य कर्म्मों में- किस वस्तु को उठाने या रखने में किस मन्त्र का पढना आवश्यक है यह रहस्य जानना ही मन्त्रानुष्ठान कहा जाता है। सो विनियोग का यह चौथा अङ्ग भी अत्यन्त उपयोगी और प्रत्येक मन्त्र से सम्बद्ध है।

यहां यह कहना अनावश्यक न होगा कि उक्त चारों अङ्गों के परिज्ञान का संक्षिप्त नाम 'विनियोग' है। जब तक ये चारों बातें भली प्रकार विदित न हो जाएं तब तक किसी भी मन्त्र का पढ़ना पढ़ाना पाप माना जाता है, इसी प्रकार विनियोग-रहित मन्त्र द्वारा यज्ञादि कर्म्मों का करना और कराना भी 'प्रत्यवाय' समझा जाता है। विनियोग ज्ञान की आवश्यकता विधायक निम्नलिखित प्रमाण दर्शनीय हैं। यथाः-

(१) एतानि अविदित्वा यो अधीते अनुब्रूते जपति जुहोति, यजते याजयते तस्य ब्रह्म निर्वीर्य्यं यातयामं भवति। अथान्तरा श्वगर्तं वा पद्यते स्थाणुं वर्च्छति प्रवामीयते। पापीयान् भवति।

(कात्यायन अनुक्रमणिका १। १)

(२) योहवा अविदितार्षेयछन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाऽध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्तं वा प्रतिपद्यते।

(आर्षेय ब्राह्मण १। १)

(३) अविदित्वा ऋषिं छन्दो दैवतं योगमेव च।
योऽध्यापयेद्यजेद्वापि पापीयाञ्जायते तुमः॥

(गीतारहस्योद्धृत स्मृति वचन)

अर्थात्—(१—३) ऋषि देवता छन्दः और योग इन चारों बातों को न जानता हुवा जो वेद पढ़ता है पढ़ाता है, जाप करता वा हवन करता है तथा यज्ञ करता है वा करवाता है उस पुरुष का वेद तेज रहित और वास्सी होजाता है एवं वह शाखा हीन सूखे लकड़ में टक्करें मारता है, गढ़े में गिरता है, तथा मरजाता है और महान् पापी होजाता है।

अथ विज्ञायैतानि योऽधीते तस्य वीर्य्यवदथ योऽर्थविित्तस्य वीर्यवत्तरं भवति जपित्वा हुत्वेष्ट्वा तत्फलेन युज्यते।

(कात्यायन अनुक्रमणिका १। १)

अर्थात्— और इन ऋषि देवता आदि को जान कर जो वेद मन्त्र को पढ़ता है उसका वेद तेजस्वी होता है। और जो अर्थ ज्ञान पूर्वक पढ़ता है उसका महातेजस्वी होता है। ऐसे ही मन्त्रों का जप करने से हवन करने से और यज्ञ करने से वेदपाठ का सम्पूर्ण फल प्राप्त होता है।

कहां तक लिखें वैदिक साहित्य में विनियोग ज्ञान की परमावश्यकता बताने वाले सैंकड़ों प्रमाण भरे पड़े हैं। अतः मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने अपने 'असाक्षात्कृतधर्म्म'

शिष्यों को जिस समय मन्त्रोपदेश देना आरम्भ किया उस समय मन्त्र ज्ञान की परिपूर्णता के लिये सर्व प्रथम विनियोगों का ही उपदेश दिया, यह एक अनुमान सिद्ध स्फुट बात है।

अब ज़रा विचार करने का अवसर है कि उस प्राचीनतम वेदोपदेश युग में जब ऋषियों ने अपने शिष्यों को मन्त्रोपदेश से भी पूर्व विनियोगों का उपदेश दिया तो उस समय में विनियोग वर्णित ऋषि देवताओं के चरित्र जानने की उत्कट लालसा क्या शिष्यवर्ग के हृदय में उत्पन्न न हुई होगी ? कोई भी सहृदय विद्वान् उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर में 'नहीं' कहने की धृष्टता नहीं कर सकता। यह एक ऐसी स्वाभाविक जिज्ञासा है जो कि सर्व साधारण के हृदय में नाम लेते ही उदित होजाती है। विनियोग वर्णित ऋषि देवताओं के नाम सुन कर उनके चरित्र जानने के लिये शिष्यों ने प्रश्न न किए हों, और मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने उनके उचित उत्तर न दिये हों— यह मानना उतना ही सच्चा होसकता है जितना कि आकाश कुसुम की माला पहिन कर वन्ध्या पुत्र का सविषाणशशक को मृगया में हनन करना। ऐसी दशा में हम तो संभाव्य-भविष्यत् की क्रियाओं का प्रयोग छोड़ कर एक दम निश्चित रूपसे कह देते हैं कि ऋषि देवताओं के चरित्र जानने की जिज्ञासा के उत्तर में गुरु जनों ने जो कुछ कथन किया था वही समस्त सम्वाद समुदाय वर्तमान पुराणों की मौलिक सामग्री का विशिष्ट अंश है।

विनियोगों की उपेक्षा मे अनर्थ

यहां कोई नरपुङ्गव यह भी कह सकता है कि-"जनाब ! आप जिस विनियोग कल्पना की आधार शिला पर पुराणों की गगनचुम्बी अट्टालिका खड़ा करना चाहते हैं वह आधार शिला ही इतनी दृढ़ नहीं है क्योंकि विनियोग ज्ञान के विना भी मन्त्रार्थ का बोध होसकता है और उससे यथेष्ट शिक्षा प्राप्त की जासकती है। प्रत्यक्ष में भी स्वामी दयानन्द जी और उनके अनुयायियों द्वारा निर्माण किये हुवे वेद भाष्य विनियोगों की क़ैद से उन्मुक्त होकर 'इतिकर्तव्यता' की शिक्षा देरहे हैं— तब फिर स्वाध्याय में विनियोगों का अडङ्गा लगाना व्यर्थ है"— इस प्रकार का निरर्गल प्रश्न करने वाले पुरुष को वैदिक साहित्य से सर्वथा अपरिचित और दो चार ट्रैक्ट बांच कर 'वेदालङ्कार' का पुच्छल्ला लगाने वाला ही समझना चाहिये क्यों कि जब स्वयं वेद में ही विनियोग ज्ञान की परमावश्यकता बतलाई है और विनियोग रहित मन्त्र का पढ़ना पढ़ाना व्यर्थ, तथा पाप-प्रद कहा गया फिर इस से बढ़कर अन्य क्या प्रमाण

दिया जासकता है ? । रहा दयानन्दी भाष्यों में विनियोगों की उपेक्षा का प्रश्न—सो उनमें भी मन्त्रों से पूर्व ऋषिदेवता और छन्द आदिका उल्लेख अवश्य मिलता है, हमारे सामने 'वैदिक यन्त्रालय' (अजमेर) की छपी सभाष्य यजुः संहिता विद्यमान है जिसमें प्रत्येक मन्त्र के ऊपर—अमुक ऋषि—अमुक देवता और अमुक छन्दः—साफ लिखा है, जिससे हमारे पूर्व कथन की पर्य्याप्त पुष्टि होजाती है, यानी आर्य्यसमाज की रीति से भी वेदाध्ययन करते समय मन्त्रों से पूर्व ऋषि देवताओं का नाम ही पढ़ना होगा, और फिर उनके चरित्र जानने के लिये पुराणों की शरण में ही नतमस्तक होना पड़ेगा—इस लिये हमारी विनियोग कल्पना की आधार शिला दयानन्दी समाज की दृष्टि में भी तथैव दृढ बनी रहेगी। हां ! यह हम मानते हैं कि दयानन्द और उनके अनुयायियों ने विनियोग के चौथे अङ्ग (—जिसमें कि 'अमुक मन्त्र को अमुक अनुष्ठान में वर्तना चाहिये' ऐसी शिक्षा दी गई थी—) का सर्वथा वहिष्कार कर डाला है और मन घड़न्त प्रसङ्ग उपस्थित करके मन्त्रों का अर्थ लिखा है ! परन्तु इस उच्छृङ्खलता के कारण उक्त समाज की बदौलत जो वैदिक साहित्य के अर्थ का अनर्थ हुवा है वह भी किसीसे छुपा नहीं है। यदि हमारे कथन पर विश्वास न हो तो नीचे लिखे उदाहरणों पर विचार कीजिये—

(१) दयानन्दी 'संस्कारविधि' में नामकरण संस्कार के अन्तर्गत नीचे लिखा 'कोऽसि कतमोऽसि' आदि मन्त्र आता है, इसका विनियोग उक्त पुस्तक में 'पिता बालक के नासिका द्वार से बाहर निकलते हुवे वायु का स्पर्श करके'—कहने में लिखा है, और दयानन्दी यजुर्भाष्य (७। २६) में तथा संस्कार प्रकाश आदि में इसका निम्नलिखित अर्थ लिखा है यथाः—

कोऽसि कतमोऽसि कस्याऽसि को नामासि ।

(यजुः ७। २६)

अर्थात्—तू (कः) कौन (असि) है। (कतमः) बहुतों के बीच में कौनसा (असि) है (कस्य) किसका पुत्र (असि) है। तेरा (कः) क्या (नाम) नाम (असि) है।

यह विधि बालक के जन्म दिन से ११वें रोज, अथवा १०१वें दिन करनी लिखी है, अब इन बुद्धि के शत्रुओं से कोई पूछे कि वह सद्योजात दूधमुहा बच्चा उक्त प्रश्नों का क्या उत्तर दे सकता है ? तथा "वह किसका पुत्र है" इस प्रश्न का उत्तर तो कदाचित् उसकी माता ही ठीक २ देसकती है। अन्यथा ग्यारह के झमेले में अन्य किसी पुरुष को क्या पता लग सकता है। यह है दयानन्दियों के वैज्ञानिक भाष्य का एक नमूना !

वास्तव में कात्यायन सूत्र—इस मन्त्र को यज्ञस्थ प्रजापति रूप द्रोण कलश की प्रार्थना में विनियुक्त करता है। यथाः—

कोऽसीति द्रोणकलशमिति।

(का० ६। ७। १४)

उव्वट महीधर आदि सभी भाष्यकारों ने विनियोगानुकूल ही इसका अर्थ किया है कि—

हे द्रोण कलश ! तू (कः) प्रजापति (असि) है (कतमः) अतिशय से प्रजापति (असि) है। (कस्य) प्रजापति का ही तू (असि) है। (को नामाऽसि) प्रजापति ही तेरा नाम है।

यहां व्यासोक्त 'अभिमानिनि व्यपदेशस्तु' के अनुसार कलशाधिष्ठित चेतन प्रजापति की स्तुति की गई है, परन्तु दयानन्द और उसके अनुयायियों ने 'कः' शब्द का अर्थ-'संस्कृत टीचर' पाठी बालकों की भान्ति 'कौन' ही समझ रक्खा है।

कहना न होगा कि यदि इस मन्त्र के प्रजापति देवता का, या द्रोण कलश की प्रार्थना में इसके विनियुक्त होने का, विचार करके भाष्य किया जाता तो पण्डित समाज में इस तरह की हंसी न होती।

(२) इसी प्रकार यजुर्वेद के 'यथेमां वाचं' आदि मन्त्र से दयानन्दी भाष्य में शूद्र अतिशूद्र आदि के लिये भी वेद पढने का अधिकार प्रकट किया गया है और ईश्वर को इसका वक्ता ठहरा कर नीचे लिखा अर्थ किया है:—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्य्याय च स्वाय चारणाय॥

(यजुः २६। २)

[दयानन्दार्थ] परमेश्वर कहता है कि (यथा) जैसे मैं (जनेभ्यः) सब मनुष्यों के लिये (इमाम्) इस (कल्याणीम्) कल्याण अर्थात् संसार और मुक्ति के सुख देने हारी (वाचम्) ऋग्वेदादि चारों वेदों की वाणी का (आवदानि) उपदेश करता हूँ। वैसे तुम भी करो। परमेश्वर स्वयं कहता है कि हमने (ब्रह्मराजन्याभ्यां) ब्राह्मण क्षत्रिय (आर्य्याय) वैश्य (शूद्राय) शूद्र और (स्वाय) अपने भृत्य वा स्त्रियादि (अरणाय) और अति शूद्रादि के लिये भी वेदों का प्रकाश किया है।

(सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ ७४)

प्रसंग बिगाड़ कर उपर्युक्त अर्थ करने में जो चालाकी की गई है वह उल्टी स्वामी के गले का हार होगई है। केवल 'वाचम्' शब्द का अर्थ चारों वेद होसकता है

यह बात कोई पञ्चम अन्यथा सिद्ध ही मान सकता है। इसके अतिरिक्त—'परमेश्वर स्वयं कहता कि हमने'—इस वाक्यांश के साथ—'अपने भृत्य वा स्त्रियादि ..... के लिये भी वेदों का प्रकाश किया है'—इस उपसंहारात्मक वाक्य का समन्वय करने पर निराकार बाबा के बीबी बच्चे और नौकर चाकर भी निकल पड़ते हैं!।

वास्तव में उपर्युक्त मन्त्र—सब भाष्यकारों ने यजमान उक्ति में विनियुक्त किया है अग्निष्टोमादियज्ञ के समय यजमान अपने समस्त कार्य्य कर्ताओं को शिक्षा देता है कि जैसे मैं चारों वर्णों और अपनों तथा परायों—सबके प्रति मीठी वाणी बोलता हूँ इसी प्रकार तुझे भी सबसे नम्र व्यवहार रखना चाहिये। इस मन्त्र के उत्तरार्ध में वही वक्ता नीचे लिखे शब्द कहता है:—

(दयानन्दार्थ) (मा) मुझे (अदः) वह परोक्ष सुख (उपनमतु) प्राप्त होवे—क्या दयानन्दियों का ईश्वर भी किसी दूसरे से सुख की भीख मांगता फिरता है ?

यदि हम दयानन्द भाष्य में विनियोग मर्य्यादा की उपेक्षा के कारण होने वाले अनर्थों का भांडा फोड़ करने लगें तो एक स्वतन्त्र ग्रन्थ तैय्यार होजाय, इस लिये संकेत मात्र करके यह सिद्ध करना चाहते हैं कि पुराणों के विना ऋषि देवता चरित्रात्मक विनियोगों का पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता, और विनियोगों के विना वेदों का स्वाध्याय सर्वथा असम्भव है। यदि विनियोग शून्य दयानन्दी भाष्य के सम्बन्ध में विद्वानों का मत जानने की आवश्यकता हो तो सर्व प्रथम आर्य्यसमाज के नेता—किन्तु सत्य वक्ता—पं० नरदेव शास्त्री वेद तीर्थ से ही पूछ देखिये आप लिखते हैं कि:—

(१) "इस (दयानन्द कृत) भाष्य को देख कर प्रायः अंग्रेजी पढ़े संशय सागर में पड़ जाते हैं और इस अभिप्राय पर पहुंचते हैं कि वेदों में प्रकरणबद्ध कोई बात नहीं सब जगह केवल ईश्वर का ही वर्णन आता है क्रम कोई नहीं।"

(आर्य्य समाज का इतिहास भाग १ पृ० १६५)

भला ! विनियोग शून्य अपकथे अर्थों का पूर्वापर सम्बन्ध कैसे ठीक बैठ सकता है ! और ऐसे निरर्गल भाष्य में क्रमबद्ध प्रकरणों का क्या काम !!

पूर्वोक्त 'यथेमां वाचम्' मन्त्र के दयानन्द कृत भाष्य पर भी उपर्युक्त वेद तीर्थ जी लिखते हैं कि:—

(२) "इस बात के मानने में हमें नितान्त संकोच है कि यह मन्त्र मनुष्यमात्र को वेदज्ञानाधिकार देने का विधान करता है।

वस्तुतः यह मन्त्र राजधर्म्म प्रकरण का है ..... इस मन्त्र का देवता 'ईश्वर' है। परन्तु 'ईश्वर' से यहां 'परमेश्वर' अभिप्रेत नहीं किन्तु 'राजा' अभिप्रेत है। प्रायः जहां ईश्वर देवता आया है वहां 'राजा' ही लिया गया है। परमेश्वर के लिये 'परमेश्वर' साक्षात् आया है। अर्थात् 'परमेश्वर' देवता लिखा गया है।

यह राज धर्म्म प्रकरण का क्यों है ?

इस लिये कि:—

(१) प्राचीन मन्त्र द्रष्टाओं ने इस मन्त्र का देवता राजा माना है।

(२) राजा को देवता मान लेने से मन्त्र के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध के अर्थ में विरोध नहीं आता।"

(आर्य्य स० का इति० भाग १ पृ० १२२-२३)

एक अर्ब संख्या वाला आदिम पुराण

इस प्रकार सृष्टि के आरम्भ काल में ही ब्रह्मा जी से उनके मानसिक पुत्र-पौत्रों ने और आगे चल कर उनके भी प्रपौत्र नातियों ने वेदोपदेश के साथ २ इतिहास पुराणात्मक सन्दर्भ भी यथाश्रुत प्राप्त किया था। जिस प्रकार हमारे पूर्व कथनानुसार प्रथम व्यास की उत्पत्ति से पूर्व गुरु परम्पराश्रुत-श्रुतिसन्दर्भ विकीर्ण एवं एकत्वसंख्यावच्छिन्न था इसी प्रकार इतिहास पुराण (वेद वर्णित आख्यायिकाएं और सृष्टि प्रक्रिया प्रतिपादक मन्त्र समुदाय तथा गुरु शिष्य सम्प्रदाय प्रचरित, ऋषिदेवता चरित्रात्मक सन्दर्भ) भी विकीर्ण तथा एक ही था। इसी लिये वर्तमान पुराणों में सर्व प्रथम एक ही पुराण का अस्तित्व प्रकट किया गया है यथाः—

पुराणमेकमेवाग्रीत्पुरा कल्पान्तरे नृप !
त्रिवर्गसाधनं पुण्यं शतकोटिप्रविस्तरम् ॥

(मत्स्य ५३ । ५)

अर्थात्—कल्पान्तर में त्रिवर्ग का साधन और पुण्यदायक एक अर्ब विस्तार वाला एक ही पुराण था।

यही श्लोक रेवा माहात्म्य (१ । २३ । ३०) में तथा पद्मपुराण (सृष्टि खण्ड अध्याय १) में इसी रूप में उपलब्ध होता है,- अन्यान्य पुराणों में भी इसी आशय के श्लोक पाये जाते हैं।

विकीर्ण श्रुतियें कितनी थीं, इसका अनुमान करना कठिन है क्योंकि इस सम्बन्ध में दो प्रकार का प्रवाद पाया जाता है एक शतपथ ब्राह्मण में,और दूसरा महाभात में, यथाः—

(१) ते सर्वे त्रयो वेदाः। दश च सहस्राणि अष्टौ च शतानि अशीतीनामभवन्।

(शतपथ १०।४।२।२५)

(२) लक्षं तु चतुरो वेदा लक्षमेकं तु भारतम्॥

(महाभारत)

अर्थात्—(१) वे सब तीनों वेद, अस्सी से गुणित किये दशहजार आठसौ संख्या वाले हैं, यानी ८६४००० प्रमाण वाले हैं। (२) चारों वेदों का पाठ एक लाख है और एक लाख ही महाभारत है।

यहां महाभारत के साहचर्य्य से वेदों का एक लाख पाठ भी अनुष्टुप् संख्या में ही प्रतीत होता है, परन्तु शतपथ के कथनानुसार आठ लाख चौंसठ हजार कौन पद्य हैं यह समझना और दौनों प्रवादों का वर्तमान संख्या से समन्वय करना विद्वानों का हो काम है। परन्तु वर्तमान पुराणों की मौलिक सामग्री का प्रमाण एक अर्ब था यह उपर्युक्त प्रमाणों से भली भांति अभिव्यक्त होता है। जब कि विश्वामित्र जैसे अगणित कुलपतियों के तत्वावधान में—एक एक कुलपति के आश्रम में दश दश हजार शिष्य प्रशिष्य वेदों का स्वाध्याय किया करते थे उस समय प्रत्येक मन्त्र से सम्बद्ध ऋषि और देवताओं के चरित्रों का विस्तार, तथा वेदोक्त सृष्टि प्रक्रिया के गूढतर सिद्धान्तों का पर्य्यालोचन—कितना प्रवृद्ध, कितना सरल और कितना लम्बायमान रहा होगा, इसका ध्यान करते ही पुराणों की मौलिक सामग्री का एक अर्ब प्रमाण न्यूनतर जान पड़ता है।

जिन लोगों को कभी पढ़ाने का अवसर मिला होगा वे इस बात को अच्छी तरह अनुभव कर सकेंगे कि पुस्तक लिखित परिमित अक्षरों का भाव शिष्य वर्ग के हृदय में बिठला देने के लिये कितनी मगजपच्ची की आवश्यकता पड़ती है, खास कर वैज्ञानिक सिद्धान्तों, एवं परोक्ष विषयों की व्याख्या के लिये किस प्रकार आकाश पाताल एक करना पड़ता है। कदाचित् शिष्य समुदाय गुरु के अनुचित दबाव से मूकप्रायः रहने वाला न हो, और उसे खुल कर अपनी जिज्ञासाओं के पूछने का अभ्यासी बनाया गया हो तो फिर देखिये कि एक सूत्र पर-एक ही फक्किका पर किस

तरह समस्त दिन व्यतीत हो जाता है। कहना न होगा कि हमारे पूर्वजों में गुरु शिष्य सम्प्रदाय का आदर्श कितना उज्ज्वल और कितना उदार था, यह देखते ही बनता है। ऐसी दशा में-शिष्य प्रशिष्यों की जिज्ञासामय-उक्तिप्रत्युक्तियों से और गुरु जनों के उत्तर प्रत्युत्तरों से आदिम पुराण का विस्तृत हो जाना स्वाभाविक ही था। अस्तु।

ब्रह्म, पद्म, विष्णु आदि नामों का व्यवहार

जिस प्रकार विकीर्ण श्रुति समुदाय में काण्डत्रय की दृष्टि से, अथवा गद्य पद्य और गीति की दृष्टि से वेद त्रयी का व्यवहार होने लगा था, तथा कुछ सूक्त, द्रष्टा ऋषियों के नाम पर कुछ मन्त्र वर्णित सम्वाद पात्रों के नाम पर और कुछ प्रतिपाद्य विषय के आधार पर-वामदेव्य सूक्त, यमयमी सूक्त, एवं कामसूक्त कहे जाने लगे थे इसी प्रकार एक अर्ब संख्या वाले आदिम पुराण के विभिन्न अंश भी जुदा २ नामों से विख्यात होने लगे थे।

इस समय अष्टादश पुराणों के जो नाम देखे जाते हैं इनका बहुत कुछ व्यवहार वेद युग में ही आरम्भ होचुका था। तत्तत् प्रकरणों के नाम करण का व्यवहार या तो मुख्य श्रोता वक्ताओं के या प्रतिपाद्य विषय के नाम पर निर्भर था-ऐसा अनुमान है, क्योंकि वर्तमान पुराणों का उपक्रम और उपसंहार पढ़ने पर अथवा नारद आदि पुराणों में दी हुई 'पुराण सूची' का पारायण करने पर यह सिद्ध हो जाता है कि प्रायः सभी पुराणों का सम्बन्ध ब्रह्मा जी और उनके मानसिक पुत्रों से है, ऐसी दशा में आगे चल कर शिष्य प्रशिष्यों के प्रति गुरु जनों ने उन २ सम्वादों को आदिम श्रोता वक्ताओं के नाम सहित बताया होगा यह अनुमान सिद्ध बात है, और इसी तरह वर्तमान पुराणों के नाम और उनके प्रतिपाद्य विषय की तुलना भी उपर्युक्त भाव की समर्थक है।

आदिम पुराण के स्मर्ता या वक्ता

जिस प्रकार मीमांसा शास्त्र के निर्णयानुसार वेद अपौरुषेय है और गोत्तमात्रि-वशिष्ठकश्यपादि ऋषि वेद मन्त्रों के द्रष्टामात्र हैं, कर्ता वा निर्माता नहीं हैं, इसी प्रकार पुराणों की मौलिक सामग्री का भी कोई पुरुष विशेष कर्ता नहीं है अपितु वेदोक्त पुराण अंश के स्मर्ता ब्रह्मा जी हैं, और ऋषिदेवतात्मक चरित्रों के वक्ता अनेक मन्त्र द्रष्टा ऋषि हैं अर्थात् जो व्यक्ति वेदों के द्रष्टा हैं वेही व्यक्ति पुराणों के स्मर्ता या

वक्ता हैं। क्योंकि वेद मन्त्रों का उपदेश ब्रह्मा जी से आरम्भ हुवा था, और उसके मानसपुत्रों के शिष्य प्रशिष्यों से ही विनियोग मर्य्यादा का सूत्रपात होचुका था, अतः विनियोग वर्णित ऋषि देवताओं के चरित्रों का निरूपण भी इसी समय से प्रारम्भ हुवा मानना चाहिये।

यहां इतनी विशेषता और भी दर्शनीय है कि मन्त्रोपदेश से पूर्व विनियोगोपदेश आवश्यक है और विनियोगोपदेश की पूर्णता के लिये ऋषिदेवता चरित्र ज्ञान सापेक्ष्य है इस लिये सर्व प्रथम पुराणों को जान लेने पर ही प्रत्येक व्यक्ति मन्त्रोपदेश का अधिकारी होसकता है अन्यथा नहीं। इस लिये—पुराणों में लिखा है कि:—

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः।

(पद्म पुराण, सृष्टि खण्ड अ० १०४)

अर्थात्— सब शास्त्रों में पहिले पहिले ब्रह्माजी ने पुराण का स्मरण किया था, इसके अनन्तर ही उसके मुखों से वेद निर्गत हुवे।

उपर्य्युक्त आशय के श्लोक वायुपुराण-ब्रह्माण्ड पुराण आदि ग्रन्थों में भी मिलते हैं। इसका सीधा रहस्य यह है कि कोई भी वेदाचार्य्य अपने शिष्य को मन्त्रोपदेश प्रदान करेगा जब कि पहिले उसे विनियोग बताएगा और विनियोग भी पूर्व रीति से तभी समझ में आसकेगा जब कि ऋषि देवताओं के चरित्रों का परिज्ञान होजायगा— इस प्रकार पुराण पढ़ने के बाद ही वेदों के स्वाध्याय का अवसर आसकता है अतः उपर्य्युक्त श्लोकमें ब्रह्माजी द्वारा प्रथम पुराणका स्मरण करना और तत्पश्चात् वेदों का कथन करना युक्तिसङ्गत ही प्रतीत होता है। इस लिये निश्चित हुवा कि पुराणों की मौलिक सामग्री के आदिम स्मर्ता श्री ब्रह्मा जी महाराज हैं और उसका प्रवचन करने वाले हैं ब्रह्माजी के मानसिक पुत्र मन्त्रद्रष्टा ऋषि लोग। जैसा कि महर्षि वात्स्यायन जी लिखते हैं :—

य एव मन्त्रब्राह्मणस्य द्रष्टारः प्रवक्तारश्च ते
खलु इतिहासपुराणस्य।

(न्यायदर्शनभाष्य ४। १। ६२)

अर्थात्— जो ऋषि मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद के द्रष्टा हैं वे ही इतिहास और पुराण के प्रवक्ता हैं।

कहना न होगा कि इस प्रकार वेद और पुराणों का प्राप्तिक्रम समान ऋषियों पर ही अवलम्बित है, जो लोग पुराणों को कोसते नहीं थकते और वेदों की ढपली

पीटने का स्वाङ्ग रचते हैं उन्हें आंख उघाड़ कर उपर्य्युक्त पंक्तियें पढ़नी चाहियें। आर्य्यसमाज के कथनानुसार अग्नि वायु रवि और अंगिरा नामक चार ऋषियों द्वारा ही वेदों की प्राप्ति मान लेने पर भी— 'उनके दृष्ट मन्त्र तो प्रमाण और कथित पुराण अप्रमाण—' इस मतवाले की बहक को कोई भी बुद्धिमान् मानने को तैयार न होगा!

वेद-पुराण-सङ्कलन

हम पीछे कह चुके हैं कि सृष्टि के आरम्भ काल से लेकर आदिम व्यास के अवतार काल तक पूर्वोक्त रीति से विकीर्ण श्रुति सन्दर्भ और एक अर्ब प्रमाण वाला आदिम पुराण गुरु शिष्य सम्प्रदाय द्वारा उपदिष्ट होता चला आया, परन्तु इस कल्प के-पहिले पहिल द्वापर युग की समाप्ति के समय भावी कलिकाल के प्रभाव से वेदों के विनाश की आशङ्का से स्वयं स्वयम्भू भगवान् ने ही आदिम व्यास का कार्य्यभार अपने ऊपर लेकर वेदों का यथावत् सङ्कलन किया था। अर्थात्— उन विकीर्ण श्रुतियों को याज्ञिक ढंग के अनुसार संचित करके ऋग् यजुः साम और अथर्व नाम से अथवा नामान्तर से ग्रन्थाकार में परिणत किया था। इसी प्रकार ऐतिहासिक और पौराणिक प्राचीनतम सामग्री को भी अष्टादश ग्रन्थ रूप में परिणत कर दिया था।

यहां इतनी बात और अधिक समझ लेनी चाहिये कि ब्रह्मा के एक दिन को कल्प कहते हैं और वह एक हज़ार महायुगों का होता है। सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि इन चारों युगों का समुदाय एक महायुग कहा जाता है, जो कि— ४,३२,००,०००० मानव वर्ष के बराबर समझना चाहिये। इस समय सृष्टि गणना के अनुसार वर्तमान कल्प का नाम बाराह कल्प है, जिसके छः मन्वन्तर बीत चुके हैं और सातवां वैवस्वत मन्वन्तर चल रहा है। तदनुसार अट्ठाइस सत्ययुग अट्ठाइस त्रेतायुग और अट्ठाइस द्वापरयुग बीत चुके हैं और अब अट्ठाइसवां कलियुग चालू है। शास्त्र सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक द्वापर के अन्त में और कलियुग के आरम्भ में परमपिता परमात्मा व्यासावतार धारण करके युगधर्म्म से अव्यवस्थित एवं कालक्रम से अस्तव्यस्त हुवे वेदों और पुराणों का वास्तविक सङ्कलन करते हैं, इस लिये इस कल्प में भी व्यतीत हुवे द्वापर युगों की संख्या के अनुसार अब से पूर्व अट्ठाइस व्यास होचुके हैं। जैसा कि देवीभागवत में लिखा है:—

द्वापरे द्वापरे विष्णु र्व्यासरूपेण सर्वदा ।
वेदमेकं स बहुधा कुरुते हितकाम्यया ॥
अल्पायुषोऽल्पबुद्धींश्च विप्राञ्ज्ञात्वाकलावथ ।
पुराणसंहितां पुण्यां कुरुतेऽसौ युगे युगे ॥
द्वापरे प्रथमे व्यस्ताः स्वयं वेदाः स्वयम्भुवा ।
प्रजापतिर्द्वितीये तु द्वापरे व्यासकार्य्यकृत् ॥
तृतीये चोशना व्यासश्चतुर्थे तु बृहस्पतिः ।
पञ्चमे सविता व्यासः षष्ठे मृत्युस्तदापरे ॥
मघवा सप्तमे प्राप्ते वशिष्ठस्त्वष्टमे स्मृतः ।
सारस्वतस्तु नवमे त्रिधामा दशमें तथा ॥
एकादशेऽथ त्रिवृषो भरद्वाजस्ततः परम् ।
त्रयोदशे चान्तरिक्षो धर्म्मश्चापि चतुर्दशे ॥
त्रय्यारुणिः पञ्चदशे षोडशे तु धनञ्जयः ।
मेधातिथिः सप्तदशे व्रती ह्यष्टादशे तथा ॥
अत्रिरेकोनविंशे च गौत्तमस्तु ततः परम् ।
उत्तमश्चैकविंशेथ हर्य्यात्मा परिकीर्तितः ॥
वेनो वाजश्रवाश्चैव सोमोऽमुष्यायणस्तथा ।
तृणविन्दुस्तथाव्यासो भार्गवस्तु ततः परम् ॥
ततः शक्तिर्जातुकर्ण्यः कृष्णद्वैपायनस्ततः ।
अष्टाविंशतिसंख्येयं कथिता या मया श्रुता ॥
एकोनत्रिंशत्संप्राप्ते द्रौणिर्व्यासोभविष्यति ।

(देवी भागवत १ । ३ । १८–३३)

अर्थात्—प्रत्येक द्वापर में विष्णु भगवान् व्यासरूप धारण करके मनुष्यों के हितार्थ विकीर्ण श्रुति समुदायात्मक एक वेद को संहिता रूप विभागों में संकलित करते हैं। कलियुगी मनुष्यों को थोड़ी आयु और थोड़ी बुद्धि वाले जान कर वही व्यास प्रत्येक द्वापर में पवित्र पुराण संहिता का भी सङ्कलन करते हैं। पहिले द्वापर में

स्वयंभू व्यास ने, दूसरे में प्रजापति ने, तीसरे में उशना ने, चौथे में बृहस्पति ने, पांचवें में सविता ने, छठे में मृत्यु ने, सातवें में मघवा ने, आठवें में वशिष्ठ ने, नवें में सारस्वत ने, दशवें में त्रिधामा ने, ग्यारहवें में त्रिवृष ने, बारहवें में भरद्वाज ने, तेरहवें में अन्तरिक्ष ने, चौदहवें में धर्म्म ने, पंद्रहवें में त्रय्यारुणि ने, सोलहवें में धनञ्जय ने, सत्रहवें में मेधातिथि ने, अठारहवें में व्रती ने, उन्नीसवें में अत्रि ने, बीसवें में गौत्तम ने, इक्कीसवें में उत्तम हर्य्यात्मा ने, बाइसवें में वेन बाजश्रवा ने, तेइसवें में सोम आमुष्यायण ने, चौबीसवें में तृणविन्दु ने, पच्चीसवें में भार्गव ने, छब्बीसवें में शक्ति ने, सत्ताइसवें में जातुकर्ण्य ने और अट्ठाइसवें में कृष्ण द्वैपायन नामक व्यास ने वेदों और पुराणों का संकलन किया था। आगे उन्तीसवें द्वापर में अश्वत्थामा व्यास होगा।

(मत्स्य पुराणोक्त व्यास नामावली के कई एक नामों में कुछ अन्तर भी है परन्तु वह इन्हीं व्यक्तियों के नामान्तर मान लेने से अथवा कल्प भेद से सुव्यवस्थित किया जा सकता है)

उपर्य्युक्त सन्दर्भ से यह निश्चित हुवा कि वर्तमान बाराह कल्प में अट्ठाइस बार वेदों और पुराणों का संकलन हो चुका है। अन्तिम बार पराशर के पुत्र श्रीकृष्ण द्वैपायन जी महाराज ने आज से पांच हजार वर्ष पूर्व वेदादिका संकलन किया था। दूसरे शब्दों में—वर्तमान वेद संहिताएँ और पुराण ग्रन्थ श्रीकृष्ण द्वैपायन व्यास द्वारा ही इस रूप में लेखबद्ध किये गये हैं प्रायः सभी पुराणों में इस संकलन का वर्णन मिलता है, जिसे, पढकर श्री वेदव्यास जी के महामहिम कार्य्य का पता लगता है—यथाः—

क्षीणायुषः क्षीणसत्वान्दुर्मेधान्वीक्ष्य कालतः।
ब्रह्मेशाद्यैर्लोकपालैर्याचितो धर्म्मगुप्तये॥
पराशरात्सत्यवत्यामंशांशं कलया विभुः।
अवतीर्णो महाभाग! वेदं चक्रे चतुर्विधम्॥
ऋगथर्वयजुःसाम्नां राशीनुद्धृत्य वर्गशः।
चतस्रः संहिताश्चक्रे मन्त्रैर्मणिगणा इव॥
तासां स चतुरः शिष्यानुपाहूय महामतिः।
एकैकां संहितां ब्रह्मन्नेकैकस्मै ददौ विभुः॥

पैलाय संहितामाद्यां बह्वृचाख्यामुवाच ह ।
वैशंपायनसंज्ञाय निगदाख्यं यजुर्गणम् ॥
साम्नां जैमिनये प्राह तथा छन्दोगसंहिताम् ।
अथर्वांगिरसीं नाम स्वशिष्याय सुमन्तवे ॥

(श्रीमद्भागवत १२ । ६ । ४७-५३)

अर्थात्—कलिकाल के प्रभाव से मनुष्यों को क्षीणायुः, निर्बल एवं दुर्बुद्धि जान कर ब्रह्मा आदि लोकपालों की प्रार्थना पर धर्म्म रक्षा के लिये महर्षि पराशर द्वारा सत्यवती में भगवान् ने अंशांश कला रूप से अवतार धारण करके वेदों को चार भागों में विभक्त किया। विकीर्ण श्रुति सन्दर्भ में से पादबद्ध, गद्य, गीति और आभिचारिक मन्त्रों को वर्गशः चुन चुन कर ऋग् यजुः साम और अथर्व नामक चार संहिताओं को संकलित किया जिनमें मणियों की तरह मन्त्रों का संग्रह था। इसके अनन्तर महामति व्यासने अपने योग्य चार शिष्यों को बुला कर प्रत्येक को एक २ संहिता प्रदान की, जैसे पैलको ऋक् संहिता, वैशंपायन को यजुःसंहिता, जैमिनि को साम संहिता और सुमन्तु को अथर्वसंहिता।

इस प्रकार श्री वेदव्यास जी ने विकीर्ण श्रुति समुदाय को चार भागों में लेखबद्ध करके विभिन्नशिष्यों में बांट दिया, और आगे उन शिष्यों ने भी अपने शिष्य प्रशिष्यों को पढ़ाया, जिससे 'शिष्यैः प्रशिष्यैस्तच्छिष्यैर्वेदास्ते शाखिनोऽभवन्' के—अनुसार वे वेद अनेक शाखाओं से सम्पन्न होगये। पुराणों में इस रहस्य का स्फुटवर्णन विस्तारपूर्वक लिखा है जिसे हम अनपेक्षित समझ कर यहां लिखना अनावश्यक समझते हैं अब ज़रा एक अर्ब संख्यात्मक आदिम पुराण का संकलन भी सुनिये।

वेदों का संकलन कर चुकने के बाद श्रीकृष्ण द्वैपायन जी ने वेदोक्त आख्यायिका अंश, और सृष्टि प्रक्रिया प्रतिपादक वाक्य समूह, तथा चिरंतन ऋषिदेवता चरित्र समुदाय—रूप आदिम पुराण का संकलन आरम्भ किया, विस्तृत सम्वादों को संक्षिप्त बना डाला और अपनी कविता चातुरी से- वेद के श्लोक, गाथा, नाराशंसी, पुराकल्प जनश्रुति एवं आख्यायिका-नामक अंशों को सरल सुमधुर बना २ कर तत्कालीन इतिहास के साथ गूंथ डाला जिससे ब्रह्मचर्यादिकी असुविधा के कारण वेदाध्ययन में अधिकार न रखने वाले मनुष्य भी वेदामृतका पान कर सकें। एक अर्ब प्रमाण वाले आदिम पुराण को संक्षिप्त करके केवल चार लाख पद्यों में बान्ध डालना, और विषय

विभाग के अनुसार उस समस्त मौलिक सामग्री को अठारह भागों में विभक्त करके लेखबद्ध करना यह वेद व्यास जी का ही काम था। पुराणों में लिखा है कि:—

(क) कालेनाग्रहणं दृष्ट्वा पुराणस्य ततो नृप !
व्यासरूपमहं कृत्वा संहरामि युगे युगे ॥
चतुर्लक्षप्रमाणेन द्वापरे द्वापरे सदा ।
तथाष्टादशधा कृत्वा भूर्लोकेऽस्मिन्प्रकाश्यते ॥

(मत्स्य ५३। ८—१०)

(ख) इतिहासपुराणानां पिता मे रोमहर्षणः ।

(श्रीमद्भागवत १। ४। २२)

(ग) त्रय्यारुणिः कश्यपश्च सावर्णिरकृतव्रणः ।
वैशंपायनहारीतौ षड् वै पौराणिका इमे ॥
अधीयन्त व्यासशिष्यात्संहितां मत्पितुर्मुखात् ।

(श्रीमद्भागवत १२। ६७। ५-६)

अर्थात्—(क) काल के प्रभाव से उस एक अर्ब पाठ वाले पुराण का धारण करना कठिन समझकर मैं विष्णु भगवान् व्यास रूप धारण करके उसका संक्षेप करता हूँ, प्रत्येक द्वापर में वह चार लाख प्रमाण में संक्षिप्त हो जाता है और अठारह भागों में बंट कर इस भूलोक में प्रकाशित होता है। (ख) [जिस प्रकार वेद संहिताओं की रक्षा का भार पैल आदि शिष्यों पर निहित किया था इसी प्रकार] इतिहास और पुराणों की रक्षा का भार-सूत के पिता रोमहर्षण जी पर रक्खा गया था। (ग) आगे रोमहर्षण जी ने त्रय्यारुणि, कश्यप, सावर्णि, अकृतव्रण, वैशंपायन और हारीत इन छः शिष्यों को पुराण संहिता पढाई और उन्हें 'पौराणिक' की उपाधि प्रदान की।

उपर्युक्त प्रमाणों से यह निश्चित हो जाता है कि वर्तमान वेद संहिताएं और अष्टादश पुराण ग्रन्थ श्री वेद व्यास जी ने ही इस रूप में निबद्ध किये थे तथा इनकी रक्षा के लिये उन्होंने ऐसा सुप्रबन्ध किया था कि जिसकी बदौलत हम आज भी इन ग्रंथों का दर्शन कर पाते हैं। जो लोग ऐसे परम उपकारी महर्षि के चरणों में श्रद्धाञ्जलि अर्पण करने के बजाए मनमानी हांका करते हैं वे महाकृतघ्न और मनुष्य समाज के शत्रु ही समझे जाने चाहियें।

वर्तमान पुराणोंके आदिम श्रोता, वक्ता

ईश्वरावतार, ब्रह्मा जी, और मन्त्रद्रष्टा ऋषि,

वर्तमान पुराणों का उपक्रम और उपसंहार पढ़ने पर अथवा नारद आदि पुराणों में दी हुई 'पुराण-सूची' का पारायण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि समस्त पुराणों के आदिम श्रोता या वक्ता—ईश्वरावतार, ब्रह्मा जी और मन्त्र द्रष्टा ऋषि लोग ही हैं, इससे भी उनकी मौलिक सामग्री की प्राचीनता भली प्रकार विदित होजाती है। यथाः—

ब्रह्म-पुराण

ब्रह्मणाभिहितं पूर्वं यावन्मात्रं मरीचये।

(मत्स्य ५३। १३)

अर्थात्— ब्रह्मपुराण ब्रह्मा जी ने मरीचि के प्रति कथन किया था।

पद्म-पुराण

एतदेव यदा पद्मं ह्यभूद्धैरण्मयं जगत्।

(मत्स्य ५३। १४)

अर्थात्—पद्म-पुराण सृष्टि के आरम्भ में हिरण्मय पद्मस्थ स्वयम्भू ने ब्रह्मा के प्रति कहा।

विष्णु-पुराण

वाराहकल्पवृत्तान्तमधिकृत्य पराशरः।

(मत्स्य ५३। १६)

अर्थात्-'विष्णु-पुराण' पराशरने कहा, (यही पराशर ऋग्वेद के ६ सूक्तों के द्रष्टा हैं)

शिव-वायु-पुराण

निर्मितं तच्छिवेनैव।

(वायु संहिता ६)

अर्थात्—'शिव-पुराण' शिव भगवान् ने वायु के प्रति कहा है।

लिङ्ग-पुराण

प्राह देवो महेश्वरः।

(मत्स्य ५३। ३६)

अर्थात्—'लिङ्ग पुराण' महेश्वर भगवान् ने कथन किया है।

गरुड़-पुराण

अधिकृत्याब्रवीद् विष्णुः ।

(मत्स्य ५३ । ५२)

अर्थात्—'गरुड-पुराण' विष्णु ने गरुड के प्रति कथन किया है।

नारद-पुराण

नारद पुराण की सूची के अनुसार इसका पूर्व भाग—सनक, सनन्दन, सनातन आदि ब्रह्म पुत्रों ने नारद के प्रति कहा है, और उत्तर भाग वशिष्ठ ने मान्धाता के प्रति कहा है।

भागवत-पुराण

(क) ब्रह्मणे भगवत्प्रोक्तम् ।

(श्रीमद्भागवत २ । ६ । २८)

(ख) ब्रह्मणा संगृहीतं च ।

(देवी भागवत २ । १२ । ३०)

अर्थात्— श्रीमद्भागवत विष्णु ने ब्रह्मा के प्रति कहा है, और 'देवी भागवत' ब्रह्मा द्वारा संगृहीत हुवा है।

अग्नि-पुराण

वशिष्ठायाग्निना प्रोक्तम् ।

(मत्स्य ५३ । ३०)

अर्थात्— 'अग्नि पुराण' अग्नि देव ने वशिष्ठ के प्रति कहा है।

स्कन्द-पुराण

यत्रमाहेश्वराधर्म्माः षण्मुखेन प्रकाशिताः ।

(नारदोक्त सूची)

अर्थात्— 'स्कन्द पुराण' षण्मुख=कुमार ने कहा है (यही कुमार ऋग्वेद (५ । २ । १) तथा (१० । १३५) तथा (७ । १०१-१०२) आदि सूक्तों का द्रष्टा है)।

भविष्य-पुराण

यत्राधिकृत्य माहात्म्यमादित्यस्य चतुर्मुखः ।
मनवे कथयामास ।

(मत्स्य ५३ । ३१)

अर्थात्—'भविष्य-पुराण' ब्रह्मा ने मनु के प्रति कथन किया।

ब्रह्म वैवर्त

सावर्णिना नारदाय कृष्णमाहात्म्यमुत्तमम् ।

(मत्स्य ५३ । ३३)

अर्थात्—'ब्रह्मवैवर्त' सावर्णि ने नारद के प्रति कथन किया । (ब्रह्म पुत्र- नारद का समकालीन यह सावर्णि अत्यन्त प्राचीन ऋषि होचुका है ।)

मार्कण्डेय-पुराण

मार्कण्डयेन मुनिना जैमिनेः प्राक् समीरितम् ।

(नारदोक्त सूची)

अर्थात्—'मार्कण्डेय-पुराण' मार्कण्डेय ने जैमिनि के प्रति कहा है ।

वामन-पुराण

(क) त्रिविक्रमस्य माहात्म्यमधिकृत्य चतुर्मुखः ।

(मत्स्य ५३ । ४४)

(ख) पुलस्त्येन समाख्यातं नारदाय महात्मने ।

(नारदोक्त सूची)

अर्थात्—'वामन-पुराण' ब्रह्मा ने पुलस्त्य को पुलस्त्य ने नारद को सुनाया ।

वाराह-पुराण

तत्रादौ शुभसम्वादः स्मृतो भूमिवराहयोः ।

(नारदोक्त सूची)

अर्थात्—'वाराह-पुराण' वराह रूप विष्णु ने भूमि के प्रति कथन किया ।

मत्स्य-पुराण

मनुमत्स्यसुसम्वादः ।

(नारदोक्त सूची)

अर्थात्—'मत्स्य-पुराण' मत्स्यावतारधारी विष्णु ने मनु के प्रति कथन किया ।

कूर्म्म-पुराण

माहात्म्यं कथयामास कूर्म्मरूपी जनार्दनः ।

(मत्स्य ५३ । ४७)

अर्थात्—'कूर्म्म पुराण' कूर्मावतार धारी विष्णु ने कथन किया ।

ब्रह्माण्ड-पुराण

ब्रह्मा ब्रह्माण्डमाहात्म्यमधिकृत्याब्रवीत्पुनः ।

(मत्स्य ५३ । ५५)

अर्थात्—'ब्रह्माण्ड-पुराण' ब्रह्मा ने कथन किया था ।

इस प्रकार उपर्य्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि पुराणों के आदिम वक्ता– ब्रह्मा, विष्णु, महेश, स्कन्द, पराशर, अग्नि, सावर्णि, मार्कण्डेय और सनकादि ये सब हैं तथा आदिम श्रोता– ब्रह्मा, मरीचि, वायु, गरुड़, नारद, वशिष्ठ, मनु, जैमिनि, पुलस्त्य भूमि आदि हैं। इन सबके पुरातन सम्वादों को ही वेद व्यास जी ने विगत द्वापर के अन्त में क्रमबद्ध किया है।

इस अध्याय का सारांश यह है कि जिस समय ऋषि जनों ने अपने शिष्यों को मन्त्रोपदेश करना आरम्भ किया था, उस समय मन्त्रोपदेश से पूर्व विनियोग अवश्य बताया था। विनियोग में ऋषियों और देवताओं के नाम आते हैं, जब शिष्यों की ओर से उन ऋषियों और देवताओं के चरित जानने के लिये प्रश्न होने लगे तो उपदेष्टा गुरुजन उन २ ऋषियों और देवताओं के यथाश्रुत अथवा समाधि लब्ध चरितों को बताकर शिष्यों का समाधान करने लगे। द्वापर के अन्त तक इसी प्रकार गुरुपरम्परा द्वारा वेदों का उपदेश होता रहा और साथ २ ऋषियों और देवताओं के चारु चरित भी कहे सुने जाते रहे। जब वेद व्यासजी ने वेद रक्षा के लिये गुरुपरम्पराश्रुत वेदों को चार भागों में विभक्त करके ग्रंथन किया और उन्हें पैल आदि भिन्न २ शिष्यों को प्रदान किया तब गुरु शिष्य सम्प्रदाय प्रचलित ऋषियों और देवताओं के चरितों को भी अष्टादश पुराण ग्रन्थ रूप में निबद्ध करके लोमहर्षण आदि शिष्यों को पढ़ाया।

इस प्रकार पुराणों का उपदेश काल वही है जो कि वेदों का। और ग्रन्थ रूप में निबद्ध होने का समय भी वही है जो कि वेदों का, पुराणों के वक्ता भी वही ऋषिजन हैं जो कि वेद मन्त्रों के द्रष्टा और उपदेष्टा थे। इन्हें पुस्तकाकार ग्रथन करने वाले भी वही महर्षि व्यास हैं जिन्होंने कि वेदों का सङ्कलन किया था। यही वेद और पुराणों का सम्बन्ध है। इस परम्परा का मनन करने से यह बात स्पष्ट होजाती है। पुराणों का अध्ययन किये बिना वेदों का समझना कठिन ही नहीं— किन्तु सर्वथा असम्भव है; क्योंकि मन्त्रार्थ ज्ञान के लिये विनियोग ज्ञान आवश्यक है, और विनयोग वर्णित ऋषियों और देवताओं का चरित जानने के लिये पुराणों का स्वाध्याय अत्यावश्यक है। हमारे पास पुराण ग्रन्थ ही एकमात्र साधन हैं जिस से कि हम ऋषियों और देवताओं के विषय में सर्वतोमुख ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। क्या हम आशा करें कि 'वेदानुयायी' होने का दावा रखने वाले सज्जन अपने पुराणविषयक भ्रम को दूर करके पुराणों की उपयोगिता स्वीकार करेंगे।

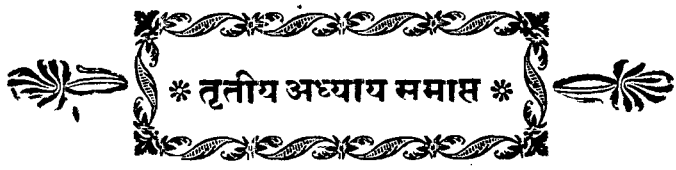

स्वरूप-स्थापनाध्यायः।

(चौथा-अध्याय)

मन्त्रवद् ब्राह्मणस्याऽपि, वेदत्वं सर्वसम्मतम्।
तस्माद् ब्राह्मादिनामेव पुराणख्येतिकथ्यते॥

ब्राह्मण-भाग के वेदत्व में प्रमाण

पूर्वोक्त रीति से जब वेदादि प्रमाणों द्वारा पुराणों की प्राचीनता सिद्ध होजाया करती है तो घबड़ा कर प्रतिवादी कह दिया करते हैं कि निर्दिष्ट प्रमाणों में 'पुराण नाम ब्राह्मण ग्रन्थों का है-वर्तमान पुराणों का नहीं'। अतः इस अध्याय में इसी बात पर विचार किया जायगा कि क्या वास्तव में ब्राह्मण ग्रन्थों को पुराण कहते हैं, अथवा वर्तमान उपलब्ध १८ पुराणों को ही पुराण कहना चाहिये ?

(१) सब से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि प्रतिवादी का यह कथन कि 'पुराण नाम ब्राह्मण ग्रन्थों का है, और वेदादि सच्छास्त्रों में उन्हीं का नाम आया है,— निरा भ्रम है, क्योंकि इस कथन से वर्तमान पुराणों की नवीनता तो सिद्ध होनी दुरूह है, परन्तु प्रतिवादी जिन वेदों को अनादि मानता है— और जो वास्तव में हैं भी अनादि, वह कल के बने जरूर सिद्ध हो जायेंगे। कल्पना कीजिये यदि 'दुर्जन तोष न्याय' से क्षणमात्र के लिये मान लिया जाय कि ब्राह्मण ग्रन्थ ही पुराण हैं— तो जिस मन्त्र भाग में धड़ाधड़ उक्त पुराणों का नाम आरहा है, वह मन्त्र भाग ब्राह्मण ग्रन्थों के बाद का बना मानना पड़ेगा। जब कि प्रतिवादी ब्राह्मण ग्रन्थों को महाभारत संग्राम के पश्चात् बने मानता है तो मन्त्र भाग को और भी पीछे का बना मानना पड़ेगा। क्या ? कोई बुद्धिमान् यह स्वीकार करने को प्रस्तुत होगा कि वेद ५००० वर्ष से भी इधर के हैं ! शायद इस आपत्ति को समझ कर प्रतिवादी भी स्वयं अपने पावों पर कुल्हाड़ा मारने को उद्यत न होगा- इस लिये यह मिथ्या है कि ब्राह्मण ग्रन्थों का नाम पुराण है।

(२) हमारा पक्ष है कि ब्राह्मण भाग पुराण नहीं बल्कि वेद है—आज तक जितने भाष्यकार ऋषि-महर्षि, मुनि और आचार्य हो चुके हैं, उन सबों ने मन्त्र भाग और ब्राह्मण भाग दोनों को एक जैसा वेद माना है। सायणाचार्य्य ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका (उपोद्घात) में महर्षि आपस्तम्ब की यज्ञ परिभाषा का प्रमाण उद्धृत करते हुये लिखते हैं कि—

तच्चोदकेषु मन्त्राख्या। (मीमांसा २। ३२)

शेषे ब्राह्मणशब्दः। (मीमांसा २। ३३)

अर्थात्— प्रेरणा लक्षण श्रुति समुच्चय को मन्त्र कहते हैं, और शेष समस्त वेद का नाम ब्राह्मण है।

इस लिये सायण, आपस्तम्ब और जैमिनि की सम्मति में भी मन्त्र तथा ब्राह्मण दोनों ही वेद हैं।

(३) न्यायाचार्य्य महर्षि गौत्तम जी ने वेदों की प्रमाणता सिद्ध करने के लिये पूर्व पक्ष में वेदों पर आक्षेप किये हैं और उन आक्षेपों के जो उदाहरण दिये हैं वे वर्तमान ब्राह्मण भाग के हैं। यदि ब्राह्मणभाग वेद न होता तो वेदों पर शङ्का करने के लिये वेद भिन्न ब्राह्मण भाग का उदाहरण देना क्या मूल्य रखता था? गोतम जी कहते हैं—

तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः।

(न्यायदर्शन २। १। ५७)

अर्थात्— वह (वेद) प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें के असत्य, पूर्वापर-विरोध, और एक ही बात को अनेक बार कहना इत्यादि दोष हैं। जैसे वेद में लिखा है कि— 'पुत्रकामः पुत्रेष्ट्या यजेत' जिसे पुत्र की इच्छा हो वह पुत्रेष्टि यज्ञ करे, परन्तु कहीं पुत्रेष्टि यज्ञ करने पर भी पुत्र उत्पन्न नहीं होता, इस प्रकार वेद का यह प्रत्यक्षफलसाधक वाक्य मिथ्या सिद्ध होजाता है। तव 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' स्वर्ग की कामना वाला अग्निहोत्र करे-- इत्यादि परोक्ष फलसाधक वाक्यों पर कैसे विश्वास किया जा सकता है। अतः वेदों में असत्य वाक्य होने से वे मान्य नहीं— इत्यादि पूर्व पक्ष करके पश्चात् अकाट्य युक्तियों से इन सब आक्षेपों का समाधान किया है। हम प्रकृत विरुद्ध होने के कारण यहां उसके लिखने की आवश्यकता नहीं समझते, परन्तु इस प्रघट्ट में द्रष्टव्य यह है कि यहां—

'पुत्रकामः' आदि जितने वाक्य दिये गये हैं वे ब्राह्मण भाग के हैं। क्योंकि विधि और अर्थवाद दो प्रकार के वाक्यों का समावेश ब्राह्मण में ही हुवा है अतः

निश्चय हुआ कि गौत्तम जी की दृष्टि में भी मन्त्र और ब्राह्मण दोनों को ही समान रूप से वेदत्व है। अन्यथा देवदत्त को मिथ्याभाषी सिद्ध करने के लिये यज्ञदत्त के वाक्यों का उदाहरण देना क्या माने रखता है ?

(४) प्रसिद्ध वैशेषिक दर्शन के निर्माता महर्षि कणाद जी दृष्टादृष्ट फलक दोनों प्रकार के कार्यों का अनुष्ठान सिद्ध करते हुवे लिखते हैं कि—

"दृष्टानां दृष्टप्रयोजनानां दृष्टाऽभावे प्रयोगोऽभ्युदयाय ।

(वैशेषिक दर्शन १० । २ । ८)

अर्थात्—वेदों में जो कर्त्तव्य रूप से देखे गये हैं, जिनका प्रयोजन इस लोक में प्रत्यक्ष दीखता है, उनका, तथा जिन कार्यों का ऐहलौकिक फल नजर नहीं आता उनका-अनुष्ठान करना पारलौकिक शुभ फल के लिये होता है।

उपर्य्युक्त सूत्र में जिस दृष्टफल और अदृष्टफलविधान को वेद विहित बताया गया है, वह ब्राह्मण भाग में ही उपलब्ध है अतः मानना पड़ेगा कि कणाद जी ब्राह्मण भाग को वेद ही मानते हैं।

(५) महर्षि व्यास वेदान्तदर्शन में शब्द प्रमाण बताते हुये लिखते हैं कि—

श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् ।

(वेदान्त दर्शन २ । १ । २७)

अर्थात्—ब्रह्म प्रत्यक्षानुमान का विषय नहीं बल्कि उस के होने में श्रुति प्रमाण है जो शब्दमूलक है।

सारे वेदान्त को पढ़ जाइये उस में ब्रह्मप्रतिपादक 'तत्वमसि' 'अयमात्मा ब्रह्म' 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' और 'नेह नानाऽस्ति किञ्चन' आदि जितने भी प्रमाण दिये गये हैं, वे सब ब्राह्मणभागान्तर्गत उपनिषद् आदि ग्रन्थों के हैं, और उन सबको 'श्रुति वेद' के नाम से लिखा है। इससे स्पष्ट है कि व्यास जी ब्राह्मण ग्रंथों के—विशिष्ट भाग उपनिषदों को वेद स्वीकार करते थे।

(६) पातञ्जल महाभाष्य में पतञ्जलि जी लिखते हैं कि—

वेदेपि—य एवं विश्वसृजः सत्राण्यध्यास्त इति तेषामनुकुर्वं-
स्तद्वत् सत्राण्यध्यासीत सोऽप्यभ्युदयेन युज्यते ।

(महाभाष्य पृष्ठ २०)

अर्थ— वेद में लिखा है कि— जो इस प्रकार ब्रह्मा के यज्ञों का अनुष्ठान करता है उसका अनुकरण करने वाला भी ऐहलौकिक सुखों को प्राप्त होता है।

यहां 'य एवं विश्वसृजः' आदि जो वाक्य वेद के नाम से उद्धृत किया है। वह ब्राह्मण भाग में ही उपलब्ध होता है अतः निश्चित हुआ कि पतञ्जलि जी की सम्मति में भी ब्राह्मण भाग वेद है।

(७) आश्वलायन श्रौत सूत्र के भाष्यकार श्री नारायण स्वामी लिखते हैं कि—

गाथाशब्देन ब्राह्मणगता ऋच उच्यन्ते।

(आश्वलायन श्रौत सूत्र ५। ६)

अर्थात्— ब्राह्मण भाग में आने वाली ऋचाओं को गाथा कहते हैं। इसी प्रकार आश्वलायन गृह्यसूत्र (३। ३। १) की वृत्ति में— लिखते हैं कि—

गाथा नाम ऋग्विशेषाः।

अर्थात्— गाथा नाम विशेष ऋचाओं का है,

इन दोनों प्रमाणों में ब्राह्मणभागान्तर्गत आने वाली गाथाओं को ऋचा के नाम से स्मरण किया है। और ऋचाएं केवल वेद में ही होती हैं अतः ब्राह्मण भाग वेद है। निरुक्त (४। ६) में तो स्पष्टतया ही 'ब्रह्म.....गाथामिश्रं भवति' अर्थात्— वेद में ही गाथा भाग होता है, ऐसा लिख दिया है।

(८) तैत्तरीयारण्यक भाष्य २। ६ में सायणाचार्य्य जी लिखते हैं 'गाथा मन्त्र-विशेषाः' अर्थात्— मन्त्र विशेष का नाम गाथा है। सो मन्त्र केवल वेद में ही होते हैं। अतः निश्चय हुआ कि ब्राह्मण वेद हैं।

(९) पातञ्जल महाभाष्य में लिखा है कि—

वेदे खल्वपि— पयोव्रतो ब्राह्मणो यवागूव्रतो राजन्यः
आमिक्षाव्रतो वैश्य इत्युच्यते।

(१। १। १)

अर्थ— वेद में लिखा है कि— ब्राह्मण पयोव्रत होते हैं। क्षत्रिय यवागू व्रत होते हैं, और वैश्य आमिक्षाव्रत होते हैं।

उपरोक्त 'पयोव्रत' आदि वाक्य मन्त्र भाग में कहीं भी नहीं, बल्कि यह ब्राह्मण भाग का वाक्य है "पतञ्जलि जी" इसे वेद वाक्य कहते हैं, अतः निश्चित हुआ कि ब्राह्मण वेद हैं।

(१०) इसी ग्रन्थ के दूसरे स्थान में लिखा है कि—

वेदशब्दा अप्येवमभिवदन्ति—
योऽग्निष्टोमेन यजते य उचैनमेवं वेद।

(पृष्ठ १०)

अर्थात्—वेद भी ऐसा कहते हैं कि- जो अग्निष्टोम यज्ञ द्वारा यजन करता है, और जो इसे ऐसा जानता है।

यहां भी जो 'योऽग्नि' आदि वाक्य लिखा है वह मन्त्र भाग का नहीं बल्कि—तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।११।८।५) का है। परन्तु पतञ्जलि महाराज इसे "वेद शब्द" के नाम से स्मरण करते हैं अतः निश्चित हुआ कि ब्राह्मण वेद हैं।

(११) मनु जी लिखते हैं :—

एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षाविप्रो वने वसन्।
विविधाश्चोपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतिः॥

(मनु स्मृति ६।२९)

अर्थात्—वन में रहता हुआ ब्राह्मण ऐसी धार्मिक दीक्षाओं का सेवन करे और अपने कल्याण के लिये विविध उपनिषद् ग्रंथों की श्रुति का सेवन करे।

यहां ब्राह्मणान्तर्गत उपनिषद् वाक्यों को श्रुति कहा है। श्रुति नाम वेद का है जैसा कि मनु जी ने ही स्थानान्तर में स्वयं 'श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः' (मनुः २।१०) कह कर इसे व्यक्त किया है। अतः निश्चित हुवा कि- ब्राह्मण वेद हैं।

(१२) शबर मीमांसा भाष्य (१।२।३३) में लिखा है कि—

मन्त्राश्च ब्राह्मणं च वेदः।

अर्थात्—मन्त्र और ब्राह्मण दोनों ही वेद हैं।

(१३) मीमांसा दर्शन (सूत्र १।१।८८ से आरम्भ करके ३३ सूत्र-पर्यन्त) में मन्त्र भाग की तरह ब्राह्मण भाग को भी अपौरुषेय सिद्ध किया है, अतः ब्राह्मण ऋषि-कृत नहीं बल्कि मन्त्रों की तरह ऋषिदृष्ट हैं अतः वह वेद हैं।

(१४) चरण व्यूह (कण्डिका २) में कहा है कि—

त्रिगुणं पठ्यते यत्र मन्त्रब्राह्मणयोः सह।
यजुर्वेदः स विज्ञेयः शेषाः शाखान्तराः स्मृताः॥

अर्थात्—जिसमें मन्त्र ब्राह्मण सहित त्रिगुण पढ़ा जाता है। वह यजुर्वेद है, शेष उसकी शाखायें हैं।

यहां मन्त्र और ब्राह्मण दोनों को सम्मिलित करके उसे यजुर्वेद के नाम से स्मरण किया गया है। इससे निश्चित हुआ कि ब्राह्मण वेद है।

(१५) मनु जी ने हवन काल निर्णय करते हुवे लिखा है कि—

उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा।
सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः॥ (मनु २।१५)

अर्थात्—सूर्योदय हो जाने पर और उदय होने से पूर्व तथा नक्षत्र सूर्य्यादि के अदृष्ट काल में भी हवन करना चाहिये ऐसा वेद का वचन है।

समस्त मन्त्र भाग में ऐसा कोई मन्त्र नहीं मिलता जिसमें कि स्पष्टतया यह बताया गया हो कि सूर्य्योदय हो जाने पर या उदय से पूर्व यज्ञ होसकता है, ऐसे वचन ब्राह्मण भाग में अवश्य मिलते हैं। जैसे—

उदिते जुहोति अनुदिते जुहोति।

(ऐतरेय ब्राह्मण ५।५।४)

मनु जी ने ब्राह्मण ग्रन्थों के इन वचनों को वेद वचन बताया है इससे निश्चित हुआ कि मनु जी की सम्मति में ब्राह्मण वेद ग्रंथ है।

(१६) आपस्तम्ब जी कहते हैं—

मन्त्रब्राह्मणयो र्वेदनामधेयम्॥

(आपस्तम्ब श्रौत सूत्र २४।१।३१)

अर्थात्— मन्त्र और ब्राह्मण दोनों को वेद कहते हैं।

(१७) बोधायन जी कहते हैं—

मन्त्रब्राह्मणं वेद इत्याचक्षते।

(बौधायन गृह्यसूत्र २।६।२)

अर्थात्— मन्त्र ब्राह्मण दोनों को वेद कहा जाता है।

(१८) महर्षि सत्याषाढ़ जी लिखते हैं—

मन्त्रब्राह्मणयो र्वेदनामधेयम्।

(सत्याषाढ़ श्रौतसूत्र १।१।७)

अर्थात्— मन्त्र और ब्राह्मण का नाम वेद है।

(१९) महर्षि कौशिक लिखते हैं—

आम्नायः पुनर्मन्त्राश्च ब्राह्मणानि च।

(कौशिक सूत्र १।३)

अर्थात्— मन्त्र और ब्राह्मण दोनों को आम्नाय=वेद कहते हैं।

(२०) कात्यायन ऋषि कहते हैं—

मन्त्रब्राह्मणयो र्वेदनामधेयम्।

(कात्यायन प्रतिज्ञा सूत्र)

अर्थात्— वेद नाम मन्त्र और ब्राह्मण का है।

(२१) सायणाचार्य्य लिखते हैं:—

मन्त्रब्राह्मणात्मकः शब्दराशिर्वेदः ।

(ऋग्वेद उपोद्घात)

अर्थात्— मन्त्रब्राह्मणात्मक शब्द समुदाय को वेद कहते हैं ।

(२२) महर्षि वात्स्यायन पुराणों और ब्राह्मणों को भिन्न २ ग्रन्थ मानते हैं । यथा—

प्रमाणेन खलु ब्राह्मणेन इतिहासपुराणस्य प्रामाण्यमभ्युपगम्यते ।

(न्यायदर्शन भाष्य ४ । १ । ६२)

अर्थात्— ब्राह्मण प्रमाण से इतिहास पुराण की प्रामाणिकता सिद्ध होती है । यहां यदि दौनों उक्त ग्रन्थों को विभिन्न न माना जाए तो प्रामाण्य प्रमेय भाव संघटित नहीं हो सकता । अर्थात्— अभियुक्त और साक्षी दो भिन्न २ व्यक्ति ही होसकते हैं ।

(२३) उक्त स्वयं ब्राह्मण ग्रन्थ पुराणों को अपने से अलग बता रहे हैं यथा:—

नवमेऽहन् ... किंचित् पुराणमाचक्षीत ।

(शतपथ १३ । ४ । ३ । १२)

अर्थात्—यज्ञ के नवें दिन कुछ पुराण पढा जाए ।

यदि ब्राह्मण ग्रन्थ ही पुराण होते तो वे अपने पाठ का ही आदेश न करते !

कहां तक लिखें ब्राह्मण भाग को मन्त्र भाग की भांति अविशेष वेद सिद्ध करने वाले सहस्रों प्रमाण संगृहीत किये जा सकते हैं । किसी भी ऋषि मुनि आचार्य्य के ग्रन्थ को उठाइये, सर्वत्र ब्राह्मण ग्रन्थों की वैदिकता का उल्लेख मिलेगा । प्रस्थानत्रयी के भाष्यकार आद्य शङ्कराचार्य्य, स्वामी रामानुजाचार्य्य, श्रीनिम्बार्काचार्य्य और श्री मध्वाचार्य्य आदि सभी विद्वानों ने एक स्वर से ब्राह्मणों का वेदत्व स्वीकार किया है, इतने पर भी दयानन्द और उसके मुट्ठी भर पिछलगुवे अपनी बेसुरी तान का आलाप नहीं छोड़ते इसे सिवा दुराग्रह के और क्या कहा जा सकता है !

ब्राह्मण भाग के वेदत्व में युक्तियां

यहां तक हमने प्रमाणों द्वारा ब्राह्मण भाग का वेद होना सिद्ध किया है, अब कतिपय युक्तियों द्वारा भी इसकी पुष्टि की जाती है जिस से 'युक्तिप्रमाणाभ्यां हि वस्तु-सिद्धिः' के अनुसार प्रतिवादियों को कुछ कह सकने का अवसर ही न मिल सके ।

(१) किसी भी ब्राह्मण ग्रन्थ के आदि में अथवा अन्त में 'अथ शतपथपुराणम्' 'इतिगोपथपुराणम्' ऐसी पुष्पिका का उल्लेख नहीं अतः वे पुराण नहीं होसकते।

(२) पुराण का सर्व विदित लक्षण— सर्ग-प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित है— सो ब्राह्मण ग्रन्थों में उक्त विषयों का कहीं भी क्रमबद्ध वर्णन नहीं मिलता— खास कर चन्द्र सूर्य वंशों और तत्तद् वंशीय प्रतिष्ठित व्यक्तियों के चरित्रों का तो कहीं भी उल्लेख नहीं। यदि उक्त ग्रन्थों से सर्गादि प्रतिपादक वाक्यों का उद्धरण देकर उन्हें पुराण कहने की दुश्चेष्टा की जाए तो इस तरह के सैंकड़ों मन्त्र— मन्त्र भाग में भी विद्यमान हैं। अतः सर्गादि पञ्च लक्षण अव्याप्त होने के कारण ब्राह्मण भाग पुराण नहीं होसकता।

(३) सर्वत्र शास्त्रों में पुराणों के नाम 'ब्राह्म-पाद्म-वैष्णव' आदि ही लिखे हैं परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों में उक्त नामों वाला कोई भी ग्रन्थ नहीं है अतः वे पुराण नहीं हो सकते।

(४) पुराणों की संख्या सर्व विदित अठारह है परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों की इयत्ता का कहीं भी उल्लेख नहीं, तथा याज्ञिक विषय विभाग के अनुसार उन्हें विभक्त किया जाए तो वे भी चतुः संहिताओं की तरह चार प्रकार के ही प्रतीत होते हैं। अतः संख्या रूप लक्षण के अव्याप्त होने से भी ब्राह्मण ग्रन्थ पुराण नहीं होसकते।

(५) प्रायः सब ऋषियों ने वेदों की ११३१ शाखाएं मानी हैं,— प्रतिवादियों के दादा गुरु दयानन्द ने भी 'सत्यार्थ प्रकाश' 'ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका' आदि ग्रन्थों में कहीं ११२७ और कहीं ११३१ शाखाओं का उल्लेख किया है। सो जिस प्रकार उपलब्ध चारों संहिताएं क्रमशः— शाकल, माध्यंदिनी, कौथुमी और शौनिकी नामक शाखाएं हैं इसी प्रकार उपलब्ध ब्राह्मण, उपनिषद् आदि भी वेदशाखाओं के ही ग्रन्थ विशेष हैं- यदि चार शाखाएं मान्य होसकती हैं तो शेष भी उसी भांति मान्य होनी चाहियें, अतः ब्राह्मण ग्रन्थ वेद शाखा होने के कारण पुराण नहीं होसकते।

(६) पूर्व मीमांसा दर्शन में मन्त्र भाग की तरह ब्राह्मण भाग की भी अपौरुषेयता सिद्ध की है अतः दोनों का 'वेदत्व' भी तुल्य है। फिर वेद भूत ब्राह्मणों को पुराण कैसे कहा जा सकता है।

(७) यदि ब्राह्मण भाग को ऐतिहासिक अंश विशिष्ट होने के कारण वेदत्व से दूर रक्खा जाता है, तो ऐसा नित्य इतिहास तो मन्त्र भाग में ठसाठस भरा पड़ा है, जिसका यास्कादि ने अपने ग्रन्थों में स्पष्ट उल्लेख किया है तथा जैमिनि जी ने भी— मीमांसा दर्शन (पूर्व मीमांसा १।१।३१) के 'परन्तु श्रुतिसाम्यमात्रम्' आदि

सूत्रों में उसे व्यवस्थित किया है ऐसी दशा में मन्त्र ब्राह्मण के तुल्य होने से दोनों का वेदत्व भी तुल्य ही सिद्ध होता है, अतः वेद के अविशिष्ट अंश ब्राह्मण को पुराण नहीं कह सकते।

(८) कहा जाता है कि ब्राह्मण ग्रन्थ मन्त्रों का व्याख्यान हैं अतः वे वेद नहीं बल्कि पुराण होने चाहियें। यदि यह तर्क ठीक है तब तो सब मन्त्र भी अकेले ॐकार का व्याख्यान हैं। अतः वे भी वेद नहीं होने चाहियें। मन्त्रों का व्याख्यानत्व और ओंकार का व्याख्येयत्व परम्पराध्याय में भली भांति सिद्ध किया जाचुका है। इस लिये जिस प्रकार प्रणव का व्याख्यानभूत समस्त मन्त्र भाग वेद है इसी प्रकार मन्त्र भाग का व्याख्यानभूत ब्राह्मणभाग भी वेद ही— होसकता है पुराण नहीं ?

इस प्रकार हम युक्तियों और प्रमाणों द्वारा ब्राह्मणभाग का वेदत्व सिद्ध कर देने के बाद एक बार फिर पाठकों का ध्यान पूर्व प्रतिपादित प्रमाणाध्याय की ओर आकृष्ट करते हुवे यह कह देना चाहते हैं कि— वेदोपदेश काल से ही जो वर्तमान पुराणों का मूलभूत एक अर्ब प्रमाण वाला 'आदिम-पुराण' चला आता था उसी को लक्ष्य करके समस्त वैदिक साहित्य में पुराण शब्द का निर्देश किया गया है।

न कभी ब्राह्मण ग्रन्थों की 'पुराण' संज्ञा थी, और न कोई सात्तर भविष्य में उन्हें 'पुराण' कहने का साहस कर सकता है !

हुज्जतों की मरम्मत

कभी २ दयानन्दी समाज की ओर से पुराणों का प्रामाण्य उड़ाने के लिये शास्त्रोक्त प्रमाण तथा युक्तियों को छोड़ कर हुज्ज़तबाजी का भी आश्रय लिया जाया करता है, और 'डूबते को तिनके का सहारा' वाली लोकोक्ति के अनुसार इसी 'टांय टांय' के बल पर वे कुछ और देर तक किसी तरह सिसिकते रहना चाहा करते हैं।

प्रायः कह दिया करते हैं कि— "वेदादि शास्त्रों में 'पुराण' शब्द आजाने से वर्तमान अठारह पुराण थोड़े ही सिद्ध हो सकते हैं ? यहां तो पुराण शब्द का अर्थ— 'पुराण-विद्या' है यदि सामर्थ्य है तो वेदों में— 'ब्रह्म-पद्म-विष्णु-आदि— नाम दिखादो। जिससे हम अनुमान कर सकें कि वास्तव में, वेदादि ग्रन्थों में वर्तमान पुराणों का उल्लेख है, इत्यादि····· " ——यह है वह हुज्जत जिसके बल पर पुराणों को उड़ाने की कुचेष्टा की जाया करती है। यदि इन बुद्धि के हिमालयों से कोई पूछे

कि— वह पुराण विद्या किस ग्रन्थ में वर्णित है ? कुरान में या बाईबिल में ? बस ! जिस ग्रन्थ में यह पुराण विद्या वर्णित है उसे ही हम 'आदिम-पुराण' के नाम से पुकारते हैं, और उसी के संक्षिप्त रूप से वर्तमान अठारह पुराणों का संकलन मानते हैं। रहा अष्टादश-पुराणों के नाम वेद में दिखाने का प्रश्न—सो सूत्र ग्रंथों तक में तो निर्विवाद 'भविष्यत् पुराणादि' का स्पष्ट नाम लिखा मिलता है, यह बात मि० एफ० ई० पार्जिटर आदि पाश्चात्य पंडितों ने भी एक स्वर से स्वीकार की है,— निःसन्देह सूत्र काल वैदिक काल का अत्यन्त निकट-वर्ती है। इतने पर भी यदि वेदों में ही पुराणों के नाम देखने का चाव है तो हम दयानन्द जी की वेदोक्त 'तार विद्या की तरह वेदों में भी अठारहों पुराणों के नाम दिखा सकते हैं और पण्डित मण्डल में आज जितना दयानन्द प्रदर्शित रेल तार बिजली आदि की वैदिकता का मूल्य है उससे भी अधिक हमारे चुने अष्टादश पुराणों के नामों का हो सकता है लीजिये—आप की रीति ! आप की नीति !! और आप की ही तर्कप्रणाली !!! फिर वेदों में अठारह पुराणों के नामों का अभाव कैसा ?

वेदों में अष्टादश पुराणों के नाम

ब्रह्म-पुराण

(क) ब्रह्म जज्ञानं प्रथमम्।

(यजुः १३। ३)

(ख) ते निचिक्युर्ब्रह्म पुराणमग्र्यम्।

(बृहदारण्यक ६। ३। १८)

अर्थात्—प्रथम पुराण का नाम ब्रह्म है, और उस अग्र्य पुराण को वे ऋषि लोग जानते हुवे।

पद्म-पुराण

अजस्य नाभावधि एकमर्पितं यस्मिन् विश्वा भुवनानि तस्थुः।

(ऋग्वेद १०। ८२। ६)

अर्थात्—अजन्मा विष्णु भगवान् की नाभि में एक अण्ड रूप पद्म था जिस में समस्त भुवनों की स्थिति थी। (सायण ने यहां अण्डका उल्लेख किया है और पुराणों में इसी अण्डका पद्म रूप से वर्णन किया है)

विष्णु-पुराण

स (प्रजापतिः) यजुर्भ्योऽधिविष्णुं (असृजत)

(तैत्तिरीय २ । ३ । २ । ४)

अर्थात्— प्रजापति परमात्मा ने यजुर्वेद मूलक विष्णु-पुराण को बनाया (यहां सर्जन रूप क्रिया के योग से ' विष्णु शब्द का अर्थ ग्रन्थ विशेष ही युक्ति युक्त है)

अग्नि-पुराण

अग्निर्मे वाचि श्रितः ।

(तैत्तिरीय ३ । १० । ८ । ४)

अर्थ— अग्नि पुराण मेरी जिह्वा पर स्थित है, यानी कण्ठाग्र है ।

दयानन्दी शैली से यहां अग्नि शब्द का अर्थ भौतिक अग्नि नहीं होसकता क्यों कि वह किसी की जिह्वा पर थोड़े ही ठहर सकता है, दूसरे निराकार की जिह्वा भी नहीं हो सकती, अतः यहां अग्नि शब्द का अर्थ अग्नि पुराण ही होसकता है । क्यों कि जिह्वा पर ग्रन्थ विशेष की स्थिति ही सम्भव है ।

भविष्य-पुराण

भविष्यत्प्रति चाहरत् ।

(तैत्तिरीय ३ । १२ । ६ । ३)

अर्थ—भविष्यत् पुराण (सृष्टि का) प्रत्याहरण करता हुवा । यानी भविष्यत् पुराण में उत्तर कालीन वर्णनों से सृष्टि के इतिहास का उपसंहार किया गया है ।

गरुड-पुराण

तार्क्ष्यो वै पश्यतो राजत्याह तस्य वचाꣳसि विशः पुराणं वेद ।

(शतपथ १३ । ४ । ३ । १३)

अर्थात्—पक्षियों का राजा गरुड है, और पक्षि ही उसकी प्रजा है, वह पुराण का ज्ञाता है ।

कूर्म्म-पुराण

स यत्कूर्म्मो नाम । एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत ।

(शतपथ- १० । ५ । १ । ५)

अर्थात्— जो कूर्म्म नामक पुराण है, वह कूर्म्म रूपी परमात्मा द्वारा बनाई हुई सृष्टि का प्रतिपादक है।

मत्स्य-पुराण

तस्य (मनोः) अवनेनिजातस्य मत्स्यः पाणी आपेदे।

(शतपथ १। ८। १। १-२)

अर्थात्— मनु जी के अवनेजन करते हुवे एक मत्स्य अंजलि में आगया। (इसी मत्स्यावतार का कथन किया हुवा पुराण मत्स्य पुराण है)

वाराह-पुराण

वराहेण पृथिवी संविदाना।

(अथर्व १२। १। ४८)

अर्थात्— वराह ने पृथ्वी को प्रबुद्ध किया (उक्त संवाद को ही वाराह पुराण कहते हैं)।

वामन-पुराण

इदं विष्णु र्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।
समूढमस्य पाꣳसुरे।

(ऋग्वेद १। २२। १७)

अर्थात्— वामनावतारधारी विष्णु ने इस ब्रह्माण्ड को तीन चरणों में आक्रान्त कर पद धरे हैं। और यह सब लोक उसके धूल धूसर पांव में अन्तर्हित होगया, (इसी चरित्र का विस्तार ' वामन-पुराण ' में किया गया है)

ब्रह्माण्ड-पुराण

य आण्डकोशे भुवनं बिभर्ति।

(तैत्तिरीय ३। १२)

अर्थात्— जो प्रजापति ब्रह्माण्ड में स्थित होकर भुवन की रक्षा करता है (उसी की महिमा का द्योतक 'ब्रह्माण्ड पुराण' है)।

इसी प्रकार अन्यान्य पुराणों के भी साक्षात् नामों को या तत्तत्प्रतिपादित विशेष वृत्तान्तों को वेदों में से निकाला जा सकता है। हम उपर्य्युक्त प्रमाणों के सम्बन्ध में स्वयं कुछ न कहते हुवे विज्ञ पाठकों से ही पूछना चाहते हैं कि दयानन्दी समाज की

अनुचित मांग का इससे बढ़कर और क्या उत्तर होसकता है ?। जिस समाज का प्रवर्तक किसी पादरी के यह पूछने पर कि वेदों में 'तोप' का जिक्र नहीं मिलता, तो झट से 'दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा·····यथेन्द्रशत्रुः स्वर 'तोप' राधात्' पढ़कर— कानों को फाड़ देने वाला दुष्ट शब्द जिसका होता है, ऐसी भयङ्कर तोप से राजा को अपने शत्रु मार डालने चाहियें— ऐसा अर्थ कर सकता है, तथा अध्यात्म ज्ञान के भण्डार वेदों में तार तोप टाम बिजली का तुच्छतर भौतिक विधान निकालने के लिये समस्त ऋषि मुनियों एवं वेद भाष्यकारों को अंगूठा दिखा सकता है— उसे और उसके समाज को— उनकी ही आविष्कृत अर्थ शैली से मूक कर देना ऐन इन्साफ़ है।

आशा है विज्ञ पाठक हमारे भाव को समझ कर उपर्य्युक्त प्रमाणों का मनन करेंगे।

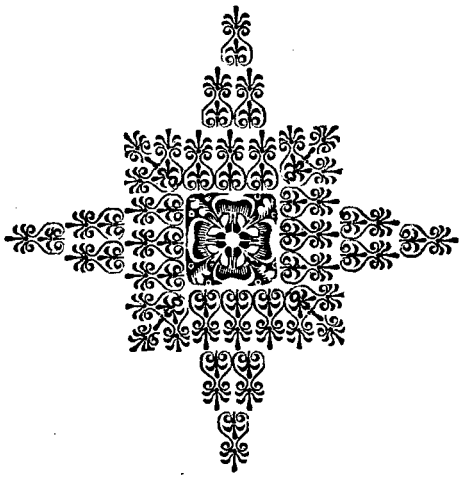

कर्तृ-निर्णयाध्यायः।

(पांचवां अध्याय)

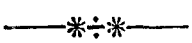

'अष्टादशपुराणानां, कर्ता सत्यवती सुतः।'
निरस्य सर्वानाक्षेपा, नित्येतदिह साध्यते॥

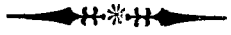

यद्यपि विगत अध्यायों में युक्ति प्रमाण पुरस्सरं यह सिद्ध किया जा चुका है कि पुराणों के वक्ता, मन्त्रद्रष्टा ऋषि लोग हैं और उन्हें गुरु परम्परा से प्राप्त करने वाले वही प्राचीन-तम वेदाध्ययन परायण मुनिजन हैं, तथा इनको इस प्रकार ग्रन्थ रूप में निबद्ध करने वाला भी-वेद संहिताओं का संकलयिता पूज्य कृष्ण द्वैपायन ही है। इस तरह वक्तृत्व, श्रोतृत्व और कर्तृत्व सामान्यता के कारण 'पुराण ग्रन्थ भी वेदों के बाद-प्रमाण कोटि में सन्निविष्ट हैं, परन्तु कुछ लोग- 'यथा तथा पुराणेषु छिद्रान्वेषणम्' की कुप्रवृत्ति से प्रेरित होकर वर्तमान पुराणों के व्यासकर्तृत्व पर भी मनमाने आक्षेप किया करते हैं, इस लिये इस अध्याय में ऐसे ही आक्षेपों के समाधान करने का प्रयत्न किया जाता है।

पं० ज्वालाप्राद जी मिश्र, वेदव्याख्याता पं० भीमसेन शर्म्मा तथा श्री कालूराम जी शास्त्री आदि महानुभावों ने अपने लेखों में ऐसे आक्षेपों पर पर्य्याप्त विचार किया है, उनकी विद्यमानता में हमें अधिक कुछ लिखने की आवश्यकता न थी, तथापि पुराण सम्बन्धी समस्त विचारों से परिपूर्ण इस ग्रंथ में- 'कर्तृत्वविषय' पर सर्वथा मौनावलम्बन करना भी पाठकों को अवश्य खटकता एतदर्थ 'द्विर्वद्धं सुवद्धम्' न्याय के अनुसार कतिपय पंक्तियें लिखी जाती हैं।

आक्षेप और उनका समाधान.

(१) वर्तमान पुराणों में बुद्ध का वर्णन आता है, बुद्धजी लगभग ६०० वर्ष विक्रम पूर्व हुवे हैं, और व्यास जी महाभारत कालीन व्यक्ति हैं, जिसे पांच हज़ार वर्ष से अधिक समय होचुका है, अतः व्यासकृत पुराणों में अपने से परवर्ती व्यक्ति का वर्णन नहीं आसकता अवश्य ही ये पुराण बुद्ध के बाद के बने हैं यह स्पष्ट है।

(१) इस आक्षेप में पुराणों को नवीन सिद्ध करने के लिये व्यास और बुद्ध के समयों का अन्तर कारण रक्खा गया है। परन्तु वास्तव में यह हेतु कोरा हेत्वाभास है क्योंकि-वेद=पुराण आदि ग्रंथ केवल भूतकाल की घटनाओं के प्रतिपादक नहीं हैं। अपितु—

'भूतंभव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति ।

(मनुः १२ । ९७)

अर्थात्— भूत भविष्यत् वर्तमान— सब कुछ वेद से सिद्ध है—— इस मनूक्ति के अनुसार तीनों काल का वर्णन करने वाले हैं। जिस प्रकार अनादि वेदों में- यास्क आदि वेदाचार्य्यों के निर्णयानुसार— वशिष्ठ, विश्वामित्र, त्रित, शुनःशेप आदि उत्तर-कालीन व्यक्तियों का उल्लेख सुव्यवस्थित है इसी प्रकार त्रिकालदर्शी वेदव्यास जी के बनाए हुवे पुराणों में भी भविष्यरूपेण बुद्धभगवान् का चरित्र वर्णित है। यही क्यों— पुराणों में तो अब से आगे होने वाले कल्कि अवतार का भी विस्तृत वर्णन विद्यमान है, क्या इससे यह मान लिया जाय कि पुराणों का निर्माण अभी तक हुवा ही नहीं ?

वस्तुतः मूल पुराणों का पाठ करने पर ही यह बात सिद्ध होजाती है कि पुराणों का संकलन बुद्ध भगवान् से पूर्व होचुका था क्यों कि बुद्ध के चरित्र में प्रायः सर्वत्र भविष्यत् काल की क्रियाओं का प्रयोग दीख पड़ता है यथाः—

(क) बुद्धोनाम्नाऽजनसुतः कीकटेषु भविष्यति ।

(श्रीमद्भागवत १ । ३ । २४)

(ख) मायामोहोऽयमखिलांस्तान्दैत्यान्मोहयिष्यति ॥

(पद्म० सृष्टि १३ । ३४९)

इत्यादि प्रमाणों में 'भविष्यति' 'मोहयिष्यति' आदि क्रियाएं ही इस बात का सबसे बड़ा प्रमाणों है कि पुराण का निर्माण बुद्ध जी से पूर्व हो चुका था।

यदि कोई आशङ्का करे कि व्यास जी ने अपने से सहस्रों वर्ष परवर्ती बुद्ध का चरित्र कैसे जान लिया ? सो इसका उत्तर यह है कि—

वेदव्यास जी योगी थे— इस बात से तो कोई भी पठित पुरुष इन्कार नहीं कर सकता, क्योंकि आर्य्य साहित्य में जहां भी व्यास जी का वर्णन आया है वहीं आप को परम तपस्वी तपोधन एवं योगाभ्यासनिरत कहा गया है महाभारत में व्यास जी को " इन्द्रियातीत ज्ञान सम्पन्न " कहा है यथा—

प्रोवाचातीन्द्रियज्ञानो विधिना संप्रचोदितः ।

(आदिपर्व अध्याय १०५ । ८)

अर्थात्— त्रिकालज्ञ व्यास जी ने ईश्वर प्रेरित होकर (माता सत्यवती से धृतराष्ट्र का अंध होना, पाण्डु का विवर्ण होना जन्म से पूर्व ही) कहा था जब "व्यास जी योगी थे" यह सिद्ध हो जाता है तो योगी जन भूत भविष्यत् वर्तमान कालत्रय के ज्ञाता होते हैं, तथा वे लोकान्तर गमन परकाय प्रवेश सूर्य्य चन्द्रादि में प्रवेश कर सकते हैं, यह स्वयं स्वामी दयानन्द जी ने अपने यजुर्वेद भाष्य में स्वीकार किया है यथाः—

" (भाषार्थ-) जब मनुष्य अपने आत्मा के साथ परमात्मा के योग को प्राप्त होता है तब अणिमादि सिद्धि उत्पन्न होती हैं उसके पीछे कहीं से न रुकने वाली गति से अभीष्ट स्थानों को जासकता है अन्यथा नहीं । (यजुः १७ । ६७)

हमें यहां दयानन्द के शब्दों में अणिमादि आठ सिद्धियों का वर्णन इस लिये करना पड़ा कि इस प्रकार के चमत्कारों को आर्य्यसमाज के अतिरिक्त शेष सभी आस्तिक सम्प्रदाय तो मानते ही हैं, केवल यही एक दल है जो 'चार्वाक' की भांति प्रत्यक्ष का ही समर्थन करता है अतः हमारे इस उद्धरण से उसे भी योगसिद्धि का विश्वासी होना पड़ेगा ।

इस प्रकार त्रिकालज्ञ योगिराज व्यास जी ने भविष्यवर्ती श्री बुद्ध भगवान् का वर्णन किया है यही निश्चित है ।

(२) 'तौजुक जहांगीरी' नामक किताब में लिखा है कि आलू, तम्बाकू और गोभी— ये तीनों चोज़ें जहांगीर बादशाह के पिता— यानी अकबर- के जमाने में एक अमेरिकन पादरी अपने देश से लाया था— अकबर का राज काल विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के पूर्व भाग में माना जाता है परन्तु पद्म पुराण और ब्रह्माण्ड पुराण में तम्बाकू का वर्णन मिलता है। यथा—

(क) तमालं भक्षितं येन स गच्छेन्नरकार्णवे ।

(ब्रह्माण्ड)

(ख) धूम्रपानरतं विप्रं दानं कुर्वन्ति ये नराः ।
दातारो नरकं यान्ति ब्राह्मणो ग्रामसूकरः ॥

(पद्म-पुराण)

—इस लिये उपर्युक्त दोनों पुराण अकबर के बाद बने हैं, व्यासोक्त नहीं ।

(२) इस आक्षेप का मूल पुराणों में 'तमाल' और 'धूम्रपान' इन दो शब्दों का आजाना है, प्रथमतो- महाशय लेखराम, म० चिम्मनलाल और उनके पिछलगुवे किसी भी समाजी ने उक्त दोनों श्लोकों का पूरा पता नहीं लिखा, हमारे यथासाध्य खोज करने पर भी उक्त पुराणों में इन श्लोकों का कहीं पता नहीं मिल सका, तब तो हमने इन स्वयम्भू लिक्खाड़ों को कई बार ललकारा कि उक्त श्लोकों का पता बताइये, जिस से इन पर पूरा २ विचार किया जासके— परन्तु आज तक किसी भी महाशय ने अपनी मुखमुद्रा भंग करने की हिम्मत न की अतः जब तक कोई दयानन्दी इनका पूरा २ पता नहीं बता सकता, तब तक इनके आधार पर प्रश्न करना ही महामूर्खता है, क्योंकि सभ्य संसार इस बात से खूब परिचित है कि जिस समाज का— 'महर्षि' कहा जाने वाला प्रवर्तक भी—यजुर्वेद के नाम पर—

(क) मनुष्या ऋषयश्च ये ततो मनुष्या अजायन्त ।

(सत्यार्थ प्रकाश पृ० २३७)

—मनुस्मृति के नाम पर—

(ख) विविधानि च रत्नानि विविक्तेषूपपादयेत् ।

(स० प्र० पृ० १४०)

—और श्रीमद्भागवत के नाम पर—

(ग) जगाम गोकुलं प्रति ।

(स० प्र० पृ० ३६०)

इत्यादि अपने बनाए झूठे प्रमाण घड़ कर संसार को धोखा दे सकता है, तब उस समाज के अनुयायियों से सत्यासत्यनिर्णय की कहां तक आशा की जा सकती है ? तथापि हम 'दुर्जनतोष' न्याय से उक्त श्लोकों का अस्तित्व स्वीकार करने पर इन पण्डितपुङ्गवों को बता देना चाहते हैं कि— तमाल और धूम्रपान का वर्णन तो मुसलमान बादशाहों से निर्विवाद सहस्रों वर्ष पूर्व बनने वाले ग्रन्थों में भी कई जगह आता है यथाः—

(क) कालस्कन्धस्तमालः स्यात्तापिच्छः । ।

(अमरकोशः २ । ४ । ६८)

(ख) तमालपत्रं तापिच्छे तिलके पत्रकेऽपिच ।

(विश्वकोशः)

(ग) तमालस्तिलके खड्गे तापिच्छे वरुणद्रुमे ।

(मेदिनीकोशः)

अमरकोशकार— श्री अमरसिंह जी विक्रम के नवरत्नों में अन्यतम थे यह सर्व विदित बात है, विश्व और मेदिनी कोश भी अकबर से बहुत प्राचीन समय के बने हुवे माने जाते हैं, क्योंकि भोज के समकालीन मल्लीनाथ ने अपनी बनाई रघुवंश आदि ग्रन्थों की टीकाओं में उक्त कोशों के प्रमाण उद्धृत किये हैं ।

(क) वैरेचनं मुखेनैव कासवान् धूम्रमापिवेत् ।

(चरक, चिकित्सास्थानाध्याय २२)

(ख) धूमं तस्यानु च क्षीरं सुखोष्णं सगुडं पिवेत् ।

(चरक चिकि० २२)

(ग) कृत्वा वर्तिं पिवेद्धूमम् ।

(चरक चिकि० २२)

आयुर्वेद में चरक संहिता सब से प्राचीन ग्रन्थ है, इसके निर्माता महर्षि चरक मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के समकक्ष माने जाते हैं ।

क्या अब भी कोई सज्जन— 'तमाल' और 'धूम्रपान' शब्द के आजाने से अकबर के जमाने का मिथ्यास्वप्न देखेगा ?

असल बात यह है कि उपर्युक्त आक्षेप का जन्मदाता लेखराम, संस्कृत भाषा का 'काला अक्षर-भैंस बराबर' समझता था इसी लिये उसे इन मिथ्या श्लोकों के आधार पर मनमानी लिखते लाज न आई ! भला कोई पूछे कि 'तमाल' शब्द का अर्थ तमाखू कहां लिखा है ? और 'धूम्रपान' शब्द का अर्थ तम्बाकू गुटकना ही किस प्रकार बन सकता है ? हम आयुर्वेद के प्रसिद्ध संग्रह 'योगरत्नाकर' ग्रन्थ से तमाखू के नाम नीचे दर्ज करते हैं जिनमें तमाखू का पर्य्याय तमाल कहीं भी नहीं लिखा । यथाः—

धूमाख्यो धूमवृक्षश्च बृहत्पत्रश्च धूसरः ।
तमाखू र्गुच्छफलको धूमयन्त्रप्रकाशकः ॥
बहुबीजो बहुफलः सूक्ष्मबीजस्तु दीर्घकः ।

(योगरत्नाकर पृष्ठ १४)

यहां— तमाखू के धूम आदि ग्यारह नाम लिखे हैं इनमें तमाल नाम का उल्लेख ही नहीं। इसके अतिरिक्त हमारे पूर्वोद्धृत किये हुवे कोश प्रमाणों के अनुसार भी तमाल शब्द के अर्थ— आबनूस का वृक्ष, पत्रज, मस्तक पर लगे चन्दन की रेखा, तलवार और गेंडा नामक पशु आदि होते हैं। अन्यत्र भी किसी पुस्तक में तमाल का अर्थ तमाखू नहीं लिखा, इस लिये यदि पुराणों में तमाल शब्द का हजार बार भी प्रयोग निकल आए तो इसे तमाखू समझ बैठना और फिर उससे अकबर के जमाने वाली बेपर की उड़ाना–चण्डू खाने की गप्प ही होसकती है।

एक बात और भी प्रष्टव्य है, प्रतिवादी के पहिले श्लोक में 'तमालं भक्षितं येन' ऐसा उल्लेख है, 'भक्षितं' का अर्थ— 'किसी वस्तु को दांतों से कुचल कर निगल जाना' होता है। परन्तु तम्बाकू को भक्षण नहीं किया जाता बल्कि चबाया, सूंघा और पीया जाता है, संस्कृत में इन तीनों भावों को प्रकट करने के लिये— 'चर्बितं'– 'घ्रातं'– और 'पीतम्' ऐसा लिखा जाता है। ऐसी दशा में तमाल को तमाखू समझना और उसका भक्षण मानना निरी मूर्खता है, क्योंकि तमाखू के खेत में उसे भक्षण करने के लिये तो गर्दभादि पशु भी प्रवेश नहीं करते, अर्थात्— पशु भी उसके भक्षण में असमर्थ हैं। फिर मनुष्य के साथ भक्षणात्मक क्रिया का समन्वय बैठाना कहां तक सम्भव हो सकता है ?।

प्रतिवादी ने जिस 'तौजुक जहांगीरी' नामक किताब के आधार पर आक्षेप घड़ा है वह पुस्तक बहुत प्रयत्न करने पर भी हमें नहीं मिल सकी, इस लिये हम नहीं कह सकते कि उसमें अमेरिकन पादरी द्वारा भारत में तमाखू आने का उल्लेख किस रूप में दर्ज़ है, अकबर के जमाने में निःसन्देह आज की भांति जहाजों का निरन्तर गमनागमन नहीं होता था तथा पतवार और पंखे वाली नौकाएं अटलांटिक महासागर को लांघ कर प्रतिदिन अमेरिका आती जाती हों यह भी सुसम्भव नहीं जंचता। यदि सचमुच कोई पादरी उस समय आया था तो उसे यह क्या विदित था कि भारत में तम्बाकू पैदा नहीं होता ! और कदाचित् उसे विदित भी हो तो वह इतने लम्बे कष्ट साध्य मार्ग में तम्बाकू की पौद को किस तरह सुरक्षित रख सका– यह भी एक विचारणीय समस्या है। क्योंकि प्रायःतम्बाकू की पौद ही खेतों में लगाई जाती है। हमें तो ऐसा जान पड़ता है कि यदि वह अवश्य ही तम्बाकू लाया था, तो निःसन्देह कुटाकुटाया पीने योग्य तम्बाकू– बतौर तोफा या भेंट के लाया होगा ! आज भी दूसरे देश के राजाओं की भेंट में ऐसे तोफे अक्सर दिये जाते हैं।

अच्छा मान लीजिये कि ज़रूर ही अमेरिकन पादरी के आने से पूर्व भारत में तमाखू नहीं होता था, और यह भी मान लीजिये कि अब भी नहीं होता, तथा पुराणों

में अवश्यमेव तम्बाकू खण्डन विद्यमान है— यह भी स्वीकार कर लीजिये ! लेकिन उक्त कारणावली से पुराणों की नवीनता कैसे सिद्ध होजाएगी ? क्यों कि— पुराण केवल भारतवर्ष भर की सीमा के अभ्यन्तरवर्ती पदार्थों का ही वर्णन करते हैं यह कहता कौन है ? पुराणों में तो इस पृथ्वी के मुट्ठीभर पदार्थों के अतिरिक्त स्वर्गादि लोकों के पदार्थों का भी विस्तृत वर्णन है। जिन पुराणों में इन्द्र लोक में होने वाले 'कल्पवृक्ष' का वर्णन विद्यमान हो यदि उन्हीं पुराणों में इसी भूमि के एक कोने में पैदा हुवे अमेरिकन तमाखू का नाम आगया तो क्या आश्चर्य्य होगया ? वेद व्यास जी योगी थे यह हम पूर्व सिद्ध कर चुके हैं, योगी लोग समस्त ब्रह्माण्ड का ज्ञान रखते हैं यह योगशास्त्र में लिखा है यथा—

भुवनज्ञानं सूर्य्ये संयमात् ।

(योगदर्शन विभूतिपाद २६)

अर्थात्— [समाजी- प्रो० राजारामकृत भाषार्थ] (भुवनज्ञानं) भुवन का ज्ञान (सूर्य्ये) सूर्य्य में (संयमात्) संयम से 'होता है' भाष्य— सूर्य्य के प्रकाश में साक्षात्कार करने से योगी को सारे मण्डलों (भुवनों कुर्रों) का यथावत् ज्ञान होता है।

सो यदि वेद व्यास जी ने योग शक्ति से अमेरिकास्थित पुरुषों के इस दुर्व्यसन को जान कर, और भविष्य में भारत में भी दयानन्द जी जैसे संन्यासी नामधारियों तक की इस इल्लत में फस जाने की सम्भावना से सर्वसाधारण ,को सावधान कर दिया हो तो इस में विस्मय जनक क्या बात हुई ?

प्रतिवादी के शब्दों में 'धूम्रपान' आदि श्लोक में हुक्का पीने वाले ब्राह्मण को दान देने की मनाही की गई है, और उस ब्राह्मण को निन्दित बताया गया है— हम, पूछते हैं कि यह उपदेश भला है या बुरा ? हमारे विचार में तो यदि समाजी पुराण के इस अकेले श्लोक का प्रचार करते तो देश का अर्बों रुपया स्वाहा होने से बच जाता ! और करोड़ों भारतीयों की 'खुल खुल' का खात्मा होजाता ! ! आयुर्वेद स्वयं इस दुर्व्यसन को हानिप्रद बताता है तथा प्रत्यक्ष में भी तम्बाकूनोशी से कई प्रकार की हार्दिक बीमारियों का लगाव होना देखा जाता है, यथा—

तस्यैव धूमपानं तु विशेषाद्धृदि शुक्रहृत् ।

(योगरत्नाकर पृष्ठ १४)

अर्थात्— तमाखू का धुंवा पीने से विशेषतया हृदय का ह्रास होजाता है, (आज कल हार्टफेल (Heart Failure) रोग की वृद्धि इसी से होरही है)

इस लिये व्यास जी की हितकर शिक्षा को आधुनिक बताना तम्बाकू पीने वालों की पीठ ठोंक कर उन्हें इस दुर्व्यसन में प्रवृत्त करना है, वेद स्मृति में तो स्पष्टतया

इसका निषेध नहीं मिलता, और पुराण के निषेध को आधुनिक बता कर उड़ाने की चेष्टा की जाती है, ऐसी दशा में, इस तपैदिक की भांति उपेक्षितप्रायः- किन्तु भयङ्कर-व्यसन को किस आधार पर हटाया जासकता है ?।

प्रतिवादी को एक बात और भी स्मरण रखनी चाहिये थी कि स्वामी दयानन्द जी ने सत्यार्थ प्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास के आरम्भ में ही पृष्ठ २६४ पर लिखा है कि—

"महाराजा युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ और महाभारत के युद्ध-पर्य्यन्त यहां के राज्याधीन सब राज्य थे। सुनो! चीन का भगदत्त अमेरिका का बब्रुवाहन यूरोप देश का विडालाक्ष अर्थात् मार्जार के सदृश आंख वाले यवन जिसको यूनान कह आए हैं और ईरान का शल्य आदि सब राजा राजसूय यज्ञ और महाभारत युद्ध में आज्ञानुसार आये थे"

जब राजसूय यज्ञ में अमेरिका का राजा सम्मिलित हुवा था तो क्या उसने व्यास जी के दर्शन करके अपने देश के हालात नहीं बताए होंगे ? सम्भव है वह स्वयं भी तम्बाकू पीता हो ! व्यास जी ने इसे बुरी इल्लत जान कर पुराण बनाते समय उसकी निन्दा की हो ! फिर आप तो अमेरिका की राजकन्या से अर्जुन का विवाह मानते हैं, तब तो अर्जुन की बारात में स्वयं व्यास जी ही अमेरिका गये हों, या और बारातियों ने अमेरिका से लौट कर वहां के धूम्रपान का जिक्र किया हो ! यह बहुत सुसम्भव है, इस प्रकार प्रत्येक दृष्टि कोण से व्यास जी का तमाखू खण्डन करना युक्तियुक्त ठहर सकता है। इतने पर भी यदि प्रतिवादी अपने आक्षेप के हेत्वाभास को सन्मान पूर्वक वापिस न लेना चाहेगा तो उसे दयानन्दी वेदों को भी कल के बने मानना पड़ेगा, क्यों कि महाशय जी की तर्क को नीचे लिखे शब्दों में भी बदला जा सकता है यथाः—

'तारबर्की' नामक किताब में लिखा है कि टेलीग्राफी का आविष्कार मि० एडिसन साहिब ने विक्टोरिया के ज़माने में किया है, और दयानन्द के भाष्यानुसार वेदों में तार विद्या का उल्लेख विद्यमान है, इस लिये निश्चित हुआ कि समाजियों के वेद विक्टोरिया के बाद बने हैं—' (दयानन्द जी ने तार बनाने की वैदिक विधि का ज़िक्र इस प्रकार किया है—

युवं पेदवे पुरुवारमश्विना,
स्पृधां श्वेतं तरुतारं दुवस्यथ।
(ऋग्वेद अ० १ अ० ८ व० २१ मं० १०)

इस मन्त्र से तार विद्या का मूल जाना जाता है पृथ्वी से उत्पन्न धातु तथा काष्ठादि के यन्त्र और विद्युत् अर्थात् बिजुली इन दोनों के प्रयोगसे तारविद्या सिद्ध होती है। ... (तरुतारम्) जो इस प्रकार का ताराख्य यन्त्र है उसे सिद्ध करके प्रीति से सेवन करो)

(ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पृ० २१०)

जिस प्रकार 'तारबर्की' किताब के उल्लेख से और दयानन्द के मनघड़न्त भाष्य से वेदों का अनादित्व दूर नही होसकता इसी प्रकार 'तौजुक जहांगीरी' पुस्तक की चन्द सतरों से और उन्हें वेद वाक्य मानकर आक्षेप घड़ने वाले लेखराम से भी पुराणों का व्यासकर्तृत्व नहीं हटाया जा सकता।

(३) वैष्णव मत के चलाने वाले रामानुज का प्रादुर्भाव विक्रम की १२ वीं शताब्दी में हुवा है, इसी के मत के लोग शंख चक्र की छाप तपा कर कन्धों को फूंकते हैं, परन्तु लिङ्ग पुराण में शंखचक्रों का खण्डन किया है यथा—

शङ्खचक्रे तापयित्वा यस्य देहः प्रदह्यते।
स जीवन् कुणपस्त्याज्यः सर्वकर्म्म बहिष्कृतः।

इससे निश्चित हुवा लिङ्ग-पुराण व्यासकृत नहीं बल्कि १२ वीं शताब्दी के बाद का बना हुवा है।

(३) इस आक्षेप का मूलभूत जो श्लोक है प्रतिवादी ने उसका भी पता नहीं दिया, इस लिये यहां भी अवश्य दाल में कुछ काला है। यदि उक्त पुराण में अथवा पुराणान्तर में किसी सम्प्रदाय विशेष की निन्दा के प्रतिपादक ऐसे कुछ श्लोक निकल भी आएं तो वे अवश्य ही प्रक्षिप्त हैं, क्योंकि पुराण तो वैष्णव, शैव, शाक्त, सौर और गाणपत्य आदि पांचों सम्प्रदायों की अधिकारी भेद से वैज्ञानिक व्यवस्था बैठाते हैं उन में किसी सम्प्रदाय की निन्दा का क्या प्रयोजन? अतएव पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र आदि समालोचकों ने हस्तलिखित प्रतियों में न होने के कारण उक्त श्लोक को प्रक्षिप्त माना है यही इसका उत्तर है।

कदाचित् प्रतिवादी इस समाधान को पर्य्याप्त न समझे और इसे मूल पुराण का पाठ कहने के लिये ही आग्रह बांध बैठे तब भी इस के अस्तित्व से पुराणों के व्यासकर्तृत्व में कोई बाधा नहीं पहुंच सकती क्योंकि शास्त्र की दृष्टि में सभी सम्प्रदाय वेदोक्त एवं अनादि हैं आद्य शङ्कराचार्य्य, श्री रामानुजाचार्य्य आदि महानुभाव किसी अभिनव सम्प्रदाय के प्रवर्तक नहीं हुवे बल्कि वेदोक्त किन्तु- समय चक्र की वक्रगति से विलुप्तप्रायः तत्तत्सम्प्रदायों के पुनरुद्धारक ही हुवे हैं।

जिस शङ्ख चक्र विधान को स्वामी रामानुज जी से सम्बद्ध कहा जारहा है उसके 'पवित्रं ते विततम्' (ऋग्वेद ९ । ८३ । १–२) आदि प्रमाणों वेदादि अनादि ग्रन्थों द्वारा 'वैष्णवधर्म्मरत्नाकर' आदि पुस्तकों में वेदमूलक सिद्ध किया गया है । ऐसी दशा में वेदव्यास जी ने उसी अनादि सिद्ध शङ्ख चक्र विधान को लक्ष्य करके शैव दीक्षा दीक्षित अधिकारियों के लिये उसका निषेध किया है । यह भी सुसम्भव है ।

यदि प्रतिवादी लिङ्ग पुराणोक्त शङ्ख चक्रों के खण्डन को, तथा पद्म पुराणोक्त शङ्ख चक्रों के विधान को— पेश करके परस्पर विरुद्धता का आक्षेप करना चाहेगा, और इससे इन दोनों पुराणों को व्यास जी के बजाय किन्हीं भिन्न कर्ताओं की कृति बताने का यत्न करेगा तो— वेदों पर भी यही आक्षेप लागू होजायगा, क्योंकि वेदों में एक स्थान में जिस वस्तु का विधान किया है अन्यत्र उसी का निषेध भी देखने में आता है यथा—

(क) जर्तिलयवाग्वा वा जुहुयाद्गवीधुकयवाग्वा वा ।

(तैत्तिरीय ५४ । ३ । २)

(ख) अनाहुतिर्वै जर्तिलाश्च गवीधुकाश्च ।

(तैत्तिरीय ५ । ४ । ३)

अर्थात्— (क) जर्तिल यवागू से अथवा गवीधुक यवागू से हवन करना चाहिये । (ख) जर्तिल और गवीधुक हवन योग्य नहीं हैं ।

यहां पहिले प्रमाण में जंगली तिल, माण्डमार भात, और चौलाई को हवन के योग्य बताया गया है, और दूसरे प्रमाण में इन्हीं पदार्थों को हवन के अयोग्य कहा गया है ।

तात्पर्य्य यह कि शास्त्रों के इस प्रकार के परस्पर विरुद्ध जँचने वाले विधान अधिकारी भेद से सुव्यवस्थित होते हैं जैसे–अमुक यज्ञ में अमुक फल की इच्छा रखने वाले अधिकारी को जर्तिलादि का हवन करना चाहिये, और अमुक यज्ञ में अमुक फलाभिलाषी यजमान को न करना चाहिये । इसी प्रकार पद्म और लिङ्ग आदि पुराणों के परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले विधानों की समस्या है, पद्म–पुराण— वैष्णव सम्प्रदाय में दीक्षित होने वाले पुरुष के लिये शङ्ख चक्र धारण की विधि बताता है और लिङ्ग–पुराण— शैव सम्प्रदायी पुरुष के लिये उनकी अनावश्यकता प्रकट करता है।

लोक में भी एक पुलिस मैन के लिये जिस प्रकार की वर्दी (UNIFORM) में रहना नितान्त आवश्यक है सर्वसाधारण के लिये वैसी वेषभूषा धारण करना अपराध समझा जाता है एक वृद्ध पुरुष अपने स्वस्थ पुत्र को— अमृत बता कर घी

खाने के लिये प्रेरित करता है, और वही उस बीमार पुत्र के लिये विष बता कर घी न खाने का आदेश करता है। इत्यादि अनेक दृष्टान्तों के अनुसार परस्पर विरोधाभासों को अधिकारी भेद से सुव्यवस्थित किया जासकता है, इसी प्रकार 'शङ्खचक्रे तापयित्वा' आदि पुराण वचन का भी अभिप्राय समझना चाहिये।

इतने पर भी यदि प्रतिवादी को सन्तोष न होगा तो हमें उसी की कुतर्क के आधार पर वेदों की नवीनता सिद्ध होजाने वाली विप्रतिपत्ति भी प्रकट करनी होगी यथा—

"स्वा० दयानन्द विक्रम की उन्नीसवीं सदी में हुवे हैं आपने ही अपने सम्प्रदाय में दीक्षित होने वाले मनुष्यों के लिये नियोग का विधान बताया है, परन्तु वेदों में नियोग का खण्डन विद्यमान है, अतः निश्चित हुवा कि, वेद उन्नीसवीं सदी के बाद के बने हैं, वेद में— नियोग खण्डन यथाः—

(क) न शेषो अग्ने ! अन्यजातमस्ति।

(ऋग्वेद ५।२।६।७)

(ख) न— अन्योदर्य्यो मनसा मन्तवाउ॥

(ऋग्वेद ५।२।६।८)

अर्थात्— (क) दूसरे के क्षेत्र में अथवा दूसरे के वीर्य्य से उत्पन्न होने वाला बालक अपत्य नहीं होसकता (ख) दूसरे के उदर से उत्पन्न हुवे को कभी भी अपना न समझना चाहिये।"

वास्तव में उपर्य्युक्त हेत्वाभास से न वेदों का अनादित्व खण्डित किया जा सकता है, और नाहीं 'शङ्खचक्रे' आदि श्लोक की उपलब्धि से पुराणों का व्यासकर्तृत्व दूर होसकता है।

(४) लगभग २२०० वर्ष हुवे जब कि शङ्कराचार्य्य ने मायावाद का प्रचार किया था, परन्तु पद्मपुराण में मायावाद का खण्डन विद्यमान है यथा—

मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमुच्यते।
मयैव कथितं देवि कलौ ब्राह्मणरूपिणा॥

(पद्म उत्तर अ० २६३)

इस लिये पद्मपुराण व्यासोक्त नहीं बल्कि शङ्कराचार्य्य के बाद का बना हुवा है।

(४) प्रतिवादी को मानो आक्षेप करने के लिये किसी पुराण का कोई मूल श्लोक मिलता ही नहीं!, इसी लिये वह प्रक्षिप्त श्लोकों के आधार पर आक्षेप की इमारत खड़ी करना चाहता है, पद्मपुराण के जिस 'मायावादम्' आदि श्लोक को

ऊपर के आक्षेप में प्रमाण रूप से उपस्थित किया गया है वह भी वस्तुतः प्रक्षिप्त है, पं० कालूराम शास्त्री आदि ने इसको प्रक्षिप्त ही सिद्ध किया है। कदाचित् महाशय जी इसे मूल मानने का आग्रह करें तब भी पूर्व लिखित व्यवस्था के अनुसार त्रिकाल-दर्शी वेद व्यास जी के लिये अपने से परवर्ती श्री शंकराचार्य्य जी का मायावाद जान लेना कुछ आश्चर्य्य की बात नहीं है ? इसके अतिरिक्त हम पूर्व कह चुके हैं कि उक्त आचार्य्यों ने किसी नवीन मत का प्रचार नहीं किया बल्कि वेदोक्त-किन्तु-कालक्रम से विलुप्त-सिद्धान्त का ही पुनरुद्धारमात्र किया है, यदि मायावाद की वैदिकता जाननी हो तो नीचे लिखे प्रमाणों का मनन कीजिये—

(क) इन्द्रोमायाभिः पुरुरूप ईयते।

(ऋग्वेद ६। ४७। १८)

(ख) अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः
सृजमानां स्वरूपाः।

(श्वेताश्वतर ४। ५)

(ग) मायाभिरिन्द्रमायिनम्।

(ऋग्वेद अ० १ अ० १ व० २१)

इस तरह यदि अनादि वेदोक्त मायावाद को अथवा शंकराचार्य्य जी के प्रचरित मायावाद को लक्ष्य करके वेद व्यास जी ने दो शब्द कह डाले तो इसमें अनर्थ कौनसा होगया ?

माया के असत् होने में अनेक प्रमाण विद्यमान हैं। और मायाजन्य प्रत्यक्ष पदार्थों को सद् मानना ही प्रच्छन्न बौद्धता है, सो 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' प्रतिपादक शास्त्र के निर्माता भगवान् शङ्कर हैं, यही इस पद्य का आशय है।

इस लिये उक्त श्लोक को प्रक्षिप्त वा अप्रक्षिप्त कुछ भी मान लेने पर उभयथा पुराणों के व्यासकर्तृत्व में कुछ भी बाधा नहीं पहुँच सकती !

(५) महाभारत (शान्तिपर्व, अध्याय २३२ वा २३३) से विदित होता है कि व्यास पुत्र शुकदेव जी परीक्षित के जन्म से भी पूर्व मर चुके थे फिर महाभारत युद्ध से ९६ वर्ष बाद परीक्षित को शुकदेव का भागवत सुनाना कैसे सम्भव हो सकता है ? परन्तु वर्तमान भागवत पुराण में ऐसा उल्लेख है अतः परस्पर विरुद्ध दो बातों के आजाने से महाभारत का निर्माता व्यास उक्त पुराण का लेखक नहीं हो सकता।

(५) प्रतिवादी ने महाभारत के जिन अध्यायों के प्रमाण से श्री शुकदेव जी के लिये 'मर चुके थे' लिखने की धृष्टता की है वास्तव में इन अध्यायों में शुकदेव जी का

सदेह ब्रह्मभूत हो जाना लिखा है। बात यह है कि जब योगी पारमहंस्य दशा में आजाया करता है तो उसका पांच भौतिक शरीर भी दिव्य गुणों से सम्पन्न होजाया करता है, फिर वह जहां चाहे, जिस लोक में चाहे, सदेह जासका करता है, सूर्य्य चन्द्र ध्रुव आदि दूरवर्ती लोकों में वह अव्याहत गति हो जाता है, परकायप्रवेश, अनेक रूप बना लेना, बुढ़ापे और मौत को निकट न आने देना, इत्यादि सिद्धियें स्वभावतः उसके चरणों में आगिरती हैं, योग दर्शन के विभूति पाद में उक्त समस्त सिद्धियों का कार्य्य कारण पूर्वक विशद विवेचन किया है, परन्तु प्रत्यक्षवादी दयानन्दियों को वेदों से भी बढ़ कर 'दादावाक्यं' प्रमाण है, एतदर्थ हम दयानन्द जी के शब्दों में ही इस रहस्य का निरूपण करना आवश्यक समझते हैं। दयानन्दीय यजुर्वेद भाष्य में लिखा है कि:—

(क) हे मनुष्यो! जैसे किये हुवे योग के अनुष्ठान समय सिद्ध अर्थात् धारणा ध्यान और समाधि में परिपूर्ण में पृथिवी के बीच आकाश को उठजाऊं, वा आकाश से प्रकाशमान सूर्य्य लोक को चढ़जाऊं, वा सुख कराने हारे प्रकाशमान उस सूर्य्य लोक के समीप से अत्यन्त सुख और ज्ञान के प्रकाश को मैं प्राप्त होऊं वैसा तुम भी आचरण करो।

(यजुर्वेद भाष्य १७। ६७)

(ख) जब मनुष्य अपने आत्मा के साथ परमात्मा के योग को प्राप्त होता है तब अणिमादि सिद्धि उत्पन्न होती हैं उसके पीछे कहीं से न रुकने वाली गति से अभीष्ट स्थानों को जासकता है, अन्यथा नहीं।

(यजुर्वेदभाष्य [भावार्थ] १७। ६७)

(ग) जो अच्छे पण्डित योगी जन योगाभ्यास के पूर्ण नियम करते हुवों के समान अत्यन्त सुख की अपेक्षा करते हैं वा आकाश और पृथिवी को चढ़जाते हैं अर्थात् लोकान्तरों में इच्छापूर्वक चले जाते हैं।

(यजुर्वेद भाष्य १७। ६८)

(घ) जो योगी पुरुष तपः, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान आदि योग के साधनों से योग (धारणा ध्यान समाधि रूप संयम) के बल

को प्राप्त हो और अनेक प्राणियों के शरीरों में प्रवेश करके अनेक शिर नेत्र आदि अङ्गों से देखने आदि कार्य्यों को कर सकता है। अनेक पदार्थों वा धनों का स्वामी भी हो सकता है उसका हम लोगों को अवश्य सेवन करना चाहिये।

(यजुर्वेद भाष्य [भावार्थ] १७। ७१)

(ङ) पृथ्व्याप्यतेजोऽनिलखे समुत्थे।
पंचात्मके योगगुणे प्रवृत्ते॥
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः।
प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्॥

(श्वेताश्वतर २। १२)

अर्थात्— [दयानन्द शिष्य- पं० भीमसेनशर्म्माकृतभाष्य] अपने शरीरस्थ पृथिवी अप् तेज वायु और आकाश रूप पञ्च तत्वों के निकृष्ट मलिनांश का नाश होने पर शुद्धांश की प्रबलता वा उन्नति होने से इस प्रकार दिव्य गन्धादि विषयों में प्रकृष्ट साक्षात् प्रवृत्ति होने पर अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा सूक्ष्म व्यवहित और अति दूर के शब्दादि विषयों का साक्षात् बोध होने की शक्ति प्रकट होने पर पंच तत्व की शुद्धि द्वारा योगाग्नि रूप शरीर को प्राप्त हुवे योगी पुरुष को न रोग, न निर्बलता, न मृत्यु सताता है। (भावार्थ— योगी का शरीर सहस्र वर्ष ठहरने वाला अविनाशी हो जाता है)।

(श्वेताश्वतर भाष्य २। १२)

इस प्रकार आदिम चार प्रमाण स्वयं दयानन्द जी के भाष्य से उद्धृत किये हैं, तथा अन्तिम प्रमाण उपनिषद् और उसके भाष्य से उतारा है, यह उपनिषद् भाष्य पं० भीमसेन जी ने उस समय रचा था जब कि आप दयानन्द शिष्य होने में अपना गौरव समझते थे अत एव भाष्य के आवरण पृष्ठ पर ही आपने अपने नाम के साथ 'दयानन्द शिष्य' ऐसा लिखा है। उक्त प्रमाणों की विद्यमानता में कोई भी समाजी योगसिद्धियों के चमत्कारों में 'असंभव' 'नामुमकिन' का अड़ङ्गा नहीं लगा सकता। सो महाभारत में भी शुकदेव जी महाराज का सदेह लोकान्तरचारी हो जाना ही लिखा है। यथाः—

शुकस्तु मारुतादूर्ध्वं गतिं कृत्वान्तरिक्षगाम् ।
दर्शयित्वा प्रभावं स्वं ब्रह्मभूतोभवत्तदा ॥

(महाभारत, शान्ति, २३३)

अर्थात्—शुकदेव जी वायु से भी ऊंची, अन्तरिक्ष में चल सकने वाली गति को बनाकर अपना प्रभाव दिखाते हुवे 'ब्रह्मभाव' को प्राप्त होगये।

वेद-जिन योगि जनों को ब्रह्मत्व प्राप्त कर लेने पर 'अविद्ययामृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते' 'अमृतास्ते भवन्ति' आदि वाक्यों द्वारा अमर सिद्ध करता है महाशय जी उसी 'योग-प्रभाव-जनित लोकान्तर-गमन सिद्धि को 'मरना' कह रहे हैं।

यदि प्रतिवादी श्रीमद्भागवत पुराणवर्णित शुकदेव जी के आगमन को एक बार भी अपनी आंखों देख लेते तो इस प्रकार का अविवेक पूर्ण आक्षेप करने को उद्यत न होते।

जिस समय महाराजा परीक्षित प्रायोपवेशन व्रत धारण किये गङ्गा तट पर बैठे थे उस समय श्री शुकदेव जी आये उनका कैसा स्वरूप था सो निम्नलिखित श्लोकों में वर्णन किया गया है। यथाः—

तत्राभवद्भगवान्व्यासपुत्रो,
यदृच्छया गामटमानोऽनपेक्ष्यः।
अलक्ष्यलिङ्गो निजलाभतुष्टो,
वृतस्त्रिवालैरवधूतवेषः।
तं द्व्यष्टवर्षं सुकुमारपाद-
करोरुबाहूंसकपोलगात्रम्।

(श्री० भा० १।१९।२५-२६)

अर्थात्—इसी अवसर में निष्काम विचरते हुवे, अलक्षित शरीर वाले आत्मसन्तुष्ट, अवधूत वेषधारी व्यास पुत्र शुकदेवजी आये जो सोलह वर्ष के बालक विदित होते थे उनके चरण, कर, उरु, भुजा, सुकोमल कपोल एवं सब अंग परम मनोहर थे।

शुकदेवजी को देखकर सब ऋषिमुनि अपने २ आसनों से उठे तथा राजा ने शुकदेव जी का पूजन करके कहा कि मालूम होता है कि श्री कृष्ण भगवान् ही मुझ पर प्रसन्न होगये हैं क्योंकि—

अन्यथा तेऽव्यक्तगतेर्दर्शनं नः कथं नृणाम्।

(भा० १।१९।३६)

अर्थात्— यदि ऐसा न होता तो जिनकी गति (चलना फिरना) अव्यक्त (प्रत्यक्ष नहीं) उन आप जैसे मुक्त पुरुष का दर्शन हम मनुष्यों को क्योंकर होसकता है।

उपर्य्युक्त श्लोकों में 'अलक्ष्यलिङ्गः' और 'अव्यक्तगतेः' आदि विशेषणों से शुकदेव जी को पांचभौतिक शरीर धारी मनुष्यों से विलक्षण, दिव्यदेहसम्पन्न कहा है, योगी लोग स्वेच्छा से मुमुक्षु जनों के हितार्थ दर्शन दिया करते हैं, वे संकल्पमात्र से जिस लोक में जिस रूप में जब जाना चाहें जासकते हैं।

इस लिये दिव्यगुणोपेत, परमयोगी, शुकदेवजी का स्वेच्छा से लोकान्तरचारी होने के कारण राजा परीक्षित के प्रति श्री भागवत पुराण सुनाना सुसंभव है और इस तरह– महाभारत तथा भागवत लिखित वर्णनों की एकवाक्यता होने से दोनों ही ग्रन्थ श्री व्यास जी के बनाये हुवे सिद्ध हैं।

(६) सब विद्वान् मानते हैं कि अठारह पुराण महाभारत के बाद बनाए गये हैं क्योंकि पुराणों में तो महाभारत का नाम आता है परन्तु महाभारत में पुराणों का नाम नहीं आता, इस लिये महाभारत का निर्माता पुराणों का कर्ता सिद्ध नहीं होता।

(६) प्रतिवादी का यह आक्षेप बड़ा ही विचित्र है, ऐसा जान पड़ता है कि मानो महाशय जी ने महाभारत को कभी आंख से भी नहीं देखा, यदि ऐसा न होता तो वह कभी यह कहने का साहस न करता कि महाभारत में पुराणों का नाम नहीं आता, यदि पाठक महाशय जी की उक्ति की सत्यता देखना चाहते हैं तो इसी ग्रन्थ में प्रमाणाध्यायनिर्दिष्ट महाभारत की प्रमाणावलि का एक बार फिर अवलोकन करें– कम से कम दर्जनों ऐसे प्रमाण वहां अङ्कित हैं कि जिनमें बार २ पुराणों का नाम आता है, इसके अतिरिक्त महाभारत में पुराणों की अष्टादश संख्या का उल्लेख एवं ब्राह्म आदि पुराणों का संकेत भी स्पष्टतया मिलता है यथाः—

(क) अष्टादशपुराणानां श्रवणाद्यत्फलं लभेत्।
तत्फलं समवाप्नोति वैष्णवो नात्र संशयः॥

(महाभारत स्वर्गारोहणाध्याय ६)

(ख) ब्राह्मं हिमार्गमाक्रम्य वर्तितव्यं बुभूषता।

(महाभारत अनुशासन १४३। ५५)

यहां पहिले पद्य में पुराणों की संख्या अठारह कही गई है और दूसरे पद्य में उक्त कई अध्यायों को उपलब्ध ब्रह्म पुराण से ज्यों के त्यों उद्धृत करके उनको 'ब्राह्म मार्ग' के नाम से स्मरण किया है।

यदि हम 'दुर्जनतोष' न्याय से क्षण मात्र के लिये यह मान भी लें, कि 'महाभारत में पुराणों का नाम नहीं आता और अवश्य ही वे अठारह के अठारह ग्रंथ महाभारत के पश्चात् निर्मित हुवे हैं' तब भी 'पुराण अर्वाचीन हैं' और व्यास कृत नहीं है' यह कैसे सिद्ध होजाएगा ? क्योंकि प्रतिवादी के हेतु से केवल यही बोध होता है कि अनेक ग्रन्थों के कर्ता ने अमुक ग्रन्थ प्रथम रचा और अमुक उसके पश्चात्, जैसे दयानन्द ने 'सत्यार्थप्रकाश' प्रथम रचा और 'संस्कारविधि' उसके पश्चात्' परन्तु दोनों का कर्ता तो एक ही रहा न ? तथा कुछ दिन या कुछ वर्षों के पूर्वापर से एक ही कर्ता के रचे हुवे दो ग्रंथ–एक प्राचीन और दूसरा नवीन कैसे समझा जा सकता है यह भी हमारी समझ में नहीं आता ?

इस लिये प्रतिवादी का यह हेत्वाभास निरर्थक है जैसे पुराणों में महाभारत का नाम आता है इसी प्रकार महाभारत में भी पुराणों का नाम आता है, और श्री वेद व्यास जो ने अव्यवहित एक ही समय में सर्व प्रथम वेद संहिताओं का 'फिर ब्राह्म आदि सत्रह पुराणों का तत्पश्चात् महाभारत का और सब से पीछे भागवत पुराण का संकलन किया है यह बात देवी भागवत की नीलकण्ठी टीका में लिखी है परन्तु विषय व्यवस्था के अनुसार वेदों को चार, पुराणों को अठारह, और इतिहास को एक—ग्रंथ रूप में निबद्ध करने का विचार संकलन से पूर्व ही व्यास जी के हृदय में उद्बुद्ध हो चुका था यह स्वाभाविक है।

(७) देवी भागवत में लिखा है कि आर्य्यावर्त के एक राजा का पुत्र म्लेच्छ वेश्या पर आसक्त होगया– इससे साफ है कि—जब मुसलमान नहीं आये थे तब भारत में मुसलमानी रण्डियां भी नहीं थीं– जब रण्डियां न थीं, तब उनपर कोई आसक्त भी कैसे हो सकता था– इस लिये देवी भागवत पुराण भारत में–मुसलमानों के आजाने के बाद बना है, व्यासकृत नहीं।

(७) इस आक्षेप का मूल केवल–देवी भागवत में 'म्लेच्छ' शब्द का प्रयोग है और प्रतिवादी ने म्लेच्छ शब्द का अर्थ समझा है मुहम्मद मतानुयायी मुसलमान ! हमें महाशय जी की संस्कृत योग्यता पर दया आती है जिस व्यक्ति को शब्दार्थ का भी बोध न हो दयानन्दी समाज में उसे भी चतुर्वेद ज्ञाता ब्रह्मा समझा जा सकता है ! यदि म्लेच्छ शब्द के आजाने से पुराण व्यासोक्त नहीं हैं बल्कि आधुनिक हैं, तो इसी तर्क के आधार पर वेद भी कल के बने अवश्य सिद्ध होजांयगे। क्योंकि वेद में भी म्लेच्छ शब्द कई स्थानों में आता है यथाः—

(क) तस्मान्न ब्राह्मणो म्लेच्छेदसुर्य्या ह्येषावाक्।

(शतपथ ३।२।१।२४)

(ख) म्लेच्छो हवा यदपशब्दः ।

(पातञ्जल महाभाष्य १ । १)

अर्थात्— (क) इस लिये ब्राह्मण को अस्पष्ट उच्चारण नहीं करना चाहिये क्योंकि अशुद्ध बोलना असुरों की वाणी है।

(ख) अपशब्द= अशुद्ध उच्चारण को म्लेच्छ कहते हैं।

उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि म्लेच्छ शब्द का अर्थ मुसलमान नहीं बल्कि असंस्कृत शब्दों का उच्चारण करने वाला व्यक्ति है, फिर चाहे वह किसी देश किसी जाति या किसी भी सम्प्रदाय का क्यों न हो।

महाशय जी को विदित होना चाहिये कि संस्कृत भाषा में प्रत्येक शब्द का किसी न किसी धातु (Root) से सम्बन्ध अवश्य होता है अर्थात्–सभी शब्द किसी न किसी धातु से ही निष्पन्न हुवे होते हैं, सो म्लेच्छ शब्द भी 'म्लेच्छ अव्यक्ते शब्दे' धातु से बना है, जिसका अर्थ है अस्पष्ट उच्चारण=अशुद्ध बोलना= गल्त तलफ्फुज़ या (Wrong Pronunciation)। महाभाष्यकार व्याकरण के पढ़ने का प्रयोजन बतलाते हुवे आरम्भ में ही लिखते हैं कि:—

ते असुरा हेलयो हेलय इतिवदन्तः पराबभूवुः । तस्माद् ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै म्लेच्छो ह वा यदपशब्दः म्लेच्छा माभूमेत्यध्येयं व्याकरणम् ।

(महाभाष्य १ । १)

अर्थात्— वे असुर हैलोहैलो (Halo Halo) ऐसा कहते हुवे पराजित हो गये। इस लिये ब्राह्मण को कभी अस्पष्ट नहीं बोलना चाहिये, और नाहीं अशुद्ध शब्दों का उच्चारण करना चाहिये। अस्पष्ट और अशुद्ध उच्चारण ही म्लेच्छ है, हम म्लेच्छ न हों एतदर्थ व्याकरण को पढ़ना चाहिये।

इस लिये वेदादि की भांति देवी भागवत पुराण में भी म्लेच्छ शब्द का अर्थ अशुद्धभाषी है और इसमें ऐसी ही किसी शूद्रप्राय जाति की वेश्या के ऊपर किसी राजकुमार की आसक्ति का उल्लेख है, इससे उक्त पुराण के व्यासकर्तृत्व पर कुछ भी आक्षेप नहीं होसकता !

(८) नारद जी व्याकुल होकर बदरिकाश्रम में गये, वहां विष्णु भगवान् तप कर रहे थे, उन्होंने नारद जी से सब वृत्तान्त पूछा, उत्तर में नारद जी ने कहा कि–म्लेच्छों ने शिवजी का मन्दिर तोड़ डाला है महादेव जी ज्ञानवापी में कुंवे में कूद पडे,— इत्यादि, सब विद्वान् जानते हैं कि ऐसा अत्याचार औरंगजेब के जमाने में हुवा था,

इस घटना को बीते दोसौ वर्ष के लगभग हुवे हैं परन्तु श्रीमद्भागवतमें इसका उल्लेख है, अतः यह पुराण व्यासोक्त नहीं बल्कि दोसौ वर्ष इधर का बना है।

(८) प्रतिवादी ने श्रीमद्भागवत के नाम से जो प्रसङ्ग घड़ा है उसका कुछ भी पता नहीं दिया हमने भागवत पुराण का एक २ अक्षर छान डाला परन्तु उपर्य्युक्त प्रसंग का कहीं भी जिक्र तक नहीं मिला जान पड़ता है महाशय जी की सात पीढ़ी ने भी कभी श्रीमद्भागवत पुराण के दर्शन तक नहीं किये, स्वामी दयानन्द ने भी सत्यार्थ प्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास में भागवत के नाम पर— (क) हिरण्याक्षका चटाई के समान पृथ्वी लपेट कर शिरहाने धर सोना (ख) हिरण्यकशिपु का लोहस्तम्भ तपा कर प्रह्लाद को उससे चिपटने के लिये कहना और नारायण का उस पर चिउटियों की पंक्ति चलाना इत्यादि अनेक सफेद झूठ बातें लिखमारी हैं– यही हाल अनुयायियों का है। हम चेलैएज करते हैं कि यदि प्रतिवादी श्रीमद्भागवत के किसी भी स्कन्ध में उक्त घटना का उल्लेख दिखादे तो वह मनुष्य समझा जायेगा! वास्तव में यह वृत्तान्त कहीं भी नहीं लिखा। इस लिये ऐसे मिथ्या आक्षेप का इससे अधिक और क्या उत्तर दिया जा सकता है।

(९) 'पुराण–तत्व–प्रकाश' के लेखक म० चिम्मनलाल बाणिये ने यही आक्षेप पद्म पुराण के नाम पर इस प्रकार लिखा है— "नारद जी व्याकुल' अवस्था में सनकादिकों को मिले तब उन्होंने इस मलीनता होने का कारण पूछा तो उन्होंने कहा कि मैं पुष्कर, प्रयाग, काशी, गोदावरी के किनारे हरिक्षेत्र, कुरुक्षेत्र, श्रीरंग, सेतुबन्ध तथा और तीर्थों में इधर उधर घूमता हुवा आया हूँ परन्तु कहीं भी मन के सन्तोष का करने वाला कल्याण नहीं देखा, सम्पूर्ण आश्रम, तीर्थ, नदियां, कुण्ड और देवताओं के स्थान मुसलमानों से भर गये हैं और अनेक स्थानों को दुष्टों ने गिरा दिया है। जैसा कि:—

आश्रमा यवनैरुद्धा स्तीर्थानि सरितो ह्रदाः।
देवतायतनान्यत्र दुष्टैरुच्छेदितानि च॥

(पद्म उत्तर खण्डपृष्ठ १९३। ३५)

प्रिय पण्डित जी! इतिहासों के देखने से विदित होता है कि यह दशा भारत में महमूद गजनवी से लेकर औरङ्गजेब के समय तक होती रही इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि पद्म पुराण सम्बत् १०१४ और १७२६ के बीच में बनाया गया।"

(९) प्रतिवादी ने यहां जो प्रसङ्ग लिखा है वह सब सोलह आने ठीक है, वास्तव में पद्म पुराण में यह वृत्तान्त यों का यों दर्ज है,परन्तु इस समस्त प्रसङ्गको मुसलमान

कालीन बतानेके लिये जिस 'यवन' शब्दकी शरण लीगई है वह सर्वथा अनुचित है किसी भी कोश में, किसी भी ग्रन्थ में- यवन शब्द का अर्थ मुहम्मदमतानुयायी मुसलमान नहीं लिखा है, हम मुहम्मद साहिब के जन्म से भी हजारों वर्ष पूर्व बनने वाले आर्ष ग्रन्थों में 'यवन' शब्द का प्रयोग देखते हैं और यवन कहे जाने वाले लोगों का विशेष परिचय पाते हैं, यथाः—

'यवनालिलिप्याम्' (यवनानां लिपिः यवनानी)

(कात्यायनवार्तिकपाठ १०५)

यहां कात्यायन ऋषि ने यवन शब्द से लिपिवाची 'यवनानी' शब्द की सिद्धि की है, महाभारत में भी युधिष्ठिर के राज्याभिषेक के समय यवन देश के राजाओं का आना लिखा है यथाः—

प्राग्ज्योतिषाधिपः शूरो म्लेच्छानामधिपो बली ।
यवनैः सहितो राजा भगदत्तो महारथः ॥

(महाभारत सभापर्व ५१ । ३-२६)

अर्थात्—प्राग्ज्योतिष (Assam) देश का अधिपति, शूरबीर म्लेच्छराज महारथी भगदत्त भी यवनों सहित [राज्याभिषेक में] सम्मिलित हुवा ।

महाभारत के संग्राम में भी यवन लोग आये थे और श्री कृष्ण जी के साथ कालयवन का युद्ध तो सर्वविदित बात है । इसी प्रकार कवि कालीदास ने भी महाराजा रघु की दिग्विजय का वर्णन करते हुवे नीचे लिखा श्लोक दिया है ।

यवनीमुखपद्मानां सेहे मधुमदं न सः ।

(रघुवंश, ४ । ६१)

अर्थात्—उस रघु ने यवन देश की स्त्रियों के मुख पद्मों से उठने वाली शराब की गन्ध को सहन नहीं किया । यानी- विलासी यवनों को परास्त कर दिया ।

और तो और हमारे लाल बुझक्कड़लाल जी ने अपने दादागुरु दयानन्द के वृथापुष्ट किन्तु थोथे पोथे सत्यार्थप्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास को भी बांच डालने का कष्ट नहीं किया— दयानन्द जी ने भी तो वहां साफ लिखा है कि—

"यवन जिसको यूनान कह आये, और इरान का शल्य आदि सब राजा राजसूय यज्ञ और महाभारत के युद्ध में आज्ञानुसार आये थे।"

इत्यादि अनेक प्रमाणों से जाना जाता है यवन शब्द का अर्थ मुहम्मदमतानुयायी मुसलमान नहीं बल्कि प्रसिद्ध यूनान देशवासी है, जैसे भारतवर्षनिवासी

पुरुषों को सदा से 'भारतीय' कहते हैं इसी भांति भारत सन्निकटवर्ती यूनान देश के निवासियों को 'यवन' कहा जाता है। प्राचीन इतिहास इस बात का साक्षी है कि यद्यपि कल तक भारतीय सम्राटों का ही सर्वाधिपत्य रहा है, तथापि बीच २ में अन्यान्य देशवासियों ने भी भारत पर आक्रमण करने में कोरकसर बाकी न रक्खी थी। भगवती दुर्गा का योरुपीन विड़ालाक्ष के साथ घोर घमसाण युद्ध हुवा था यह प्रायः सबको विदित है। त्रेतायुग में लवणासुर ने मथुरा पर हमला किया था, जिसके दमन के लिये भगवान् रामचन्द्र जी ने शत्रुघ्न को भेजा था, सत्ययुगमें कई बार दानव, दैत्य, नाग आदि जातियों का प्रभुत्व हो चुका है, इसी प्रकार काल यवन ने भी अपने जीवन में भारतीय नरेशों को पर्य्याप्त तंग किया था। सो पद्म पुराण में भी पूर्वकालीन यवन उत्पातों को लक्ष्य करके ही 'आश्रमा यवनै रुद्धाः' आदि प्रसङ्ग वर्णित हुवा है, इसमें सन्देह करने का कारण ही क्या है! व्यास जी के समय से पूर्व भी यवन लोग विद्यमान थे यह महाभारत के प्रमाणों से सिद्ध होता है, ऐसी दशा में पद्म पुराण के इस प्रसङ्ग में 'यवन' शब्द का अर्थ यूनान देशवासी न करके 'मुसलमान' कहना अत्यन्त अनुचित है। व्यास जी के समय में यूनान ईरान आदि देशों में धर्म्म विप्लव मचा हुवा था इस बात का पता पारसियों की धर्म्म पुस्तक 'शातीर' से भी चलता है, उस में लिखा है कि ईरान देश के राजा 'गस्तासप' ने एक भारी शास्त्रार्थ का आयोजन किया था, जिसमें विदेशियों की तरफ से-जरदश्त और भारत की तरफ से व्यास जी वादी प्रतिवादी थे, अन्त में व्यास जी ही इस शास्त्रार्थ में विजयी हुवे थे, जिसका पता उक्त पुस्तक की नीचे लिखी पंक्तियों से चलता है यथाः—

अकनु बिरहमने व्यास नाम अज़ हिन्द आमद बस दाना कि अकल चुना नेस्त।

(शातीर आयत १६२)

अर्थात्—व्यास नाम का एक ब्राह्मण हिन्दु स्थान से आया जो ऐसा दाना और बज़ुर्ग था कि अकल में उसके बराबर दूसरा कोई नहीं हो सकता।

इन सब कारणों से यह स्पष्ट है कि पद्म पुराणमें 'यवन' शब्द के उल्लेख से और उनके प्रभुत्व वर्णनसे उक्त पुराण के व्यासकर्तृत्व पर कुछ भी आक्षेप नहीं आसकता।

(१०) व्यास जी के बनाये हुवे वेदान्त सूत्र, मीमांसा की व्याख्या, और योग्य भाष्य आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं-उक्त ग्रन्थों में धर्म्म का जो विशुद्ध रूप वर्णित किया है वह भी सब को विदित है परन्तु पुराणों में उक्त ग्रन्थों के सर्वथा विपरीत, बातें दर्ज़ हैं

इस लिये वेदान्त दर्शन जैसे विज्ञान पूर्ण ग्रन्थों का निर्माता व्यास पुराणों जैसी लचर कृति का कर्ता नहीं हो सकता।

(१०) प्रतिवादी ने इस आक्षेप में व्यास जी के बनाए हुवे वेदान्त सूत्र आदि ग्रन्थों, और पुराणों में परस्पर विरुद्धता का उल्लेख किया है, और इसी कारण के आधार पर पुराणों का व्यासकृत न होना बताया है, परन्तु वेदान्तसूत्रादि के किस सिद्धान्तके प्रतिकूल किस पुराणमें क्या लिखा है–यह दिखाने का साहस नहीं किया, आर्ष पद्धति के अनुसार हेतु और दृष्टान्तों के बिना प्रतिज्ञामात्र करने से कोई सिद्धान्त स्थिर नहीं हो सकता। यों तो हम भी कह सकते हैं कि आर्य्य समाज के समस्त ग्रन्थ वेदों के सर्वथा विपरीत हैं, हमारा एतावन्मात्र कहना समाज को पर्य्याप्त होगा, इस लिये जब तक कोई समाजी व्यास जी के रचे हुवे वेदान्तसूत्रादि ग्रन्थों के साथ पुराणों के किसी सिद्धान्त पर तुलनात्मक विचार करके उसे उनके प्रतिकूल सिद्ध न करदे तब तक इस प्रकार के आक्षेप का मूल्य कानी कौड़ी भी नहीं ठहर सकता ?

यद्यपि उपर्युक्त आक्षेप के उत्तर में जो कुछ कहा गया है वह पर्य्याप्त से भी अधिक है तथापि हम सामान्यतया यह बता देना चाहते हैं कि वेदान्तसूत्रादि ग्रन्थों में और पुराणों में नीचे लिखे सिद्धान्त प्रायः समान रूप से वर्णित हैं– यथाः—

(१) उत्तरायण और दक्षिणायन मार्ग, तथा याम्य गति।

(२) याज्ञिक प्रक्रिया का फल।

(३) विग्रहवती देवताओं की लोकोत्तर शक्ति।

(४) ब्रह्माण्ड की स्थिति और तदन्तर्गत लोकों की कल्पना।

(५) 'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्' (१। २५) सूत्र के, योगभाष्य में ईश्वरावतारों का उल्लेख।

(६) विभूति पाद के योग भाष्य में अनेक सिद्धियों का वर्णन।

(७) 'यथाभिमतध्यानाद्वा' (समाधि ३९) के भाष्य में प्रतीकोपासना की आवश्यकता।

कहां तक लिखें पुराणवर्णित किसी भी सिद्धान्त को ले लीजिये वेदान्तसूत्रादि में उसी का समर्थन मिल जायेगा।

सैद्धान्तिक समता का तो ज़िक्र ही क्या है, कई स्थलों में तो आक्षरिक समता का भी पर्य्याप्त मेल पाया जाता है– हम योग भाष्य और श्रीमद्भागवत के कतिपय प्रमाण यहां उद्धृत करते हैं जिन से उक्त दोनों ग्रन्थों की आक्षरिक समता का परिचय मिल सकता है।

योगदर्शन विभूतिपाद २६ का भाष्य।

१—सप्तद्वीपा वसुमती।

३। २६।

२—यस्याः सुमेरुर्मध्ये पर्वतराजकांचनः।

३। २६।

३—महानरकभूमयः ··· महाकालांबरीष रौरवमहारौरवकालसूत्रान्धतामिश्राः। यत्र स्वकर्म्मोपार्जितदुःखवेदना-प्राणिनः ··· जायन्ते।

३। २६।

४—ततो महातलरसातलातलसुतलवितल तलातलपातालाख्यानि सप्तपातालानि।

३। २६

५—दक्षिणपार्श्वे चास्य जम्बूःयतोऽयं जम्बूद्वीपः। तस्य नीलश्वेतश्रृंगवन्त उदीचीनास्त्रयः पर्वताः। तदन्तरेषु त्रीणि वर्षाणि रमणकं हिरण्मय उत्तराः कुरवः। निषधहेमकूटहिमशैला दक्षिणतः··· तदन्तरेषु त्रीणि वर्षाणि···हरिवर्षं किंपुरुषं भारतम्। सुमेरोः प्राचीनाः भद्राश्वो माल्यवत्सीमानः। प्रतिचीनाः केतुमालागंधमादनसीमानः। मध्ये वर्षमिलावृतम्।

३। २६।

श्रीमद्भागवतपंचमस्कन्ध

१—सप्तद्वीपविशेषविकल्पः···।

५। १६। २।

२—नाभ्यामवस्थितः सर्वतः सौवर्णः कुलगिरिराजो मेरुः।

५। १६। ७।

३—तामिस्रोऽन्धतामिस्रो रौरवो महारौरवः कुम्भीपाकः कालसूत्र ··· नरका विविधयातनाभूमयः।

५। २६। ७।

४—सप्तभूविवराः ····· अतलं वितलं सुतलं तलातलं महातलं रसातलं पातालमिति।

५। २४। ७।

५—योवायं द्वीपः ··· यस्मिन्नव वर्षाणि··· एषां मध्य इलावृतं ··· उत्तरोत्तरेणेलावृत नीलः श्वेतः श्रृंगवर्तिनस्त्रयो रम्यक हिरण्मय कुरूणां वर्षाणां मर्य्यादा गिरयः ··· एवं दक्षिणेनेलावृतं निषधो हेमकूटो हिमालय···। हरिवर्ष किंपुरुष भारतानां यथासंख्यम् ··· पूर्वेण च माल्यवद् गंधमादनौ ··· केतुमालभद्राश्वयोः सीमानं विदधाते।

५। १६। ५-१०।

अर्थ—यह पृथ्वी सातद्वीपों वाली हैं। जिसके बीच में पर्वतों का राजा सुवर्ण की खानों वाला सुमेरु पर्वत= यूराल पहाड़ (Ural Mt.) है। महाकाल, अंबरीष, रौरव महारौरव कालसूत्र अंधतामिस्र आदि नरक हैं जिनमें अपने कर्म्मों का दुःख भोगने वाले प्राणी रहते हैं। महातल आदि सात पाताल हैं। जम्बूद्वीप (यूरेशिया)

के उत्तर में नील श्वेत और शृंगवान् (काला सफेद और हिन्दुकुश) नाम तीन पर्वत हैं उनकी लम्बाइयों के नीचे तीन देश रमणक हिरण्मय और उत्तर कुरु हैं। दक्षिण में निषध हेमकूट, और हिमशैल (चम्बल नदी के ऊपर का पहाड़ घाघरा नदी से पूर्व का पहाड़, और घाघरा सतलज के बीच का पहाड़) हैं, उनकी लम्बाइयों के नीचे हरिवर्ष, किंपुरुष और भारतवर्ष यह तीन देश हैं। सुमेरु की पूर्व दिशा में माल्यवान् पर्वत की सीमा वाला भद्राश्व वर्ष (मंगोलिया आदि देश (Mongolia) और सुमेरु की पश्चिम दिशा में गन्ध मादन पर्वत की सीमा वाला केतुमाल वर्ष (अर्ब आदि देश हैं) जम्बू द्वीप के मध्य में इलावृत (साइबेरिया Siberia) देश है।

इत्यादि उदाहरणों से स्पष्ट है कि योग सूत्रादि ग्रन्थों के निर्म्माता व्यास जी ही अष्टादश पुराणों के बनाने वाले हैं। अन्यथा उक्त दोनों ग्रन्थों की रचना में ऐसी समता का होना सर्वथा असम्भव है।

(११) अत्रिस्मृति में लिखा है कि—

वेदैर्विहीनाश्च पठन्ति शास्त्रं शास्त्रेण हीनाश्च पुराणपाठाः।
पुराणहीनाः कृषिणो भवन्ति भ्रष्टास्ततो भागवता भवन्ति॥

(अत्रिस्मृति)

अर्थात्—वेद हीन शास्त्र पढ़ते हैं, शास्त्रहीन पुराण पढ़ते हैं, पुराण हीन खेती करते हैं और भ्रष्ट लोग भागवत बांचते हैं। इससे स्पष्ट है कि पुराण पढ़ना तुच्छों का काम है और भागवत बांचना तो सब से गिरे हुवों का काम है, सो ऐसे निंदित, भागवत पुराण का कर्ता वेद व्यास कैसे हो सकता है ?

(११) हमें प्रतिवादी के इस आक्षेप को पढ़कर हंसी आती है कि जो व्यक्ति साधारण श्लोक का अर्थ करना भी नहीं जानता समाजी उसे भी 'वेदालङ्कार' का पुछल्ला लगा देते हैं।

जिस भागवत पुराण पर आज भी संस्कृत साहित्य के समस्त ग्रन्थों से अधिक टीका टिप्पणी विद्यमान हैं, और दुनियां भरके विद्वान् जिसके समझने में ही 'विद्यावतां भागवते परीक्षा' के अनुसार विद्वत्ता की परीक्षा मानते हैं। उसी पुराण को निंदित बताने के लिये महाशयजी अत्रि पुराण के एक श्लोक के अर्थ का अनर्थ करते हैं।

वास्तव में इस श्लोक का भावार्थ यह है कि– संसार के सभी जीवों की प्रवृत्ति प्रायः सरल और सद्यःफलप्रद कार्यों की ओर झुका करती है, यह एक स्वाभाविक बात है। अतः वेदों के कठिन और बहु समय साध्य होने से लोग प्रायः शास्त्रों को

पढ़ते हैं, क्योंकि- शास्त्र सरल और सद्यआजीविकाप्रद हैं, और शास्त्र की अपेक्षा पुराण सरल हैं क्योंकि- उनसे- इतिहास और कहानियां होने के कारण सर्व साधारण का मनोरञ्जन हो जाता है, तथा धनादि की प्राप्ति भी होती है, इस लिये शास्त्र पाठ से विरक्त हुवे पुरुष पुराण पढ़ते हैं। कई पुराणों को भी कठिन समझ कर खेती से गुज़ारा करते हैं और जो निरे निठल्ले पढ़ने पढाने और खेती बाड़ी करने के परिश्रम से दिल चुराते हैं वे "नारि मुई गृह संपति नासी। मूंड मुँडाय भये संन्यासी" के अनुसार ढौंगी भगत बन कर अपना उल्लू सीधा करते हैं। श्लोक में भागवत बांचने का तो नाम तक नहीं यहां तो- "भागवताः" लिखा है, जिसका अर्थ है 'भगवत उपासकाः' और लक्षणा से "बगुला भक्त" इसके अतिरिक्त दुराग्रह के आवेश में आकर आपको यह भी ध्यान नहीं रहा कि— मेरे इस आक्षेप का भागवत पुराण के व्यासकृत न होने से क्या सम्बन्ध है। क्यों कि पाठकों के दुर्गुणों का आरोप व्यास जी के ऊपर कैसे होसकता है, इस लिये यह आक्षेप व्यर्थ है।

(१२) पुराणों में देवी, देवताओं, ऋषियों, मुनियों और अवतारों पर सैंकड़ों मिथ्या कलङ्क लगाये गए परन्तु बुद्ध पर कोई कलङ्क नहीं इससे विदित होता है कि- पुराण बौद्धों के बनाये हुवे हैं व्यासकृत नहीं।

(१२) पुराणों में वस्तुतः ऋषि मुनियों पर मिथ्या कलङ्क लगाये गये हैं। या यह किसी के कलिकलमषकलुषित हृदय की कालिमामात्र है, इस बात का विचार संदेहाभास निवारणाध्याय में विस्तार से किया गया है, यहां केवल इतना कह देना आवश्यक होगा कि— आपकी इस कल्पना का खण्डन तो "भाषा विज्ञान" ही कर देता है, क्यों कि- बौद्ध और जैनियों के समय में प्राकृत भाषा या पाली भाषा का साम्राज्य था; उनके कथानक ग्रन्थ ही इसका प्रमाण हैं, फिर इतने बड़े संस्कृत ग्रन्थों को बौद्धों की कृति कैसे मान लिया जावे ? दूसरे पुराणों में याज्ञिक विधान का तथा युद्धप्रियता का बाहुल्य है और पद २ पर ईश्वरसत्ता का स्पष्ट वर्णन है, फिर कौन ऐसा बौद्ध या जैन होगा जो चार लाख श्लोकों के बृहत्कलेवर संस्कृत ग्रन्थ बना कर स्वयं ही अपने विचारों के प्रतिकूल प्रचार करने में अग्रसर हो ? वेदादि अनादि शास्त्रों में भी पुराणों का वर्णन आता है, क्या वह भी बौद्धों के बनाये हुवे हैं। पुराणों में न किसी अन्य ऋषि मुनि पर कोई कलङ्क लगाया है न बुद्ध भगवान् पर। जब कि पुराण बुद्ध को नवम अवतार मानते हैं फिर उन्हीं की निन्दा पुराणों में क्यों कर होसकती है। इस लिये पुराण व्यास कृत हैं।

(१३) जगन्नाथ जी का प्रसिद्ध मन्दिर सं० १२३१ विक्रमी में उड़ीसा के राजा अनंग भीमदेव ने बनाया था यह सब इतिहासवेत्ता मानते हैं और मन्दिर पर

भी यही सम्वत् पड़ा है, इसका माहात्म्य स्कन्द पुराण में लिखा है, इस से प्रकट होता है कि— स्कन्द पुराण सम्वत् १२३१ के पीछे बना है ॥

(१३) प्रतिवादी ने जगन्नाथ जी के माहात्म्य को स्कन्द पुराण में देख कर उसके नवीन होने का निर्णय कर दिया, हम ऋग्वेद में भी जगन्नाथ जी का विशद वर्णन देखते हैं। क्या वेद को भी सं० १२३१ के बाद का बना मानोगे ?, लीजिये मन्त्र का मुलाहिजा कीजिये—

अदो यद्दारु प्लवते सिन्धोः पारे अपूरुषम् ।
तदारभस्व दुर्हणो तेन गच्छ परस्तरम् ॥

(ऋग्वेद ८ । ८ । १३ । ३)

(भाष्य) (अदः) विप्रकृष्ट देश में वर्तमान (अपूरुषम्) पुरुषनिर्माण रहित (यत्) जो (दारु) काष्ठमय कलेवर (सिन्धोः पारे) समुद्र के तट में (प्लवते) वर्तमान है। (तत्) सो (दारु) शरीर को (आरभस्व) अवलम्ब वा उपासना करो। जो (दुर्हणः) किसी से भी हनन नहीं होता (तेन) उस दारुमय देव की उपासना करने से (परस्तरं) अतिशय उत्कृष्ट वैकुण्ठ लोक को (गच्छ) प्राप्त हो ! और भी—

यत्रदेवो जगन्नाथः परं पारं महोदधेः ।
बलभद्रः सुभद्रा च तत्रमाममृतं कृधि ॥

(ऋक् परिशिष्ट)

अर्थ— समुद्र के तट पर जहां जगन्नाथ बलभद्र और सुभद्रा जी विराजते हैं वहां मुझे अमर कीजिये ॥

वास्तव में अनङ्ग भीमदेव ने मन्दिर का जीर्णोद्धार मात्र किया है और उसी का सूचक संवत् लिखा है। माहात्म्य का सम्बन्ध मन्दिर से वा उसके बनाने वाले से नहीं, बल्कि अनादि वेदप्रतिपाद्य जगन्नाथ जी से है,

इसके अतिरिक्त जगन्नाथ शब्द का अक्षरार्थ जगत्=संसार का नाथ=स्वामी है, वह ईश्वर है, इस व्यापक अर्थ को छोड़ कर संकुचित अर्थ ग्रहण करने में कोई कारण नहीं है। उन्हीं चराचर के नाथ की प्रतिनिधि प्रतिमा उड़ीसा में स्थित है। जिसका माहात्म्य वेद में वर्णित है यदि उसी का माहात्म्य स्कन्द पुराण में वर्णित हो तो वह नवीन क्यों ? इस लिये स्कन्द पुराण प्राचीन और व्यासकृत है।

(१४) महाभारत आदिपर्व अध्याय ६२ में लिखा है कि- एक लक्ष श्लोकों वाला पवित्र महाभारत ग्रन्थ वेद सम्मत है, और यही पुराण है इससे "१८ पुराण व्यासकृत हैं" इसकी सर्वथा जड़कट गई।

(१४) यह आक्षेप एक गुरुकुल के आचार्य्य का है, हमें आप की संस्कृतज्ञता पर दया आती है, क्योंकि-महाभारत के उक्त श्लोक का यह भाव है ही नहीं 'जो कि' आप फरमा रहे हैं सुनिये वह श्लोक इस प्रकार है—

इदं हि वेदैः समितं पवित्रमपि चोत्तमम् ।
श्रव्याणामुत्तमं चेदं पुराणमृषिसंस्तुतम् ॥

(महाभारत आदि ६२)

अर्थात्—यह महाभारत वेद सम्मत उत्तम और पवित्र है, ऋषियों द्वारा स्तुत यह पुराण श्रवणार्ह है ॥

हम नहीं समझते कि—इसमें वह कौन सा शब्द है जिससे अठारह पुराण व्यास कृत नहीं- यह भाव निकलता हो। यदि "इदं हि" शब्द के पद पूरक 'हि' को पुराण से बलात्संयुक्त करके 'यह ही' अर्थ भी कर लिया जावे तो भी अष्टादश पुराणों के व्यासकृत होने में कुछ बाधा नहीं पहुँचती, क्योंकि—

पुराणी कथाओं का संग्रहात्मक ग्रंथ होने से महाभारत को भी उपचारात्-पुराण कहा जा सकता है। जैसे लोक में शूर बीर पुरुष को- "यह तो सिंह है" ऐसा कह देने से दुनियां में सिंह नाम कोई जानवर होता ही नहीं-यह समझ लेना भ्रम है, इसी प्रकार महाभारत को पुराण कह देने से और पुराण न होने की बात है।

इस लिये महाभारत के अतिरिक्त ब्राह्म आदि अठारह ग्रन्थों की ही मुख्य पुराण संज्ञा है और महर्षि व्यास जी इनके निर्माता हैं।

(१५) लिङ्ग पुराण अध्याय ६४ में लिखा है कि वशिष्ठ और पुलस्त्य के वरदान से 'विष्णु-पुराण' पराशर जी ने बनाया है, यथाः—

अथ तस्य पुलस्त्यस्य वशिष्ठस्य च धीमतः।
प्रसादाद्वैष्णवं चक्रे पुराणं वै पराशरः ॥

इस लिये विष्णु पुराण व्यासकृत नहीं।

(१५) यह आक्षेप अतीव विचित्र है, प्रतिवादी अब तक केवल ऐसे हेतु- या हेत्वाभास देता आया है कि जिनसे कि पुराण व्यासकृत न होकर आधुनिक सिद्ध होजायें परन्तु इस आक्षेप के हेतु से स्वयं ही विष्णु पुराण को व्यासजी से भी पुराना मानता है, अर्थात्- उक्त पुराण व्यासकृत नहीं बल्कि उनके भी पिता जी का बनाया हुवा है, हम पूर्व सिद्ध कर चुके हैं वर्तमान अष्टादश पुराण व्यास जी से पूर्व भी रूपान्तर और नामान्तर में विद्यमान थे, तथा इनके मुख्य श्रोता वक्ता चिरन्तन मन्त्रद्रष्टा

ऋषिजन ही थे। ऐसी दशा में विष्णु पुराण का पराशरकृत होना हमारे लिये और भी इष्टापत्ति है, हम कब कहते हैं कि उक्त पुराण के मुख्यांश के कर्ता पराशर जी नहीं हैं ? परन्तु स्मरण रहे पराशरोक्त भी यह पुराण- अष्टादश पुराण संकलन के समय व्यासजीने ज्यों का त्यों या उचित हेर फेर के साथ अपनी ग्रन्थावलि में सम्मिलित नहीं किया इसका आप के पास कुछ भी प्रमाण नहीं। शिव पुराण में मूल में ही महाशय जी के आक्षेप का समाधान कर दिया है यथाः—

पराशरकृतं यत्तु पुराणं विष्णुबोधकम्।
तदेव व्यासकथितं पुत्रपित्रोरभेदतः॥

(शिव पुराण उत्तर खण्ड मध्यमेश्वर माहात्म्य)

अर्थात्—विष्णु भगवान् की महिमा का बोधक जो 'विष्णु-पुराण' पराशर जी ने बनाया था, वही व्यासकथित माना जाता है क्योंकि पुत्र और पिता का सर्वथा अभेद होता है [आत्मा वै पुत्रनामासि-इतिश्रुतेः]

इस लिये पराशरोक्त विष्णु- पुराण भी व्यास संकलित ही है इसमें आक्षेप को अवकाश नहीं।

(१६) ब्रह्म वैवर्तादि की भविष्यत् वाणियों के पढ़ने से जाना जाता है कि वह मुसलमानों के भारताक्रमण के पश्चात् बने हैं क्योंकि उनमें लिखा है कि कांची, और काश्मीर मण्डलक का राज्य यवन भोगे करेंगे, यथाः—

गान्धारे सिन्धुसौवीरे कांचीकाश्मीरमण्डलम्।
भोक्ष्यन्ति निन्द्यकृतयः यवनाः कलिदूषिताः॥

इससे स्पष्ट जाना जाता है कि जब मुसलमानी राज्य उक्त देशों में होगया था तब ब्रह्म वैवर्त पुराण बना था, यदि यह भविष्यत् वाणी होती तो यह लिखते कि सम्पूर्ण भारत यवनों के आधीन होजाएगा, सो नहीं लिखा।

(१६) प्रतिवादी ने इस आक्षेप में— समस्त भारत के बजाय देशविशेषों में यवन राज्य कहना— हेतु ठहराया है। यदि महाशय जी को भौगोलिक वर्णन शैली का थोड़ा भी ज्ञान होता तो वह ऐसा आक्षेप करने का साहस न करता। उपर्य्युक्त श्लोक में— प्रान्त विशेषों में यवन राज्य बताना अभीष्ट नहीं बल्कि यवनशासित भारत की सीमाओं का निर्देश करना ही इसका तात्पर्य्य है। सो दक्षिण के सुदूरवर्ती कांजीवरम् स्थान से काश्मीर तक, और कन्धार तथा अटक से सौवीर पर्य्यन्त जिस राज्य की सीमा हो वह राज्य भारत के सभी प्रान्तों में फैला हुवा माना जाएगा। हम नहीं समझते महाशय जी समस्त भारत का इससे अच्छा और क्या सीमाबन्धन

चाहते हैं ?, हम तो उक्त देशविशेषों के नामोल्लेख को भौगोलिक वर्णन शैली का उज्ज्वल उदाहरण समझते हैं, परन्तु महाशय जी वेदव्यास जी जैसे सुलेखक की कलम से भी सीधा अकलपच्चू 'समस्त भारत' शब्द लिखा जाना पसन्द करते हैं।

इस लिये ब्रह्मवैवर्त पुराण में यह श्लोक भविष्यवाणी के रूप में ही वेदव्यास जी ने लिखा था, जो समय पाकर सोलह आने ठीक निकला। अत एव उक्त पुराण व्यासकृत और प्राचीन है।

(१७) गरुड पुराण अध्याय ५५ में लिखा है कि—

पूर्वे किराता स्तस्यास्ते पश्चिमे यवनाः स्थिताः।

अर्थात्— भारत के पूर्व की ओर किरात और पश्चिम में यवन बसते हैं, भला पण्डित जी महाराज क्या व्यास जी के समय में इस भारत खण्ड में मुसलमान रहते थे कदापि नहीं, इससे जाना जाता है कि यह पुराण भी थोड़े ही समय का बना हुवा है।

(१७) प्रतिवादी ने यहां भी 'यवन' शब्द का अर्थ मुहम्मदन मुसलमान मान कर आक्षेप किया है सो हम नौवें आक्षेप के समाधान में यवन शब्द की विस्तृत विवेचना कर आए हैं तदनुसार यहां भी भारत से पश्चिम दिग्वर्ती यूनानियों का ही उल्लेख है। अतः इस पुराण के भी व्यासकृत होने में कोई बाधा नहीं आसकती।

(१८) एक पुराण की कही दूसरा नहीं मानता, किसी देवता की एक निन्दा करता है दूसरा उसको अच्छा कहता है इत्यादि नाना द्वेष युक्त विरोध होने से पुराणों का कर्ता व्यास नहीं हो सकता बल्कि अनेक साम्प्रदायिक लोग हैं।

(१८) यह आक्षेप भी प्रोफेसर रामदेव की खोपड़ी की उपज है, आप को पुराणों में परस्पर विरोध जंचता है, परन्तु कभी वेदोक्त देवचरित्रों की भी तुलना की है जहां एक ही मन्त्र में आप की दृष्टि से देखने पर परस्पर विरोध की परा काष्ठा दीख पड़ेगी। यथाः—

(क) अजायमानो बहुधा विजायते।

(यजुः ३१)

(ख) एक एव रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे।

(ग) असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम्।

अर्थात्— (क) वह परमात्मा अजन्मा है और बहुत प्रकार से जन्म लेने वाला है। (ख) एकले ही रुद्र भगवान् खड़े रहे दूसरा कोई नहीं था। (ग) भूमि पर अगणित हजारों रुद्र [स्थिर हुवे]

यहां अजन्मा को जन्मधारी और एक को अनेक बताया गया है, मन्त्र का एक भाग दूसरे भाग की कहीं नहीं मानता, क्या वेदों को भी आपकी कल्पना के अनुसार अनेक पुरुषों की कृति मान लिया जाए ? प्रोफेसर साहिब ! कुछ तो विचार से आक्षेप घड़ा होता ? चले थे पुराणों को आधुनिक सिद्ध करने उल्टा वेदों पर ही चौंका लगा बैठे !

वास्तव में वेदादि सभी ग्रन्थों में भावना विशेष से एक ही पदार्थ को अनेक दृष्टियों से वर्णित किया जाता है। इसी प्रकार पुराणों में भी एक अद्वितीय परमात्मा को ही अनन्त शक्तियों का भण्डार होने के कारण अनेक प्रकार से कहा है, यद्यपि वर्णन सम्बन्धी नानात्व का अन्त में एक ब्रह्म में ही पर्य्यवसान होजाता है, तथापि व्यवहार दशा में उस स्वाभाविक अनेकत्व का परिहार कोई कर नहीं सकता। इस लिये बुद्धिमान् तो व्यावहारिक और पारमार्थिक दृष्टि भेद से परस्पर विरुद्ध जंचने वाले वर्णनों को समन्वित कर लेते हैं, परन्तु शास्त्र मर्म से अपरिचित लोग विरोधाभास के गर्त में गिर कर 'संशयात्मा विनश्यति' के लक्ष्य बनते हैं।

इस लिये पुराणों में किसी भी देवता की निन्दा का उल्लेख नहीं, कदाचित् कुछ पद्य वा पद्यांश वस्तुतः निन्दा परिणत प्रतीत हो तो उन्हें प्रक्षिप्त समझ कर समालोचना की सीमा से बाहिर समझना चाहिये। अतः अठारह पुराण एकले व्यास जी के ही बनाये हुवे हैं।

(१६) यह भागवत वोपदेव का बनाया है जिसके भाई जयदेव ने गीत गोविन्द बनाया। उसने यह श्लोक अपने बनाये हेमाद्रि ग्रंथ में लिखे हैं कि श्रीमद्भागवत पुराण मैंने बनाया है। यथाः—

हिमाद्रेः सचिवस्यार्थे सूचना क्रियतेऽधुना।
स्कन्धाध्यायकथानां च यत्प्रमाणं समासतः ॥१॥
श्रीमद्भागवतं नाम पुराणं च मयेरितम्।
विदुषा वोपदेवेन श्रीकृष्णस्य यशोन्वितम् ॥२॥

(१६) यह आक्षेप आर्य्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द का है, आपके इस आक्षेप का एक २ अक्षर महाझूठ है यह बात पाठकों को हमारे नीचे लिखे शब्दों से प्रकट होजायगी। प्रथम तो गीत गोविंद ग्रन्थ के निर्म्माता जयदेव को वोपदेव का भाई बताना महा असत्य है क्यों कि उक्त दोनों पण्डितों ने अपना अपना जो परिचय दिया है वह दोनों को भ्राता सिद्ध नहीं करता यथाः—

(१) श्रीभोजदेवप्रभवस्य रामा, देवी सुतस्यास्य सदा कवित्वम् ।
पराशरादिप्रियवर्गकण्ठे, सुप्रीतपीताम्बर मे तदस्तु ॥

(गीतगोविन्द का अन्तिम)

(२) विद्वद्धनेशशिष्येण भिषक्केशवसूनुना ।
तेन वेदपदस्थेन बोपदेवद्विजेन यः ॥

(धातुपाठ का अन्तिम)

यहां पहिले श्लोक में ' गीतगोविन्द ' के रचयिता जयदेव ने अपने पिता का नाम भोजदेव, और माता का नाम रामादेवी, बताया है तथा यह 'तिन्दु बिल्व' नामक ग्राम के रहने वाले बंगाली ब्राह्मण थे यह सब इतिहासवेत्ता जानते हैं। परन्तु बोपदेव ने अपने बनाए धातुपाठ में अपने को धनेश का शिष्य और वैद्यराज केशव जी का पुत्र प्रकट किया है यह उपर्य्युक्त दूसरे श्लोक से स्पष्ट है। तथा बोपदेव जी द्रविड ब्राह्मण थे और हिमाद्रि मन्त्री के आश्रित थे यह भी प्रसिद्ध बात है। ऐसी दशा में एक बंगाली और दूसरे द्रविड तथा भिन्न २ पिताओं से पैदा हुवे दो व्यक्तियों को भाई बताना सिवा अल्पज्ञता के और क्या बात होसकती है। अस्तु।

इसके अतिरिक्त, बोपदेव हिमाद्रि का आश्रित था, और हिमाद्रि ने सं० १३४७ में दक्षिण देशस्थ 'अलंदी' ग्रामवासी महात्मा ज्ञानेश्वर जी से गीता के ऊपर विज्ञानेश्वरी नाम की टीका बनवाई थी इस लिये बोपदेव विक्रम की चौदहवीं शताब्दी में हुवा यह निर्विवाद है। परन्तु दयानन्द जी ने अपने सत्यार्थ पृष्ठ २८६ में, आद्यशंकराचार्य्य जी को पैदा हुवे २२ सौ वर्ष लिखे हैं, अर्थात् वे उन्हें २०० वर्ष विक्रम पूर्व मानते हैं उक्त शङ्कराचार्य्य जी ने 'वासुदेवसहस्र' नामक ग्रन्थ का भाष्य बनाया है जिस में—५५, १३७ और २१५,वें नाम की व्याख्या करते हुवे भागवत के श्लोक उद्धृत किये हैं तथा अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ'चतुर्दश मत विवेक' में श्रीमद्भागवत को इस प्रकार स्मरण किया है यथाः—

परमहंसधर्म्मो भागवते पुराणे कृष्णेन उद्धवायोपदिष्टः ।

यदि भागवत पुराण बोपदेव का बनाया होता तो उससे ८०० वर्ष पूर्व उत्पन्न होने वाले शंकराचार्य्य जी के ग्रन्थों में भागवत के श्लोक कैसे उद्धृत किये जाते ? इस लिये भागवत का कर्ता बोपदेव बताना अपनी इतिहासानभिज्ञता का परिचय देना है।

वास्तव में बोपदेव ने श्रीमद्भागवत पुराण की सूची तैय्यार की थी और भागवत का रहस्य प्रकट करने के लिये 'परमहंसप्रिया' नाम की टीका बनाई थी, तथा इसी

सम्बन्ध में 'मुक्ताफल' और 'हरिलीलामृत' नामक ग्रन्थ भी लिखे थे, इस समय वह सूची छप चुकी है, मुरादाबाद से प्राप्य है। तथा 'परमहंस प्रिया टीका' भी मिलती है।

इस लिये स्वामी जी का यह लेख चण्डूखाने की गप्प के बराबर है। श्रीमद्भागवत पुराण के कर्ता श्री व्यास जी महाराज ही हैं।

(२०) कुछ लोग यह भी आक्षेप किया करते हैं कि वेद व्यास जी का बनाया हुवा महाभारत प्रसाद गुणयुक्त अनुष्टुप् श्लोकों में निबद्ध है, और उसकी शैली बाल्मीकीय रामायण की तरह प्रायः आर्ष है परन्तु श्रीमद्भागवत में आधुनिक कवियों जैसी उद्भट, सालङ्कार एवं लच्छेदार कविता का बाहुल्य है, और प्रसंगानुसार अनेक बड़े बड़े छन्दों का समावेश है, इससे भाषा विज्ञान के अनुसार भी इन दोनों ग्रन्थों का कर्ता एक नहीं होसकता ?

(२०) यह आक्षेप भी अत्यन्त कुतूहल जनक है, क्योंकि प्रतिवादी जिस भाषा विज्ञान के आश्रय से महाभारत और भागवत को भिन्न कविनिर्मित सिद्ध करना चाहता है, प्रायः ऐसे ही हेतुओं को आगे रख कर पाश्चात्य पण्डित, और रमेशचन्द्र दत्त, आदि भारतीय इतिहासकार वेदों को अनेक कर्ताओं की कृति सिद्ध करने की चेष्टा किया करते हैं। कई समालोचक तो ऋग्वेद के ही प्रथम मण्डल और अन्यान्य मण्डलों की भाषा में प्रबल अन्तर देख पाते हैं, कहना न होगा कि वेदों के सम्बन्ध में की गई उपर्युक्त आलोचनाओं का जो मूल्य आस्तिक समाज में है, वही मूल्य पुराण महाभारतादि के विषय में भाषा विभेद के आधार पर भिन्न कवि निर्माण की कल्पना का हो सकता है।

आज भले ही ग्रन्थकार लोग किसी एक ही विषय के विशेषज्ञ होते हों, और वे अपने परिमित शब्दों में एकमात्र उसी रजिस्टर्ड विषय पर लिख सकने की योग्यता रखते हों, तथा नवीन विषय के प्रतिपादन में चौकड़ी भूल जाते हों परन्तु वेद व्यास जी जैसे सर्वतोमुख ज्ञान की पराकाष्ठा तक पहुंचे हुवे, त्रिकालज्ञ महर्षि के विषय में—जिनका कि अवतार ही वेदादि ग्रन्थों के संकलनार्थ हुवा हो—ऐसी विभिन्नभाषाओं को न लिख सकने की संभावना करना भी महामूर्खता है।

जो लोग महाभारत को सर्वांश में प्रसादगुणयुक्त समझते हैं वास्तव में उन्होंने समस्त महाभारत को पढ़ा ही नहीं, क्योंकि सब पण्डित जानते हैं और स्वयं वेदव्यास जी ने भी अनुक्रमणिकाध्याय में यह घोषित कर दिया है कि महाभारत में आठ हजार आठसौ ऐसे कूट श्लोक हैं, जिनका समझना समझाना हमारे लिये अत्यन्त कठिन है। महाभारत में लिखा है कि—

अष्टौ श्लोकसहस्राणि अष्टौ श्लोकशतानि च ।
अहं वेद्मि शुको वेत्ति संजयो वेत्ति वानवा ॥

(महाभारत आदिपर्व १ । ८१)

अर्थात्— [व्यास जी कहते हैं] महाभारत के आठ हजार आठसौ श्लोकों को मैं जानता हूँ, और शुकदेव जानता है, परन्तु संजय जानता है या नहीं जानता सो ठीक नहीं कहा जासकता ।

जिस पुरुष को इन कूट श्लोकों के साथ अपनी बुद्धिमत्ता की तुलना कर देखनी हो उसे विदुर प्रजागर का पाठ करना चाहिये, और 'गोकर्णा सुमुखीकृतेन इषुणा' 'खचरस्य सुतस्य सुतः खचरः' आदि श्लोकों का भी अर्थ लगाना चाहिये । सच तो यह है कि यदि महाभारत पर नीलकण्ठी व्याख्या न होती तो इसका बहुत सा अंश हमारे लिये अज्ञात रहता । इस लिये महाभारतको सरल समझ बैठना निरी भूल है ।

वास्तव में महाभारत और श्रीमद्भागवत की कविता में जो अन्तर प्रतीत होता है,वह उक्त दानों ग्रन्थों के प्रतिपाद्य विषय के अनुरूप ही है । क्योंकि महाभारत ऐतिहासिक ग्रन्थ है उसमें स्वाभाविकता का साम्राज्य होना ही चाहिये था इतिहास में तत्तद् व्यक्तियों का चरित्र वर्णन करने के बजाय अनावश्यक अलङ्कारों और छन्दों का समावेश करना चरित्रचित्रण की मौलिकता को विनाश करना है, ! विभिन्न प्रकृति रखने वाले पात्रों के स्वभाव पर पड़दा डालना है । एवं पाठकों को ' इतिकर्तव्यता ' के निर्णय का अवकाश न देकर अपनी वाक्चातुरी से पथभ्रष्ट करना है । अतः वेदव्यास जी जैसे सिद्धहस्तलेखक की लेखनी से इस प्रकार की भूल कब होसकती है ।

परन्तु श्रीभद्भागवत भक्ति प्रधान पुराण है, इस में रस की मुख्यता है । पाठकों के शुष्क हृदयों को वात्सल्य रस के महामहिम समुद्र की छलकती, उत्ताल तरंगोंसे आप्लावित करनेकी आवश्यकता थी । अनेक अलङ्कारों और सुस्वर छन्दोंके स्वर्ण सुयोग से सहृदय हृदयों को पाठमात्र से तन्मयता पूर्वक आत्मविस्मृति के आनन्द पयोनिधि में निमग्न करने की ज़रूरत थी— अतः वेद-व्यास जी ने विषय के अनुरूप ही उक्त पुराण में वर्णन शैली को स्थान दिया ।

इन पंक्तियों के पढ़ने के बाद कौन ऐसा समझदार होगा जो कि महाभारत और श्रीमद्भागवत पुराण के प्रतिपाद्य विषयों को गजनिमीलिका से भुलाकर भाषा-विज्ञान की कल्पना के आधार पर इन्हें भिन्न कविनिर्मित कहने का साहस करेगा !

इस तरह इस अध्याय में— ' सत्यार्थ-प्रकाश ', ' कुलयात-आर्य्य मुसाफिर ' ' पुराण तत्व प्रकाश ', ' पुराण-मत-पर्य्यालोचन ' तथा अन्यान्य ट्रैक्टों में किये

गये प्रतिवादियों के आक्षेपों का समाधान आगया है। स्वामी दयानन्द सरस्वती, म० लेखराम आर्य्य मुसाफिर, प्रो० रामदेव, प्रो० जयचन्द्र, ला० चिम्मनलाल, और म० वंशीधर पाठक आदि सभी आक्षेपकर्ताओं ने जो आक्षेप समान रूप से किये हैं उन पर किसी व्यक्ति विशेष का नाम उल्लेख नहीं किया गया परन्तु जो आक्षेप किसी एक महाशय की खोपड़ी की उपज है वहां उसका नाम लिख दिया गया है, जिससे पाठकों को अमुक २ व्यक्ति की शास्त्रीय योग्यता का भी परिचय मिल सके।

इसके अतिरिक्त आक्षेपान्तरवर्ती प्रमाणों को भी 'मक्षिकास्थाने मक्षिका' के न्याय से शुद्ध या अशुद्ध ज्यों का त्यों रख दिया है जिससे आक्षेपकर्ता महाशयों की संस्कृतज्ञता का भी पता लग जाये। इन्हीं शब्दों के साथ यह अध्याय समाप्त है।

* पञ्चम अध्याय समाप्त *

शैलीवर्णनाध्यायः।

(छठा-अध्याय)

शब्द-वाक्यार्थ-भाषाणां, विशेषन्यासहेतुभिः।
पुराणशैली-वैशिष्ट्यमध्यायेऽस्मिन्निरूप्यते ॥

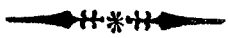

प्रायः समस्त शास्त्रों में प्रतिपादन शैली का विशिष्ट स्थान होता है, सभी ग्रन्थकार प्रतिपाद्य विषय की अनुकूलता के अनुसार अथवा अपनी जन्मसिद्ध, ईश्वरप्रदत्त 'शक्ति' के अनुरूप किसी न किसी खास शैली का अवलम्बन करके ही अपने हृदयगत विचारों को लेखबद्ध करने में व्यापृत होते हैं। जिन शास्त्रव्यसनी पण्डित को अनेक विषयों के अनुसन्धान का अवसर मिला होगा वे ही इस अवर्णनीय वैलक्षण्य को अनुभव कर सकेंगे कि संस्कृत साहित्य के वेद-वेदाङ्ग-वेदोपाङ्ग-भण्डार में सैद्धान्तिक समता रहते हुवे भी प्रत्येक ग्रन्थ, प्रतिपादनशैली की विभिन्नता के कारण किस प्रकार एक दूसरे से अलग अलग खड़ा हुवा है।

सभी विषयों और सभी ग्रन्थों को समझने के लिये आरम्भ में व्याकरण की आवश्यकता अनुभव की जाती है परन्तु 'द्वादशभिर्वर्षैर्व्याकरणं श्रूयते' के अनुसार बारह और बारह चौबीस वर्ष पर्य्यन्त भी 'टिड्ढाणञ्द्वयस०' की रट लगा ली जाए तो भी कोई महावैयाकरण-दर्शन, आयुर्वेद, ज्योतिष, एवं अलङ्कार आदि शास्त्रों को शाब्द बोध के भरोसे अपने आप समझ सकने में समर्थ नहीं होसकता।

कल्पना कीजिये कि हम केवल व्याकरण के आधार पर दूसरे शास्त्रों को समझने चलें, और सर्व प्रथम गणित या ज्योतिष की निम्नलिखित कारिका हमारे सामने आगई यथाः—

खषड्घनं भयातंभभोगोद्धृतंतत्,
खतर्कघ्नधिष्ण्येषु युक्तं द्विनिघ्नम्।
नवाप्तं शशी भागपूर्वस्तु भुक्तिः
खखा भ्राष्टवेदा भभोगेन भक्ताः।

(ताजिक नीलकण्ठी १। १६)

—कहिये! इसके अक्षरार्थ करने पर क्या झोली भरेगी? इसी तरह आयुर्वेद। लिखे श्लोक को व्याकरणपद्धति से लगाने पर क्या गुल खिलेगा,

कण्टकारीद्वयं छित्वा मधुना भक्षयेन्निशि।

सो है, 'कण्टकानां+अरिः=कण्टकारिः' अर्थात् काण्टों की शत्रु जो (उपानह= सो दोनों शहद के साथ रात को भक्ष०.....छिः छिः।

तात्पर्य्य यह है कि प्रत्येक शास्त्र में उसी की शैली के अनुसार अर्थ करने पर ही कुछ प्रयोजन सिद्ध होसकता है, अन्यथा व्याकरणरीति से यौगिक शब्दार्थ कर डालने पर तो उल्टा अर्थ का अनर्थ होजाने की अधिक सम्भावना है।

व्याकरण गत—घि, टि, संप्रसारण, आदेश, पूर्व, पर, नित्य, अन्तरङ्ग, अपवाद, अनुबन्ध और प्रत्याहार आदि शब्दों का, ज्यौतिष के—कण्टक, पणफर, आपोक्लिम, भाव, सन्धि, विंशोपका, अन्तर, और प्रत्यन्तर, आदि शब्दों का, आयुर्वेद के—अतिसार, प्रमेह, उदावर्त और पूर्वरूप आदि शब्दों का, वेदान्त के अभिन्ननिमित्तोपादान, विवर्त, उपाधि, और अर्थापत्ति आदि शब्दों का, न्याय के— व्याप्ति, अवच्छेदक, अवच्छिन्न, और पारिमाण्डल्य आदि शब्दों का, मीमांसा के—परिसंख्या, औपपत्तिक, अर्थवाद और कैमुतिक आदि शब्दों का, अलङ्कार शास्त्र के— विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी, रस, और रीति आदि शब्दों का— यौगिक अर्थ कल्पना करने पर कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होसकता, उक्त शब्दों की सीमा कितनी व्यापक है और इनके प्रयोग से कितने विस्तृत तात्पर्य्य का बोध होता है— इस रहस्य का पता उन्हीं ग्रन्थों के पढ़ने पर लग सकता है जिन में कि वे वे शब्द प्रयुक्त होते हों।

इस प्रकार प्रत्येक शास्त्र में विलक्षण शब्दों के समावेश से वाक्य, वाक्यार्थ की विलक्षणता भी स्वाभाविक है, इसी वाक्य, वाक्यार्थ वैलक्षण्य को हम 'शैली' नाम से स्मरण करते हैं।

शैली एक ऐसी अनिर्वचनीय शक्ति है कि जिसे पा लेना प्रत्येक शास्त्रव्यसनी का पहिला कार्य्य है वह जिस विषय, अथवा जिस ग्रन्थ की हमारे हस्तगत होजाएगी

फिर उस विषय या उस ग्रन्थ का वास्तविक तात्पर्य्य भी ठीक २ हमारी समझ में आजाएगा। शैली को समझे बिना अर्थज्ञ होने का दम भरना वैसी ही विडम्बना है जैसी कि घोर अन्धकार में तत्तत्पदार्थों को हाथों से टटोल टटोल कर उनके रंग रूप का वर्णन करने में होसकती है। स्वामी दयानन्द ने जो वेदों के अर्थों का अनर्थ कर डाला है— इसका प्रधान कारण शैली को न समझना ही है। आपने अनादि वेद को भी अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिये व्याकरण के शिकञ्जे में जकड़ने की चेष्ट की है, इसी लिये आपका वेदभाष्य ब्राह्मण, सूत्र, और निरुक्तादि के सर्वथा विपरीत एवं उपहासास्पद बना हुवा है,। कहीं रेल, कहीं तार, कहीं बिजली और कहीं हवाई जहाज— गर्ज़ है कि अदृष्टफलाधायक, अध्यात्मज्ञान के भण्डार वेद को लुहारों और कारपैन्टरों (Carpenters) की डिक्शनरी (Dictionary) बना छोड़ा है। सब अनर्थ वेद शैली को न जानने का ही परिणाम है।

हम इस विषय को अधिक लम्बायमान करना अनावश्यक समझते हैं। केवल इतना ही है कि सर्वप्रथम पाठ्य ग्रन्थ की शैली का मनन करना चाहिये, तत्पश्चात् उसी शैली का अनुसरण करते हुवे ग्रन्थ का तात्पर्य्य लगाने में प्रवृत्त होना चाहिये— यह है ग्रन्थ समझने का तरीका! और ग्रन्थकार के हृदय तक पहुंचने का परिष्कृत मार्ग!! अतः इस अध्याय में हम पुराणों की शैली का निरूपण करते हैं।

शब्द-विचार

हम पीछे कथन कर चुके हैं कि प्रत्येक शास्त्र में कुछ पारिभाषिक एवं स्वतन्त्र शब्दों का प्राधान्य रहता है सो पुराणों में भी ऐसे शब्दों की कमी नहीं है। यदि हम वर्णात्मक घट पटादि शब्दों का अपौरुषेय और पौरुषेय दृष्टि से विश्लेषण करना चाहें तो समस्त शब्दराशि दो भागों में विभक्त होजाती है, (१) प्रथम विभाग में उन सब शब्दों का समावेश होगा जो कि वेदों में प्रयुक्त हुवे हैं, और चिरंतन महर्षियों ने जिन को अनादि, अपौरुषेय एवं ईश्वरीय रूप में स्वीकार किया है (२) दूसरे विभाग में बाक़ी सब शब्दों को गिना जासकता है। इस प्रकार हम उक्त दोनों विभागों को क्रमशः 'वैदिक' और 'लौकिक' कह सकते हैं।

'वैदिक-शब्द'— व्याकरण के नियमों में आबद्ध न हो सकने की दशा में भी उसी प्रकार स्वयंनिष्पन्न एवं शुद्ध माने जाते हैं, तथा उनका सब प्रकार का व्यत्यय तथैव शिरोधार्य्य समझा जाता है यथा—

(क) व्यत्ययो बहुलम् (३ । १ । ८५)

(ख) सुपतिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकृत्तद्धितां च ।
व्यत्ययमिच्छतिशास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिध्यति बाहुलकेन ॥

(वैदिकीप्रक्रिया)

अर्थात्— वैदिक शब्दों में— सुप् आदि विभक्तियों, तिङ् आदि प्रत्ययों, आत्मनेपद, परस्मैपद, पुंलिङ्ग आदि लिङ्गों, प्रथम मध्यमोत्तम पुरुषों, वर्तमान आदि कालों, व्यञ्जनों, स्वरों, अनुदात्तादि स्वरों, कृदन्त और तद्धित प्रत्ययों, तथा अदादि जुहोत्यादिगणनिर्दिष्टविकरणों का व्यत्यय (लौट बदल=फेर फार) होजाता है, और वह सब बाहुलक से ही निष्पन्न समझना चाहिये ।

हम उपर्य्युक्त व्यत्ययों के क्रमशः उदाहरण और प्रत्युदाहरण देते हैं जिनसे वैदिक शब्दों के अपरिवर्तनीय स्वरूप का पता लग सकेगा, और साथ ही साथ व्याकरण-निष्पन्न लौकिक शब्दों का भी परिचय मिल सकेगा ।

(तुलनात्मक विचार)

वैदिक प्रयोग कैसा है ?	और वर्तमान व्याकरण के अनुसार कैसा चाहिये ।
(१) धुरि दक्षिणायाः ।	'दक्षिणस्याम्' । सप्तमी का एक वचन चाहिये,
(२) चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति ।	'तक्षन्ति' । बहुवचन चाहिये ।
(३) ब्रह्मचारिणमिच्छते ।	'इच्छति' । परस्मैपद चाहिये ।
(४) प्रतीपमन्यऊर्मिर्युध्यति ।	'युध्यते' । आत्मनेपद चाहिये ।
(५) मधोस्तृप्ता इवासते ।	'मधुनः' । प्रयोगबनता है ।
(६) अधासवीरैर्दशभिर्वियूयाः ।	'वियूयात्' । प्रथम पुरुष चाहिये ।
(७) श्रोऽग्नीनाधास्यमानेन ।	लृट् के स्थान में लुट् का प्रयोग चाहिये ।
(८) तमसोगाअदुक्षत् ।	'अधुक्षत्' । प्रयोग बनता है ।
(९) मित्रवयं च सूरयः ।	'मित्रावयम्' । प्रयोग बनता है ।
(१०) अन्नादाय ।	अच् प्रत्यय के स्थान में अण् का विषय ।
(११) आण्डाशुष्मस्यभेदति ।	'भिनत्ति' रुधादि गण के कार्य्य चाहिये ।
(१२) जरसा मरते पतिः ।	'म्रियते' । प्रयोग बनता है ।
(१३) इन्द्रेण युजा तरुषेम वृत्रम् ।	'तरेम' । प्रयोग बनता है ।

ऊपर शब्दों के वैदिक और लौकिक संज्ञक जो दो विभाग प्रकट किये गये हैं पुराणों में इन दोनों का ही मिश्रण पाया जाता है, यद्यपि पुराणों का अधिकांश भाग लौकिक शब्दों से परिपूरित है परन्तु बीच बीच में वैदिक शब्दों की छटा भी देखने को मिलती है, ऐसा जान पड़ता है कि श्री वेदव्यास जी ने पुराण संकलन के समय गुरुपरम्पराप्रचलित पुरातन वैदिक आख्यायिकाओं को तत्कालीन संस्कृत भाषा में निबद्ध करने का भरसक प्रयत्न किया था इस लिये पुराणों में लौकिक शब्दों का बाहुल्य तो अवश्य होगया परन्तु वैदिकता की छाप भी बदस्तूर बनी रही। अतः हम पुराणों को वैदिक और लौकिक दोनों प्रकार के शब्दों में निबद्ध होने के कारण 'आर्ष' कह सकते हैं। पुराणों में जो शब्द पाणिनीय व्याकरण के नियमों से स्वतन्त्र पाए जाते हैं विद्वान् लोग उन्हें 'आर्ष' कह कर सन्मान देते हैं और उनके तथैव बने रहने का समर्थन करते हैं। हम पाठकों के लाभार्थ पुराणान्तर्वर्ती कतिपय आर्ष शब्दों का नमूना नीचे अङ्कित करते हैं, जिससे पौराणिक शब्दों की विशेषता जानने में कृतकार्य्यता मिल सके।

पुराण प्रयुक्त आर्ष शब्द	और वर्तमान व्याकरणानुसारी रूप
(१) सत्यं परं धीमहि। (श्रीमद्भागवत १।१।१)	'ध्यायाम' चाहिये
(२) पुत्रेति तन्मयतयातरवोऽभिनेदुः। (पद्मपुराण उत्तर ६।१६३।३)	'पुत्र–इति' चाहिये
(३) युवैषतोत्स्रष्टुमहो सहासुभिः। (श्रीमद्भागवत १।४।११)	(ऐषत) आत्मनेपद आर्ष है
(४) निशामय तदुत्पत्तिं विस्तराद्वदतोमम। (मार्कण्डेय सप्तशती १।१)	'निशमय' प्रयोग चाहिये

उपर्युक्त आर्ष शब्दों के अतिरिक्त अन्यान्य शास्त्रों की भांति पुराणों में 'पारिभाषिक' शब्दों का भी पर्य्याप्त सन्निवेश है। मन्वन्तर, सन्धि, सन्ध्यांश, परार्ध, युग, दिव्यवर्ष, परमायु, ब्रह्माण्ड, लिङ्ग, भग, नार, महान् सुमेरु और कला आदि शब्द इसी कोटि में परिगणित किये जा सकते हैं। व्याकरण के अनुसार अथवा लोकरूढि के अनुसार ऐसे पारिभाषिक शब्दों का सामान्य अर्थ चाहे कुछ भी बन सकता हो, परन्तु पुराणों में ये शब्द उसी विशेष अर्थ के बोधक समझे जाएंगे जो कि परिभाषाद्वारा व्यास जी ने इनका निश्चित कर दिया है। इस लिये पुराण पढ़ते समय सर्वप्रथम आर्ष शब्दों का और पारिभाषिक शब्दों का यथावत् मनन कर लेने के बाद तात्पर्य्य समझने में प्रवृत्त होना चाहिये।

वाक्य-विचार

अनेक शब्दों के यथावत् मेल से जो अभीष्ट अर्थ का बोध होता है— वही सार्थक शब्द समुदाय हमारी परिभाषा में वाक्य या वचन समझना चाहिये। प्रायः सभी शास्त्रों में विधिनिषेधात्मक जितने वचन पाए जाते हैं उन्हें प्राचीन ऋषियों ने तीन भागों में विभक्त किया है। (१) रोचक (२) भयानक और (३) यथार्थ।

रोचक-वचन

पुरुषों को धर्म्म मार्ग में प्रवृत्त करने के लिये जो रुचिकर वाक्य कहे जाते हैं, उन्हें रोचक नाम से स्मरण करना चाहिये, वैदिक प्रक्रिया में इन्ही वाक्यों को विधि-प्रशंसक 'अर्थवाद' भी कहते हैं। यथा—

(क) गवां मण्डूका ददत शतानि।

(ऋग्वेद १७। १०३। १०)

(ख) वनस्पतयः सत्रमासत।

(ग) सर्पाः सत्रमासत।

(घ) जरद्गवो गायति मद्रकाणि।

(सायणीयऋग्वेदोपोद्घात)

अर्थात्— (क) मेण्डकों ने सौ गौवें दानदीं (ख) वनस्पति (= घास फूंस आदि) ने यज्ञ रचा (ग) सर्पों ने यज्ञ किया (घ) वृद्ध नील गाय ने सामवेद का गान किया।

उपर्य्युक्त वाक्यों का तात्पर्य्य केवल एतावन्मात्र है कि जब मेण्डकों सरीखे तुच्छ जीव भी गोदान करते हैं तो सर्वश्रेष्ठ मनुष्यों को तो वह अवश्य ही करना चाहिये। जड़ वनस्पति तथा महाविषधर सर्प भी जब यज्ञ में प्रवृत्त होते हैं तब चेतन एवं सर्वोपकारकरणक्षम मनुष्यों को तो अवश्य ही यज्ञानुष्ठान करना ही चाहिये। इसी तरह गवय नामक मूर्खप्रायः पशु भी जब सामगान में प्रवृत्त होते हैं तब विवेकशील पुरुषों को तो अवश्य ही सामगान करना चाहिये।

यदि कोई पुरुष पुंगव उपर्य्युक्त वेद वाक्यों की रोचकता पर ध्यान न देकर वास्तव में पशुसर्पादि द्वारा किये गए यज्ञ, दान, और सामगान के स्वप्न देखने लगे और प्रत्यक्ष में पशु आदि का ऐसे कार्य्यों में प्रवृत्त होना असम्भव जान कर वेदों पर

असम्भव प्रतिपादन का आक्षेप लगाए तो उसे महामूर्ख ही समझना चाहिए। इसी प्रकार पुराणों में भी अनेक शुभ कार्य्यों में पुरुषों की अभिरुचि बढ़ाने के लिये उपर्य्युक्त वेद पद्धति का अनुसरण किया है, यथा—

(क) पूजयित्वा रविं भक्त्या ब्रह्मा ब्रह्मत्वमागतः।
विष्णुत्वं चापि देवेशो विष्णुरापं तदर्चनात्॥
शंकरोऽपि जगन्नाथः पूजयित्वा दिवाकरम्।
महादेवत्वमगमत् तत्प्रसादात् खगाधिप!
(भविष्य, ब्राह्म० १७४। १-२)

(ख) श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासागमशतानि च।
एतच्छिवपुराणस्य नार्हन्त्यल्पां कलामपि।
(शिवपुराण, सनत्कुमार १। ६४)

(ग) यावत्पादं नरो भक्त्या गच्छेद् विष्णुप्रदक्षिणे।
तावत्कल्पसहस्राणि विष्णुना सह मोदते।
(पद्मपुराण ७। ११। ५२)

(घ) प्रतिष्ठया सार्वभौमं सद्मना भुवनत्रयम्।
पूजादिना ब्रह्मलोकं त्रिभिर्मत्साम्यतामियात्।
(श्रीमद्भागवत ११। २७। ५२)

अर्थात्— (क) सूर्य्य की पूजा करने से ही ब्रह्मा को ब्रह्मपद, विष्णु को विष्णुत्व और महादेव को शंकरत्व प्राप्त हुवा है। (ख) वेद धर्म्मशास्त्र पुराण इतिहास और अन्यान्य सैंकड़ों शास्त्र शिवपुराण की किंचित् मात्र भी बराबरी नहीं कर सकते। (ग) विष्णु की प्रदक्षिणा करने में मनुष्य जितने कदम चलता है. उतने ही हज़ार कल्पपर्य्यन्त विष्णु भगवान् के साथ आनन्द करता है। (घ) भगवान् के मन्दिर की प्रतिष्ठा कराने से चक्रवर्ती बनता है और मन्दिर बनवाने से तीन लोक का राजा होता है, तथा पूजा करने से ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है और तीनों कार्य्य करने से विष्णु के समान होजाता है।

उपर्य्युक्त पुराण-वाक्यों में सूर्य्योपासना, शिव-पुराण-पठन, विष्णुप्रदक्षिणा और देवालयनिर्माणरूप धर्म्म कार्य्यों में मनुष्यों की अभिरुचि बढ़ाने की चेष्टा की गई है, यदि कोई मनुष्य यहां कवि के आशय के विरुद्ध— (क) से ब्रह्मादि देवताओं का लघुत्व (ख) से वेदादि शास्त्रों की तुच्छता, (ग) से प्रदक्षिणा का सर्वातिशयित्व

और (घ) से प्रतिष्ठा आदि कराने पर भी चक्रवर्तिपद का न मिलना रूप मिथ्या-भाषण सिद्ध करना चाहे तो उसे शास्त्रशैली से अनभिज्ञ ही समझना चाहिये।

इस लिये जिस प्रकार वेदवर्णित 'अर्थवादों' का आक्षरिक अर्थ ग्रहण न करके तात्पर्य्यार्थ ग्रहण किया जाता है उसी प्रकार पुराणान्तरवर्ती रोचक वचनों का भी तात्पर्य्यार्थ ही ग्रहण करना चाहिये।

भयानक-वचन

अधर्म्माचरण से पुरुषों की प्रवृत्ति हटाने के लिये जो भयदायक वाक्य कहे गए हैं उन्हें 'भयानक' नाम से याद किया जाना चाहिये। वेदादि सभी शास्त्रों में ऐसे वचनों का समावेश पाया जाता है। यथाः—

(क) अन्धंतमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते।

(यजुः ४० । ९)

(ख) एतानि अविदित्वा योऽधीते···प्रवामीयते।

(कात्यायन अनुक्रमणिका १ । १)

अर्थात्— (क) जो मनुष्य मायाजन्य जड़ देहादि की उपासना करते हैं वे घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं। (ख) जो मनुष्य, मन्त्रों के ऋषि देवता आदि को न जानता हुवा वेद पढ़ता है वह मर जाता है।

उपर्य्युक्त वचनों में माया के फन्दे से निकलने की और ऋषि आदि को जानने की आवश्यकता प्रकट की गई है,। वस्तुतः— माया उपासक किसी काल कोठरी (Black Hole) में डाल दिये जाते हों, या ऋष्यादि ज्ञानशून्य-मन्त्र-पाठी, दयानन्दी आदि तत्काल मर जाते हों सो बात नहीं,। यहां भी आक्षरिक अर्थ को छोड़ कर तात्पर्य्यार्थ का ही ग्रहण होना चाहिये, वह केवल इतना ही है कि माया की उपासना करना और ऋष्यादि का न जानना पाप है, पुरुष को इससे बचने के लिये ही अन्धकार और मृत्यु का भय दिखलाया गया है अतः ये वाक्य भयानक हैं, पुराणों में इसी पद्धति का अनुसरण करते हुवे मनुष्यों को दुष्कर्म्मों से हटाने के लिये भयानक वचनों का पर्य्याप्त सन्निवेश किया गया है यथा—

(क) यः पुनः कृष्णवस्त्रेण मम कर्म्मपरायणः।
घुणो वै पंच वर्षाणि, लाजवास्तुसमाश्रयः॥

(वाराह १३५ । १५-१६)

(ख) गत्वा च योषितं श्राद्धे यो भुङ्क्ते यश्च गच्छति ।
रेतोमूत्रकृताहारास्तं मासं पितरस्तयोः ॥

(ब्रह्मपुराण २२० । १०८)

अर्थात्— (क) जो पुरुष काले रंग का वस्त्र पहिन कर ईश्वरपूजन आदि कार्य्यों को करता है वह पांच वर्ष पर्य्यन्त धान की भुनी हुई खीलों में घुण का कीड़ा बन कर रहता है। (ख) जो पुरुष स्त्रीसङ्ग करके श्राद्ध में जीमता जिमाता है, या जीमने जिमाने के बाद स्त्रीसङ्ग करता है, उन दोनों के पितर उस महीने वीर्य्य मूत्र आदि को खाते हैं।

उपर्य्युक्त वचनों के अक्षरार्थ के अनुसार कोई ईश्वरपूजक एक साधारण भूल के कारण साक्षात् घुण बन जाता हो, अथवा श्राद्धकर्ता पुत्रादि के स्त्रीसङ्ग रूप पाप से निरपराध पितरों को घृणित वस्तु खाने का दण्ड भोगना पड़ता हो— सो यहां पुराणकर्ता का अभिप्राय नहीं है। किन्तु इनका तात्पर्य्यार्थ इतना ही है कि शुभ कार्य्यों में काले कपड़े पहिनना, और श्राद्धकार्य्य में अब्रह्मचर्य्य से रहना महापाप है। इसी प्रकार अन्यान्य भयानक वचनों का तात्पर्य्यार्थ समझना चाहिये।

यथार्थ-वचन

रोचकता और भयानकता दोनों से परे रह कर जो अक्षरार्थानुसारी विधि-निषेधप्रतिपादक वचन हैं वे यथार्थ कहे जाने चाहियें यथा वेद में—

(क) अक्षैर्मादीव्य कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहुमन्यमानः ।

(ऋग्वेद १० । ३४ । १३)

(ख) मागृधः कस्यचिद्धनम् ॥

(यजुः ४० । १)

(ग) तप्यमानस्य भूयसी कीर्तिर्भवति।

(जैमिनीय उपनिषद् ब्रा० २ । १ । १३)

अर्थात्— (क) जूआ मत खेल, खेती कर, उक्त शिक्षा को मानने पर धन में रमण करने वाला बन। (ख) दूसरे के धन का लालच न कर (ग) तपः करने वाले की बहुत कीर्ति होती है।

यहां— जूआ न खेलने और खेती आदि में परिश्रम करने से धनी बन जाना, दूसरे के धन का लालच न करना, तथा तपश्चर्या से कीर्ति का पाना— आदि जो उपदेश दिये गए हैं वे यथार्थ में ऐसे ही हैं अव्यसनी ज़िमीदारों का धनी होना, और

तपस्वियों का यशस्वी होना प्रत्यक्ष सिद्ध है अतः वेद के ऐसे वचनों को यथार्थ कहा जाता है, पुराण ग्रन्थों में भी यथार्थ वचनों का अत्यधिक समावेश है यथा—

(क) यजते क्रतुभिर्देवान्पितॄंश्च श्रद्धयान्वितः ।
गत्वा चान्द्रमसं लोकं सोमपाः पुनरेष्यति ॥
(श्रीमद्भागवत ३ । ३२ । २-३)

(ख) सर्वदुःखहरं व्याधिनाशकं मोक्षदं तथा ।
सदाचारेषु संध्यायाः प्राधान्यं मुनिपुंगव ! ॥
(देवीभागवत ११ । २० । ५४)

(ग) यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम् ।
विद्या तपश्च कीर्तिश्च स तीर्थफलमश्नुते ॥
(पद्म, उत्तर० २३७ । ३२)

अर्थात्— (क) जो पुरुष श्रद्धापूर्वक यज्ञादि द्वारा देवों और पितरों का पूजन करता है वह सकाम कर्म्मों के प्रताप से चन्द्रलोक में यथासमय निवास करके पुनः जन्म धारण करता है। (ख) सदाचार में संध्योपासन सर्वमुख्य है, संध्या से समस्त दुःखों और व्याधियों का नाश होता है तथा मोक्षप्राप्ति होती है। (ग) जिस पुरुष के हाथ पांव आदि इन्द्रियें और मनः वशीभूत हो तथा विद्या तपः और कीर्ति सम्पन्न हो वही तीर्थस्नान के पूर्ण फल का भागी है।

उपर्युक्त वाक्यों में जो सकाम कर्म्मों से स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति, और पुनर्जन्म, तथा संध्या=प्राणायाम से दुःखादि का नाश और मोक्ष की प्राप्ति, एवं संयम ज्ञान और तपश्चर्य्या से तीर्थसेवन फल का लाभ प्रकट किया गया है वह वस्तुतः यथार्थ है। इस लिये ऐसे वाक्यों को यथार्थ कहना चाहिये।

इस प्रकार वेदादि समस्त शास्त्रों की भांति पुराणों के वाक्यों को भी रोचक भयानक और यथार्थ नामक किसी उचित श्रेणि में परिगणित करने के बाद उसकी अर्थसंगति बैठानी चाहिये।

भाषा-विचार

जिस प्रकार अन्वित शब्दसमुदाय को वाक्य या वचन कहते हैं इसी प्रकार यथावत् अन्वित वाक्यसमुदाय को सन्दर्भ या कथानक कहा जाता है। यहां हमारे भाषाविचार का क्षेत्र वही कथानक या सन्दर्भ है।

वेदादि शास्त्रों के सन्दर्भों को प्राचीन ऋषियों ने भाषातत्व के आधार पर तीन भागों में विभक्त किया है। यथा—

समाधिभाषा प्रथमा लौकिकोति तथा परा।
तृतीया परकीयेति शास्त्रभाषा त्रिधा स्मृता॥

(भारद्वाज संहिता)

अर्थात्— शास्त्रों की भाषा तीन प्रकार की है, पहिली— समाधिभाषा, दूसरी— लौकिकी भाषा, और तीसरी परिकीया भाषा।

समाधिभाषा—

जो बातें जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में भी पुरुष को प्रत्यक्ष न हो सकती हों, और इन्द्रिय, मनः आदि भी जिन रहस्यों के अनुभव करने में समर्थ न हों, ऐसे समाधिगम्य, अवाङ्मनसगोचर एवं लोकोत्तर तत्वों को जहां नेति नेति शब्दों द्वारा व्यक्तकरने का प्रयत्न किया गया हो वह समाधि भाषा कहलाती है।

वेदों में समाधि भाषा का अत्यधिक समावेश पाया जाता है, ऐसे सैंकड़ों मन्त्र पेश किये जा सकते हैं कि जिनका अक्षरार्थ तो अत्यन्त सरल और सीधा है परन्तु मन्त्रोक्त भावों को हज़ार बार मस्तिष्क में बिठलाने का प्रयत्न करने पर भी वे हृदयङ्गम नहीं होते, और ज्यों २ मानवी बुद्धि उस अज्ञेयता के अगाधसागर में निरवलम्ब होकर डूबती हुई सी जान पड़ती है त्यों २ अप्रतिभ प्रतिभा की वह दयनीय दशा तटस्थ आत्मा को रह रह कर अनुभूत होने लगती है। हम पाठकों को अधिक उत्कण्ठित करना नहीं चाहते एतदर्थ नीचे कतिपय उदाहरण देकर उनके वास्तविक तात्पर्य्य को हृदयङ्गम कर लेने की सिफारिस करते हैं, यथा—

(क) नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं,
नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुहकस्य शर्म्म-,
म्भः किमासीद् गहनं गभीरम्॥

(ख) न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि,
न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं,
तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास।

(ग) तमः आसीत्तमसा गूढमग्रे,
प्रकेतं सलिलं सर्वं मा इदम् ।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्
तपसस्तन्महिमाना जायतैकम् ॥
(ऋग्वेद— १० । १२६ । १–३)

अर्थात्— (क) उस समय न असत् था, और न सत् था, न पृथ्वीलोक था, न अन्तरिक्ष और नाहीं उससे ऊपर का द्युलोक । न जीवों को आवरण करने वाला कर्म्म कलाप था, और नाहीं कोई सुखादि का भोक्ता था । सृष्टि का आदिम तत्व दुःप्रवेश एवं अगाध आपः भी नहीं था । (ख) न उस समय मृत्यु थी, और नाहीं अमरपन था, रात और दिन की कुछ भी पहिचान न थी । माया से अविभक्त एक वह ब्रह्म ही था, उसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी न था । (ग) अन्धकार था, और उसी अन्धकार से सब कुछ ढका हुआ सा था, यह सब नामरूपात्मक जगत् सलिल= (कार्य्यकारण रूप में अविभक्त) था, जो इस प्रकार तुच्छ=सदसद् विलक्षणता से छुपा हुवा था वही एक तपः की महिमा से प्रादुर्भूत होगया ।

यह है समाधि भाषा का एक उदाहरण, जिसमें सृष्टि के प्रादुर्भाव से पूर्वली अवस्था का वर्णन किया है, यहां शब्द और शब्दार्थ के सरल होने पर भी भावार्थ को हृदयङ्गम करना योगियों का ही काम है । जब सत् न था तो तब तद् अभाव= असत् अवश्य होना चाहिये=यही लौकिक और शास्त्रीय विवेक मान सकता है, इसी प्रकार मृत्यु की अविद्यमानता में निश्चय ही अमरत्व होना चाहिये, परन्तु वेद साफ शब्दों में सत् न होने पर भी असत् का, और मृत्यु न रहने पर भी अमरत्व का निषेध करता है, उक्त दोनों की अविद्यमानता में वह कौनसी तीसरी अवस्था थी ? उसका वर्णन करना सर्वथा दुरूह है, इस रहस्य का तो तुरीयावस्था में ही अनुभव होसकता है ।

पुराणों में भी वेदपद्धति का अनुसरण करते हुवे सैंकड़ों अवाङ्मनसगोचर रहस्यों को समाधि भाषा द्वारा प्रकट किया गया है यथा—

(क) इदं दृश्यं यदा नासीत्सदसदात्मकं च यत् ।
तदा ब्रह्ममयं तेजो व्यासिरूपं च सन्ततम् ॥
न स्थूलं नच सूक्ष्मं च शीतं नोष्णं तु पुत्रक !
आद्यन्तरहितं दिव्यं सत्यं ज्ञान मनन्तकम् ॥

योगिनोन्तरदृष्ट्या हि यद् ध्यायन्ति निरन्तरम् ।
तद्रूपं सकलं ह्यासीज् ज्ञानविज्ञानदं महत् ॥
कियता चैव कालेन तस्येच्छा समपद्यत ।
प्रकृतिर्नाम सा प्रोक्ता मूलकारणमित्युत ॥

(शिव-पुराण, धर्म्मसंहिता २ । १५-६४)

अर्थात्— (क) यह स्थूल दृश्य जगत् जब उत्पन्न नहीं हुवा था, उस महाप्रलय के अन्त समय में जब सत् और असत् कुछ भी नहीं था (कुछ है वा नहीं ऐसा नहीं ऐसा नहीं कहा व माना जा सकता था) उस समय निरन्तर व्याप्ति रूप ब्रह्ममय तेजः ही था । वह तेजः न स्थूल था न सूक्ष्म था, न शीत था और नाहीं उष्ण था । उस अलौकिक दिव्य तेज का आदि वा अन्त कुछ भी न था । वह केवल सत्य था, ज्ञान स्वरूप था, और अनन्त था । योगी लोग समाधि में दिव्य दृष्टि से जिस तेज का निरन्तर ध्यान करते हैं वही ज्ञान विज्ञान का देने वाला तेज उस समय व्याप्त था । कुछ काल के पश्चात् उस तेजः में इच्छा का प्रादुर्भाव हुवा उसी इच्छा को 'प्रकृति=या मूलकारण' कहते हैं ।

उपर्युक्त उदाहरण में पूर्वोक्त वेद मन्त्रों का ही भाव शब्दों के हेर फ़ेर से अभिव्यक्त किया है, निःसन्देह इस रहस्य को समाधि दशा में ही अनुभूत किया जा सकता है । जब हज़ार प्रयत्न करने पर भी कोई चतुर चितेरा इस दशा का चित्र नहीं खैंच सकता तब शाब्दिक चित्र चित्रण की दुरूहता तो स्पष्ट ही है । अतःएव ऋषियों ने ऐसे सन्दर्भों को समाधिभाषा-विभाग में परिगणित किया है ।

लौकिकी-भाषा

जिन सन्दर्भों में किसी धार्म्मिक गूढ रहस्य को प्रकट करने के लिये लोकपद्धति का अनुसरण किया गया हो ऐसे तात्पर्य्य प्रधान आलङ्कारिक वर्णनों को 'लौकिकी-भाषा' निबद्ध समझना चाहिये, यथा वेद में—

(क) द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्य,
नश्नन्नन्य अभिचाकशीति ॥

(ऋग्वेद १ । १६४ । २०)

(ख) ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुर्भगवन्!
को नः श्रेष्ठोऽसीति? तान् होवाच, यस्मिन्व उत्क्रान्ते
शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्यते स वः श्रेष्ठ इति।

(छान्दोग्य ५।१।७)

अर्थात्—(क) एक साथ रहने वाले परस्पर संयुक्त और सुन्दर पंखों वाले दो पक्षी हैं, जो दोनों एक वृक्ष का आश्रय लेते हैं, उनमें से एक तो उस वृक्षके पिप्पल=फल खाता है। दूसरा विना खाए ही प्रकाशमान होता है। (ख) प्राणों ने अपने बाप प्रजापति के पास जाकर पूछा कि हम (इंद्रिय मनः प्राण आदि) सबों में बड़ा कौन है? प्रजापति ने कहा तुम सब में से जिसके निकल जाने पर शरीर पापिष्ठ सा (व्यर्थप्रायः) दीख पड़े वही तुम में सर्वश्रेष्ठ है।

यहां पहले उदाहरण में जीव और ब्रह्म का दो पक्षियों के रूप में प्रतिपादन किया है जिस प्रकार लोक में पक्षियों के जोड़े वृक्ष पर बैठा करते हैं और उसके फलों को इच्छानुसार खाया या न खाया करते हैं— उसी लोकप्रसिद्ध वर्ताव के अनुरूप संसाररूपी वृक्ष के आश्रित जीवरूप पक्षी को तो अपने किये कर्म्मों के फलों को भोगने वाला परन्तु ब्रह्मरूप दूसरे पक्षी को कर्तृत्व भोक्तृत्व से दूर रहते हुवे केवल साक्षिमात्र कहा है। सो एक लौकिक व्यवहार शैली से जीव ब्रह्म-सम्बन्धी रहस्य प्रकट करने के कारण उक्त सन्दर्भ लौकिकी-भाषा का निदर्शन है।

इसी प्रकार दूसरे उदाहरण में इंद्रिय मनः प्राण आदि को पुत्र और प्रजापति को पिता कहा गया है, जिस प्रकार लोक में पुत्रों में परस्पर विवाद होजाने पर वे अपने पिता से निर्णय मांगा करते हैं और पिता जी किसी विशेष योग्यता के अनुसार अमुक पुत्र को उच्चाधिकार प्रदान किया करते हैं इसी तरह यहां भी- वर्णन आता है कि वाणी, चक्षुः, श्रोत्र आदि क्रमशः शरीर से निकलें तो भी गूंगा, अन्धा और बहरा शरीर जैसे तैसे जीवित रहा, परन्तु प्राण निकलने लगे तो सब इन्द्रियें शिथिल पड़गईं, शरीर जकड़ सा गया, और उसे मिट्टी समझ 'राम राम सत्य' की तैय्यारी होगई, बस यह देख इंद्रियादि ने हाथ बांधकर प्राणों का प्राधान्य स्वीकार कर लिया। उक्त उदाहरण में भी लोकरीति के आश्रय से 'शारीरिक तत्वों के संगठन में प्राणों का स्थान' निरूपण किया है, अतः यह लौकिकी भाषा का दूसरा नमूना है। इसी शैली का अनुसरण करते हुवे पुराणों में भी अनेक गहन तत्व लौकिकी भाषा द्वारा प्रकट किये हैं यथा—

(क) आसीत् पुरंजनो नाम राजा राजन् बृहच्छ्रवाः ।
तस्याविज्ञातनामासीत्सखाविज्ञातचेष्टितः ॥
सोन्वेषमाणः शरणं बभ्राम पृथिवीं प्रभुः ।
ददर्श नवभिर्द्वारैः पुरं लक्षितलक्षणम् ॥
यदृच्छयागतां तत्र ददर्श प्रमदोत्तमाम् ।
भृत्यैर्दशभिरायान्तीमेकैकशतनायकैः ॥
पञ्चशीर्षाहिना गुप्तां प्रतीहारेण सर्वतः ।
इति तौ दम्पती तत्र समुद्य समयं मिथः ॥
तां प्रविश्य पुरीं राजन्मुमुदाते शतं समाः ।
सप्तोपरि कृताद्वारः पुरस्तस्यास्तु द्वे अधः ॥
महिषी यद्यदीहेत तत्तदेवान्ववर्तत ।
स एकदा महेष्वासो रथं पञ्चाश्वमाशुगम् ॥
द्वीषं द्विचक्रमेकाक्षं त्रिवेणुं पञ्चबन्धुरम् ।
एकरश्म्येकदमनमेकनीडं द्विकूबरम् ॥
पंचप्रहरणं सप्तवरूथं पञ्चविक्रमम् ।
हैमोपस्करमारुह्य स्वर्णवर्म्मोच्चयेषुधिः ॥
एकादशचमूनाथः पञ्चप्रस्थमगाद् वनम् ।
चचार मृगयां तत्र दृप्त आत्तेषुकार्मुकः ॥
ततः क्षुत्तृट् परिश्रान्तो निवृत्तो गृहमेयिवान् ।
तस्यामजनयत्पुत्रान्पुरंजन्यां पुरंजनः ॥
शतान्येकादश विराडायुषोऽर्धमथात्यगात् ।
दुहितृर्दशोत्तरशतं पितृमातृयशस्करीः ॥
आससाद स वै कालो योऽप्रियः प्रिययोषिताम् ।
चण्डवेग इतिख्यातो गन्धर्वाधिपतिर्नृपः ॥
गन्धर्वास्तस्य बलिनः षष्ट्युत्तरशतत्रयम् ।
गन्धर्व्यस्तादृशीरस्य मैथुन्यश्च सितासिताः ॥

ते चण्डवेगानुचराः पुरंजनपुरं यदा ।
हर्तुमारेभिरे तत्र प्रत्यषेधत्प्रजागरः ॥
स सप्तभिः शतैरेको विंशत्या च शतं समाः ।
पुरञ्जनपुराध्यक्षो गन्धर्वैर्युयुधे बली ॥
कालस्य दुहिताकाचिद्त्रिलोकीं वरमिच्छती ।
पर्य्यटन्ती न बर्हिष्मन्प्रत्यनन्दत कञ्चन ॥
दौर्भाग्येनात्मनो लोके विश्रुता दुर्भगेति सा ।
मयोपदिष्टमासाद्य वव्रे नाम्ना भयं पतिम् ॥
कालकन्यापि बुभुजे पुरंजनपुरं बलात् ।
तयोपभुज्यमानां वै यवनाः सर्वतोदिशम् ॥
द्वार्भिः प्रविश्य सुभृशं प्रार्दयन्सकलां पुरीम् ।
भयनाम्नोऽग्रजो भ्राता प्रज्वरः प्रत्युपस्थितः ॥
ददाह तां पुरीकृत्स्नां भ्रातुः प्रियचिकीर्षया ।
विकृष्यमाणः प्रसभं यवनेन बलीयसा ॥
नाविंदत्तमसाविष्टः सखायं सुहृदयं पुरः ।

(श्रीमद्भागवत ४ । २७—२८ । अध्याय)

अर्थात्— पुरंजन नाम का एक महायशस्वी राजा था । उसका एक अविज्ञात मित्र था जिसके नाम धाम का पुरंजन को कुछ पता न था । पुरंजन ने अपने रहने का स्थान खोजने के लिये पृथ्वी में भ्रमण किया । एक दिन उसने नौ दरवाजों वाला एक नगर देखा । और वहां अचानक घूमती हुई एक उत्तम स्त्री को भी देखा । इस स्त्री के साथ ऐसे दस सेवक थे जो कि सौ सिपाहियों की जमादारी करते थे । और एक पांच सिर वाला सांप प्रतीहारी बन कर चारों ओर से इस कामिनी की रक्षा कर रहा था । परस्पर चार आंखें होजाने के बाद पुरंजन और वह सुन्दरी उस नगर में दम्पती बनकर आनन्द पूर्वक पूरे सौ वर्ष तक निवास करते हुवे । उस नगर के सात दर्वाजे ऊपर की ओर थे और दो दरवाजे नीचे की तरफ । पुरंजन रानी जो २ चाहती सोई किया करता था ।

किसी समय पुरञ्जन एक बड़ा धनुष हाथ में ले शीघ्रगामी रथ पर चढ़ कर पञ्चप्रस्थ नामक वन में गया। इस रथ में पांच घोड़े जुते थे। इस के दण्डों में दो पहिये, एक धुरी तीन ध्वज दण्ड, पांच बन्धन, एक रस्सी, एक सारथी एक रथी के बैठने का स्थान और दो युगबन्धन के स्थान हैं। उन में पांच विषय प्रक्षिप्त होते हैं, इस के सात आवरण वस्त्र हैं, और पांच प्रकार की गति है। राजा स्वर्ण का कवच पहिन अक्षय तर्कस कमर में बांध इस स्वर्ण भूषित रथ पर चढ़ कर बन को गया। ग्यारह प्रकार की सेना उसके साथ थी। अभिमानपूर्वक धनुष बाण तानकर उस ने शिकार खेली अनन्तर भूखा प्यासा थक कर वापिस घर लौट आया। समय पाकर उस राजा के घर में पुरंजनी में ग्यारहसौ पुत्र और एकसौ दस कन्याएं उत्पन्न हुईं। जो सभी सन्तान माता पिता के कुलकी कीर्ति को बढ़ाने वाली थी। इस प्रकार उसकी आयु का बहुतसा भाग बीत गया। अब वह काल आ पहुंचा जो कि स्त्री-जितों के लिये अत्यन्त अप्रिय है। चंडवेगनामक गन्धर्वों का राजा तीन सौ साठ बलवान् गन्धर्वों को और उतनी ही आधी काली आधी गोरी बलवती गन्धर्वणियों को साथ लेकर पुरंजन के नगर पर आक्रमण करने लगा। उस समय नगर के रक्षक प्रजागर ने गन्धर्वों के साथ घोर घमासाण युद्ध आरम्भ कर दिया एक ओर ७२० गन्धर्व सेना थी दूसरी तरफ अकेला प्रजागर (लगातार सौ वर्ष तक युद्ध होता रहा) इतने में गन्धर्वराज काल की एक लड़की थी जिसने कि अपने वर के लिये समस्त संसार को छान डाला था, परन्तु किसी ने भी उसे पसन्द नहीं किया था, अतः संसार में उसका नाम दुर्भागिन पड़ गया था, उसने (नारद के कहने से) भयनामक अपने सहोदर भाई को ही वर लिया था, वह भी अपने पति सहित बलात् पुरंजन के नगर में घुस गई, और उसकी यवन फौज ने दर्वाजों के रास्तों से नगरमें प्रवेश करके समस्त पुर को कुचल डाला, इतने में भय का बड़ा भाई प्रज्वर भी आपहुंचा और उसने अपने भ्राता की सहायता के लिये पुरंजन के नगर में सब जगह आग लगादी और बलवान् यवन ने ज़बर्दस्ती पुरंजन को गिरफ्तार कर लिया। उस समय पुरञ्जन ऐसा अन्धकार में पड़ा कि अपने बचाने वाले अज्ञात मित्र को भी न बुला सका।

उपर्युक्त कथा में लौकिक शब्दों द्वारा किसी विलासी राजा के जीवन का और उसके अन्तिम परिणाम का चित्रण किया है। लोक में प्रायः जैसी घटनाएं नित्य घटती हैं, वैसी २ घटनाओं के उल्लेख से उक्त सन्दर्भ में पाठकों के हृदयों को कर्तव्य-पालन की ओर आकृष्ट करने का प्रयत्न किया है, 'साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः' के अतिरिक्त शायद ही कोई सहृदय पुरञ्जन के इस दुःखान्त नाटक को पढ़कर समवेदना

अनुभव किये विना रहे। रह रह कर यह भाव हृदय में प्रबुद्ध होते हैं कि ऐसा प्रभुत्व-शाली और सर्वसाधनसम्पन्न राजा यदि विलासिता के चक्कर में पड़ कर अपने स्वरूप को भूल कर्तव्यपराङ्मुख न होता तो कदाचित् अन्त में उसका इस प्रकार अपमानपूर्वक सर्वनाश न होता! इन सब भावों की जागृति का मूल कारण उपर्युक्त घटनाओं से मिलती जुलती हुई आये दिन घटने वाली वे लोक घटनाएं हैं जो कि सतत अनुभूत होने के कारण हमारे हृदयों में समासी रही हैं। परन्तु वेदव्यास जी ने उक्त कथा के परिणाम को 'समवेदना' तक ही सीमित नहीं रक्खा है, जब इस लोकभाषा के गांभीर्य्य गर्भ में कुछ और नीचे डुबकी लगाई जाती है तो यही समवेदना आत्मग्लानि के रूप में परिवर्तित होजाती है, जो विलासिता जो कर्तव्यपराङ्मुखता विचारे पुरञ्जन के सिर पर लदी थी वह सब की सब अपने आप में दीख पड़ती है, और जो दशा तथा जो दुर्गति पुरञ्जन की हुई थी उससे भी शतगुनी आपत्ति का पहाड़ अपने मस्तक पर टूट पड़ता हुवा नज़र आता है, उस समय अन्तरात्मा कह उठता है कि 'वह पुरञ्जन अन्य कोई नहीं-तू ही पुरञ्जन है' यह सब सन्दर्भ तेरे ही जीवन का सच्चा फोटो है। अगले अध्याय में व्यास जी स्वयं इस लोक भाषा का भांडा फोड़ करते हुवे निम्नलिखित सूचना देदेते हैं कि:—

(ख) पुरुषं पुरञ्जनं विद्यात्.....पुरुषस्य सखेश्वरः।
बुद्धिन्तु प्रमदां विद्यात्.....संवत्सरश्चण्डवेगः॥
कालकन्या जरासाक्षात्...प्रज्वारो द्विविधो ज्वरः।
स्वसारं जगृहे मृत्युः क्षयाय यवनेश्वरः॥

(श्रीमद्भागवत ४। २६ अध्याय)

अर्थात्— यह जीव ही पुरञ्जन है, ईश्वर इसका अज्ञात मित्र है। उक्त जीव अनेक योनियों में भटकता हुवा अपने अनुकूल देह रूप नगर को ढूंढता फिरता है आंख, नाक, कान, मुख, लिङ्ग और गुदा इन नौ छिद्रों वाला मनुष्य शरीर ही सुन्दर नगर है जिसे यह अपना लेता है। मनुष्य देह रूप नगर में आते ही जीव को बुद्धि-रूपिणी स्त्री दीख पड़ती है। दशों इन्द्रिय ही इस पुरञ्जनी के सेवक हैं जो सैंकड़ों प्रकार के इन्द्रिय कार्य्यों के अधिनायक हैं। पांच वृत्तियों वाला प्राण ही पञ्चशीर्ष सर्प है, जो प्रतिहारी की तरह इसे सब भांति सुरक्षित रखता है इस प्रकार जीव और बुद्धि-रूप दम्पती मनुष्यदेह नगर में आनन्द उपभोग करते हैं। आंख, नाक आदि सात ऊपर को दर्वाजे हैं और लिङ्ग गुदा रूप दो नीचे ओर। जीव, बुद्धि के आदेशानुसार

सब क्रियाएं करने लगता है। देह रूप रथ है, जिसमें पांचों विषयेंद्रियें तेज घोड़े जुते हैं, पाप पुण्य दो पहिये हैं, रजः सत्व तमः तीनों गुण ध्वज हैं, पञ्च प्राणों से ही पांच जगह बन्धा है। सब घोड़ों की मनः रूप एक ही लगाम है, बुद्धि सारथी है, हृदय ही जीव के बैठने का नीड़=रथ स्थान है। सुख और दुःख दोनों जगह बन्धन के स्थान हैं। पांचों विषय ही प्रहरण हैं, तथा अस्थि मांस आदि सातों धातु ही उक्त रथ के आवेष्टन वस्त्र (झामण) है। ऐसे रथ पर सवार होकर जीव रूप पुरञ्जन मृगतृष्णा की मृगया में आसक्त होता है। ग्यारह इन्द्रियों की फौज उसके साथ रहती है। पांच विषय ही पञ्चप्रस्थ वन है। विषयोपभोग की मृगतृष्णा से थक कर हृदय रूप रनवास में आता है बुद्धि को अनेक तरह से परेशान पाता है। समय पाकर इस प्रकार अनेक सङ्कल्प विकल्प और वासनाओं का सन्तति समुदाय भी बढ़ जाता है और जीव इसी परिवार चक्र में फँस कर अपने आपको भूल बैठता है।

काल के परिमाण का परिचायक संवत्सर ही चंडवेग नामक गन्धर्वराज है, तीनसौ साठ दिन उसके सेना नायक हैं और अँधेरी चान्दनी दोनों प्रकार की तीनसौ साठ रात्रियें ही गन्धर्वनियां हैं, जो सब मिला कर ७२० संख्या वाली सेना जन्म दिन से ही मनुष्य शरीर पर आक्रमण आरम्भ कर देती है। अहङ्कार ही शरीर रूप पुरञ्जन नगर का अध्यक्ष है जो उक्त सेना से अकेला जूझता रहता है।

जरा=बुढ़ापा ही काल की कन्या है जो सब प्राणियों को वरती फिरती है परन्तु उस हतभागिनी को कोई भी पसन्द नहीं करता अतएव वह अन्त में अपने सगे भाई मृत्यु भय (डर) को अपना पति बनाती है, समय पाकर वह भी पुरञ्जन नगर पर अपना अधिकार जमा लेती है, आधि व्याधि क्षत और शूल आदि जरा के अनुचर नाक कान आदि द्वारों से घुस कर शरीर रूप नगर को छिन्नभिन्न करने लगते हैं। मृत्यु का जेठा भाई ज्वर=बुखार ही प्रज्वर है जो उक्त नगर को फूंकने लगता है, तब अवसर पाकर मृत्यु रूप यवन, जीव को आ घेरता है, उस समय वह पुरञ्जन इतना अन्धकारग्रस्त होता है कि अपने उद्धारक अज्ञात मित्र ईश्वर का स्मरण करना भी भूल जाता है।

इस तरह लौकिकी भाषा द्वारा उक्त सन्दर्भ में जीव की इतिकर्तव्यता का निर्देश किया गया है। इसी प्रकार महाभारत में 'संसार अटवी में पथिक रूप जीव का भ्रांत होजाना' वाली प्रसिद्ध कथा तथा 'गृध्रगोमायुसम्वाद' इसी कोटि के सन्दर्भ हैं हम विस्तार भय से यहां अन्यान्य कथाओं के उद्धरण देना नहीं चाहते, अतः पाठकों को मूल ग्रन्थों में ही उनका पारायण करना चाहिये।

परकीया-भाषा

जो सन्दर्भ प्रत्यक्ष में अटपटे प्रतीत होते हों और जो बातें न कभी सुनी, और न देखीं— ऐसी लोकोत्तर एवं असम्भव सी जँचने वाली भाषा द्वारा जहां गूढतम वैज्ञानिक सिद्धान्तों का निरूपण किया गया हो वह 'परकीया-भाषा' समझनी चाहिये।

समाधि-भाषा में तो अर्थगाम्भीर्य्य के कारण लोकोत्तरता लक्षित होती है परन्तु परकीया भाषा में अर्थसङ्गति ठीक बैठ जाने पर भी असम्भवताभास के कारण तादृश पदार्थ की विद्यमानता में सन्देहाभास खड़ा होजाता है यही उक्त दोनों भाषाओं का पार्थक्य है, इसी प्रकार लौकिकी और परकीया दोनों भाषाओं में रूपकालङ्कार का समान समावेश होते हुवे भी लौकिकी भाषा में तो लोकप्रसिद्ध घटनाओं का चित्रण होता है, परन्तु परकीया-भाषा में सर्वथा लोकोत्तर घटनाओं का उल्लेख पाया जाता है, यही इन दोनों का पार्थक्य है।

सो समाधि भाषा और लौकिकी भाषा का तो सोदाहरण निरूपण किया जा चुका है अब प्रसङ्गोपात्त परकीया भाषा का विवेचन किया जाता है। यथा वेद में

(क) चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा
द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति,
महो देवो मर्त्यां आविवेश॥

(ऋग्वेद ४। ५८। ३)

अर्थात्— (क) एक वृषभ=बैल है, जिसके चार सींग, तीन पांव, दो सिर और सात हाथ हैं, वह तीन जगह से बंधा हुवा है और बार बार दङ्कता हुवा मनुष्यों में घुसा है। परन्तु है वह सब देवों में उत्तम देव।

उपर्य्युक्त मन्त्र में जैसे बैल का वर्णन किया जा रहा है लोक में कभी किसी ने ऐसे बैल को आज तक न देखा होगा और नाहीं सुना होगा, यदि इस मन्त्र के वर्णनानुसार उक्त बैल का चित्र खेंचा जाए तो देखने वाले दङ्ग रह जाएंगे।

भला! चार सींग और दो शिर तो हुवे सो हुवे, तथा पांव भी तीन ही रहने दो, परन्तु वे सात हाथ कहां लटकाए जाएंगे? पाठक ज़रा कल्पना कर देखें कि इस प्रकार का विलक्षण बैल कहीं मनुष्यों में दङ्कता हुवा आघुसे तो एक बार तो सर्वसाधारण के छक्के छूट जाएं! समाजी नमाजी और मेयोपाजी परकीया भाषा के

पुराणवर्णित ऊपर जैसे अंशों पर– जो मखौल, जो उपहास, और जो बेपर की उड़ाया करते हैं उससे कहीं अधिक मज़ाक एक वेदानभिज्ञ पामर उपर्य्युक्त मन्त्र पर भी खूब उड़ा सकता है, लेकिन साक्षरों की दृष्टि में इस प्रकार की अनर्गल आलोचनाएं हिन्दू ग्रन्थों के महत्व को घटाने के बजाय उल्टा समालोचकमन्यों की ही खुश्क खोपड़ी की खुराफ़ात व्यक्त करती है, निःसन्देह 'नैष स्थाणोरपराधो यदेनमंधो न पश्यति, पुरुषापराधः स भवति' के अनुसार वे स्वयं अपनी अज्ञता का ढिण्ढोरा पीटते हैं।

सुतरां वह बैल क्या पदार्थ है इसका स्पष्टीकरण सुनिये।

(१) याज्ञिक लोग कहते हैं कि यज्ञ ही सर्व कामनाओं का बरसाने वाला या पूरा करने वाला है अतएव वही 'वृषभ' है, चारों ऋत्विक् उसके सींग=रक्षक स्थानीय हैं, वेदत्रयो (तीनों वेद) ही पांव हैं, जिनके आधार पर यज्ञ को खड़ा किया जाता है, यजमान और उसकी पत्नी दोनों शिर हैं, गायत्री आदि सातों छन्दः हाथ हैं, जिनके द्वारा समस्त यज्ञ कार्य्य सम्पादन होता है। प्रातः मध्याह्न और सायंकाल के तीनों सवनों से ही वह बन्धा हुआ है, अतएव वह देवों का देव है, तथा मनुष्यों द्वारा आचरणीय होने के कारण उन में प्रवेश करता है। सायणाचार्य्य अपने भाष्य में कहते हैं कि याज्ञिक अर्थ के अतिरिक्त उक्त सूक्त के अग्नि, सूर्य्य, आप्, गाय और घृत यह पांच देवता हैं तदनुसार इसका अर्थ भी पांचों से सम्बद्ध है सो—

(२) अग्नि पक्ष में— चार वेद सींग, तीनों सवन पांव, ब्रह्मौदन और प्रवर्ग्य दोनों शिर, सातों छन्द हाथ, मन्त्र (ब्राह्मण) विधि और अर्थवाद तीनों से बंधा हुवा,

(३) सूर्य्य पक्ष में— चारों दिशाएं सींग, वेदत्रयी पांव, दिन रात दो शिर, सातों रश्मियें=किरणें हाथ, पृथ्वी अन्तरिक्ष और द्यः तीनों स्थानों में बन्धा हुवा। 'आदित्या ज्जायते वृष्टिः' के अनुसार वही वृषभ=बारिस का करने वाला और मेघादि के रूप में गर्जने वाला है।

पतञ्जलि जी अपने व्याकरण महाभाष्य में इसका व्याकरणपरक अर्थ करते हैं। यथा—

(४) नाम आख्यात उपसर्ग और निपात चारों सींग, भूत भविष्यत् और वर्तमान तीनों काल पांव, सुबन्त और तिङन्त दो शिर, सातों विभक्तियें हाथ, उरः कण्ठ और शिर तीन स्थानों द्वारा उच्चारित होने के कारण तीन जगह से बन्धा हुवा। यही सब कामों का 'वृषभ' है।

(५) कई पण्डित लोग 'धर्म्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्' के अनुसार धर्म्म को ही समस्त पदार्थों का वर्षक मानते हैं अतः वही 'वृषभ' है, चारों वर्ण सींग, श्रुति स्मृति

और पुराण तीनों पांव, इष्टापूर्त दोनों शिर, अहिंसा सत्य अस्तेय आदि मुख्य सातों अङ्ग हाथ, नित्य नैमित्तिक और काम्य तीन प्रकार के कार्य्यों में बन्धा हुआ, तथा मनुष्य को ही उसके आचरण का अधिकार होने के कारण उनमें प्रवेश करता है।

उपर्य्युक्त अर्थों में जिस पक्ष में जिस वस्तु को सींग पांव हाथ आदि ठहराया है उसका हेतुपुरस्सर विवेचन किया जाए तो इसी एक मन्त्र का व्याख्यान अनावश्यक बढ़ जाए, अतः हम केवल याज्ञिक अर्थ का विवेचन करके शेष अर्थों को भी इसी भांति पल्लवित करने का भार पाठकों पर छोड़ते हैं।

यज्ञ में किसका कौन स्थान है–यह रहस्य उक्त अङ्ग कल्पना से भली भांति समझ में आजाना चाहिये, यज्ञ को सिंह, महिष, मृग या बकरा आदि पशु के रूप से व्यक्त न करके बैल नाम से ही प्रकट करना भी अनेक तत्वों से भरपूर है, क्यों कि यज्ञ में सिंह की हिंस्रवृत्ति, महिष की मदान्धता, मृग की पलायनशीलता और भेड़ बकरे की भीरुता का नामोनिशान नहीं है बल्कि–(वोढारं गौः) श्रुति के अनुसार वह यज्ञ तो बैल के समान ही आपद्ग्रस्त यजमान को पापों की दलदल से निकाल डालने का गौरव रखता है। सौम्यता, भारोद्वहनशक्ति एवं सर्वोपकारिता का जो आदर्श यज्ञ में पाया जाता है वह बैल को छोड़कर अन्य किसी पशु में मिलना असंभव है अन्य पशु में यह तीनों गुण अप्राप्य हैं, इस लिये यज्ञको "वृषभ" शब्द द्वारा निरूपित किया गया है। वृषभ के शरीर पर आपत्ति आने पर जिस प्रकार अपने सींगों द्वारा वह अपनी रक्षा किया करता है इसी प्रकार यज्ञ में विधि विपर्य्यय से जो प्रत्यवाय हो उसे प्रायश्चित्तद्वारा दूर करना–होता अध्वर्यु आदिका कर्तव्य है। यज्ञ का आधार–जिसके सहारे पर उसे स्थिर रखना है वह वेदत्रयी है,। (इससे तर्क के आधार पर यज्ञ विधान में न्यूनाधिक्य नहीं हो सकता यह भली प्रकार ध्वनित होजाता है) शरीर में मुख्य अङ्ग शिर है, शिर के बिना समस्त अङ्ग व्यर्थ हैं। इसी प्रकार सपत्नीक यजमान यज्ञ का शिर है (इससे यह बात बताई गई है कि यज्ञ में यजमान और यजमान पत्नी दोनों का होना आवश्यक है, इसी लिये मर्य्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र जी ने सीता-त्याग के अनन्तर जो यज्ञ किया था उसमें पत्नी के स्थान में सुवर्णमयी प्रतिमा रख कर यज्ञविधि का पालन किया था, अन्यथा यज्ञ होना ही असंभव था)। जिस प्रकार हाथ कार्य्यसम्पादन का मुख्य साधन हैं इसी प्रकार यज्ञ में गायत्री आदि छन्दोज्ञान परमावश्यक है, यज्ञ प्रातः, मध्य, सायं, सवनत्रय से निबद्ध होना चाहिये। इत्यादि यज्ञोपयोगी अनेक शिक्षाएं इस अलंकारकल्पना से प्राप्त होती हैं। इसी प्रकार धर्म पक्ष में ब्राह्मणादि वर्णों की इतिकर्तव्यता का यथायोग विवेचन कर लेना चाहिये।

वेद में परकीया भाषा के अन्य भी बहुत से उदाहरण विद्यमान हैं, हम विस्तार-भय से उनका यहां लिखना अनावश्यक समझते हैं तथापि एक आध संकेत किये देते हैं जिससे कि पाठकों को मनोरंजन के साथ २ वेदपुराणादि की शैली समझने का अभ्यास बढ़ सके। सुनिये—

(ख) सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥
यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत॥
वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः।
सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः॥
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन्पुरुषं पशुम्।

(यजुर्वेद अध्यायः ३१)

अर्थात्—(ख) हज़ार शिर हज़ार आंख और हज़ार पांव वाला, एक पुरुष था (शिरों की अपेक्षा निःसन्देह उसे काना और लंगड़ा कहा जा सकता है!) देवताओं ने उस पुरुष का यज्ञ आरम्भ किया। वसन्त ऋतु को घी, ग्रीष्म को समिधा और शरद् को हवि बनाया, सात परिधियें बनाईं और इक्कीस समिधाएं कीं। और उस पुरुषको यज्ञ में पशु बनाकर मार डाला।

उपर्युक्त सन्दर्भ में ईश्वर का वर्णन किया है और उससे सृष्टि की उत्पत्ति किस प्रकार हुई यह रहस्य भी प्रकट किया गया है, समस्त रूपक का सामंजस्य बिठलाने के लिये वेद भाष्यों का पारायण करना चाहिये। अब हम परकीया भाषा के पुराणान्तर्वर्ती कतिपय निदर्शन उद्धृत करते हैं। यथा—

(क) एका तु तरुणी तत्र निषण्णा खिन्नमानसा।
वृद्धौ द्वौ पतितौ पार्श्वे निःश्वसन्तावचेतनौ॥

(पद्म उत्तर ६। १९३। ३८)

अर्थात्—(क) (नारद जी कहते हैं कि मैंने यमुना तट पर देखा कि वहां एक खिन्न मुख वाली युवती स्त्री बैठी है। और उसके पास ही दो वृद्ध अचेत पड़े हुवे लम्बी सांस ले रहे हैं (नारद जी के पूछने पर उस स्त्री ने आश्चर्य्यपूर्वक कहा कि)

साहं तु तरुणी कस्मात् सुतौ वृद्धाविमौ कुतः।
घटते जरठा माता तरुणौ तनयाविति॥

(पद्म उत्तर ६। १९३। ५३)

अर्थात्— (मैं माता हूँ और ये दोनों मेरे पुत्र हैं,) मैं युवती क्यों हूँ और ये दोनों मेरे पुत्र वृद्ध क्यों होगये ? वास्तव में तो माता का जरठ होना और पुत्रों का युवा होना ही घटित होता है।

यहां प्रत्यक्ष में माता का युवति होना और पुत्रों का महावृद्ध हो जाना असंभव सा प्रतीत होता है, वास्तव में उक्त सन्दर्भ में भक्ति को ही माता कहा गया है, और ज्ञान वैराग्य को उसके पुत्र बतलाया गया है। कलिकाल के आरंभ में और अब भी 'ज्ञान की बात कृपाण की धारा' के अनुसार धारणा ध्यान समाधि आदि अष्टाङ्ग योग द्वारा जितात्मा होकर ज्ञान एवं वैराग्य को धारण करने वाले पुरुष विरले ही मिलते हैं अतः ग्राहकों के न होने से उक्त दोनों साधन को यहां मृतप्रायः एवं महावृद्ध प्रकट किया है, परन्तु सुगम होने के कारण इस गई गुजरी दशा में भी भक्ति-मार्ग के अधिकारी निकलते ही रहते हैं अतः उसे 'तरुणी' बतलाया है। यही आशय यहां विवक्षित है। असंभवाभासोपलक्षितरूपक होने के कारण यह सन्दर्भ 'परकीया भाषा' का पहिला उदाहरण है इसी प्रकारः—

(ख) तत्र गोमिथुनं राजा हन्यमानमनाथवत्।
दण्डहस्तं च वृषलं ददृशे नृपलाञ्छनम् ॥
वृषं मृणालधवलं मेहन्तमिव बिभ्यतम्।
वेपमानं पदैकेन सीदन्तं शूद्रताडितम् ॥
गां च धर्म्मदुघां दीनां भृशं शूद्रपदाहताम्।
विवत्सां साश्रुवदनां क्षामां यवसमिच्छतीम् ॥
पप्रच्छ रथमारूढः कार्तस्वरपरिच्छदम्।
कस्त्वं मच्छरणे लोके बलाद्धंस्यबलां बली ॥
कोऽवृश्चत्सव पादांस्त्रीन्सौरभेय! चतुष्पद!।
इतिधर्म्ममहीं चैव सान्त्वयित्वा महारथः ॥
निशातमादे खड्गं कलयेऽधर्म्महेदवे।
तं जिघासुमभिप्रेत्य विहाय नृपलाञ्छनम् ॥
तत्पादमूलं शिरसा समगाद् भयविह्वलः।
पतितं पादयोर्वीक्ष्य कृपया दीनवत्सलः ॥

शरण्यो नावधीच्छलोक्यआहचेदंहसन्निव ।
नवर्तितव्यं भवता कथंचन क्षेत्रे मदीये त्वमधर्म्मबन्धुः ॥
परीक्षितैवमादिष्टः स कलिर्जातवेपथुः ।
तमुद्यतासिमाहेदं दण्डपाणिमिवोद्यतम् ॥
तन्मे धर्म्मभृतांश्रेष्ठ ! स्थानं निर्देष्टुमर्हसि ।
द्यूतं पानं स्त्रियः सूना यत्राधर्म्मश्चतुर्विधः ॥
पुनश्च याचमानाय जातरूपमदात्प्रभुः ।
वृषस्य नष्टां स्त्रीन्पादांस्तपः शौचं दयामिति ॥
प्रतिसन्दध आश्वास्य मह्नीं च समवर्द्धयत् ।

(श्रीमद्भागवत १ । १६-१७ अध्याय)

अर्थात्—(ख) (दिग्विजय से लौटते हुवे राजा परिक्षित ने सरस्वती के किनारे देखा) एक गाय और बैल का जोड़ा खड़ा है तथा राजा के समान मुकुट आदि धारण किये एक वृषल=(धर्म्मविध्वंसक, शूद्र) हाथ में दण्ड उठाकर उसे अनाथ की तरह पीट रहा है। वह बैल कमलनाल=बिस के समान धवल है और डर से मूत छोड़ रहा है, तथा केवल एक पांव के सहारे दुःखित दशा में खड़ा हुवा शूद्र से पीटा गया कांप रहा है। और वह धर्म्मदुघा=गाय भी शूद्रद्वारा बार २ पांवकी ठोकरों से ठुकराई हुई, अत्यन्त दीन हो रही है। आंखों से आंसू टपक रहे हैं। मानो इसका वत्स नष्ट होगया इस प्रकार थकित होकर घास को चाह रही है। सुवर्ण जटित रथ में बैठे हुवे राजा ने पूछा कि-मेरी रक्षा में रहने वाली प्रजा को बलात् मारने वाला तू कौन बली है ? तथा ऐ चारपाए बैल ! तेरे ये तीन पांव किसने काट डाले ? (धर्म्म रूप बैल के सब कुछ बताने पर) राजा ने भूमिरूप गाय और धर्म्म-रूप बैल को आश्वासन दिया, तथा उस कलिकालरूपी राजवेशधारी शूद्र को मारने के लिये तीखी तलवार उठाई। जब शूद्र ने देखा कि राजा मुझे मार ही डालेगा तो वह राजवेश त्याग कर भयाकुल हो चरणों में गिर पड़ा। राजा परिक्षित उसे पांवों में पड़े देखकर करुणाविष्ट होगये, और उसे शरणागत जान वार न किया तथा हंसते हुवे कहने लगे कि-ऐ पापिष्ठ ! खबरदार ! मेरे राज्य की सीमा से बाहर निकल जा'। परीक्षित की ऐसी आज्ञा पाकर-मानो खड्ग उठाए साक्षात् काल सिर पर खड़ा हो-ऐसे राजा के प्रति कांपते हुवे कलि ने कहा कि-'हे धर्म्मात्मन् ! आप मुझे कोई

स्थान तो बतला दीजिये जहां मैं गुजर कर सकूं'। परीक्षित ने कहा कि जूआ मद्य-पान व्यभिचार और हिंसा यह चारों अधर्म्म जहां हो रहे हों वहां तू निवास कर-अनन्तर कलिके मांगने पर पांचवां स्थान सोना भी बतलाया। तब राजा ने उस बैल के टूटे हुवे, तपः शौच और दयारूप तीनों पांवों को पूर्ववत् जोड़ दिया तथा भूमि को भी आश्वासन देकर समृद्ध किया।

उपर्युक्त सन्दर्भ में- एक बैल का तीन पांओं के टूट जाने पर भी एकले पांव के सहारे खड़ा रहना, गाय के साथ तथा राजा के साथ मनुष्यों की भांति बात चीत करना, एवं पश्चात् राजा द्वारा उसके टूटे हुवे तीनों पांवों का तत्काल पूर्ववत् जुड़ जाना, इत्यादि असंभवसी बातें दर्ज हैं इस लिये असंभवाभासोपलक्षित रूपक होने के कारण यह परकीया भाषा का दूसरा उदाहरण है। वास्तव में यहां 'वृषोहिभगवान् धर्म्मः' इत्यादि स्मृति वाक्यों के अनुसार धर्म्म को ही बैल कहा गया है, तपः, शौच, दया और सत्य यह चारों धर्म्म के मुख्य अङ्ग होने का कारण यहां पांव रूप से वर्णित हैं। भूमि का दूसरा नाम गाय भी है। राजा होकर भी जो धर्म्म और प्रजा पर अत्याचार करते हैं वे ही राजवेशधारी शूद्र कलिके प्रतिनिधि हैं। जान पड़ता है परीक्षित के समय में सरस्वती के पश्चिम किनारे शूद्रप्रायः सामन्त धर्म्म और धरा का उत्पीड़न करने लग गए थे, उस समय तपः शौच और दया रूप धर्म्म के तीन पांव तो सर्वथा निःशेष हो ही चुके थे, सत्यरूप चौथे पांव को भी नष्ट करने का प्रयत्न किया जाने लगा था। परिक्षित ने दिग्विजय में बहुत से अधर्म्मियों को मार डाला, अनेकों को शरणागत हो जाने पर देश निकाला वा अमुक २ स्थान में नज़र बन्द रक्खा, तथा पुनः अपने राज्य में तपश्चर्य्या, पवित्रता, दयाभाव एवं सत्य की स्थापना की-यही इस कथा का ऐतिहासिक तथ्य है जो परकीया भाषा द्वारा प्रकट किया गया है। साथही-कलि नामक युग या कलह-जूआ (मिथ्याभाषण) मद्यपान (मदान्धता) व्यभिचार (कामोपभोग) और हिंसा (बैर) तथा सुवर्ण (लोभ) इन पांच स्थानों में निवास करता है-यह परमोपयोगी उपदेश भी इस कथानक के उपसंहार से प्रकट कर दिया है।

इस तरह हम त्रिविध भाषा का सोदाहरण निरूपण करने के बाद पाठकों को यह कह देना आवश्यक समझते हैं कि पुराणान्तरवर्ती प्रत्येक कथा को हमारे पूर्वोक्त लक्षणों के अनुसार किसी उचित श्रेणी में परिगणित करके तत्पश्चात् उसका वास्तविक तात्पर्य्य समझना चाहिये। जो लोग पुराणों की भाषा टीकाओं में लिखे हुवे अक्षरार्थों के आधार पर ऐसे सन्दर्भों को गप्पाष्टक बताकर अपनी मूर्खता का परिचय दिया

करते हैं उन लोगों को कुछ साहित्य शास्त्र का अध्ययन करना चाहिये जिससे अभिधार्थ से आगे बढ़ कर लाक्षणिक और व्यञ्जक अर्थों के समझने की भी योग्यता होसके।

यास्काचार्य्य ने निरुक्त (७ । १ । ३) में उक्त त्रिविध भाषाओं को नामान्तर से स्मरण किया है, आप लिखते हैं कि—

तास्त्रिविधा ऋच, परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता, आध्यात्मिकयश्च ।

अर्थात्— वेद ऋचाएं तीन प्रकार की हैं (१) परोक्षकृत (२) प्रत्यक्षकृत और (३) आध्यात्मिक। सो आध्यात्मिकी को समाधि, प्रत्यक्ष को लौकिकी और परोक्ष को परकीया कह सकते हैं, इस प्रकार वेदों और तदनुसारी पुराणों की त्रिविध भाषाओं का मनन करना चाहिये।

अर्थ-विचार

पूर्वाचार्य्यों ने वेद मन्त्रों की व्याख्या करते हुवे उन्हें कई २ अर्थों में व्याख्यात किया है, वेदार्थनिर्णय में आज कल निरुक्त का प्राधान्य माना जाता है, या यूं समझिये कि इस समय वैदिक साहित्य सागर का यही एक ग्रन्थ रत्न हमारे पास शेष बचा है जो कि अत्याचारी यवन बादशाहों की अमानुषिक काली करतूत से अग्नि की भेंट नहीं होसका है और अब भी हमें वेदार्थनिर्णय में गुरु का काम देरहा है, उक्त ग्रन्थ में एक ही वेदमन्त्र के आध्यात्मिक आधिदैविक और आधिभौतिक— (कहीं २ ऐतिहासिक और नैरुक्त) पद्धतियों से भिन्न भिन्न अर्थ किये गये हैं निदर्शनार्थ हम एक मन्त्र यहां उद्धृत करते हैं। यथाः—

सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः ।
जनिताग्नेर्जनिता सूर्य्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः ॥

(ऋ० अ० ७ अ० ४ व ६)

अधिदैवत पक्ष में (सोमः) सूर्य्य [प्रसवनात्] (मतीनां) [प्रकाशकर्म्मणामादित्यरश्मीनां] अपनी प्रकाशक किरणों का (दिवः) [द्योतनकर्म्मणामादित्यरश्मीनां] चमकने वाली किरणों का (पृथिव्याः) [प्रथनकर्म्मणामादित्यरश्मीनां] फैलने वा फैलाने वाली किरणों का (अग्नेः) [गतिकर्मणामादित्यरश्मीनां] गमन करने वाली किरणों का (सूर्य्यस्य) [स्वीकरणकर्म्मणामादित्यरश्मीनां] अपनी ओर आकर्षण करने वाली किरणों का (इन्द्रस्य) [ऐश्वर्य्यकर्म्मणामादित्यरश्मीनां]

सामर्थ्य वाली किरणों का (विष्णोः) [व्याप्तिकर्मणामादित्यरश्मीनां] व्याप्त होजाने वाली किरणों का (जनिता) [उत्पन्न करने वाला है] जो (पवते) [पवित्र करता है]

(निरुक्त १४ । १२)

अध्यात्म पक्ष में—(सोमः) आत्मा (मतीनां) ज्ञानवाली इन्द्रियों का (दिवः) प्रकाशवाली इन्द्रियों का (पृथिव्याः) फैलनेवाली इन्द्रियों का (अग्नेः) गमन करने वाली इन्द्रियों का (सूर्य्यस्य) ग्रहण करने वाली इन्द्रियों का (इन्द्रस्य) सामर्थ्यवान् मन का (विष्णोः) व्याप्त होजाने वाले मन का (जनिता) प्रेरक रूप से उत्पादक है, जो (पवते) पवित्र करता है ।

(निरुक्त १४ । १२)

उपर्य्युक्त मन्त्र के सूर्य्यपरक अर्थ में जिन मति आदि शब्दों द्वारा सूर्य्य किरणों के विशिष्ट गुण बताये गये हैं आत्मपरक अर्थ में उन्हीं मति आदि शब्दों द्वारा इन्द्रियों के विशेष गुण कथन किए गए हैं, सोम शब्द—सूर्य्य और आत्मा दोनों का वाचक माना गया है, जिस प्रकार समस्त किरणों का अधिष्ठान सूर्य्य है इसी प्रकार सब इन्द्रियों का प्रेरक आत्मा है ।

निरुक्त में अन्यत्र भी पचासों मन्त्र विभिन्न अर्थों में व्याख्यात हुवे हैं, ऋग्वेद (१ । २ । ३७) वर्णित इन्द्र वृत्रासुर संग्राम के विषय में यास्क जी ने लिखा है कि:—

तत्को वृत्रः ? मेघ इति नैरुक्ताः । त्वाष्ट्रो असुर इत्यैतिहासिकाः ।

(निरुक्त २ । १६ । २)

अर्थात्— यहां वृत्र कौन है ? सो निरुक्तवादी मेघ को वृत्र कहते हैं, और इतिहासवादी त्वष्टा के पुत्र एक असुर को वृत्र कहते हैं ।

यहां निरुक्तकार ने दोनों पक्षों को सन्मान दिया है ।

हमारी इस विस्तृत भूमिका का तात्पर्य यह है कि पुरातन काल से बहुत से वेद मन्त्रों के कई २ अर्थ करने की शैली चली आई है । हम पीछे 'चत्वारि शृंगाः' आदि मन्त्र के चार पांच अर्थ लिख आए हैं, पाठक वहां देख कर हमारे विचार का सामंजस्य परख सकते हैं ।

वेदानभिज्ञ मनुष्य को एक मन्त्र के कई अर्थ देख कर यह भ्रम होसकता है कि वस्तुतः सत्य अर्थ कौनसा है, परन्तु एक वेदज्ञ की दृष्टि में सभी अर्थ यथार्थ ही होते हैं, उन में से किसी एक को सत्य मान कर शेषों को मिथ्या बताने का किसी भी सम्प्रदाय को अधिकार नहीं हो सकता, जिस प्रकार पूर्वोक्त "सोमः पवते" आदि मन्त्र का अर्थ अधिदैवतपक्षवादी पुरुष "सूर्य्यपरक" कर सकता है, परन्तु उसे इसके

"आत्मपरक" अध्यात्म अर्थ के निषेध करने का कोई स्वत्व नहीं है तथा इन्द्र वृत्रासुर संग्राम प्रतिपादक मन्त्रों में निरुक्तवादी लोग वृत्र शब्द का अर्थ मेघ कर सकते हैं परन्तु उन्हें इतिहासवादियों के अभिमत "त्वाष्ट्र असुर" अर्थ को मिथ्या कहने का अधिकार नहीं— तात्पर्य्य यह हुवा कि व्याकरण आदि वेदाङ्गों से अविरुद्ध और युक्तियुक्त जितने भी अर्थ होंगे वे सभी यथार्थ माने जावेंगे, अधिकारियों को रुचि-भेद से उन में से जो पसन्द हो, वे उसे ग्रहण कर सकते हैं। यहां तक हमने ऋषि-सम्मत—, वेदार्थ निर्णय शैली का विवेचन किया है, अब पुराणों के सम्बन्ध में भी जो अर्थ करने की शैली प्राचीन काल से चली आती है— उस पर विचार कीजिये।

पुराणों में अधिकांश वर्णन ऐसे हैं जो कि आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक— तीनों प्रकार के अर्थों में पूर्णरूप से घटित होते हैं, एक पुराण में यदि उसे आध्यात्मिक अर्थ का प्राधान्य सामने रख कर कहा गया है तो पुराणान्तर में उसे ही आधिभौतिक या आधिदैविक अर्थ की मुख्यता से वर्णन किया गया है। उदाहरणार्थ हम "ब्रह्मा दुहिता" से सम्बन्ध रखने वाली प्रसिद्ध वैदिक कथा को ही सामने रखते हैं, यह कथा प्रायः सभी पुराणों में आती है, श्रीमद्भागवत पुराण (स्क० ३। अ० १२) में, ब्रह्मवैवर्त पुराण (ख० ४ अ० ३६) में और देवीभागवत (स्क० १ अ० १४ श्लो० ६६) में भी इसका संकेत किया गया है, परन्तु उक्त तीनों पुराणों में यह भिन्न भिन्न अर्थों को मुख्य रख कर लिखी गई है, यह बात उन २ पुराणों में उक्त कथा का उपसंहार देखने से भली भांति स्पष्ट होजाती है।

श्रीमद्भागवत में यह कथा आधिभौतिक अर्थ में कही गई है वहां इसका यह तात्पर्य्य है कि प्रजापति (सूर्य्य) अपनी दुहिता (उषा) के पीछे दौड़ता है, मरीचि आदि पुत्र (६ किरणें) उसे रोकते हैं, वह लज्जित होकर अपने कलेवर (वाष्पमय प्रभातकालीन बादल) को त्याग देता है वह त्यागा हुवा शरीर सब दिशाओं में फैल जाता है, जिसेः—

नीहारं यदूचिदुस्तमः

(भा० ३। १२। ३४)

अर्थात्— नीहार=कुहरा=धुन्ध यह वैज्ञानिक कहते हैं। यहां उपसंहार से स्पष्ट होगया कि "कुहरे" की उत्पत्ति बताने के लिये ही इस रूप का उल्लेख हुवा है।

ब्रह्मवैवर्त पुराण में यही कथा आध्यात्मिक अर्थ को मुख्य मान कर लिखी गई है, वहां उपसंहार में स्पष्ट कर दिया गया है कि :—

मनःस्वरूपो ब्रह्मा मे ज्ञानरूपो महेश्वरः ।
वागधिष्ठात्री देवी या सा स्वयं सरस्वती ॥

(४ । ३६ । ५८)

अर्थात्— मनरूप ब्रह्मा वाणीरूप सरस्वती के पीछे दौड़ता है तब ज्ञान रूप शिव अपने पिता मन का अहंकाररूप मस्तक काट डालते हैं। यहां मरीचि आदि के बजाय शिवद्वारा ब्रह्मा के मस्तक काटने का उल्लेख है, क्यों कि आध्यात्मिक अर्थ में मरीचि आदि ६ पुत्र (किरणें) घटित नहीं होसकते थे और नाहीं ब्रह्मा का शरीर-त्याग उचित जंचता था बल्कि ज्ञानरूप महेश्वरद्वारा मनःरूप ब्रह्मा का अहंकाररूप पांचवां मस्तक काट डालना ही उचित प्रतीत होता था अतएव ब्रह्मवैवर्त में वैसा लिखा है जो कि आध्यात्मिक अर्थ में सर्वथा घटित हो सकता है।

देवीभागवत में उक्त कथा के आधिदैविक अर्थ को मुख्य मानकर इसका संकेत किया है। अतः वहां ब्रह्मलोक के अधिष्ठाता श्री ब्रह्मा जी अभिप्रेत हैं। तात्पर्य्य यह है कि यह एक ही कथा तीन पुराणों में तीन अर्थों में प्रयुक्त हुई है।

इस समय पुराणों का अनुसन्धान करने वाले महानुभाव अर्थ विचार में एक दूसरे से किञ्चित् मतभेद रखते हैं, थियासोफिकल सोसायटी की ओर से पुराणों के सम्बन्ध में जो ग्रन्थ लिखे गये हैं उनमें प्रायः रूपक—आलंकारिक शैली को मुख्य रक्खा गया है, एक बड़ा जनसमुदाय इस शैली के प्रताप से पुराणों का भक्त बन गया है, हम जहां उक्त सोसायटी के पण्डितमण्डल के उद्योग की भूरि भूरि प्रशंसा करेंगे, वहां यह कहे विना भी नहीं रह सकते कि— आपके मतानुसार सभी कथाओं को केवल रूपक स्वीकार करने पर देवसत्ता और ऐतिहासिक तथ्यों पर पानी फिर जाने का भय है, अतः हमारी तुच्छ सम्मति में वास्तविक पहलू को छोड़ कर सभी कथाओं को रूपक के सांचे में ढालने का उद्योग वैसा ही है जैसा कि कोई पुरुष अपनी जिह्वा का प्रयोजन बोलनामात्र समझ कर रसास्वादन से पराङ्मुख होजावे, कहना न होगा कि वास्तव में जिह्वा बोलने और रस चखने— दोनों प्रयोजनों की साधक है।

इसके अतिरिक्त एक दूसरा पक्ष है, जो पुराण की किसी भी कथा को आध्यात्मिक या आधिभौतिक तथा रूपक मानने को तय्यार नहीं, इस समुदाय में संस्कृत भाषा के प्रौढ विद्वान् पुराणों के विशेषमर्म्मज्ञ बड़े २ युक्तिविशारद महानुभाव हैं। इस ओर से भी कई उत्तमोत्तम ग्रन्थ लिख कर पुराणों की महिमा स्थापित कीगई है, इस समुदाय की सम्मति में रूपककल्पना महापाप माना जाता है, हम अपने माननीय इन महानुभावों को भी नम्रतापूर्वक यह कहे विना नहीं रह सकते कि आपके

मतानुसार यदि आध्यात्मिक और आधिभौतिक अर्थ करने से- देवसत्ता और ऐतिहासिक तथ्य का लोप होजाता है तो केवल ऐतिहासिक और आधिदैविक अर्थ करने से भी तो वही अनर्थ उपस्थित होता है कल्पना कीजिए कि आपकी सम्मति में "ब्रह्मा दुहिता" वाली कथा में ब्रह्मलोक के अधिष्ठाता, सृष्टि के रचयिता श्री ब्रह्माजी महाराज ही अभिप्रेत हैं, यहां "सूर्य्य उषा" और "मनः, वाणी" परक आधिभौतिक और आध्यात्मिक अर्थ नहीं करने चाहियें। इससे जहां एक अंश की पुष्टि होगी वहां दो अंशों का चकनाचूर भी तो होजायगा, क्योंकि वेद (ऋग्वेद ८।१।२७) ब्राह्मण (शतपथ १।७।४।१) और कुमारिल भट्ट ने (तन्त्र वार्तिक १।३।७ में) इसे "सूर्य्य उषा" परक कथन किया है, ब्रह्मवैवर्त पुराण (४।३६।५८) में स्वयं व्यास जी इसे "मनः वाणी" परक कह रहे हैं। ऐसी अवस्था में किसी एक पक्ष को मान कर शेष पक्षों की अवहेलना नहीं की जा सकती। इस लिये हम तो स्पष्ट शब्दों में कह सकते हैं कि न तो थियासोफिकल सोसायटी के मतानुसार पुराणों को केवल रूपकालङ्कार के सांचे में ढालना चाहिये और नाहीं दूसरे सम्प्रदाय की सम्मत्यनुसार केवल आधिदैविक अर्थ को मान कर शेष अर्थों की अवहेलना करनी चाहिये। किन्तु यथासम्भव आध्यात्मिक आधिभौतिक आधिदैविक एवं ऐतिहासिक— सभी प्रकार के अर्थ ठीक और सत्य मानने चाहियें। अधिकारिभेद से जिसे जो पसन्द हो वह उसे ग्रहण कर सकता है। एक कथा के कई २ अर्थ होना, यह पुराणों के लिये दूषण नहीं किन्तु भूषण है। जैसे वेदों में एक ही मन्त्र कई स्थानों में आता है, परन्तु आर्षसिद्धान्तानुसार इसे पुनरुक्त दोष नहीं कहा जा सकता, किन्तु वह मन्त्रप्रसङ्गानुसार अर्थभेद से कई कार्य्यों में विनियुक्त माना जाता है, इसी प्रकार पुराणों की कथाएं भी अधिकारिभेद से यथायोग्य अर्थोंवाली हैं, "चन्द्र तारा" की कथा का जहां एक खगोल विषयक अर्थ होता है वहां चन्द्रवंश की उत्पत्ति से भी उसका सम्बन्ध है, इस ग्रन्थ के 'सन्देहाभासनिवारणाध्याय' में बहुत सी कथाओं का इसी शैली से विवेचन किया गया है। आशा है पाठक महोदय हमारे भाव को समझ कर कथाओं का पारायण किया करेंगे।

पुराण-शैली की विशेषता

(विमिश्रण)

यहां तक हमने प्रायः समस्त शास्त्रों में अविशेष रूप से दीख पड़ने वाली शैली का निरूपण किया है। लौकिक वैदिक किंवा आर्ष शब्दों का प्रयोग,- रोचक भयानक

और यथार्थ वचनों का अस्तित्व,–समाधि, लौकिकी और परकीया तीनों भाषाओं का समावेश,–एवं आध्यात्मिक आधिभौतिक और आधिदैविक आदि अनेक अर्थों का सामंजस्य–न्यूनाधिक सभी ग्रन्थों में उपलब्ध होता है, परन्तु व्यास जी ने पुराणों की-शैली में जो एक मनन करने योग्य विलक्षणता दिखलाई है वह अन्य किसी ग्रन्थ में ढूंढने पर भी प्राप्त नहीं होसकती। हमारे विचार में उस विशेषता को जान लेना ही पुराणों का वास्तविक स्वाध्याय है, अतः इस प्रघट्ट में हम उस विशेषता का ही निरूपण करते हैं।

पुराणों के प्रतिपाद्य विषय,–सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित यह पांच हैं जैसा कि हम अगले अध्याय में विस्तारपूर्वक विवेचन करेंगे,–श्री वेद व्यास जी ने उक्त विषयों का वर्णन करते हुवे एक ही कथानक में–और कहीं २ तो एक ही पद्य में मानव इतिहास के साथ–विज्ञान, अध्यात्म, दैवत, एवं अन्यान्य धार्म्मिक तत्वों को ऐसा विमिश्रित कर डाला है, कि जिसका विश्लेषण करना सर्व साधारण का काम नहीं। एक सन्दर्भ उपक्रम और उपसंहार से ऐतिहासिक प्रतीत होता है परन्तु उसी के अन्तर्गत विज्ञान आदि का अंश ऐसे ढंग से मिला जुला तादात्म्य सा होरहा है कि जिसका पृथक्करण किये बिना ऐतिहासिक तथ्य को समझना कठिन हो जाता है। यदि ऐसे कथानकों को साद्यन्त इतिहास समझने लगें तो–तदन्तर्वर्ती, अध्यात्म आदि विषयों के विमिश्रित–अंश में अनेक प्रकार की असंभवता, अश्लीलता, परस्पर–विरुद्धता एवं धर्म्मविरुद्धता का आभास प्रतीत होने लगता है जिससे अमुक व्यक्ति का विशुद्ध ऐतिहासिक चरित्र जानना असंभव हो जाता है, इसी प्रकार यदि आध्यात्मिक अंश को मुख्य मानकर तदनुरूप समस्त सन्दर्भ का रूपकप्रायः अर्थसमन्वय करने लगें तब भी इतिहास पर पानी फिर जाता है, इस तरह उक्त विमिश्रित सन्दर्भों के प्रत्येक अंश को पृथक् २ किये बिना पुराणों के वास्तविक अर्थों का समझना सर्वथा दुरूह है। हम कतिपय उदाहरण देकर उक्त विशेषता का स्पष्टीकरण करते हैं, यथाः—

(इतिहास और धर्म्मतत्व का विमिश्रण)

(क) प्रसूतिं मानवीं दक्ष, उपयेमे ह्यजात्मजः।
तस्यां ससर्ज दुहितृः, षोडषामललोचनाः॥
त्रयोदशादाद्धर्म्माय, तथैकामग्नये विभुः।
पितृभ्य एकां युक्तेभ्यो भवायैकां भवच्छिदे॥

श्रद्धामैत्री, दयाशान्ति, स्तुष्टिः, पुष्टिः, क्रियोन्नतिः।
बुद्धिर्मेधा तितिक्षा ह्रीर्मूर्तिर्धर्म्मस्य पत्नयः॥
श्रद्धासूत शुभं मैत्री प्रसादमभयं दया।
शांतिः सुखं मुदं तुष्टिः स्मयं पुष्टिरसूयत॥
योगं क्रियोन्नतिर्दर्पमर्थं बुद्धिरसूयत।
मेधा स्मृतिं तितिक्षा तु क्षेमं ह्रीः प्रश्रयं सुतम्॥
मूर्तिः सर्वगुणोत्पत्तिर्नरनारायणावृषी।
ताविमौ हि भगवतो हरेरंशाविहागतौ॥
भारव्ययाय च भुवः कृष्णौ यदुकुरूद्वहौ।
स्वाहाभिमानिनश्चाग्नेरात्मजांस्त्रीनजीजनत्॥
पावकं पवमानं च शुचिं च हुतभोजनम्।
तेभ्योऽग्नयः समभवंश्चत्वारिंशच्च पञ्च च॥
त एवैकोनपञ्चाशत्साकं पितृपितामहैः।
वैतानिके कर्म्मणि यन्नामभिर्ब्रह्मवादिभिः॥
आग्नेय्य इष्टयो यज्ञे निरूप्यन्तेऽग्नयस्तु ते।
अग्निष्वात्ता बर्हिषदः सौम्याः पितर आज्यपाः॥
साग्नयोऽनग्नयस्तेषां पत्नी दाक्षायणी स्वधा।
तेभ्यो दधार कन्ये द्वे वयुनां धारिणीं स्वधा॥
भवस्य पत्नी तु सती भवं देवमनुव्रता।
आत्मनः सदृशं पुत्रं न लेभे गुणशीलतः॥

(श्रीमद्भागवत ४। १। ४७-६५)

अर्थात्-(क) ब्रह्म पुत्र दक्ष ने मनु की कन्या प्रसूति से विवाह किया, उसके सोलह कन्याएं पैदा हुईं। जिनमें से १३ कन्याएं धर्म्म को विवाही गईं। एक अग्नि को, एक संयुक्त पितरों को, और सोलहवीं महादेव को। धर्म्म के साथ विवाही हुई कन्याओं के नाम-श्रद्धा, मैत्री, दया, शान्ति, तुष्टि, पुष्टि, क्रिया, उन्नति, बुद्धि, मेधा, तितिक्षा, ह्री, और मूर्ति था। आगे धर्म्म द्वारा उक्त पत्नियों में निम्न लिखित

पुत्र उत्पन्न हुवे। श्रद्धा से शुभ, मैत्री से प्रसाद, दया से अभय, शान्ति से सुख, तुष्टि से मुद, पुष्टि से स्मय, क्रिया से योग, उन्नति से दर्प, बुद्धि से अर्थ, मेधा से स्मृति, तितिक्षा से क्षेम, ह्री से प्रश्रय, और मूर्ति से नर नारायण ऋषि,। यही दोनों हरि के अवतार होकर यदु और कुरुकुल में कृष्ण तथा अर्जुन रूप में प्रकट हुवे थे।

स्वाहानामक दक्ष की चौदहवीं कन्या में अग्निद्वारा हवि को खाने वाले पावक पवमान और शुचि ये तीन पुत्र उत्पन्न हुवे। इन्हीं तीनों पुत्रों से आगे ४५ अग्निनाम के पुत्र हुवे जो सब मिलाकर पितृपितामहसहित ४९ आग्नेयी इष्टिकायें ब्रह्मवादियों-द्वारा यज्ञ=वितान में निरूपित की जाती हैं।

अग्निष्वात्ता, वर्हिषद, सौम्य और आज्यपा ये सब संयुक्त पितर हैं इनके साथ दक्ष की पन्द्रहवीं कन्या स्वधा का विवाह हुवा था, जिससे वयुना और धारिणी नामक दो कन्याएं उत्पन्न हुईं। सोलहवीं कन्या का नाम सती था जो रुद्र से विवाही गई थी [जिसने तरुण अवस्था में ही दक्ष से रुष्ट होकर उसी के यज्ञ में योगाग्नि से शरीर त्याग दिया था अतः] इससे कोई सन्तान उत्पन्न न हुई।

दक्ष प्रजापति निःसन्देह ऐतिहासिक व्यक्ति हैं क्यों कि इन्हीं की असिक्नी नाम वाली दूसरी स्त्री से अन्यान्य कन्याओं के अतिरिक्त अदिति नामवाली एक कन्या भी उत्पन्न हुई थी जो कश्यप के साथ विवाही गई थी, आगे चलकर इसी से विवस्वान् पुत्र उत्पन्न हुवा और उसके श्राद्धदेव तथा मनु नाम के पुत्र हुवे, यही मनु प्रसिद्ध सूर्य्यवंश के आदिम पुरुष थे इस प्रकार दक्ष प्रजापति सूर्य्यवंश के नाना लगते हैं।

इसी तरह दक्ष की दितिनाम कन्या से कश्यप द्वारा दैत्यवंश की उत्पत्ति हुई है, जिस वंश में आगे चल कर प्रह्लाद बली आदि अनेक आदर्श भक्त उत्पन्न हुवे हैं। और भी अनेक कारण दिये जा सकते हैं जिन से दक्ष का ऐतिहासिक व्यक्ति होना सुनिश्चित है। परन्तु उपर्य्युक्त उद्धरण में दक्ष की जिन श्रद्धा मैत्री आदि कन्याओं का उल्लेख मिलता है, उनके पति और पुत्र आदि सबके नामों का समन्वय करने पर कोई भी समझदार मनुष्य मूर्ति नामक कन्या और उससे उत्पन्न होने वाले नर नारायण भगवान् को छोड़ कर अन्य किसी व्यक्ति को ऐतिहासिक व्यक्ति मानने के लिये तैयार न होगा! कारण कि धर्म्म के साथ जिन कन्याओं का विवाह होना लिखा है उनके नाम ही यह व्यक्त कर देते हैं कि यहां व्यास जी ने धर्म्म के साथ सम्बद्ध होने वाले श्रद्धा मैत्री दया शान्ति आदि २ गुणों को ही रूपकालङ्कार से पतिपत्नी रूप में वर्णित किया है, धर्म्मद्वारा उक्त पत्नियों में जो २ पुत्र उत्पन्न होने लिखे हैं उनके नाम भी

रूपकालङ्कार का समर्थनकरते हैं, क्योंकि— धर्म्म और श्रद्धा के संयोग से शुभ का होना उचित ही है, मैत्री से प्रसाद=प्रसन्नता का होना स्वाभाविक है और दया से अभय की उत्पत्ति लोकप्रसिद्ध है इसी तरह धर्म्म की अन्यान्य पत्नियों के नामों के साथ तत्तत्पुत्रों के नामों का सम्बन्ध भी उपर्युक्त वर्णन को आलङ्कारिक प्रकट करता है। अग्नि के साथ स्वाहा का और पितरों के साथ स्वधा का सम्बन्ध भी आलङ्कारिक ही प्रतीत होता है। अन्यथा यज्ञ में चयन की जाने वाली उन्नंचास आग्नेयी इष्टिकाओं के साथ स्वाहा का सम्बन्ध जोड़ना, तथा अग्निष्वात्ता वर्हिषद सौम्य और आज्यपा नामक अनेक व्यक्तियों के साथ अकेली स्वधा का विवाहा जाना क्या माने रखता है ?

आगे चल कर श्रीमद्भागवत के षष्ठ स्कन्ध, अध्याय छः में फिर दक्ष प्रजापति का वर्णन आता है, लेकिन वहां धर्म्म के साथ दस कन्याओं का विवाहा जाना लिखा है तथा उनके नाम भी— भानु, लम्बा, ककुप्, जामि, विश्वा, साध्या, मरुत्वती, वसु, मुहूर्ता, और सङ्कल्पा आदि लिखे हैं। तथा इन से उत्पन्न होने वाले पुत्र भी इन्द्रसेन विद्योत संकट आदि लिखे हैं, उक्त समस्त सन्दर्भ का समन्वय करने पर यही जान पड़ता है कि पहिले वर्णन में धर्म्म के साथ जिन तेरह कन्याओं का विवाह लिखा है वे सब तो धर्म्माङ्गभूत क्रियाओं के ही कल्पित नाम हैं किन्तु दूसरे वर्णन में जो दश कन्यायें लिखी हैं उनका वैयक्तिक इतिहास से सम्बन्ध अवश्य है। इसी तरह पहिले वर्णन में स्वाहा का जहां रूपकालङ्कार से यज्ञेष्टिकाओं के साथ सम्बन्ध प्रकट किया है वहां दूसरे वर्णन में ऐतिहासिक व्यक्ति अंगिरा ऋषि से उसका विवाहा जाना स्पष्ट है। इसी भांति 'स्वधा' शब्द का और तन्नामक कन्या का पितरों से सम्बन्ध प्रकट करना भी आलङ्कारिक एवं ऐतिहासिक दोनों पक्षों में श्लिष्ट होता है। इस लिये इस सन्दर्भ में इतिहास और धर्म्मतत्व का विमिश्रण स्पष्ट है।

(इतिहास और भौतिक विज्ञान का विमिश्रण)

(ख) सहस्रशिरसः पुंसो नाभिह्रदसरोरुहात्।
जातस्यासीत् सुतोधातुरत्रिपितृसमो गुणैः॥
तस्यदृग्भ्योऽभवत्पुत्रः सोमोऽमृतमयः किल।
विप्रौषध्युडुगणानां ब्रह्मणा कल्पितः पतिः॥
सोऽजयद् राजसूयेन विजित्य भुवनत्रयम्।
पत्नीं बृहस्पतेर्दर्पात्तारां नाम हरद् बलात्॥

यदा स देवगुरुणा याचितोऽभीक्ष्णशो मदात् ।
नात्यजत्तत्कृते जज्ञे सुरदानवविग्रहः ॥
शुक्रो बृहस्पतेर्द्वेषादग्रहीत्सासुरोडुपम् ।
हरो गुरुसुतं स्नेहात्सर्वभूतगणावृतः ॥
सर्वदेवगणोपेतो महेन्द्रो गुरुमन्वगात् ।
सुरासुरविनाशोभूत्समरस्तारकामयः ॥
निवेदितोऽथाङ्गिरसा सोमं निर्भर्त्स्य विश्वकृत् ।
तारां स्वभर्त्रे प्रायच्छदन्तर्वत्नीमवैत्पतिः ॥
त्यजत्यजाशु दुष्प्रज्ञे मत्क्षेत्रादाहितं परैः ।
नाहं त्वां भस्मसात्कुर्य्यां स्त्रियं सान्तानिकः सति ॥
तत्याज व्रीडिता तारा कुमारं कनकप्रभम् ।
स्पृहामांगिरसश्चक्रे कुमारे सोम एव च ॥
ममार्यं न तवेत्युच्चै स्तस्मिन्निवदमानयोः ।
ब्रह्मा तां रह आहूय समप्राक्षीच्च सान्त्वयन् ॥
सोमस्येत्याह शनकैः सोमस्तं तावदग्र हीत् ।
तस्यात्मयोनिरकृत बुध इत्यभिधां नृप ॥

(श्रीमद्भागवत ९ । १४ । २-१४)

अर्थात्—(ख) अनन्त शिरवाले विराट् पुरुष से ब्रह्मा उत्पन्न हुवा । उस ब्रह्मा से गुणों में पितर के समान अत्रि पुत्र हुवे । अत्रि की दृष्टि से अमृतमय चन्द्रमा पुत्र उत्पन्न हुवा । ब्रह्मा जी ने उसको ब्रह्मणों, औषधियों और नक्षत्रों का अधिपति नियत किया, और उसने तीनों लोकों को जीत कर राजसूय यज्ञ किया । एक बार घमंड से चन्द्रमा ने अपने गुरु बृहस्पति की पत्नी तारा को छीन लिया । गुरु ने बार२ ना की तब भी उसने तारा को नहीं लौटाया । इसी कारण से देवता और दानवों ार संग्राम ठन गया । इधर शुक्राचार्य्य ने बृहस्पति के द्वेष से चन्द्रमा को असुरों क्ष में मिला लिया । उधर अंगिरा से प्राप्तविद्य होने के कारण भूतगण सहित भगवान् ने गुरुपुत्र बृहस्पति का पक्ष लिया और देवगण सहित इन्द्रने भी अपने ी ही सहायता की- इस तरह दोनों पक्ष बंध जाने पर परस्पर संघर्ष से देव दानवों का विनाश होगया-यह-'तारागणों का पारस्परिक युद्ध समझना चाहिये'

अंगिरा की प्रार्थना करने पर ब्रह्मा जी ने चन्द्रमा को झिड़क कर तारा स्वपति बृहस्पति को दिलवादी। परन्तु बृहस्पति ने तारा को सगर्भा जान कर कहा कि 'हे दुर्बुद्धि! मेरे क्षेत्र में दूसरे के बोये बीज को तू जल्दी निकाल! नहीं तो तुझे भस्म कर डालूंगा, मुझे सन्तान की इच्छा नहीं है, तू स्त्री है इसी लिये अवध्य समझता हूँ'। तब तारा ने लज्जित होकर सौने के समान कान्तिवाले बालक को जना। जिसे देख बृहस्पति और चन्द्रमा दोनों ने ही लेने की इच्छा की और 'यह बालक मेरा है तुम्हारा नहीं' ऐसा कह कर परस्पर झगड़ा करने लगे। तब ब्रह्मा जी ने एकान्त में बुला कर सान्त्वना देते हुवे तारा से पूछा और उसने धीरे से 'चन्द्रमा का' ऐसा बताया। तब वह पुत्र चन्द्रमा ने ग्रहण किया। और ब्रह्मा जी ने उसका नाम 'बुध' रक्खा।

यह कथा इसी प्रकार अथर्ववेद संहिता (५। १७। २-५) में लिखी है। 'सन्देहाभास निवारणाध्याय' में इसका समस्त रहस्य प्रकट किया जायगा अतः यहां अधिक कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं, यहां केवल एतावन्मात्र बताना आवश्यक होगा कि एक तरफ तो यह कथा चन्द्रवंश के इतिहास से सम्बन्ध रखती है और दूसरी तरफ आकाशस्थ बुध नामक ग्रह की वैज्ञानिक उत्पत्ति इससे प्रकट की गई है- ऐतिहासिक पक्ष में— ब्रह्मा से अत्रि, अत्रि से चन्द्रमा, चन्द्रमा से बुध और बुध से पुरुरवा—इत्यादि ऐतिहासिक व्यक्तियों की वंशपरम्परा इससे जानी जाती है, वैज्ञानिक पक्ष में— बृहस्पति नामक ग्रह की कक्षा में घूमने वाला तारानामक उपग्रह—चन्द्रपिण्ड के आकर्षण से उसकी कक्षा में आगया, जिस से समस्त तारागण के आकर्षण विकर्षण में उथल पुथल मच गई, अनन्तर समय पाकर सूर्य्यरूप प्रजापति के अत्यन्त वेग से लौट कर फिर वह तारा नामक उपग्रह बृहस्पति की कक्षा में ही आगया परंतु इस आकर्षण विकर्षण की खैंचातानी में चन्द्रमा का बहुतसा भाग टूट कर उस उपग्रह का सात्म्यसा होगया था जो पश्चात् आकाशस्थ आग्नेय वाष्प के मिश्रण से एक स्वतन्त्र ग्रह बन गया जिसे आज कल बुध कहा जाता है। क्यों कि बुध में चन्द्रमा का टूटा हुवा बहुत सा अंश विद्यमान था, अतएव वह उसी का पुत्र माना गया, जो अब भी गति विगति आदि में चन्द्रमा से ही समता रखता है। यही वैज्ञानिकभाव यहां रूपकालंकार से प्रकट किया है जो कि अथर्व संहिता के पूर्वोक्त मंत्रों की विस्पष्ट व्याख्या है। कोई बुद्धिहीन मनुष्य उक्त वैज्ञानिक रहस्य को ऐतिहासिक घटना न समझ बैठे इस लिये व्यासजी ने बड़ी चातुरी के साथ स्पष्ट शब्दों में- मूल में ही इसकी आलंकारिकता स्पष्ट कर दी, यथा—

समरस्तारकामयः।

(श्रीमद्भागवत ९। १४। ७)

अर्थात्—यह युद्ध तारागणों का पारस्परिक संघर्ष ही समझना चाहिये।

शुक्रनामक ग्रह और उसके समकक्ष अन्यान्य ग्रह, उपग्रह, नक्षत्र आदि चन्द्र-पिण्ड के अनुकूल आकर्षण में थे, और सूर्य्यवायुचक्र, तथा अन्यान्य तारे सितारे सियारे बृहस्पति पिण्ड की अनुकूलता में आकृष्ट थे। यही ज्योतिष शास्त्र प्रसिद्ध-ग्रह-युद्ध यहां देवासुरसंग्रामरूप से वर्णित है। इस तरह इस संदर्भ का विश्लेषण करके ऐतिहासिक और वैज्ञानिक दोनों तत्वों की सीमा निर्धारित कर लेनी चाहिये, फिर किसी वज्रमूर्ख को वैज्ञानिक अंश के विमिश्रण से ऐतिहासिक तथ्य में अश्लीलाभास का भ्रम न होगा।

इसी तरह 'ब्रह्मापुत्री', 'इन्द्रवृत्रासुर', 'इन्द्रअहिल्या', और 'उतथ्यममता' आदि से सम्बन्ध रखने वाली पचासों कथाएं भी इतिहास के साथ २ आध्यात्म्य, देवचारित्र्य, भौतिकविज्ञान, धर्म्मतत्व, आदि २ रहस्यों के विमिश्रण से परिपूरित हैं, जिनका उचित विश्लेषण करने पर ही जिज्ञासु को ऐतिहासिक तथ्य उपलब्ध हो सकता है।

यही पुराणशैली की विशेषता है जिसका मनन करने पर पुराणों में प्रतीत होने वाले-'असंभव, अश्लील, परस्पर-विरोध, और धर्म्म-विरोध' आदि दोष-दोषाभास में परिणत होजाते हैं।

इस प्रकार हम-पुराणान्तर्वर्ती आर्ष और पारिभाषिक शब्दों, रोचक, भयानक यथार्थवचनों, सामाधि, लौकिकी परकीया नामक त्रिविध भाषाओं आध्यात्मिकादि बहुविध अर्थों के निरूपणद्वारा पुराणों की शैली और उसकी लोकोत्तर विशेषता को दिखाने के बाद इस अध्याय को समाप्त करते हैं।

* छठा अध्याय समाप्त *

विषय-विवेचनाध्यायः ।

(सातवां अध्याय)

—*÷*—

सर्गो विसर्गो मनवो वंशास्तच्चरितानि च ।
पुराण विषयाः पञ्च साङ्गोपाङ्गा इहाङ्किताः ॥

यद्यपि पुराणों का विषय पुराणों के पढ़ने से ही सर्वांश में विदित हो सकता है तथापि 'विषय-प्रयोजन-सम्बन्ध-अधिकारी' इन चारों अनुबन्धों के निरूपण करने पर ही व्याख्यान की पूर्णता मानी जाती है, एतदर्थ, अन्यतम अनुबन्ध 'विषय' के परिज्ञानार्थ इस अध्याय में पुराणों के मुख्य विषयों का भी प्रतिपादन किया जाता है ।

पुराणों के पांच विषय

प्रायः सभी पुराणों में पुराणों के पांच विषय मुख्य माने हैं, अतः सान्तर समाज में नीचे लिखा श्लोक खूब प्रचलित है—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च, वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंश्यानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥

(शुक्रनीति ४ । ६३-६४)

अर्थात्— 'सर्ग'-(=सूक्ष्म तत्वों की रचना, उनका विकाश, अपक्षय और तिरोभाव) 'प्रतिसर्ग'— (=स्थूल जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और उसका संहार) 'वंश'— (=ऐतिहासिक व्यक्तियों की वंशपरम्परा) 'मन्वन्तर'— (=अमुक घटना का किं वा अमुक व्यक्तिका समय जानने के लिए पौराणिक पद्धति का मन्वात्मक विधान) और

'वंशानुचरित'— (धर्म्म संकट के समय न्याय्यपथ निर्धारण करने में मनुष्य समाज के काम में आने वाले-अनेक व्यक्तियों के जीवन चरित्र) ये पांच प्रधान विषय पुराणों में वर्णित हैं।

उपर्य्युक्त श्लोक—ब्रह्माण्ड, (१।१।३७-३८) वायु, (४।१०-११) मत्स्य, (५३।६५) कूर्म्म (१।१।१२) शिव (५।१।३७) गरुड (१।२१५।१४) भविष्य (१।२।४-५) वाराह (२।४) तथा अमरकोश में भी इसी प्रकार लिखा है।

श्रीमद्भागवत (१२।७।६) में इन्हीं पांच विषयों को प्रपंचित करके दश संख्या दी है। तथा अग्निपुराण और भविष्य पुराण में-मन्त्र शास्त्र एवं सामुद्रिक शास्त्र को भी पुराण विषयों में परिगणित किया है। तात्पर्य्य यह है कि मुख्यतया यह पांच विषय तो सर्वत्र समानरूप से ही वर्णित हैं परन्तु पाठकों के बुद्धिवैशद्य के लिये श्रीवेदव्यास जी ने कहीं २ इन्हीं पांचों के अन्तर्भूत अन्य विषयों का पृथक् २ भी परिगणन कर दिया है जो लाघव-गौरव भेद से उभयथा सुव्यवस्थित है। तथापि हम यहां मुख्य विषयों का ही प्रतिपादन करेंगे।

सर्ग

अव्याकृतगुणक्षोभान्महतस्त्रिवृतोऽहमः।
भूतमात्रेन्द्रियार्थानां संभवः सर्ग उच्यते॥

(श्रीमद्भागवत १२।७।११)

अर्थात्— नहीं विशेष आकार जिसमें विद्यमान था=ऐसे साम्यावस्थापन्न गुणों 'प्रधान तत्व' के तीनों के क्षोभ से 'महत्तत्व' और उससे 'अहंकार' तथा अहंकार से पञ्चभूतमात्राओं, सूक्ष्म इन्द्रियों और तदधिष्ठात्री देवताओं की उत्पत्ति को 'सर्ग' कहते हैं।

अहिन्दू मत मतान्तर

यह दृश्य जगत् किन २ तत्वों से बना है ? तथा उक्त तत्वों का पौर्वापर्य्य क्या है ?-यह रहस्य पुराणों को छोड़ कर संसार की दूसरी किसी धर्म्म पुस्तक में ढूंढने पर भी नहीं मिल सकता। मौलाना साहिब कुरान शरीफ के तीन सौ साठ सपारों के

सहस्र पाठ कर डालें, मंजिलों में मगजपच्ची करें, और आयतों के ताने बाने में तन्मय होजांय फिर भी सृष्टि के आदिम तत्वों की छाया उन्हें न मिल सकेगी। पादरी साहिब तेतीस दफ़े 'तौरेत' को और बाणवें बार 'बाईबिल' को तथा अगणित बार 'अज़ील' को घोट २ कर पीजाएं तब भी सृष्टि के आदिम तत्वों का पता न पा सकेंगे। यही दशा जैन, बौद्ध, पारसी और दयानन्दी आदि मतमतान्तरों की है।

वर्तमान विज्ञानवेत्ता (Scientist) भी अंधेरे में चांदमारी खेलने की भांति इस विषय में बहुत कुछ दौड़ धूप करने की चेष्टा करते हैं परन्तु समाधिगम्य इस रहस्य तक बेचारी साइन्स की पहुंच कहां तक सम्भव होसकती है। अतः वे अभी तक सूक्ष्म से सूक्ष्म जिस तत्व तक पहुँच पाये हैं उसे वे ईथर (Ether) के नाम से याद करते हैं, कहा जाता है कि यह पदार्थ वायु से सूक्ष्म--किन्तु आकाश से स्थूल,— एवं सर्व-व्यापक तथा अतीव तरलतर तत्व है। पाठकवर्ग उक्त व्याख्या से ही ईथर का स्थान जान सकते हैं, अर्थात्— आकाश और वायु का माध्यमिक संश्लेषण ही इसे समझना चाहिये। ऐसी दशा में यह स्पष्ट है पुराण ग्रन्थों में तो उक्त तत्व के उत्पादक प्रधान, महान्, और अहङ्कार आदि पितृपितामह प्रपितामह एवं वृद्धप्रपितामह भूत तत्वों का भी सर्वाङ्गपूर्ण वर्णन मिलता है, इस प्रकार वर्तमान साइन्स (Science) और पुराणों की तात्विक खोज का तुलनात्मक विवेचन अच्छी तरह किया जा सकता है।

सृष्टि की उत्पत्ति कब हुई? और कैसे हुई? इन प्रश्नों का यथार्थ उत्तर भी पुराणों के अतिरिक्त संसार भर के अन्य किसी ग्रन्थ से नहीं मिल सकता। इस समय जो सभ्य जातियें कही जाती हैं, उन सब के साहित्य को मथ डालिये परन्तु इन प्रश्नों का उत्तर देने में सभी मूकप्रायः साबित होंगी। आज से दो सहस्र वर्ष पूर्व क्या था— यह प्रश्न हल करना हो तो पुराणों का पारायण कीजिये।

साइन्स की दौड़ धूप

सृष्टि की उत्पत्ति कब हुई— इस विषय को लेकर योरोप और एशिया के विद्वान् बड़े भारी वाद विवाद में पड़े हुवे हैं, डा० डारविन, मि० हक्सले (Huxley), स्पेन्सर, और वालेस, आदि ने इस विषय में जो लिखा है, वह इतना मतभेद पूर्ण है कि—जिसे पढ़ कर-जिज्ञासु गहरे चक्कर में पड़ जाता है, अपनी (पदार्थविज्ञानप्रणाली) Theories पर जब इन भद्र पुरुषों को स्वयं विश्वास नहीं फिर दूसरों का तो कहना ही क्या है। इन की खोज इतनी खोखली और भ्रम पूर्ण है कि जिसे पढ़ कर एक साधारण पुराणज्ञ भी हंसे विना नहीं रहता।

एक समय था जब आधुनिक विज्ञानवादी सृष्टि को बने पांच छः हज़ार वर्ष माना करते थे, फिर केलविन के मत को लेकर प्रो० वेकर ने छः करोड़ के लगभग वर्ष बताए, हज़ार से करोड़ों पर पहुँचे।

इङ्गलैण्ड के सुप्रसिद्ध अस्थितत्ववेत्ता डाक्टर बिलियम, मि० एलन स्टूजि, और डाक्टर स्मिथ एडवर्ड आदि पृथ्वी की उष्णता को जांच कर पृथ्वी की आयु इश करोड़ बता कर रह गये।

कई महानुभावों ने युरेनियम, रेडियम, हीलियम, वोलोनियम आदि अनेक धातुवों के आविष्कार से बीस करोड़ वर्षों से चौबीस करोड़ वर्ष तक माने हैं।

अब कई कई पण्डितों ने पृथ्वी के स्तरों को तेरह भागों में बांट कर २ से ११ तक में जल जन्तु मत्स्य सामुद्रिक लता गुल्म आदि दिखाए हैं, एवं १२ से १३ तक पशु पक्षी आदि के पंजरा शेष दिखाए हैं। इस प्रकार परिणाम निकाला है कि— वर्तमान सर्वाङ्गपूर्ण मानव जाति क्रमशः उन्नत हुई है, और इसे इस उन्नति तक पहुँचने में ३० करोड़ वर्ष से कम समय नहीं लगा। *

कुरान बाइबिल मत

यह तो हुई वर्तमान गवेषकों की पड़ताल, अब इन के धर्म्मग्रन्थों से भी पूछिये। कुरान शरीफ़ में लिखा है कि— ख़ुदा ने खाक की मुट्ठी लेकर कहा "कुन" अर्थात्- 'बन जा' बस फिर क्या था आन की आन में क़ाइयनात बन गई।

बाईबिल— आदम हव्वा को अदन की बाग़ीचियों में ही अचानक उत्पन्न कर देने के स्वप्न दिखाती है। और यह दोनों ही किताबें केवल सात दिन में इस विस्तृत भूमडण्ल के इस रूप में रचा जाने का पता बताती हैं। आख़ीर ग़रीब ख़ुदा भी थक

टिप्पणी— * यहां सृष्टि के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों के जो मत दिये गये हैं वे 'सेक्रट डाक्ट्रन' (Secret Doctrine) 'पापूलर इस्ट्रानोमी' 'सृष्टि का इतिहास' और 'विचारदर्शन' आदि ग्रन्थों से उद्धृत किये हैं, यदि पाठकों को इन कल्पना के मत वालों की अधिक उछल कूद देखनी अभीष्ट हो तो वह उक्त ग्रन्थों में देखी जा सकती है।

कर लम्बी तान सो जाता है। यह सृष्टिविज्ञान उन पुस्तकों में लिखा है जो कि धार्मिक और ख़ास ख़ुदा की पाक क़लम से लिखी हुई कही जाती हैं। †

पढ़े लिखे मुसलमान और ईसाई अब इन निस्सार बातों को मानने के लि प्रस्तुत नहीं- वे समझते हैं कि— जब विज्ञान सृष्टि को करोड़ों वर्षों से बनी बताता फिर कौन ऐसा कूप मण्डूक होगा जो इस विज्ञानयुग में ऐसी बोदी पुरानी बातों विश्वास करे। पुराणों के सृष्टिविज्ञान का एक यह ज्वलन्त एवं विश्वविजयी दृष्टान्त कि- ज्यों २ नया विज्ञान उन्नति करता जारहा है त्यों २ वह पुराणों के निकट आरहा

पुराण-मत

अब पुराणों से भी पूछिये कि— सृष्टि कब बनी। अठारहों पुराण एक स से कहेंगे कि— सृष्टि का हिसाब इस प्रकार है—

काष्ठा पञ्चदशाख्याता निमेषा मुनिसत्तम ! ।
काष्ठात्रिंशत्कला त्रिंशत्कला मौहूर्तिकोविधिः ॥८॥
तावत्संख्यैरहोरात्रं मुहूर्तैर्मानुषं स्मृतम् ।
अहोरात्राणि तावन्ति मासः पक्षद्वयात्मकः ॥९॥
तैः षड्भिरयनं वर्षं द्वेऽयने दक्षिणोत्तरे ।
अयनं दक्षिणं रात्रिर्देवानामुत्तरं दिनम् ॥१०॥

टिप्पणी— † मुसलमान और ईसाइयों की मज़हबी किताबों में लिखा है कि "जिसने आसमानों और पृथ्वी को छः दिन में बनाया

(कुरान मं० २ सि० ८ सू० ७ आ० ५३)

निश्चय परवर दिगार तुम्हारा अल्लाह है जिसने पैदा किया आसमानों और पृथिवी को बीच छः दिन के।

(कुरान मं० ३ सि० ११ सू० १० आ० ३)

और कहा गया ऐ पृथिवी ! अपना पानी निगल जा ऐ आसमान बस कर और पानी सूख गया।

(कुरान मं० ३ सि० ११ आ० ४३)

अल्लाह वह है कि जिसने खड़ा किया आसमान को बिना खंभे के।

(कुरान मं० ३ सि० १३ सू० १३ आ० २)

आरम्भ में ईश्वर ने आकाश और पृथिवी को रचा पृथिवी बेडौल और सूनी थी। और गहराव पर अंधियारा था। ईश्वर का आत्मा जल के ऊपर डोलता था।

(तौरेत पर्व १ आ० १-२)

और ईश्वर ने कहा उजियाला होवे और उजियाला होगया।

(तौरेत प० १ आ० ३)

चतुर्युगं द्वादशभिस्तद्विभागं निबोध मे ।
दिव्यैर्वर्षसहस्रैस्तु कृतत्रेतादिसंज्ञितम् ॥
प्रोच्यते तत्सहस्रं च ब्रह्मणो दिवसं मुने ! ॥१५॥
ब्रह्मणो दिवसे ब्रह्मन् मनवस्तु चतुर्दश ।
ब्राह्मोनैमित्तिको नाम तस्यान्ते प्रतिसंचर ॥२२॥

(विष्णुपुराण प्रथमांशेऽध्यायः ३)

अर्थ— आंख की पलक गिरने में जितना समय लगता है उसे निमेष कहते हैं, १५ निमेष की एक काष्ठा, ३० काष्ठा की एक कला ३० कला की एक घड़ी २ घड़ी का एक मुहूर्त ३० मुहूर्त का एक अहोरात्र (दिन) होता है, ३० अहोरात्र का दो पक्ष वाला एक महीना, छः महीने का एक अयन—दक्षिण और उत्तर २ अयनों का एक मानव वर्ष होता है। एक मानव वर्ष देवताओं का एक दिन, इस प्रकार— दिव्य बारह हज़ार वर्षों की एक चतुर्युगी होती है, एक हज़ार चतुर्युगी का ब्रह्मा का एक दिन होता है, जिस में १४ मनु व्यतीत होते हैं। ब्रह्मा का एक दिन समाप्त होने पर प्रलय होजाती है, वह ब्रह्मा जी की रात्रि है, उसका परिमाण भी दिन के समान है, इस प्रकार १०० वर्ष ब्रह्मा की आयु है उसे "पर" कहते हैं।

सृष्टि को बने कितने वर्ष हुवे, यह तत्व हम पुराणों के आधार पर नित्य प्रति कई वार पढ़ते हैं,। सनातनधर्म्मियों का कोई भी शुभाशुभ कर्म्म— यहां तक कि— संध्यावन्दनादिक नित्य कर्म भी इस तत्व को भली भांति जान लेने पर ही आरम्भ होता है, जिस वाक्यसमुदाय से आर्य्य जाति अनादि काल से लेकर आज तक सृष्टिगणना को ठीक २ समझती आरही है उस महामन्त्र का नाम 'संकल्प' है- यथाः-

ब्रह्मणो द्वितीयपरार्द्धे श्रीश्वेतवाराहकल्पे वैवस्वतमन्वन्तरे अष्टाविंशतितमे कलियुगे कलिप्रथमचरणे।

अर्थ— ब्रह्मा की आयु के ५० वर्ष व्यतीत होने पर दूसरे "पर" अर्ध में और श्वेतवाराहनामक कल्प में तथा वैवस्वत नाम के सातवें मनु के अन्तर में और अठाईसवें कलियुग के प्रथम भाग में (अमुक कार्य्य करता हूँ)।

तात्पर्य यह हुवा-इस समय जो कलियुग है, वह सातवें मनु का २८वां कलियुग है, अभी जिसका प्रथम चतुर्थांश ही चल रहा है, पाठकों की सुविधा के लिये हम इसे गणित द्वारा नीचे दिखाते हैं—

गत छः मनुवों के वर्ष—	१, ८४, ०३, २०, ०००
इनकी सात सन्धियों के वर्ष	१, २०, ६६, ०००
सातवें मनु की गत २७ चतुर्युगी के वर्ष—	११, ६६, ४०, ०००
अट्ठाइसवीं चतुर्युगी के भुक्त वर्ष—	३८, ६३, ०३२
योग—	१, ६७, २६, ४६, ०३२

इस प्रकार विक्रमाब्द १६८८ पर्य्यन्त सृष्टि के आरम्भ से १ अर्ब ६७ करोड़ २६ लाख ४६ हज़ार ३२ मानव वर्ष बीत चुके हैं।

वर्तमान विज्ञान की उन्नति का अनुमान हमारे इस पौराणिक सृष्टि गताब्द के निरीक्षण से भली प्रकार लगाया जा सकता है, यह विज्ञान अभी ५। ६ सहस्र से ३० करोड़ तक ही पहुंच पाया है, परन्तु अभी इसमें अर्बों की कमी है, यदि इसी प्रकार उन्नति होती रही तो वह समय दूर नहीं जब कि यह लोग अपनी भ्रान्ति को दूर करके पुराणों की शरण में रहेंगे।

स्वामी दयानन्द की भारी भूल

इसके अतिरिक्त यहां एक और प्रासंगिक बात बतादेनी उचित प्रतीत होती है, वह यह है कि—आर्य्यसमाज प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में सृष्टि के गताब्द निकाले हैं जो आर्य्य वत्सर के नाम से आर्य समाज की सभी पुस्तकों पर छपे रहते हैं जिसका आधार पुराण ग्रन्थों के मन्वन्तर आदि ही हैं, और हमारा यह पूर्वोक्त संकल्प ही वेद मन्त्र की तरह स्वतः प्रमाण माना है, हमें वर्तमान आर्य्यसमाजियों से कहना है कि—आप जब पुराणों के विषय में अभव्य सम्मति प्रदान किया करते हैं, उस समय यह स्मरण रक्खा करें कि—यदि पुराणों में सृष्टिविज्ञान न मिलता तो वेदों का अनादित्व और आर्य्यों की प्राचीनता किस प्रकार सिद्ध करते?

वेदों में तो इस विज्ञान का स्पष्टतया कहीं पर भी प्रतिपादन नहीं किया गया है, यदि होता तो स्वामी जी जिन पुराणों को "पोपों के बनाए" कहते हैं—उनकी शरण में न आते। वेदों का विज्ञान समाधिगम्य है उसे कलियुग के पामर प्राणी नहीं समझ सकते—इसी विचार से प्रेरित होकर भगवान् वेदव्यास जी ने उन समाधिगम्य रहस्यों को पुराणों में सरल बनाकर प्रतिपादन किया है। यदि वेदों से यह पूछना चाहोगे तो वह तो सम्राट् की तरह "कोऽद्धावेद" और 'कस्तद्वेद यदद्भुतम्' कहकर आपको पुराण पढ़ने का ही आदेश करेंगे।

स्वामी जी ने पुराणानभिज्ञ होने के कारण इस गणित में एक बड़ी भारी ग़लती भी खा ई है– एक दो की कौन कहे वह तो पूरी करोड़ों की गलती है। आप सात सन्ध्यांश के भुक्त १.२०,९६,०००–वर्ष जमा करने भूल गए जिससे आपका आर्य्य वत्सर १ अर्ब ९७ करोड़ आदि के स्थान में १ अर्ब ९६ करोड़ आदि ही रह गया, जो सिद्धान्तशिरोमणि, आदि ग्रन्थों के प्रतिकूल और सर्वथा अशुद्ध है। हम आशा करते हैं कि हमारे भाई 'बालादपि सुभाषितम्' के आधार पर हमारे कहने से उसे ठीक कर लेंगे। अन्यथा हठाचरण से 'बाबावाक्यं प्रमाणम्' मानते रहने पर–गणितज्ञों की दृष्टि में स्वामी दयानन्द का यह अशुद्ध लेख सदा खटकता रहेगा, और साथ ही दयानन्दी समाज की गणितपुंगवता (?) भी टपके बिन न रहेगी।

सृष्टि कैसे हुई ? यह प्रश्न भी टेढ़ी खीर है, इसे कोई खीरपार्टी का खर्राट ही बता सकता है, घास खाने वाले नरपुंगव और मांस खाने वाले मनमौजी तो इस प्रश्न को सुनकर 'पलायताम्' होजाएंगे।

'कुरान' और 'बाईबिल'का सृष्टि विज्ञान तो पाठक पीछे पढ़ही चुके हैं वहां तो बस "कुन" के छूमन्तर से सब कुछ बन गया। ..... जिसे विश्वास हो मानलो नहीं तो घर का रास्ता लो। क्यों ? और कैसे ? पूछा तो काफिर बन जाओगे ! बस खेल खतम !! अब ज़रा नये विज्ञानवादियों से भी दो २ बातें कर लीजिये ? मिस्टर डारविन कहते हैं—'पानी में हरकत पैदा हुई, बुलबुले बन गए, फिर मछली–उसकी लंबाई अन्दर को घुसती गई–वही एक दिन कच्छू–फिर पक्षी और पशु–उनमें भी बन्दर–दुमरफू बक्कर हुई तो इनसान बन गए'।

आधुनिक साइन्टिस्टों के दादा गुरु की फ़िलासफ़ी खतम हुई, परन्तु पानी कहां से आया ? पानी का पिता कहां से बना ? और उसका दादा और नकड़दादा कैसे पैदा हुवे ? यह प्रश्न तो बने ही रहे–जोकि 'कैसे' के पेट में घुसे बैठे हैं। ईश्वर का तो इस उत्पत्ति से कुछ संबन्ध ही नहीं, फिर यह अनवस्था कैसे दूर होगी ? इसके अतिरिक्त यह भी तो बताइये कि अब मनुष्य को आगे क्या बनाना है, यदि सचमुच हमारी दुम गुम होगई तो कल कान भी गुम होंगे। और परसों नाक साहिब की बारी आएगी। नये विज्ञानवेत्ताओं के भक्तों को चाहिये कि–अभी से किसी बीमा कम्पनी (Insurance Company) से नाक कान का बीमा (Insure) करालें ? अन्यथा पीछे हाथ मल मल पछताना होगा।

स्वामी दयानन्द कहते हैं—तिब्बत की पथरीली कंकरीली चोटियों पर निराकार महाराज ने मोटे ताजे युवा युवतियों के जोड़े धड़ाधड़ बरसा दिये। प्रश्न-जवान ही पैदा क्यों किये ?

उत्तर—बालक पैदा होते तो उनका पालन कौन करता, और वृद्ध पैदा होते तो फिर "पतिमेकादशं कृधि" को अमल में कैसे लासकते।

पाठक! असली शब्द सत्यार्थप्रकाश (सप्तमावृत्ति पृष्ठ २३७) में देखलें, हमने तो संक्षिप्त सार लिख दिया है। उसे देखने पर और भी कई वैज्ञानिक रहस्य प्रकट होंगे।

स्वामी जी का विज्ञान बहुत ऊंचा है!, युवायुवतियों को पत्थरों पर पटकना सचमुच किसी निराकार बाबा का ही काम है अन्यथा आंखोंवाला और दिलवाला व्यक्ति इस प्रकार कोमलाङ्ग युवायुवतियों को कूडे करकट की तरह कब फैंक सकता था!, जो स्वयं देहवाला नहीं उसे दूसरों की देह पर क्या रहम! पत्थरों पर गिरकर हड्डी पसली बेशक चकनाचूर हो जाएं उसकी बलासे!! जवान २ उत्पन्न होने का जो कारण बताया है वह भी खूब फ़िलासफीपूर्ण है, यदि युवा न होते तो सचमुच तड़प कर मर जाते! पहाड़ तो उन दिनोंमे रबड़ के गद्दैलों के और स्प्रिंगदार हुवा करते थे (?) करोड़ों कोस से पटके हुवे मनुष्यों का बाल बांका भी नहीं होता था, (?) अतः सब बच गए! परन्तु ईश्वर किसी की धाय थोडे ही था जो घर २ बालकों को दूध पिलाता फिरता! यदि अपनी शक्ति से उनकी पालना करता तो शक्ति का भी बहिष्कार (Boycott) हो जाता, कलकी छोकड़ी शक्ति की इतनी जुर्रत कि—वह सृष्टि के ठेकेदार समाजियों के बिना पूछे ही 'सृष्टि नियम' के विरुद्ध गड़बड़ झाला मचाए!!! निराकार ने 'सृष्टि नियम' के विरुद्ध जोड़ों को पटका सो तो पटकाही, वह तो हमारा है, इतने पर भी उसने आइन्दा ऐसा न करने की शपथ ली, और उस दिन से सृष्टि नियम का पीनल कोड (Penalcode) सदा के लिये अपने नाम रजिस्टर्ड करवा लिया!!! यह है स्वामी दयानन्द और उसके चेले चांटों का सृष्टि विज्ञान! इनसे अच्छे तो किरानी और कुरानी जो वैज्ञानिकता का झूठा दम न भर कर खुदा या गाड़ को तो सर्वस्व मान लेते हैं, यहां तो 'न इधर के रहे न उधर के रहे' चरितार्थ होता है।

पाठक! 'सृष्टि कैसे हुई?' का उत्तर सब से पूछ चुके आइये! अब वृद्धपितामह पुराणों से भी पूछ देखिये! क्या उत्तर मिलता है—

गुणव्यतिकराकारोऽनिर्विशेषोऽप्रतिष्ठितः।
पुरुषस्तदुपादानमात्मानं लीलयासृजत् ॥११॥
विश्वं वै ब्रह्मतन्मात्रं संस्थितं विष्णुमायया।
ईश्वरेण परिच्छिन्नं कालेनाव्यक्तमूर्तिना ॥१२॥

यथेदानीं तथाग्रे च पश्चादप्येतदीदृशम् ।
सर्गो नवविधस्तस्य प्राकृतो वैकृतस्तु यः ॥१३॥

(श्रीमद्भागवत स्कन्ध २ अ १०)

भावार्थ— आदि में गुण संहननरूप और स्वतः निर्विशेष एवं अनिर्वचनीय होने के कारण 'असत्' (नामरूपउपाधिरहितब्रह्म) पुरुष था। कालकर्म स्वभाव सामग्री से वह अपनी मायाद्वारा अपने ही रूप में प्रकट हुवा, उस अव्यक्त मूर्ति काल-द्वारा ही यह सब ब्रह्माण्ड व्याप्त है, यह बीजरूप से पहिले भी था अब भी है, और प्रलयानन्तर भी बना रहेगा, (केवल अवस्थान्तर में परिवर्तन होना ही 'उत्पत्ति' शब्द का वास्तविक अभिप्राय है) सो यह तात्विक सर्ग नौ प्रकार का है जो प्राकृत और वैकृत नाम से कहा जाता है।

तात्पर्य्य यह है कि सृष्टिक्रम अनादि है वह 'चक्रभ्रमण' न्याय से प्रलय के अनन्तर सर्ग के रूप में, और सर्ग के अनन्तर प्रलय के रूप में परिवर्तित होता रहता है, इसी परिवर्तन के व्यक्तरूप को 'सर्ग' कह देते हैं,। वह प्राकृत और वैकृत रूप में क्रमशः नौ अवस्थाओं के व्यतीत होने पर पूर्ण होता है। वह नौ अवस्थाएं भेदोप-भेद सहित नीचे लिखी जाती हैं, पाठक ध्यान पूर्वक पढ़ें—

(प्राकृत-सर्ग)

आद्यस्तु महतः सर्गो गुणवैषम्यमात्मनः ।१४॥
द्वितीयस्त्वहमः यत्र द्रव्यज्ञानक्रियोदयः ।
भूतसर्गस्तृतीयस्तु तन्मात्रो द्रव्यशक्तिमान् ॥१५॥
चतुर्थ ऐन्द्रियः सर्गो यस्तु ज्ञानक्रियात्मकः ।
वैकारिको देवसर्गः पञ्चमो यन्मयं मनः ॥१६॥
षष्ठस्तु तमसः सर्गो यस्त्वबुद्धिकृतः प्रभो !
षडिमाः प्राकृताः सर्गा वैकृतानपि मे शृणु ॥१७॥

(भागवत ३ । १० । १४-१७)

भावार्थः—पहिला सर्ग "महत्तत्व" है जो ईश्वर के गुणों की विषमतामात्र है। दूसरा सर्ग "अहंकार" है, जिसमें द्रव्यज्ञान और क्रिया का उदय हुवा। तीसरा सर्ग भूतसूक्ष्म है, जो महाभूतों का उत्पादक है। चौथा ज्ञान और कर्म्मसाधक इन्द्रियों का सर्ग है। पांचवां इन्द्रियाधिष्ठाता देवगणों का और मन का सर्ग है, छठा तमः का सर्ग है

जो पांच भेदों वाली अविद्या आवरण विक्षेप रूप से पुरुषों की बुद्धि को मुग्ध करती है। यह छः भेद प्राकृत के हैं।

तात्पर्य्य यह है कि— ऋग्वेद (१० । ७२ । ३) के 'असतः सद् अजायत' के अनुसार नामरूप उपाधिरहित ब्रह्म में जब "एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेय" की भावना उत्पन्न हुई, यही गुणवैषम्य था, जिसको 'महत् के नाम से प्रथम सर्ग बताया गया है। वही भावना कार्यरूप में परिणत होने के लिये जब फलोन्मुखी हुई—तो वह 'अहंकार' नामक दूसरा सर्ग बना। उससे पंचमहाभूतों के बिखरे हुवे अव्यक्त परमाणुओं का विकासरूप सूक्ष्मभूतसर्गनामक तीसरा सर्ग हुवा, वही संघरूप में परिणत होकर ज्ञान और कर्मका उत्पादक इन्द्रियसमूहरूप चौथा सर्ग हुवा, उन इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता और मनः का पांचवां सर्ग हुवा, उससे बुद्धि पर आवरण विक्षेप रूप जवनिका डालनेवाली अविद्या का छठा सर्ग हुवा, यह सब सर्ग प्राकृत हुवे,—यहां तक हमने 'सर्ग' विषयान्तर्वर्ती तात्विक सृष्टिप्रक्रिया का निरूपण किया है अब विसर्ग या प्रतिसर्ग का वर्णन किया जाता है।

प्रति-सर्ग

पुरुषानुगृहीतानामेतेषां वासनामयः।
विसर्गोऽयं समाहारो बीजाद्बीजं चराचरम् ॥

श्रीमद्भागवत १२ । ७ । १२)

अर्थात्— ईश्वर के अनुग्रह से पूर्वकथित महत्तत्व आदि में जो प्रलयपूर्ववर्ती जीवों की कर्म्मवासना अवशिष्ट थी—उन वासनामय बीजों से स्थूल जगत् के समस्त पदार्थों की (बीज से बीज और चराचर की) उत्पत्ति को विसर्ग या प्रतिसर्ग कहते हैं।

जिस प्रकार पृथ्वी में अज्ञात रूप से बिखरे हुवे बीजों के द्वारा चतुर्मास में अनेक प्रकार की लतागुल्म आदि घास अपने आप उत्पन्न हो जाती हैं इसी प्रकार पूर्वतन सृष्टि के जीवों के अवशिष्ट वासनामय कर्म्म कलाप के संस्कारों से पुनः सृष्टि-रचना के समय अनेक भोग्य पदार्थों और उनके भोक्ता प्राणियों का प्रादुर्भाव होजाता है।

कहना न होगा कि संसार के समस्त मतमतान्तरों का साहित्य—जिस तरह सृष्टि के आदिम सूक्ष्मतत्वों का पौर्वापर्य्य बताने में असमर्थ है इसी तरह स्थूल

जगत् के पदार्थों का उत्पत्ति क्रम भी पुराणों के अतिरिक्त अन्यत्र उपलब्ध नहीं हो सकता।

मुसलमान आदि जो मज़हब पुनर्जन्म के अटल सिद्धान्त को न मानने का दुराग्रह करते हैं उन्हें ज़रा विचारना तो चाहिये कि सृष्टि के आग़ाज में जो प्राणी बने वे किस बात के आधार पर-धनी-निर्धन, मूर्ख-पंडित, सर्वाङ्ग-सुन्दर एवं अन्धे काने बहरे लुञ्ज मुञ्ज तथा राजा रंक आदि अनेक दशाओं में क्यों परिणत होगए? क्यों कि उनके ख़यालेशरीफ में कर्मविपाक तो कोई वस्तु ही नहीं।

अस्तु, हम इस समालोचना को छोड़कर यहां पुराणवर्णित स्थूल पदार्थों के पौर्वापर्य्य का दिग्दर्शन कराते हैं, पाठक पढ़ें और अपने ऋषियों की सूक्ष्मदर्शिता की दाद दें।

(वैकृत-सर्ग)

सप्तमो मुख्यसर्गस्तु षड्विधस्तस्थुषां चयः ।१८।
वनस्पत्योषधिलता त्वक्सारा वीरुधो द्रुमाः ।
उत्स्रोतसस्तमःप्राया अन्तःस्पर्शा विशेषिणः ॥१९॥
तिरश्चामष्टमः सर्गः सोऽष्टाविंशतिधो मतः ।
अविदो भूरितमसो घ्राणज्ञा ह्यवेदिनः ॥२०॥
गौरजो महिषः कृष्णः सूकरो गवयो रुरुः ।
द्विशफाः पशवश्चेमे-अविरुष्ट्रश्च सत्तम ! ॥२१॥
खरोऽश्वोऽश्वतरो गौरः शरभश्चमरी तथा ।
एतेचैकशफाःक्षत्तः शृणु पञ्चनखान् पशून् ॥२२॥
श्वा शृगालो वृको व्याघ्रो मार्जारः शशशल्लकौ ।
सिंहः कपिर्गजः कूर्म्मो गोधा च मकरादयः ॥२३॥
कङ्क-गृध्र-वट-श्येन-भास-भल्लूक-वर्हिणः ।
हंस-सारस-चक्राह्व-काकोलूकादयः खगाः ॥२४॥
अर्वाक्स्रोतस्तु नवमः क्षत्तरेकविधो नृणाम् ।
रजोऽधिकाः कर्म्मपरा दुःखे च सुखमानिनः ॥२५॥

(श्रीमद्भागवत स्कन्ध ३ अध्याय १०)

भावार्थः— (महत्तत्व से आरम्भ करके अविद्या पर्य्यन्त छः सर्ग पीछे कह चुके हैं) सातवां सर्ग उद्भिज्जों-भूमि फोड़ कर निकलने वाले वृक्षादि का हुवा, जिन में यह छः भेद पाये जाते हैं,—बनस्पति (बिना फूल फलने वाले वृक्ष) ओषधि (फल पकने तक ही जो हरे रहते हैं), लता (बेल), त्वक्सार (बांस आदि) वीरुध् (कूष्माण्ड आदि) और द्रुम (फूल से फलने वाले आंव आदि वृक्ष) यह सब नीचे से ऊपर की ओर आहार खैचने वाले हैं। और इनका चैतन्य अव्यक्त है, तथा स्पर्शमात्र का अनुभव करने वाले हैं। यही सातवां सर्ग है ।१६॥

आठवां सर्ग पशु और पक्षियों का हुवा। जो सब 'कल क्या होगा' इस ज्ञान से शून्य हैं, केवल भोजनमात्र का ज्ञान रखते हैं नाक से सूंघ कर वस्तु को पहचानते हैं, और सर्वथा (अदूरदर्शी) हैं, उनके यह अठाइस भेद हैं यथा—गाय, भैंस, बकरी, हरिण, सूकर, नीलगाय, बारासिंगा, भेड़ और ऊंट यह नौ फटे-खुर वाले हैं ॥

गधा, घोड़ा, खच्चर, गौर (खचरी और घोड़े से उत्पन्न) शरभ (अष्टपद्मृग) और चमरी मृग यह छः एक खुर वाले पशु हैं।

कुत्ता, गीदड़, चित्ता, व्याघ्र, बिलाव, शशा, शल्लक, सिंह, बानर, हाथी, कछुवा, और गोह यह बारह पांच नाखूनों वाले हैं सब मिलाकर २७ भूचर हुवे।

२८ वें—कंक, (चील) गीध, बटेरा, सिकरा, बाज, भालू, मोर, हंस, सारस, चकवा, काक, उल्लू, आदि खग हैं।

शेष पशु पक्षियों की जातियें भी इन्हीं प्रधान जातियों के भेद प्रभेद हैं।

नवां सर्ग मनुष्यों का है, जो ऊपर से नीचे की ओर आहार ग्रहण करते हैं और रजोगुणप्रधान हैं, निरन्तर कार्य्य करने वाले हैं, तथा दुःख में सुख मान लेते हैं।

श्रीमद्भागवत के इस सर्गाध्याय का संक्षिप्त सार यह हुवा कि—'महत्तत्व' से अविद्यापर्य्यन्त जो छः सर्ग हुवे वह इन्द्रियातीत हैं और प्राकृत हैं, इसके अनन्तर उद्भिज्ज, पश्वादिक, और मनुष्यये तीन सर्ग वैकृत हैं। यहां यह समझ लेना आवश्यक है कि—वर्तमान विज्ञानवादियों ने जिस सूक्ष्मातिसूक्ष्म 'ईथर' तत्व को जाना है, और जिसे वह अपने ज्ञानकी चरमा सीमा समझते हैं वह तत्व हमारे वायु तत्व से परवर्ती और आकाश तत्व से पूर्ववर्ती ठहरता है आकाश का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता, परन्तु 'ईथर' इतना सूक्ष्म नहीं, आर्य्यजाति के पूर्वाचार्य्यों ने ईथर के पिता आकाशतत्व का और उसके पितामह 'अहंकार तत्व' का तथा उसके प्रपितामह 'महत्तत्व' का तथा वृद्ध प्रपितामह 'काल कर्म स्वभावादि' पर्य्यायभूत प्रधानतत्व का

भी साक्षात्कार किया था। आज डाक्टर जगदीशचन्द्र वसु महोदय के जिस 'उद्भिज्ज चैतन्य विज्ञान' पर योरोप के फिलासफर अवाक् रह गए हैं, यह विज्ञान आर्य्य जाति के आचार्य्यों ने अर्वों वर्ष हुवे न केवल जाना ही था बल्कि उसके आधार पर पीपल तुलसी आदि दिव्य वृक्षों की पूजा का निर्देश करके उनसे वास्तविक लाभ भी उठाया था, जो आज तक सनातनधर्म्मियों में प्रचलित है।

पूर्वोक्त प्रमाणों में १६ वें श्लोक के 'तमःप्राया अन्तःस्पर्शा विशेषिणः' शब्दों को ध्यान पूर्वक पढ़िये ? क्या खूबी के साथ इसमें वृक्षों के सजीव होने का और मनुष्यों के चैतन्य से उनकी चैतन्य की विशिष्टता का वर्णन किया है। आर्य्य जाति के सपूतो ! आपके पूर्वजों ने अथक परिश्रम करके जो आविष्कार किये हैं उनका सम्मान करना सीखो !

सृष्टि के तात्विक समय से लेकर सर्वाङ्गपूर्ण मनुष्यों की रचनापर्य्यन्त कितना समय लगा, और इस बीच में हमारी पृथ्वी को किन २ मार्गों से गुजरते हुवे वर्तमान रूप मिला यह रहस्य भी पुराणों में बड़ी गवेषणा के साथ प्रकट किया गया है। जिस समय प्रधान से महत्तत्व और उससे अहंकार तत्व, तथा अहंकार से सूक्ष्मभूतों का विकाश होचुका तो अन्त में वही सूक्ष्मभूत स्थूलरूप में परिणत होने लगे,। इस रहस्य का पुराण इस प्रकार वर्णन करते हैं। यथा—

नभसोऽनुसृतं स्पर्शं विकुर्वन्निर्ममेऽनिलम्।
अनिलो हि विकुर्वाणो नभसोरुबलान्वितः॥
ससर्ज रूपतन्मात्रं ज्योतिर्लोकस्य लोचनम्।
अनिलेनान्वितं ज्योतिर्विकुर्वत्परवीक्षितम्॥
आधत्ताम्भोरसमयं कालमायांशयोगतः।
ज्योतिषाम्भोऽनुसंसृष्टं विकुर्वद्ब्रह्मवीक्षितम्।
महीं गन्धगुणामाधात् कालमायांशयोगतः॥

(श्रीमद्भागवत ३। ५। ३२-३५)

अर्थात्— विकार को प्राप्त हुवा आकाश स्पर्श दशा को प्राप्त होता है। वह स्पर्श जब अधिक विकारवाला होता है तब वायु बन जाता है। वह वायु भी आकाश से युक्त अनेक शक्तिमान् होकर रूप की दशा को पहुंचता है। और फिर उससे तेजः का प्रादुर्भाव होता है। तब ईश्वर द्वारा अवलोकित वायुयुक्त तेजः रसगुणवाले जल को उत्पन्न करता है, वह जल भी ब्रह्म द्वारा अवलोकन किया हुवा-तेज से

विमिश्रित होकर गन्धगुणवाली पृथ्वी को पैदा करता है। (इस तरह गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द इन पांचों गुणों सहित स्थूलभूतों की उत्पत्ति होती है)

यह सब कार्य्य दो चार दश दिन में समाप्त हो गया हो सो बात भी नहीं है, बल्कि लाखों वर्ष पर्य्यन्त तो पूर्वोक्त पंचमहाभूतों का विमिश्रित अण्ड कारण जलों में डूबा पड़ा रहा, इसके बाद वह द्यावाभूमि नामक दो खण्डों में विभक्त होगया, आज हम जिस भूपिण्ड को शस्य श्यामला सर्वसहा एवं उर्वरा उर्वी के नाम से याद करते हैं यही मट्टी का बेडौल डला, सृष्टि के आरंभ में दमकते हुवे सोने की बराबर जाज्वल्यमान तथा आलात चक्र के समान भयंकर एवं अग्नि की तरह दंदह्यमान उल्का पिण्ड था, कई सहस्र वर्षों के बीत जाने पर क्रमशः वह उष्णता क्षीण होती गई तब कभी इसमें घास फूंस जमा, बीरान जंगल के रूप में भी इसे एक मुद्दत तक पड़ा रहना पड़ा, अन्त में प्राणधारी जीवों के निवास का अवसर आया। पुराणों में उक्त भावों को प्रकट करने वाले अध्यायों के अध्याय भरे पड़े हैं जिनका मनन करने से लोकोत्तर आनन्द मिलता है। यथा—

(क) वर्षपूगसहस्रान्ते तदण्डमुदकेशयम् ॥

(श्रीमद्भागवत २। ५। ३४)

(ख) स्वेच्छामयः स्वेच्छया च द्विधारूपो बभूव ह ।
स्त्रीरूपो वामभागांशो दक्षिणांशः पुमान् स्मृतः ॥

(देवी भागवत)

(ग) शतं मन्वन्तरं यावज्ज्वलन्ती ब्रह्मतेजसा ।
सुषाव डिम्भं स्वर्णाभं विश्वधारालयं पदम् ॥

(देवी भागवत)

अर्थात्— (क) कई सहस्र वर्षों तक वह अण्ड जल में शयन करता रहा। (ख) वह स्वेछामय अण्ड स्वेच्छा से ही दो भागों में टूट गया। जिसका बाम भाग भूमिरूप स्त्री हुवा और दक्षिण भाग द्यौरूप पुरुष हुवा। (ग) वह माया सैंकड़ों मन्वन्तर पर्य्यन्त ब्रह्म तेज से जाज्वल्यमान रही, तदनन्तर उससे समस्त विश्वका आधारभूत, सोने के बराबर चमकता हुवा डिम्भ=बच्चा पैदा हुवा।

इस प्रघट्ट में जो कुछ लिखा गया है वर्तमान साइन्स इसका सर्वथा समर्थन करती है। अब सभी साइन्सवेत्ता इस बात को प्रायः स्वीकार करते हैं कि निःसन्देह सृष्टि के बनने में करोड़ों वर्षों से कम समय नहीं लगा, तथा यह पृथ्वी अवश्यमेव

आरंभ में दाहक अग्निपिण्ड के समान थी, और एक लम्बे अर्से के बाद इसपर घास फूंस उगा तब कभी यह प्राणियों के निवासयोग्य होसकी।

प्रो० लिचाफ साहिब ने अपनी "सेकृटडाक्टरन" पुस्तक में लिखा है कि—"जमीन को दो हजार डिगरी गर्मी से दो सौ डिगरी गर्मी तक पहुँचने में किसी तरह से ३५ करोड़ वर्ष से कम नहीं लग सकते' सो यही बातें–पुराण शास्त्रों के उपर्युक्त प्रमाणों में "ज्वलन्ती ब्रह्मतेजसा" "स्वर्णाभं" "शतं मन्वन्तरं" आदि शब्दों के द्वारा स्पष्टता से व्यक्त की है। साथ ही यहां यह बात भी विशेषतया ज्ञातव्य है कि–हमारे इस सृष्टि-विज्ञान में न तो 'डारविन' वाली नास्तिकता है, और नाही कुरान आदि के 'कुन' का छूमन्तर है, बल्कि यथार्थरूप में ब्रह्म से आरम्भ करके मनुष्यपर्य्यन्त सब रहस्य ज्यों का त्यों वर्णित है।

जिस प्रकार स्वामी दयानन्द ने निराकार बाबा से एकदम साकार जोड़े टपका दिये, पुराणों और वर्तमान साइन्स से यह टपकाटपकी भी विज्ञान का उपहास ही सिद्ध होती है। इस लिये पुराणों में तो अव्यक्त को व्यक्त में, और सूक्ष्म को स्थूल में परिणत करने के लिये स्वाभाविक प्रक्रिया का आश्रय लिया है, 'ब्रह्म ही क्रमशः ब्रह्माण्ड रूप में परिणत हो जाता है'–यही वेदों का सार्वभौम सिद्धान्त पुराणों में व्याख्यात हुवा है, संसार के समस्त ऊहापोह और वादानुवाद अन्त में इसी सिद्धान्त की दुंदुभि बजाते हैं।

सृष्टिका आदिम-स्थान

सृष्टि के स्थान का निर्णय यू तो प्रायः सभी विज्ञान वेत्ताओं ने अपने २ ढंग से किया है। परन्तु यथार्थ में कोई भी उस स्थान को "इदमित्थं" नहीं कह पाया। संसार में सब से पुराणी पुस्तक वेद हैं यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है, और वेदों को मानने वाली आर्य्य जाति की प्राचीनता को भी प्रायः सबने स्वीकार किया है, परन्तु

टिप्पणी— आदि सृष्टि किस स्थान में हुई इस सम्बन्ध में विभिन्न समालोचकों के मत इस प्रकार हैं (क) मैक्स मूलर और बेबर 'लेमूरिया' में (ख) इतिहास कार–हण्टर साहिब 'कस्पियन समुद्र के पास' (ग) स्वामी दयानन्द 'तिब्बत' में (घ) बंगाल के उमेशचन्द्र विद्यारत्न 'मंगोलिया' में (ङ) लो० तिलक 'उत्तर ध्रुव के पास' (च) बी० सी० मजूमदार, हेनरीडगल्कोट, मैकडानल, सरबीलियम जोन्स, सरवाल्टर रेले 'आर्य्यावर्त' में मानते हैं।

इतिहास लिखने के समय न जाने किस गूढ अभिप्राय से प्रेरित होकर आर्य्य जाति के आदिम ग्रन्थों के विरुद्ध विदेशी पण्डित हमें अन्य देशों से भारत वर्ष में आने वालों की सन्तान बताया करते हैं, आर्य्य जाति के वर्तमान बालकों में ऐसे भ्रामक भाव फैलाने में विदेशी लोग अपनी कुछ स्वार्थसिद्धि अवश्य समझते हैं। संभव क्या-निश्चित ही यह भाव हमें मातृ भूमि के प्यार से परे ढकेल कर दासता की जंजीरों में जकड़े रहने का आदी बनाता है, इसी लिये दासता की टकसाल-स्कूल और कालिजों के सांचों में ढलकर अपटूडेट सर्वेन्ट (?) बनने वाले भोले भाले भारतीय विद्यार्थियों को पढ़ाया जाता है कि 'तुम्हारे पूर्वज भारत में उत्पन्न नहीं हुवे थे बल्कि—खैबर घाटी से—इरान से—तिब्बत से—उत्तरी ध्रुव से—गर्ज है कि इधर उधर से भटकते हुवे यहां आधमके थे। वे कोरे जंगली थे न आग जलाना जानते थे और नाहीं उन्हें समुद्र के अस्तित्व का ज्ञान था, गाय भैंस पालना और जंगली घास फंस खाकर दिन बिताना उनका पेशा था कुछ दिन के बाद उन्हें नोकीले पत्थरों से चीज काटने का ज्ञान हुवा वह पत्थर का जमाना था, फिर एक मुद्दत के बाद लोहे आदि के नोकीले टुकड़े लकड़ियों में बांध कर तीर कमान बनाने का बोध हुवा, यह धात का ज़माना कहा जाना चाहिये। उस समय चरबाहे लोग नशीले वृक्षों से तैयार किया हुवा एक मादक रस पीकर-जिसे कि वे 'सोमरस' के नाम से पुकारते थे-मनमानी हांकते थे, आगे चलकर यही चर बाहों के गीत वेद मन्त्र कहे जाने लगे-इत्यादि २'

उपर्युक्त भाव न्यूनाधिक सभी विदेशियों ने प्रकट किये हैं, कौन ऐसा भारतीय होगा जो कि समुद्रों का पुल बान्धने वाले और पुष्पक विमान जैसे आकाशयान तैयार करने वाले अपने पूर्वजों की शान में ऐसे शब्दों को बरदास्त कर सके !, जिन ऋषियों ने अध्यात्म विद्या के बल से जीवके ब्रह्म बन जाने का रास्ता परिष्कृत किया हो आज उन्हें चन्द स्वार्थ परायण समालोचक जंगली सिद्ध करना चाहते हैं और ईश्वरीयज्ञान के अखूट खजाने वेद भगवान् को चरवाहों के गीत बताना चाहते हैं 'किमाश्चर्य्यमतः परम्'

यदि विदेशियों ने अपना शासन बनाए रखनेके लिये हमारे ऊपर इस प्रकार के भ्रामक भाव जबर्दस्ती लादे सोतो 'वादी भन्द्रं न पश्यति' के अनुसार किसी तरह 'कुटिलनीति' की दृष्टि से क्षन्तव्य भी समझे जा सकते हैं। परन्तु ऋषियों के गोश्त और पोश्त से बनने वाले एवं वैदिकता तथा भारतीयता का स्वांग भरने वाले स्वामी दयानन्द ने भी बिना सींग पूंछ हिलाये विदेशियों की हां में हां मिला डाली, कि

'अवश्यमेव आर्य्य लोग यहां पैदा नहीं हुवे थे बल्कि तिब्बत की पहाड़ियों से इधर आए थे' क्या खूब ! न कोई प्रमाण और न कोई दलील ! केवल 'वावावाक्यं' के आधार पर अपनी जन्मभूमि को दुत्कार दिया जाए !! जो 'अकल के अन्धे और गांठ के पूरे' ऐसी बोदी पुरानी बात पर अभी तक विश्वास करते हैं, निःसन्देह वे अपनी आने वाली सन्तानों को भी दासता की बेड़ियों में जकड़े रखने में विदेशियों का हाथ बटाते हैं, परमात्मा उन्हे सुबुद्धि दे।

आदि सृष्टि किस स्थान में हुई-इस सम्बन्ध में पौरस्त्य और पाश्चात्य समालोचकों के मत पाठक जान चुके हैं उक्त सभी समालोचकों ने प्रायः शुष्क और अपूर्ण तर्कों के आधार पर अपने २ मत की स्थापना की है इस लिये इनकी दलीलें ही उक्तमतों की निस्सारता सिद्ध करने में पर्य्याप्त प्रमाण हैं, अतः हम अपनी ओर से कुछ भी लिखना व्यर्थ समझते हैं। अब वेदादि शास्त्रों से भी पूछिये कि 'आदि सृष्टि किस स्थान में हुई ?'

यजुर्वेद में सृष्टि के प्रादुर्भाव का पुरुषमेधयज्ञ के रूप में आलंकारिक पद्धति से वर्णन किया है, यह बात प्रायः सभी वेदवेत्ता सज्जन जानते हैं, शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिनो संहिता के पुरुष सूक्त नामक इकत्तीसवें अध्याय में यह सब प्रसङ्ग सुन्दर रीति से वर्णित है, यथा—

(क) सहस्रशीर्षा पुरुषः।

(ख) पुरुष एवेदꣳसर्वम्।

(ग) यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।

(घ) तस्माद् यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।

(ङ) तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः।

गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः।

(यजुः ३१। १-२२)

अर्थात्— (क) अनन्त शिर आदि अङ्गों वाला एक पुरुष था (ख) यह जो कुछ दृश्य जगत् है सब पुरुष ही है (ग) देवताओं ने जिस पुरुष को हविः बना कर यज्ञ रचा (घ) उस यज्ञ से ऋगादि चारों वेद प्रकट हुवे (ङ) और उस से ही घोडे आदि नीचे ऊपर दांत वाले जीव पैदा हुवे तथा उसी से गाय बकरी और भेड़ आदि जीव उत्पन्न हुवे।

आगे चल कर इसी प्रसङ्ग में ब्राह्मणादि चारों वर्णों और विभिन्न देवताओं की उत्पत्ति का उल्लेख किया गया है। अब विचारणीय यह है कि ब्रह्मा द्वारा किया जाने वाला यह सृष्टिरूप यज्ञ किस वेदि पर सम्पन्न हुवा सो वेद की शतपथ तथा ताण्ड्य शाखा में स्पष्टतया लिखा मिलता है, यथाः—

(क) तस्मादाहुः कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनम् ।

(शतपथ —१४ । १ । १ । २)

(ख) एतावती वाव प्रजापतेर्वेदिर्यावत्कुरुक्षेत्रम् ॥

(ताण्ड्य २५ । १३ । ३)

अर्थात्— (क) [आदि सृष्टि कुरुक्षेत्र में हुई है] इस लिये कुरुक्षेत्र को देवताओं का 'देवयजन=' (सृष्टिरूप यज्ञ का सम्पादन स्थान) कहते हैं (ख) सृष्टिकर्ता श्री ब्रह्मा जी महाराज की- (सृष्टि रूप यज्ञ सम्पादन की) वेदि इतनी ही है कि जहां तक कुरुक्षेत्र है।

महर्षि मनु महाराज भी अपने ग्रन्थ में ब्रह्मावर्त और कुरुक्षेत्र को ही वैदिक सभ्यता का आदि स्रोत स्थान बताते हुवे अन्यान्य देशवासियों को इस स्थान के ब्राह्मणों से अपना चरित्र सीखने का आदेश करते हैं यथा—

(क) सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् ।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते ॥

(ख) कुरुक्षेत्रंच मत्स्याश्च पाञ्चालाः शूरसेनिकाः ।
एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तरः ॥

(ग) तस्मिन्देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः ।
वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ॥

(घ) एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चारित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

(मनुस्मृति २ । १७-२०)

अर्थात्— (क) देवताओं की प्रतिष्ठापित सरस्वती (कुरुक्षेत्र की पश्चिमी सीमा पर बहने वाली प्राचीन नदी) और दृषद्वती (कुरुक्षेत्र की पूर्वीय सीमा पर बहने वाली प्राचीनतम) नदियों की मध्य भूमि को 'ब्रह्मावर्त' कहते हैं, यह स्थान साक्षात् देवनिर्मित है। (ख) कुरुक्षेत्र मत्स्य, पञ्चाल और शूरसेन ये देश भी ब्रह्मावर्त के बाद

' ब्रह्मर्षि देश ' कहलाने योग्य हैं, (ग) उक्त देशों में परम्परा से ब्राह्मणादि वर्णों का और अनुलोमविलोमात्मक संकर जातियों का जो आचरण चला आता है उसे ही सदाचार समझना चाहिये । (घ) इन (कुरुक्षेत्रादिदेशजातस्येति कुल्लूकभट्टः) कुरुक्षेत्र आदि देश में उत्पन्न हुवे अग्रजन्मा=ब्राह्मण से पृथ्वी के समस्त मनुष्यों को अपना अपना चरित्र सीखना चाहिये।

आगे चल इसी प्रसङ्ग में मनु जी महाराज ने हिमालय से विन्ध्याचल तक और कुरुक्षेत्र से प्रयाग तक के भूखण्ड को ' मध्य देश ' के नाम से स्मरण किया है, तथा पूर्व के समुद्र से पश्चिमी समुद्र पर्य्यन्त और हिमालय से विंध्याचलपर्य्यन्त भूभाग को ' आर्य्यावर्त ' संज्ञा से भूषित किया है, अन्त में उपसंहार करते हुवे वर्णाश्रमी द्विजपुरुषों को उक्तसीमान्तर्वर्ती किसी प्रदेश में ही निवास करने की आज्ञा दी है, ।

मनु जी के उपर्य्युक्त उद्गारों से यह स्पष्ट होता है कि वे समस्त भूमण्डल की अपेक्षा आर्य्यावर्त को पवित्र समझते थे, और आर्यावर्त के अन्य प्रदेशों की अपेक्षा ' मध्यप्रदेश ' को, तथा मध्यप्रदेश में भी कुरुक्षेत्र मत्स्य आदि स्थानों को, एवं इन सबकी अपेक्षा ' ब्रह्मावर्त ' को परम पवित्र मानते थे कहना न होगा मनु जी की यह मान्यता अन्धविश्वास पर अवलम्बित नहीं है बल्कि आदिमसृष्टि और आदिम सभ्यता का स्रोत जिस स्थान से प्रवाहित होकर जैसे २ आगे बढ़ा वैसे २ ही मनु जी ने उस २ स्थान को गौरव दिया, अतः इससे स्पष्ट है कि मनु जी महाराज ने भी सृष्टि उत्पत्ति का आदिम स्थान ' ब्रह्मावर्त ' माना है, सम्भवतः ' ब्रह्म में सृष्टिरूप आवर्त या विवर्त जिस स्थान में हुवा हो ' इसी भाव को लेकर उक्त स्थान का नाम ' ब्रह्मावर्त ' पड़ा है, ब्रह्मावर्त एक विस्तृत प्रदेश है उस की पश्चिमोत्तर सीमा के मध्य में ही कुरुक्षेत्र विद्यमान है, इस प्रकार सिद्ध हुवा कि आदिसृष्टि ' आर्य्यावर्त ' के ' ब्रह्मावर्त ' नामक प्रदेश में, और ब्रह्मावर्त के भी ' कुरुक्षेत्र ' नामक स्थान में हुई थी, इसी लिये वेदों में कुरुक्षेत्र को देव यजन और 'प्रजापति की वेदि' के नाम से स्मरण किया है । धर्म्म क्षेत्र, स्यमन्तपञ्चक, ब्रह्म क्षेत्र, विनशन क्षेत्र, आदि २ भी इसी स्थान के नामान्तर हैं, कब से-और किस कारण से-इस क्षेत्र का अमुक २' नाम पड़ा यह एक विस्तृत रहस्य है जो वामन आदि पुराणों में लिखा है हम विस्तारभय से तथा अप्रासङ्गिक होने के कारण यहां लिखना आवश्यक नहीं समझते ।

वेद और मनुस्मृति के प्रमाणों द्वारा सृष्टि का आदिम क्षेत्र प्रकट किया जा चुका है, पुराण ग्रन्थों में भी स्थान स्थान में यही आशय ध्वनित होता है सो पाठकों के सन्तोषार्थ यहां कतिपय उदाहरण दिये जाते हैं ।

श्रीब्रह्मा जी महाराज के मरीचि आदि दश मानसिक पुत्र और ग्यारहवें स्वायम्भू मनु-येही सब सृष्टि के आदिम पुरुष थे, सो पुराणों में इनका निवास प्रायः सरस्वती नदी के आस पास कुरुक्षेत्र और ब्रह्मावर्तनामक स्थान में लिखा है। यथा—

(स्वायम्भू मनुका निवास स्थान)

ब्रह्मावर्ते योऽधिवसञ्शास्ति सप्तार्णवां महीम्।

(श्रीमद्भागवत ३। २१। २५)

अर्थात्— [स्वायंभूमनु] ब्रह्मावर्त में अधिवास करते हुवे इस सात समुद्रों वाली भूमिका शासन करते थे।

(ब्रह्मपुत्र कर्दम का आवास)

प्रजासृजेति भगवान्कर्दमो ब्रह्मणोदितः।
सरस्वत्यां तपस्तेपे सहस्राणां समा दश ॥

(श्रीमद्भागवत ३। २१। ६)

अर्थात्— जब श्रीब्रह्माजी ने कर्दम ऋषिको आदेश किया कि 'प्रजा उत्पन्न कर' तब वह सरस्वती नदी के तट पर दस सहस्र वर्ष तक तपः करते रहे।

(नगर ग्राम आदि की नीव डालने वाले पृथु का स्थान)

(क) **चूर्णयन्स्वधनुष्कोट्या गिरिकूटानि राजराट्।**
भूमण्डलमिदं वैन्यः प्रायश्चक्रे समं विभुः ॥२९॥
अथास्मिन्भगवान् वैन्यः प्रजानां वृत्तिदः पिता।
निवासान् कल्पयांचक्रे तत्र तत्र यथार्हतः ॥३०॥
ग्रामान्पुरः पत्तनानि दुर्गाणि विविधानि च।
घोषान्व्रजान्सशिविरानाकारान्खेटखर्वटान् ॥३१॥
प्राक् पृथोरिह नैवैषा पुरग्रामादिकल्पना ॥३२॥

(ख) **अथादीक्षत राजा तु हयमेधशतेन च।**
ब्रह्मावर्ते मनोः क्षेत्रे यत्र प्राची सरस्वती ॥१॥

(श्रीमद्भागवत ४। १८-१९ अध्याय)

अर्थात्—(क) शक्तिमान् वेणपुत्र पृथु ने धनुष की नोक से पर्व्वतों के शिखर विदीर्ण करके इस पृथ्वी को प्रायः समतल बना दिया। प्रजाओं के अन्नदाता पिता स्वरूप वेणपुत्र ने तदुपरान्त यथोचित आवास स्थान बनाए। उत्तरोत्तर ग्राम, पुर, नगर, अनेक प्रकार के दुर्ग, गोशाला, छावनियें, खाने, खेती क्यारी के क्षेत्र, और छोटे बड़े सब तरह के निवास स्थान बनगए। पृथु से पूर्व इस भूमि पर नगर ग्राम आदि बसने की व्यवस्था न थी। (ख) आदिराजा मनु के आवास स्थान ब्रह्मावर्त में जहां कि प्राची सरस्वती बहती है-पृथु राजा ने दीक्षापूर्वक सौ अश्वमेध यज्ञ किये।

उपर्य्युक्त प्रमाणों से यह स्पष्ट होता है कि मानव सृष्टि के सूत्रधार भगवान् मनु, और उनके समकालीन मरीचि दक्ष आदि मानस ऋषि, कहीं बायें दायें से नहीं आये थे बल्कि 'कुरुक्षेत्र' में ही उत्पन्न हुवे थे, तथा इसी स्थान में दीर्घकाल तक तपश्चर्य्या करके मानव सृष्टि के विकाश में कृतकार्य्य हुवे थे। इसी लिये पुराणों में सहस्र मुखों से इस देश की महिमा का गुणगान किया है। यथा—

(क) अत्र जन्मसहस्राणां सहस्रैरपि सत्तम !
कदाचिल्लभते जन्तुर्मानुष्यं पुण्यसंचयात्।

(ख) गायन्ति देवाः किलगीतकानि धन्यास्तुतेभारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गस्य च हेतुभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥

(विष्णुपुराण २। ३। २३-२४)

अर्थात् (क) हज़ारहों जन्म बीत जाने पर कभी पूर्व पुण्यों के प्रताप से इस देश में मनुष्य जन्म मिलता है। (ख) स्वर्गादि लोकवासी देवता लोग भी यह गीत गाते हैं कि-वे जीव धन्य हैं, जोकि नकेवल स्वर्ग-बल्कि मोक्ष पदवी के भी दाता भारत वर्ष में देवत्व का परित्याग करके फिर से मनुष्य जन्म में अवतीर्ण होते हैं।

अब हम कुछ युक्तियों द्वारा भी भारत-और तदन्तर्भूत ब्रह्मावर्त के कुरुक्षेत्र स्थान में आदि सृष्टि होने का निरूपण करते हैं।

यह सभी जानते हैं कि घट वहीं बन सकता है जहां कि उसके बनने की समस्त सामग्री (मट्टी, कुलाल, चक्र, और दंड आदि) विद्यमान हैं। इसी प्रकार तेल बत्ती आदि सामग्री की विद्यमानता में दीपक, और सूत जुलाहा की समुपस्थिति में कपड़ा बन सकता है, जहां-जिस पदार्थ की कारणभूत सामग्री इकट्ठी होगी उसी स्थान में यह कार्य्य सम्पन्न हो सकेगा, यह एक स्पष्ट और स्वाभाविक बात है।

इसके विरुद्ध कहीं भी यह देखने या सुनने में आया कि-मालावार में मट्टी पड़ी हो और पेशावर में पानी रहता हो, तथा चट-गांव (बंगाल) में चाक घूमता हो और किरांची में कुम्हार बैठा हो फिर भी सात सैकेण्ड में पका पकाया घड़ा तैय्यार हो जाए अर्थात्— अनेक स्थानों में बिखरी हुई कारणभूत सामग्री से कोई कार्य्य सम्पन्न नहीं हो सकता, इसी तरह आवश्यक सामग्री के अनेक अङ्गों की अविद्यमानता में और केवल किसी एकमात्र अङ्ग के उपस्थित रहने से भी कोई कार्य्य सम्पन्न नहीं हो सकता, जैसे केवल गारा विद्यमान हो परन्तु कुम्हार, चाक, और दण्ड आदि न हों तब भी वहां घट रूप कार्य्य का बन जाना असंभव है, इस समस्त भूमिका का सार यह हुवा कि—जिस स्थान में जिस कार्य्य की सम्पूर्ण कारण सामग्री विद्यमान होगी उसी स्थान में वह कार्य्य सम्पन्न हो सकेगा अन्यत्र नहीं। अब हमें देखना चाहिये कि सृष्टिरूप कार्य्य की कारणभूत सामग्री क्या है—और वह पूर्णरूप से पृथ्वी के किस प्रदेश में विद्यमान है-इन दोनों बातों का पता लग जाने पर अपने आप यह सिद्ध हो जायगा कि आदि सृष्टि अमुक स्थान में हुई।

कहना न होगा कि प्रकृति (Nature) का पूर्ण विकाश ( ) ही सृष्टि के प्रादुर्भाव का मुख्य कारण है, इसी लिये प्रकृति के पूर्ण विकाश को ही सृष्टिरूप कार्य्य की कारणभूत सामग्री समझना चाहिये। वह प्रकृति का पूर्ण विकाश केवल आर्य्यावर्त में और तदन्तर्गत ब्रह्मावर्त के 'कुरुक्षेत्र' स्थान में ही दीख पड़ता है अतः आदि सृष्टि कुरुक्षेत्र में ही हुई यह विज्ञानसिद्ध है, आर्य्यावर्त में प्रकृति का पूर्ण विकाश जानने के लिये नीचे लिखे कारणों का मनन करना आवश्यक है।

(१) जब हम संसार के प्राकृत भूगोल पर दृष्टि डालते हैं तो हमें यह प्रतीत होता है कि—प्रकृति ने संसार के पुरुषों को पांच रंगों में रंगा है, इस समय संसार के सब मनुष्यों की संख्या १ अर्ब ६९ करोड़ के लगभग है, जो भिन्न रंग के हैं, और भिन्न देशों में रहते हैं, नीचे लिखे चित्र से यह स्पष्ट हो जायगा—

रंग।	संख्या।		निवास देश।
पीले—	५००००००००	—	पूर्वी एशिया के जापान आदि स्थानों में
काले—	१५००००००००	—	अफ्रीका में।
लाल—	४००००००००	—	अमेरिका में।
भूरे—	४५००००००००	—	भारत और उत्तरी अफ्रीका में।
श्वेत—	५५००००००००	—	इंगलैंड आदि स्थानों में।
	योग—	१६९००००००००	

इन पांच रंगों में भूरे रंग के अतिरिक्त सब रंग एक प्रकार के हैं परन्तु भूरा रंग इन चारों का मिश्रण है जिसका तात्पर्य्य यह है कि— भारत के सिवाय दूसरे देशों में प्रकृति का १/४ विकास है, और भारत में पूरा विकास है, इसी लिये अन्य देशों में केवल एक रंग के पुरुष होते हैं और भारत में सभी रंग के, यहां बंगाल में बढ़िया से बढ़िया श्यामसुन्दर मूर्ति देखलो ?, और कश्मीर में गौराङ्गों को लजाने वाले "कुन्द इन्दु सम देह" के दर्शन करलो ?। इस से स्पष्ट है कि— भारतवर्ष में ही प्रकृति का पूर्ण विकास है, और आदिसृष्टि वहां ही होसकती है, जहां कि प्रकृति का पूर्ण विकास हो अतः आदिसृष्टि भारतवर्ष में हुई।

(२) भारतवर्ष के अतिरिक्त समस्त देशों में न्यूनाधिक एक ही ऋतु वर्ष भर रहती है, कहीं २ दो या तीन भी परन्तु भारतवर्ष में पूरी छः ऋतुवें यथासमय होती हैं, ऋतुपरिवर्तन प्रकृति के नियन्त्रण से होता है, इस से भी स्पष्ट है कि— जहां अन्य देशों में प्रकृति का विकाश १/६ है, वहां भारत में पूरा छः है, अतः आदि-सृष्टि भारत में हुई।

(३) खगोलसम्बन्धि गतिविगति जानने के लिये जिस भूमध्यरेखा का उपयोग होता है, वह रेखा 'पुरी रक्षसां देवकन्याथ कांची·····कुरुक्षेत्रमध्ये भुवो मध्य-रेखा' इस प्रमाण के अनुसार लंका, देवकन्या, कांजीवरम् से होती ठीक कुरुक्षेत्र के ऊपर से गुजरती है, अतः भारत के अन्य प्रान्तों की अपेक्षा कुरुक्षेत्र में सब ऋतुओं का विकास ठीक२ समय पर होता है, अतः आदिसृष्टि भारत के कुरुक्षेत्र स्थान में हुई।

नूतन वेदावलम्बियों को इस विषय का भ्रम दूर करने के लिये वेदों का भी पारायण करना चाहिये, उन में भारतवर्ष की गङ्गा, यमुना, शतद्रु, और सिन्धु आदि

टिप्पणी— योरोप और एशिया के अनेक समालोचकों ने भी आर्य्यावर्त में आदिसृष्टि का होना स्वीकार किया है। यथा—

(क) कर्नल टाड— 'आर्य्यावर्त' के अतिरिक्त और किसी देश में सृष्टि के आरम्भ का हिसाब नहीं पाया जाता इस से आदिसृष्टि यहीं हुई इस में सन्देह नहीं।

(टाड-राजस्थान)

(ख) सरवाल्टर रेले— जल प्रलय के अनन्तर भारतवर्ष में ही वृक्ष लता आदि की उत्पत्ति और मनुष्यों की बस्ती हुई थी (History of the World)

(ग) कुरान और इंजील से भी आदम और हौआ का अदन की बाटिका से निकल कर भारतवर्ष में आना प्रकट है।

नदियों के नाम तो खूब आते हैं, परन्तु इङ्गलैण्ड की 'टाइम्स' नदी आष्ट्रिया की 'डनयूब नदी' और चीन तिब्बत की 'सीक्यां' नदी का कहीं वर्णन नहीं, जिस से स्पष्ट है कि— आर्य्य जाति का जन्म स्थान, वेदों का विकास स्थान, और आदि सभ्यता का प्रसार स्थान पवित्र भारतवर्ष ही है, अतएव पुराण शास्त्रों में उसका महत्व वर्णित है।

प्रलय—

वर्तमान सृष्टि कब लुप्त होगी? यह प्रश्न भी पुराणों ने हल किया है, पीछे प्रमाण देकर बताया गया है, आज कल सातवें मनु का २८ वां कलियुग चल रहा है, जिसके ५०३२ वर्ष व्यतीत हुवे हैं, और शेष कलियुग ४३ चतुर्युगी ७ मन्वन्तर ८ सन्धियें अभी भोग्य हैं, यही प्रलय का समय है जो निम्नलिखित गणित द्वारा स्पष्ट किया जाता है—

वर्तमान कलि के शेष भोग्य वर्ष—	४२६९६८
भोग्य ४३ चतुर्युगियों के वर्ष—	१८५७६००००
भोग्य ८ सन्धियों के वर्ष—	१३८२४०००
भोग्य सात मनुवों के वर्ष—	२१४७०४००००
योग—	२३४७०५०९६८

इस से स्पष्ट है कि— विक्रम संवत् १९८८ से २ अर्ब २४ करोड़ ७० लाख ५० हजार ९ सौ ६८ वर्ष के बाद प्रलय होजायगी। सृष्टि के भुक्त और भोग्य वर्षों के योग से सृष्टि की पूर्णायु इस प्रकार है—

भुक्त वर्ष—	१९७२९४९०३२
भोग्यवर्ष—	२३४७०५०९६८
योग—	४३२००००००

कुरान के अनुसार हिज्री सन् की १४ वीं शताब्दी में 'क़यामत' होजानी चाहिये, परन्तु वर्तमान विज्ञान ने इस बात को मिथ्या प्रमाणित कर दिया है, योरोप के साइंस-वेत्ताओं ने अनुभव करके बताया है कि— "इस समय हमारी पृथ्वी की युवा अवस्था है, पुराणों के अनुसार भी छः मनु व्यतीत होगए ७वां मनु चल रहा है, और सात मनु शेष हैं, यह पुराण विज्ञान की विश्वव्यापिनी कीर्तिपताका है कि— योरोप आज

जिसे सिद्ध करना चाहता है, पुराणों में वह अर्वो वर्ष पूर्व स्पष्ट शब्दों में सर्वसाधारणोपयोगी बना कर वर्णन किया जा चुका है।

प्रलय किस प्रकार होगी— पुराणों में इस प्रश्न को भी बडे ही युक्तियुक्त और वैज्ञानिक ढंग से बताया गया है यथा—

द्विपरार्धे त्वतिक्रान्ते ब्रह्मणः परमेष्ठिनः।
तदा प्रकृतयः सप्त कल्पन्ते प्रलयाय वै ॥५॥
एष प्राकृतिको राजन् प्रलयो यत्र लीयते।
अण्डकोशस्तु संघातो विघात उपसाधिते ॥६॥
पर्जन्यः शतवर्षाणि भूमौ राजन्य वर्षति।
त्वयंयास्यन्ति शनकैः कालेनोपद्रिताःप्रजाः ॥७॥
सामुद्रं दैहिकं भौमं रसं सांवर्तको रविः।
रश्मिभिः पिबते घोरैः सर्वं नैव विमुञ्चति ॥८॥
ततः संवर्तको वह्निः संकर्षणमुखोत्थितः।
दहत्यनिलवेगोत्थः शून्यान् भूविवरानथ ॥९॥
उपर्यधः समन्ताच्च शिखाभिर्वह्निसूर्य्ययोः।
दह्यमानं विभात्यण्डं दग्धगोमयपिण्डवत् ॥१०॥
ततः प्रचण्डपवनो वर्षाणामधिकं शतम्।
शतं वर्षाणि वर्षन्ति नदन्ति रभसस्वनैः ॥११॥

(श्रीमद्भागवत स्कन्ध १२ अध्याय ४)

भावार्थ— परमेष्ठी ब्रह्मा जी के १०० वर्ष व्यतीत होने पर प्राकृत प्रलय होता है। इस समय अण्डकोश का संघात लीन होजायगा। प्रथम सैंकड़ों वर्षों तक वर्षा नहीं होगी, जिससे मनुष्यादि जीव तड़प २ कर विनष्ट होजायेंगे, सब प्रकार के जल को सांवर्तक (प्रलयकालीन) सूर्य्य खैंच लेता है। अनन्तर संकर्षण भगवान् के मुख से भड़की हुई अग्नि समस्त चराचर को फूंक डालेगी इस प्रकार चारों ओर से जलते हुवे इस भूपिण्ड की दशा ठीक जलते हुवे गोले के समान होजायगी। फिर सैंकड़ों वर्ष तक प्रचण्ड वेग से तीव्र वायु चलेगी, और सैंकड़ों वर्ष तक मूसलधार वर्षा होगी, जिस से सब संसार जलमय होजायगा।

उपरोक्त वर्णन को जब वैज्ञानिक रीति से परखते हैं तो यह सोलह आने सत्य प्रतीत होता है, सर्वतन्त्र सिद्धान्त से हमारी पृथ्वी कभी अग्नि का गोला थी, करोड़ों वर्ष में क्रमशः ठंडी होती हुई इस दशा को प्राप्त हुई है, अब भी पृथ्वी के उपरि भाग की अपेक्षा ज्यों भूगर्भ की ओर बढ़ते हैं तो अधिकाधिक उष्णता मिलती है। समुद्र की बड़वाग्नि और पर्वतों की ज्वालामुखियें इस बात का प्रमाण हैं। वही उष्णता जब क्षीयमाण होती हुई उस सीमा तक पहुंच जावेगी जबकि वह सूर्य्यकिरणों से वाष्प-भूत जल को वृष्टि के रूप में अपनी ओर नहीं खैंच सकेगी, तो सब जीव जलाभाव से विनष्ट होजायेंगे। और सूर्य्य का आकर्षण समुद्रों तक के जल को सुखा डालेगा, जब पृथ्वी निर्जल होजायेगी तब भूगर्भस्थ अग्नि ज्वालामुखियों के रूप में भड़क उठेगी— उसे पुराण में संकर्षण की मुखाग्नि के नाम से बताया है। संकर्षण का अर्थ अपनी ओर खैंचने वाला है, वह भूगर्भस्थ उष्णता ही आकर्षण शक्ति का केन्द्र है, अग्नि के भड़क उठने से तीव्र वायु का चलना स्वाभाविक है, इस प्रकार अग्नि और वायु के संघात के तीव्र होजाने से आकाशस्थ अनन्तजलराशि मूसलधार होकर सब कुछ डुबा डालेगी– वह जल उस भड़की हुई अग्नि को शान्त नहीं कर सकेगा, क्योंकि वह कृत्रिम अग्नि नहीं है, बल्कि प्राकृत है, जैसी कि जलमय मेघों में वैद्युत अग्नि हुआ करती है।

इसके सब तत्वों के लीन होने का क्रम इस प्रकार है—

तदाभूमे र्गन्धगुणं ग्रसन्त्याप उदप्लवे।
ग्रस्तगन्धा तु पृथिवी प्रलयत्वाय कल्पते ॥१४॥
अपां रसमथो तेजस्तल्लीयन्तेऽथ नीरसाः।
ग्रसते तेजसो रूपं वायुस्तद्रहितं तदा ॥१५॥
लीयते चानिले तेजो वायोः खं ग्रसते गुणम्।
स वै विशति खं राजं स्ततश्च नभसोगुणम् ॥१६॥
शब्दं ग्रसति भूतादिर्नभस्तमनुलीयते।
तैजसश्चेद्रियाण्यङ्ग देवान्वैकारिको गुणैः ॥१७॥
महान्ग्रसत्यहङ्कारं गुणा सत्वादयश्च तम् ॥

(श्रीमद्भागवत स्कन्ध १२ अध्याय ४)

भावार्थ— जब जलमग्न पृथ्वी का गुण गन्ध नष्ट होजायगा तो पृथ्वी भी नष्ट होजावेगी। जल के गुण रस को अग्नि फूंक डालेगी, तब जल भी लीन होजायेंगे। तेज का गुण रूप वायु में लीन होजायेगा, तब तेज भी नहीं रहेगा। वायु के स्पर्शादि-गुण आकाश में समा जायेंगे, तब वायु भी नष्ट होजायगा। तब आकाश के गुण शब्द को सूक्ष्मभूत ग्रास कर जायेंगे, वह भी उन में लीन होजायेगा। अनन्तर इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता— अहङ्कार— उत्तरोत्तर महत्तत्व में लीन होजायेंगे। तब वही शुद्ध निर्लेप निरञ्जन ब्रह्म रहजायगा— शेष संसार अव्यक्त रूप में परिवर्तित होजायगा।

तात्पर्य्य यह है कि जिस प्रकार उत्पत्ति के समय जो तत्व जिस तत्त्व का उत्पादक होता है, ठीक उसी प्रकार विलोम क्रम से उत्तरोत्तर वह उसी में लीन हो जाता है। जैसे सोने से भूषण बनता है। वही कालान्तर में— टूट फूट कर फिर सुवर्ण ही बन जाता है—। इस प्रकार पुराणों के दूसरे विषय 'प्रतिसर्ग' का निरूपण करके तीसरे विषय 'वंश' का प्रतिपादन किया जाता है।

वंश-

राज्ञां ब्रह्मप्रसूतानां वंशस्त्रैकालिकोन्वयः।

(श्रीमद्भागवत १२। ७। १६)

अर्थात्— ब्रह्मा से उत्पन्न होने वाले राजाओं की भूत, वर्तमान, और भावि कुलपरम्परा को 'वंश' कहते हैं।

दो हज़ार वर्ष से पूर्ववर्ती पुरातन पुरुषों का क्रमबद्ध उल्लेख पुराणों के सिवा संसार की किसी अन्य पुस्तक में प्राप्य नहीं हैं, अनेक शाखा प्रशाखों में प्रविभक्त इस विस्तृत वंश परम्परा को संक्षिप्त— किन्तु— सुस्पष्ट रीति से लेखबद्ध कर देना श्रीव्यास जी की लेखनी का ही काम था, संसार में 'गागर में सागर' वाली कहावत प्रायः सभी को कंठस्थ है परन्तु इसका सर्वाङ्ग पूर्ण एवं यथार्थनिदर्शन केवल पुराणों की इन वंशावलियों के मनन करने पर ही प्राप्त होसकता है।

पुराणों को आर्य्य जाति के इतिहास का अथाह सागर कह देना अत्युक्ति न होगी यद्यपि प्रधानतः यह विषय महाभारत रामायण और हरिवंश पुराण में वर्णित है। तथापि पुराणों को विश्वतोमुख बनाने के अर्थ उनमें भी इस विषय को सन्निविष्ट कर लिया गया है। वंशवर्णन के विषय में किसी को कोई विशेष सन्देह नहीं है, सभी समालोचक इस विषय की भूरि २ प्रशंसा करते हैं। आर्यसमाज के प्रवर्तक

स्वामी दयानन्द ने भी 'सत्यार्थप्रकाश' में इसी पौराणिक वंश वर्णन के आधार पर आर्य्यावर्त के राजाओं की वंशावली लिखी है, स्वामी जी ने उसमें कई जगह भयंकर गलती भी खाई है जो कि पुराणानभिज्ञ होने के कारण स्वाभाविक थी अतः क्षन्तव्य है, हमारे कई आर्यसमाजी भाई कृतघ्नता की परा काष्ठा दिखाते हुए, इस वंशावली का आधार-'राजतरङ्गिणी' को बताते हैं। परन्तु उन्हें यह मालूम नहीं कि-राजतरङ्गिणी की कौन कहै—संसार की किसी भी अन्य पुस्तक में युधिष्ठिर से पहिले का क्रम-बद्धवंशवृत्त अङ्कित नहीं है।

कई पाश्चात्य समालोचकों को अमुक २ पुराण की वंशावलियों की तुलना करने पर परस्पर विरोध का आभास हुवा है, उनका कहना है कि 'अमुक पुराण में ब्रह्मा या मनु से आरंभ करके राम या कृष्ण तक इतनी पीढ़ियें लिखी हैं, परन्तु अमुक पुराण के अनुसार इतनी न्यून या अधिक ठहरती हैं, अतः परस्पर विरोध के कारण किसे सत्य और किसे असत्य माना जाए!।' इसी तरह कुछ समालोचकों को अमुक २ नामों में भी विरोध जंचता है-इन दोनों प्रकार के संशयों का कारण केवल पुराण शैली को न समझना ही है। क्यों कि सृष्टि के आरंभ से प्रलयपर्य्यन्त-चार अर्ब बत्तीस करोड़ वर्षों के एक कल्प की-और इसी तरह कल्पान्तर की समूची वंशावलियें लेख बद्ध कर डालना कठिन ही नहीं बल्कि सर्वथा असंभव काम है, यदि पीढ़ी दर पीढ़ी प्रत्येक नाम का उल्लेख किया जाए तो—

असितगिरिसमं स्यात्कज्जलं सिन्धुपात्रे-,

के अनुसार तीन काल में भी यह काम पूरा नहीं हो सकता इस लिये पुराणों में वंशावलियें कहीं पीढ़ी दर पीढ़ी और कहीं अकिंचित्कर व्यक्तियों के नामों का उल्लेख अनावश्यक समझ छोड़कर तत्तद्वंशज प्रधान २ पुरखाओं की गणना से-दर्ज की हैं। जैसे वर्तमान गवनमेन्ट मनुष्यों और कभी २ पशुओं की गणना करना तो आवश्यक समझती है परन्तु चौमासे के अगणित कीट, पतङ्ग, मच्छर और खटमलों की गणना करके अपने रजिस्टर काला करने की मूर्खता को व्यर्थ समझती है। ठीक इसी प्रकार व्यास जी ने अपने ग्रन्थों में उन्हीं पुरुषों का उल्लेख करना आवश्यक समझा है, जिनका कि मानव जाति के साथ धार्म्मिक या अन्य किसी दृष्टि से प्रगाढ सम्बन्ध बनाए रखना लाभकारी हो. इस लिये पुराणों की वंशावलियें पढ़ते समय प्रत्येक नाम को पिता पुत्र के क्रम से समझ बैठना भारी भूल है बल्कि कहीं अमुक का पुत्र अमुक और कहीं अमुक का वंशज अमुक-ऐसा अनुसन्धान पूर्वक समझना चाहिये, इस शैली का मनन करने पर परस्पर विरोध का आभास दूर हो जाएगा, तथा नाम भेद का भ्रम भी न रहेगा।

मन्वन्तर-

मन्वन्तरं मनुर्देवा मनुपुत्राः सुरेश्वरः ।
ऋषयोंऽशावतारश्च हरेः षड्विधमुच्यते ॥

(श्रीमद्भागवत १२ । ७ । १५)

अर्थात्— मनु, देव, मनुपुत्र, इन्द्र, ऋषि, और भगवान् के अंशावतार इन छः प्रकार की घटनाओं के उल्लेख को 'मन्वन्तर' कहते हैं।

पुराणों का यह चौथा विषय बड़ा ही अपूर्व है, सृष्टि के आरंभ काल से लेकर प्रलयपर्य्यन्त-चार अर्व बत्तीस करोड़ वर्ष के लम्बे अर्से में कौन घटना किस समय हुई-अथवा अमुक व्यक्ति का प्रादुर्भाव इस भूमि पर कब हुवा था- इस गंभीर रहस्य को ठीक २ जानने के लिये पुराणों में व्यास जी ने 'मन्वन्तर' पद्धति का आविष्कार किया है। दूसरे शब्दों में यूं समझिये कि जिस तरह वर्तमान घटीयन्त्रों में बारह चिन्ह लगाकर दिन के नाप तोल की व्यवस्था की गई है इसी तरह पुराणों की मन्वन्तररूप घड़ी में मनुरूप चौदह माध्यमिक (STANDERD) नियत करके एक कल्प के लम्बे समय को नाप डाला है।

कई अधकचरे समालोचक हिन्दू इतिहास के ऊपर यह सब से बड़ा आक्षेप किया करते हैं कि 'उसमें अमुक २ व्यक्तियों का जन्म संवत् दर्ज़ नहीं है और नाहीं किसी विशेष घटना का साल सम्वत् अङ्कित है अतः भारतीय इतिहास अन्धकारमय एवं अनुपयुक्त है'। हमें ऐसा प्रश्न करने वाले कूपमण्डूकों की बुद्धि पर बेतरह तरस आता है क्यों कि वे केवल दो हज़ार वर्ष का इतिहास लिखने में जिस ईसा को माध्यमिक (STANDERD) नियत करके अमुक २ घटना का काल ईसा से इतने वर्ष पूर्व या ईसा से इतने दिन पश्चात्-लिखते हैं हमारे चार अर्व बत्तीस करोड़ वर्ष के लम्बे इतिहास में ईसा जैसे छप्पन करोड़ व्यक्ति हो गुजरते हैं, तब इस अकिंचित्कर प्रणाली से हिन्दू इतिहास की घटनाओं का क्या पता चल सकता है, । हमारे विचार में जो लोग मन्वन्तर प्रणाली को छोड़कर पाश्चात्य समालोचकों का अनुगमन करते हुवे अपने इतिहासग्रन्थों में यह लिखते हैं कि अमुक घटना-इतने वर्ष ईसा पूर्व, या विक्रमपूर्व, अथवा इनके अमुक सन् संवत् में घटी है वे सर्वथा उपहासास्पद अदूरदर्शिता करते हैं, जैसे कोई पूछे कि क्यों ! स्टेशन मास्टर साहिब ! अमुक स्थान को गाड़ी किस समय जाती है ? और स्टेशन मास्टर इसके उत्तर में कहें कि 'हमारे बुद्धु

नौकर के झाड़ू लगाने से तीन मिनट बाद, या हमारी घरवाली के रोटी पकाने से आध घन्टा पहिले बला करती है, तो जिज्ञासु को इस उत्तर से क्या लाभ होगा? उसे अब बुद्धू के झाड़ू लगाने का और बबुआइन के रोटी पकाने का टाइम दर्य्याफ्त करने की आवश्यकता पड़ेगी, कदाचित् उक्त दोनों जंगी जीव भी सीधा उत्तर न देकर इसी तरह किसी दूसरे कार्य्य के आगे या पीछे की बात कह डालें तो पूछने वाले के हज़ार सर पटकने पर भी कुछ पल्ले न पड़ेगा। सो इसी भान्ति अर्बों वर्ष की घटनाओं का समय निर्धारण करने के लिये ईसा या किसी अन्य व्यक्ति की अगाड़ी पिछाड़ी का जिक्र करना सर्वथा परिहास ही होगा, क्यों कि जब स्वयं ईसा के सम्बन्ध में ही यह निश्चित नहीं कि ईं हज़रत स्वयं सृष्टि के आरंभ से कितने वर्षों बाद उत्पन्न हुवे तब उन्हें स्टैन्डर्ड नियत करना क्या माने रखता है ?! ईसा का सन् प्रलय तक इसी तरह चलता रहेगा, यह भी कौन गारन्टी (Guarantee) दे सकता है! लाखों करोड़ो वर्षों की बातें तो जाने दीजिये आज से पांच सहस्र वर्ष मात्र थोड़े से समय पूर्व चलने वाला सम्राट् युधिष्ठिर का संवत् आज लुप्तप्राय हो चुका है, अंगुलियों पर गिनने लायक प्रौढ़ ज्योतिषियों और शास्त्रव्यसनी अनुसन्धायकों को छोड़ कर सर्व साधारण को यह बिलकुल विदित नहीं कि विक्रम संवत् १९८८ में युधिष्ठिर सम्वत् कौन है! और वह संवत्सर किस मास की किस तिथि से आरंभ होता है !!। जब कालचक्र की वक्र गति से युधिष्ठिर संवत् की यह दशा हो सकती है तो दो चार हज़ार वर्ष के बाद यही हालत ईसवी सन् की क्यों न होगी !!! यदि आज सर्व साधारण को युधिष्ठिर जी की बाबत यह विदित है कि वे लगभग पांच हज़ार वर्ष पूर्व इस भूमि पर राज्य करते थे, तो यह युधिष्ठिर संवत् का प्रताप नहीं है, बल्कि पुराणों के मन्वन्तरों की अङ्गभूत युगपद्धति का ही प्रभाव है, अर्थात्-वर्तमान कलिकाल के गत वर्षों की गणना के आधार पर ही उनका समय जाना जाता है, इस लिये किसी अनिश्चित व्यक्ति को मध्यस्थ (CENTRAL) बनाकर काल नापने के स्वप्न देखना अदूरदर्शी कूपमण्डकों को ही शोभा देता है। हमारे पूर्वजों में इस प्रकार की अधूरी बातों का आदर नहीं था, वे तो प्रत्येक सिद्धान्त को सुनिश्चितता एवं सर्वतोमुखता की सीमा तक पहुँचाकर छोड़ते थे सो सृष्टि के आरंभ से लेकर प्रलय तक की घटनाओं का समय जानने के लिये उन्होंने 'मन्वन्तर' पद्धति का आविष्कार किया था। इस से प्रत्येक घटना का समय 'इदमित्थं' जाना जा सकता है, आज तक छः मनु व्यतीत होचुके हैं, सातवां चल रहा है, और सात मनु प्रलय तक और होने हैं, इन मनुओं के साथ सत्य, त्रेता, द्वापर और कलियुग इन चारों युगों का भी सम्बन्ध है।

इनके तारतम्य से प्रत्येक घटना का ठीक समय निकल आता है, यदि आधुनिक समालोचक यह आक्षेप करें कि— 'मन्वन्तर' पद्धति से केवल 'अमुक मनु के समय में और अमुक युग में'—, इतना ही विदित हो सकता है लेकिन साल सम्वत् का तो ज्ञान नहीं होता— सो इसका उत्तर यह है कि तुम्हारी पाश्चात्य पद्धति से भी तो केवल इतना ही पता लगता है 'इन चन्द शताब्दियों में अमुक घटना ईसवी सन् के इतने वर्ष पूर्व या बाद में हुई है'— इससे भी उस घटना के घटने का महीना, तारीख, घन्टा, मिनिट और सैकेण्ड तो नहीं जाने जाते !, क्या तुम्हारी ही युक्ति के आधार पर तुम्हारा इतिहास अधूरा नहीं ठहरता ? यदि कहो कि महीने और तारीखों की क्या ज़रूरत है ! तथा मिनिट और सैकेन्डों की बारीकी के जानने से क्या लाभ ?— वर्ष मात्र जानना ही काफ़ी है, । सो जिस तरह तुम्हें अपने अढाई हज़ार वर्षों के छोटे से अर्से में वर्षमात्र जानना काफ़ी जंचता है इसी तरह हमें अपने अर्बों वर्ष के इतिहास में युगमात्र जान लेना पर्य्याप्त क्यों नहीं ? जैसे महीने तारीखें आदि न जानने पर भी तुम्हारी कुछ हानि नहीं— इसी तरह साल सम्वत् के न जानने पर हमारा भी कुछ नुकसान नहीं।

अढ़ाई हज़ार वर्ष की आयु वाली जाति की और अर्बों वर्ष की आयु वाली जाति की- कालगणना-पद्धति में इतना अन्तर तो होना ही चाहिये क्यों कि घोड़ा बारह वर्ष में जवान कहा जाता है तो हाथी पचास वर्ष में जवान कहा जाता है। यदि कुछ सहस्र वर्षों के इतिहास में वर्षों का ज्ञान पर्य्याप्त है तो अर्बों वर्ष के इतिहास में युगों का ज्ञान भी कुछ कम नहीं !— इस विस्तृत विवेचना के बाद अब हम मन्वन्तर-पद्धति का निरूपण करते हैं, पाठक ध्यानपूर्वक पढ़ें और पुराणों की अलौकिक कल्पना का परीक्षण करें।

(चौदह मनुवों के नाम)

(१) स्वायम्भुव (२) स्वारोचिष (३) उत्तम (४) तामस (५) रैवत (६) चाक्षष (७) वैवस्वत (८) सावर्णिक (९) दक्षसावर्णिक (१०) ब्रह्मसावर्णिक (११) धर्मसावर्णिक (१२) रुद्रसावर्णिक (१३) देवसावर्णिक और (१४) इन्द्र-सावर्णिक।

(श्री विष्णुराण अंश १० अ० ३)

एक कल्प के इतिहास को पुराण कहते हैं। ब्रह्माजी के एक दिन का नाम कल्प है।

एक कल्प में एक सहस्र महायुग और चौदह मन्वन्तर होते हैं।

सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि इन चार युगों का एक महायुग होता है।

प्रत्येक युग में संध्या और संध्याश होता है।

युग के आरम्भ होने के अव्यवहित (जिस के बीच में और कोई न हो) पूर्व-काल को संध्यांश कहते हैं। दो युगों की सन्धि को संध्या कहते हैं। दिन की जिस प्रकार प्रातः-संध्या और सायं संध्या होती है, इसी प्रकार युग के भी संध्या और संध्यांश होते हैं। युग के अनुसार भाव का परिवर्तन होता है।

यह भाव कालगत है। जैसे प्रातःकाल के समय मनुष्य अपने आप ही शान्त स्वभाव वाला होता है, मध्याह्न में व्यग्र भाव वाला होता है, दिन के अन्त में आलस्य वाला होता है, इसी प्रकार प्रत्येक कल्प में, प्रत्येक मन्वन्तर में और प्रत्येक युग में काल के अनुरूप भिन्नता होती है। दिन के आदि से अन्त तक में यह बात हम प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं किन्तु, दिन के भाव परिवर्तन का हम जिस प्रकार प्रत्यक्ष करते करते हैं उसी प्रकार दीर्घव्यापी काल का नहीं कर सकते। हमारा एक वर्ष देवताओं का एक दिन होता है। देवताओं के एक वर्ष के हमारे ३६० वर्ष होते हैं।

देवमान के अनुसार युगों का परिमाण नीचे लिखा जाता है। इनमें ३६० से गुणा करने परमनुष्यों के सम्वत्सर बन सकते हैं।

	संध्या	युगकाल	संध्यांश	जोड़
सत्ययुग	४००	४०००	४००	४८००
त्रेतायुग	३००	३०००	३००	३६००
द्वापरयुग	२००	२०००	२००	२४००
कलियुग	१००	१०००	१००	१२००
				१२०००

एक कल्प में एक सहस्र महायुग होते हैं। इस लिये एक कल्प—

$$१२००० \times १००० = १२००००० \text{ देववर्ष}$$

$$= १२००००० \times ३६० = ४३२०००००० \text{ मानव सम्वत्सर का होता है।}$$

इस कल्प में चौदह मन्वन्तर होते हैं। इस लिये, एक मन्वन्तर का परिमाण काल

$$\frac{१२०००००}{१४} = ८५७१४२\frac{६}{७} \text{ देववत्सर होता है।}$$

एक मन्वन्तर में $\frac{१०००}{१४}$ अर्थात् $७१\frac{३}{७}$ महायुग होते हैं।

"स्वं स्वं कालं मनुर्भुङ्क्ते साधिकां ह्येकसप्ततिम्।"

(श्रीमद्भागवत ३-११-२४)

अर्थात् एक मन्वन्तर में इकहत्तर सत्य, ७१ त्रेता, ७१ द्वापर और ७१ कलियुग होते हैं। ३/७ के टुकड़े के लिये "साधिका" शब्द कहा है।

अब यह देखना चाहिये, कि— हमारा वर्तमान समय क्या है।

ब्रह्माजी के जीवन के सौ वर्ष होते हैं। अर्थात् हमारा सात लोकों वाला वर्तमान ब्रह्माण्ड ब्रह्मा के काल के सौ वर्षों तक रहने वाला होता है।

ब्रह्मा के काल का परिणाम क्या है?

हमारी पृथ्वी एक कल्प तक रहने वाली है। इस पृथ्वी के प्राणी मर कर कुछ समय तक अन्तरिक्ष लोक में निवास करते हैं। तदनन्तर, स्वर्गलोक में सुकृति-कर्म का फल भोगते हैं। फिर, "क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ति" अर्थात् पुण्यक्षय होने पर इस मर्त्यलोक पर अर्थात् पृथ्वी पर फिर आते हैं। इसी लिये पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग भूर्लोक, भुवर्लोक, और स्वर्लोक परस्पर सम्बद्ध हैं। इन तीन लोकों का समाहार त्रिलोक कहलाता है। प्रत्येक कल्प में इस त्रिलोक का नाश होजाता है इसको दैनन्दिन नैमित्तिक अथवा कालिपक प्रलय कहते हैं।

वर्तमान— कल्प में हमारी इस पृथ्वी की उत्पत्ति हुई है और इस कल्प के अन्त में इस पृथ्वी का नाश होजायगा। एक कल्प ब्रह्मा का एक दिन होता है और यही कल्प परिमाण—काल ब्रह्मा की रात्रि होती है। इस प्रकार ३६० दिन रात में ब्रह्मा का एक वर्ष होता है। ऐसे सौ वर्षों की ब्रह्मा की परमायु है। यही ब्रह्मा का काल परिमाण है।

इस काल परिमाण को द्विपरार्द्ध काल कहते हैं। ब्रह्मा के जीवन में एक परार्द्ध व्यतीत होगया है अर्थात् ब्रह्मा जी की आयु के पचास वर्ष व्यतीत होगये हैं। हमारा यह कल्प द्वितीय-परार्द्ध का प्रथम कल्प है। इस कल्प का नाम बराहकल्प है वराह कल्प के छः मन्वन्तर बीत चुके हैं। अब सातवें मनु का अधिकारकाल है। सप्तम मनु का नाम वैवस्वत है। इस लिये इस मन्वन्तर का नाम वैवस्वत मन्वन्तर है।

वैवस्वत मन्वन्तर में अट्ठाईस सत्ययुग, अट्ठाईस त्रेतायुग और अट्ठाईस द्वापर युग बीत चुके हैं। इस समय अट्ठाईसवां कलियुग चल रहा है।

कलियुग देवताओं के १२०० वर्षों का होता है अर्थात्—

१२००×३६०=४३२००० मानुष वर्षों का कलियुग होता है।

सम्वत् १९८८ का पञ्चाङ्ग उठा कर देखें तो उसमें लिखा हुआ होगा।

"अथ श्वेतवराहकल्पाब्दाः ४३२०००००००। कल्पगताब्दाः १९७२९४९०३२। तत्कल्पस्य भूसृष्टितोतीतसौराब्दाः १९५५८८५०३२। कल्पाब्दाः तत्कल्पस्य ४३२०००। कलेर्गताब्दाः ५०३२ शेष कलिः ४२७९६८।"

जो पूर्ण दृष्टि से कार्य करते हैं वेही पण्डित हैं। ऋषियों की दृष्टि से इसी प्रकार काल की गति जानी जाति है। इसी कालगति को लक्ष्य में रख कर हिन्दूमात्र कर्म करते हैं। इस प्रकार यह चौथा विषय समाप्त है।

वंशानुचरित-

वंशानुचरितं तेषां वृत्तं वंशधराश्च ये।

(श्रीमद्भागवत १२। ७। १६)

अर्थात्— अमुक २ वंश में उत्पन्न होने वाले विशिष्ट व्यक्तियों के चरित्रवर्णन को वंशानुचरित कहते हैं।

पुराणों का यह पांचवां विषय बड़े ही महत्व का है। पुरुष अपने जीवन में सैंकड़ों वार आपत्तियों का सामना करता है। कई बार एक बड़े से बड़ा धर्मतत्त्वज्ञ भी आपत्ति के कारण किंकर्त्तव्यमूढ होकर अपना कल्याण मार्ग निर्धारित नहीं कर पाता, धर्म की ऐसी ग्रन्थियें उलझती हैं, कि एक ओर कुंआ और एक ओर खंदक- जरा भी पांव फिसला कि धर्म के ऊंचे शिखर से सदा के लिये गिर गया। ऐसी पेचीदा व्यवस्थाओं को सरल बनाने के लिये पुराणों में इस विषय का समावेश किया है। हम उदाहरणार्थ ऐसी एक आध व्यवस्था पाठकों की भेंट करना चाहते हैं।

महाभारत का संग्राम हो चुका है। दुराग्रही दुर्योधन भीमसेन की भयंकर गदा के आघात से क्षत-विक्षत होकर एक निर्जन स्थान में अपने अन्तिम श्वास गिन रहा है। द्रोणपुत्र अश्वत्थामा अपने स्वामी से उऋण होने के लिये इस पापयज्ञ की पूर्णाहुति में पांच पाण्डवों के सोते हुए, पांच पुत्रों के मस्तक काट कर ले गया। द्रुपदनन्दनी पुत्र शोक से कातर होकर करुणाक्रन्दन करने लगी जिसे सुनकर गांडीव-धनुष धारी अर्जुन शोक—मोह—क्रोध के अगाध सागर में निमग्न होता हुवा आगा पीछा भूल गया। और प्रतिज्ञा की कि निरपराध बालकों के हत्यारे का अभी मस्तक काट लाता हूँ —..... । इतना कह रथ में सवार हो अश्वत्थामा को जा पकड़ा। पुत्रघाती होने पर भी गुरुपुत्र होने के कारण सिर काटने का साहस नहीं हुआ। धनुष

को डोरी से बांधकर शिविर में ले आया। युधिष्ठिर, भीम, नकुल, सहदेव, द्रौपदी आदि जहां शोकाक्रान्त हुवे आंसु बहा रहे थे, उसी स्थान में उसे लाकर रख दिया, गुरुपुत्र की इस दुर्दशा को देखकर धर्मपुत्र युधिष्ठिर का हृदय दयार्द्र हो उठा–अर्जुन से कहने लगे–तात ! जिन विद्यानिधि द्रोणाचार्य की कृपा से हमने धनुर्वेद पढ़ा है। यह अश्वत्थामा उन्हीं का रूप है। मैं गुरुपुत्र की यह दशा नहीं देख सकता। अतः–इसे शीघ्र छोड़ दो–एक तो ब्राह्मण–फिर गुरुपुत्र–इसे प्रणाम करो, हमारे पुत्र हमारे ही पूर्वजन्म के पापों से विनष्ट हुए हैं। यह तो कारणमात्र है, फिर इसके मारने से वे जीवित भी नहीं हो सकते। इस लिये इसे शीघ्र छोड़ दो ?'।

युधिष्ठिर जी के इस धर्मोक्ति बचन को सुनकर भीमसेन का खून खौलने लगा और नेत्रों से चिनगारियें बरसने लगीं, ओष्ठ फड़फड़ा उठे, फिर सिंह की भांति गरज कर बोले "हे गाण्डीवधन्वा ! अर्जुन ! ज्येष्ठबन्धु का यह वचन निरी कायरतास्वरूप है। जिस पामर ने निरपराध राजपुत्र पांच बालकों को शयन करते हुवों को विनाश करके अपने स्वामी को भी मृत्यु का ग्रास बनाया है। वह–हाय ! हाय !–वह छोड़ा जाय हरगिज़ नहीं–खड्ग निकालो ? इस हत्यारे को शीघ्राति–शीघ्र मार डालो ?।"

भीम की बात का भगवान् कृष्ण ने (परीक्षा लेने के ख्याल से) समर्थन किया, और बोले कि "हे सव्यसाचिन् ! अभी २ मेरे सामने तुमने हत्यारे का शिर काटने को प्रतिज्ञा की थी, परन्तु अब उससे पीछे हटना चाहते हो यह क्षात्रधर्मविरुद्ध है। अपनी प्रतिज्ञा का पालन करो।

दयालुहृदया द्रौपदी ने देखा कि भगवान् कृष्ण के और भीमसेन के भड़कीले भाषण से अव्यवस्थित होकर अर्जुन मेरी ओर देखता है,। सोचा कि मेरे ही करुणा-क्रन्दन को सुनकर, उन्होने यह भीषण प्रतिज्ञा की थी। अतः अब मेरे ऊपर ही उसका भार समझते हैं। हाय ! मैं इस भयंकर हत्याकाण्ड का कारण क्यों बनूं .....बोली–'हे प्राणनाथ ! आपने शोकाकुल होकर अनुचित प्रतिज्ञा कर डाली है। हाय ! हाय ! यह तो उन्ही द्रोणाचार्य का द्वितीय स्वरूप है जो आपके पूज्य विद्यागुरु थे। हाय ! इन्हीं की यह गति ! आप मेरी ओर देखते हैं, मानों इस विषय में मुझ हतभागनी की सम्मति जानना चाहते हैं। नहीं ? मैं नहीं चाहती कि पतिव्रता गौत्तमी मेरी तरह पुत्रशोक से विह्वल होकर करुणाक्रन्दन करे। अतः, इसे छोड़ दो। अर्जुन ने जब सब की सम्मति सुनी तो किं कर्त्तव्य विमूढ़ होगया, और विचारने लगा कि अपनी प्रतिज्ञा तथा भीमसेन की सम्मति की ओर देखता हूँ तो अश्वत्थामा के बध करने को

भुजा फड़कती है। परन्तु धर्मराज और द्रौपदी की सम्मति इसके प्रतिकूल है। भगवान् कृष्ण भी प्रतिज्ञापालन का परामर्श देते हैं किन्तु अर्जुन का हाथ ब्रह्महत्या और गुरुहत्या करने को उद्यत नहीं होता। ऐसे धर्मसंकट में पड़े हुवे। अर्जुन अपना वास्तविक कर्त्तव्य निर्धारित न कर सके। तब भगवान् कृष्ण से (शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वं प्रपन्नम्) कहकर व्यवस्था की याचना की। भगवान् ने कहा—

ब्रह्मबन्धुर्न हन्तव्य आततायी वधार्हणः।
वपनं द्रविणादानं स्थानान्निर्यापणं तथा।
सएष ब्रह्मबन्धूनां वधोनान्योऽस्ति दैहिकः।

(श्रीमद्भागवत १। ७। ५३-५७)

अर्थ— अपराधी ब्राह्मण को प्राणदण्ड नहीं देना चाहिये परन्तु यदि वह-विष प्रयोग-अग्निदाह-बालहत्यादि कार्य्य करने वाला हो तो उसको मारना न्याय है और उसका मारना यही है कि शिर मूड़ कर द्रव्य छीन कर देश निकाला देदिया जाय, किन्तु शारीरिकहत्या उचित नहीं।

भगवान् की इस धर्मसंगत सम्मति को सब ने पसन्द किया अर्जुन ने भगवान् के आशय को समझ कर अश्वत्थामा के मस्तक की मणि निकाललो और उसे हुंकार तुंकार से लज्जित करके निकाल दिया।

अब पाठक इस समूची घटना पर ध्यान देकर विचारें कि भगवान् की यह व्यवस्था कितनी अमूल्य है। अर्जुन की प्रतिज्ञा भी पूरी होगई, भीमसेन भी सन्तुष्ट रहा और दण्ड भी दिया गया तथा ब्रह्महत्या का पाप भी न लगा।

इस प्रकार की सैकड़ों पेचीदा व्यवस्थायें पुराणों में मिलती हैं जो पुरुषों को अपना चरित्र सुसंगठित करने में सहायतायें देती हैं। जो पुरुष 'धर्मस्य सूक्ष्मा गतिः' को जानना चाहते हों उन्हें नित्य प्रति पुराणों का पारायण करना चाहिये।

इस तरह पुराणों के मुख्य पांचों विषयों का यथाशक्य निरूपण करने के साथ यह अध्याय समाप्त किया जाता है।

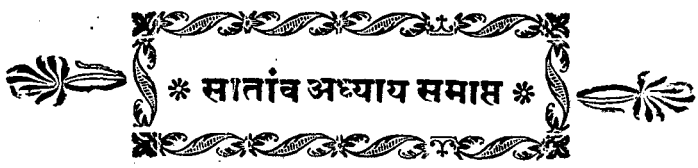

वेद-पुराण-समन्वयाध्यायः।

(आठवां अध्याय)

—*÷*—

पुराणेषु च ये भावाः प्रोक्ता व्यासेन धीमता।
तेषां हि वेद-वचनैः क्रियतेऽत्र समन्वयः॥

हम विगत अध्यायों में डिण्डिम घोष के साथ कई बार यह भाव प्रकट कर चुके हैं कि पुराणों में जो कुछ सैद्धान्तिक तत्व भरा है वह सब वेदवचनों की ही सुस्पष्ट एवं विस्तृत व्याख्यामात्र है। उनमें नई किंवा निर्मूल एक भी बात नहीं लिखी है। यह हो सकता है कि आलस्य, प्रमाद, अयोग्यता अथवा वेद ग्रन्थों के न मिल सकने के कारण हम पुराणोक्त अमुक भाव का बीजभूत वेद वाक्य न ढूंढ सकें परन्तु यह कदापि संभव नहीं कि वेद की किसी भी शाखा में तादृश वचन का सर्वथा अभाव हो। हमने आठ वर्ष से ज्यों २ वेदों और पुराणों का विशेष अनुसन्धान (Reserch) किया है, त्यों २ हमारी उपर्युक्त भावना उत्तरोत्तर दृढ होती गई है, इस लिये हम तो विना किसी संकोच के स्पष्ट शब्दों में यह कहने और सिद्ध करने को तैय्यार हैं कि 'पुराणों का प्रत्येक सिद्धान्त वेदमूलक है'

न्याय शास्त्र के अनुसार केवल प्रतिज्ञामात्र से कोई पक्ष सुस्थिर नहीं माना जा सकता, बल्कि तादृश प्रमाणों और युक्तियों के अनुमोदन तथा समर्थन से ही वह पक्ष सिद्धान्त कोटि में परिगणित किया जाता है, अतः इस अध्याय में हम ऐसे ही वेद प्रमाणों का सुसंग्रह करना आवश्यक समझते हैं जिनसे कि पुराण प्रसिद्ध भावों का सर्वतोमुखेन समर्थन होता हो।

हमने बहुत कुछ चेष्टा की कि इस अध्याय के विषयों का कुछ भी क्रमबन्धन होजाए, परन्तु विषयसंकीर्णता के कारण हम इस भावना को सफल बनाने में कृतकार्य्य न हो सके इस लिये विज्ञ पाठक हमारी इस विवशता पर क्षमा करेंगे ऐसी

आशा है ! इसके अतिरिक्त अनावश्यक विस्तार के भय से हमने वेद मन्त्रों के साथ २ तुलना करने के लिये पुराणों के तादृश भाव द्योतक श्लोक जान बूझकर प्रायः उद्धृत नहीं किये हैं, किन्तु कहीं २ आवश्यकता समझने पर उन २ पुराण प्रकरणों के पते मात्र अङ्कित कर दिये हैं और अधिकतया तो शीर्षक ही ऐसे रखने की चेष्टा की है जिनमें कि पुराण-प्रसिद्ध भावों को पाठकों के सामने उपस्थित कर सकने की क्षमता हो।

यहां यह भी बता देना परमावश्यक है कि इस अध्याय के विषयों की सीमा केवल वेदों और पुराणों के समन्वय तक ही मर्य्यादित है अतः हम उसे लांघकर वेद या पुराण के किसी भी भाव की वैज्ञानिकता (Scientific-ness) प्रकट करने के लिये यहां आबद्ध नहीं हैं किन्तु 'पुराणों में ऐसा लिखा है तो वेदों में भी ऐसा ही लिखा हो' एतावन्मात्र सिद्ध कर देना ही यहां हमें अभीष्ट है, यदि पाठकों को इस अध्याय के पढ़ने से वेदों और पुराणों के भावों की समतामात्र का परिज्ञान होगया तो अगले अध्याय में तादृश निरूपण की वैज्ञानिकता (Scientific-ness) का भी यथायोग्य परिचय मिल जाएगा। आशा है यह सूचनात्मक कतिपय पंक्तियें इस अध्याय की शैली समझने में पाठकों के लिये लाभकारी सिद्ध होंगी 'साम्प्रतं प्रकृतमनुसरामः'।

सृष्टिविषयक भावों की वैदिकता

विष्णु की नाभि में कमल

तमिद् गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे।
अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः॥

(ऋग्वेद १०। ८२। ६)

अर्थ— (सायणभाष्यानुसारी) (आपः) जल (प्रथमं) सृष्टि के आरंभ में (तमित्) इस चराचर रूप (गर्भं) गर्भ को (दध्रे) धारण करते हुवे, (यत्र) जिसमें (विश्वे) समस्त (देवाः) देवता (समगच्छन्त) संगत हुवे। (अजस्य) अजन्मा भगवान् *विष्णु की (नाभौ-अधि) नाभि मध्य में (एकं) अद्वितीय [तत्व] (अर्पितं) स्थापित था, (यस्मिन्) जिसमें (विश्वानि) समस्त (भुवनानि) लोक (तस्थुः) स्थित हुवे।

टिप्पणी— * स्वसृष्टे जले शयानस्येति सायणः।

जलज या कमल पर सृष्टि का आवास

यत्र देवाश्च मनुष्याश्चारा नाभाविव श्रिताः ।
अपां त्वा पुष्पं पृच्छामि तत्र तन्मायया हितम् ॥

(अथर्व १०। ८। ३४)

अर्थ— (यत्र) जिस [नाभिकमल] में (देवाश्च मनुष्याश्च) देवता और मनुष्य आदि सब प्राणी (नाभौ-अरा इव) पहिये की मध्यस्थ पुट्ठी में गजों की तरह (श्रिताः) आश्रित थे [मैं उस] (अपां पुष्पं) जल के फूल कमल को (त्वा) तुझसे (पृच्छामि) पूछता हूँ [जो कि] (तत्र) भगवान् की नाभि में (तन्मायया) उसी की माया से (हितम्) स्थित था।

सृष्टि के आदिम पुरुष ब्रह्माजी

भूतानां ब्रह्मा प्रथमोत जज्ञे ।

(अथर्व ११। २२। २१)

अर्थ— (उत) अपिच (भूतानां) सब प्राणियों में (ब्रह्मा) श्री ब्रह्माजी (प्रथमः) पहिले पहिल (जज्ञे) उत्पन्न हुवे।

ब्रह्मा से दश महर्षि

ब्रह्म विश्वसृजो दश ।

(अथर्व ११। ६। ४)

अर्थात्— ब्रह्मा से मरीचि आदि दस प्रजापति उत्पन्न हुवे।

यथा मनु—

अहं प्रजाः सिसृक्षुस्तु तपस्तप्त्वा सुदुश्चरम् ।
पतीन्प्रजानामसृजं महर्षीनादितो दश ॥
मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम् ।
प्रचेतसं वशिष्ठं च भृगुं नारदमेव च ॥

(मनुः १। ३४-३५)

अर्थात्— प्रजा रचना की इच्छा करते हुवे मैंने कठिन तपचर्य्या करने के बाद सर्वप्रथम दश प्रजापति महर्षियों को रचा। जिनके नाम मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, प्रचेता, वशिष्ठ, भृगु और नारद ये हैं।

उक्त महर्षियों की अलौकिक उत्पत्ति

(क) ये (प्रजापतेः रेतःपिण्डा दग्धाः सन्तः) अङ्गाराआसंस्तेऽङ्गिरसोऽभवन्। यदंगाराः शमरवशान्ता उददीप्यन्त तद्बृहस्पतिरभवत्।

(ऐतरेय ३। ३४)

(ख) यद्रेत आसीत्तदभृज्यत, यदभृज्यत तस्माद् भृगुः समभवत्।

(गोपथ पू० १। ३)

(ग) उतोसि मैत्रावरुणो वशिष्ठ उर्वश्यां ब्रह्मन् मनसोऽधिजातः।

(ऋग्वेद अ० ५ अ० २ व० २४)

अर्थात्— (क) जो प्रजापति के वीर्य्य पिण्ड जल जाने पर अङ्गार बन गए वे ही अंगिरस कहलाए और जो अंगारे बुझ कर फिर से जल उठे वही बृहस्पति हुवा। (ख) जो वीर्य्य भुन गया वही भर्जन के कारण भृगु हुवा (ग) मित्रावरुण से उर्वशी अप्सरा द्वारा मानसिक पुत्र वशिष्ठ जी का जन्म हुवा।

प्रजापति—दक्ष

स प्रजापतिर्वैदक्षो नाम।

(शतपथ २। ४। ४ २)

अर्थात्— वह दक्ष नामक प्रजापति हुवा।

मानव सृष्टि के प्रथम सम्राट्—पृथु

पृथुर्हवै वैन्यो मनुष्याणां प्रथमोऽभिषिषिचे।

(शतपथ ५। ३। ५। ४)

अर्थात्— वेन का पुत्र पृथु मनुष्यों में सर्वप्रथम अभिषिक्त हुवा।

इन्द्र ने पर्वतों के पक्ष काटे

(क) त्वमिन्द्र ! पर्वतं महामुरुं वज्रेण वज्रिन् ! पर्वशश्चकर्तथ ।

(ऋग्वेद १ । ११ । ५७ । ६)

(ख) पर्वतास्ते पक्षिण आसन्, ते परापातमासत यत्र यत्राकामयन्तास्थवा इयं (पृथिवी) तर्हि शिथिरासीत् । तेषामिन्द्रः पक्षान् अच्छिनत्, तैरिमां (पृथिवीं) अदृंहार ।

(मैत्रायणी १ । १० । १३) (काठक ३६ । ७)

अर्थात्— (क) (वज्रिन् इन्द्र !) हे वज्रधारी इन्द्रदेव ! (त्वं) तैने (महामुरुं पर्वतं) बड़े फैले हुवे पर्वत के (पर्वशः) टुकड़े टुकड़े (चकर्तथ) काट डाले । (ख) वे पर्वत पहिले पंखों वाले थे, जहां जहां चाहते वहां गिर जाते थे, जिससे पृथिवी शिथिलप्रायः होरही थी । इन्द्र ने उनके पक्ष काट डाले और उन पर्वतों द्वारा इस पृथ्वी को सुदृढ किया ।

दक्ष यज्ञ में शिव का अपमान

प्रजापतिः (दक्षः) वै रुद्रं यज्ञान्निरभजत् ।

(गोपथ उत्तर १ । २)

अर्थात्— दक्ष प्रजापति ने अपने यज्ञ में रुद्र को भाग नहीं दिया ।

भग की आखें और पूषा के दांत

(क) तस्य भगस्य चक्षुः परापतत्तस्मादाहुरन्धो वै भगः ।

(गोपथ ३० । १ । २)

(ख) तस्य (पूष्णः) दन्तान्परोवाप तस्मादाहुरदन्तकः पूषा करंभभागः ।

(कौषीतकी ६ । १३)

अर्थात्— (क) [दक्षयज्ञविध्वंस में क्रुद्ध रुद्रगणों ने [भग देवता की आंख निकाल डालीं इस लिये वह अन्ध है । (ख) और पूषा के दांत गिर गए जिससे वह 'अदन्त' है इसी लिये यज्ञ में उसके लिये करंभ=सत्तु की बलि दी जाती हैं ।

प्रायः सभी पुराणों में दक्ष प्रजापति की यह समस्त कथा विद्यमान है, पाठक-इस यज्ञ में घटने वाली समूची घटनाओं के बीज उक्त प्रमाणों में देख सकते हैं ।

इन्द्र-वृत्रासुर-संग्राम

अहन् वृत्रं वृत्रतरं व्यंसमिन्द्रो वज्रेण महता वधेन ।
स्कन्धांसीव कुलिशेनाविवृक्णाहिः शयत उपपृक् पृथिव्याः ।

ऋग्वेद अ० १ अ० २ व० ३६ मं०)

अर्थ— (इन्द्रः) इन्द्र ने (महता वधेन) बड़े मृत्यु के साधनभूत (वज्रेण) वज्र के साथ (वृत्रतरं वृत्रं) अतिवेगवान् वृत्रासुर को (व्यंसं) कन्धों से रहित करके (अहन्) मार डाला । (कुलिशेन) वज्र से (विवृक्णा) कटे हुवे [वृत्रासुर के अङ्ग] (स्कन्धांसीव) वृक्ष के टहनों की तरह [गिरे] (अहिः) वह असुर (पृथिव्याः) भूमि के (उपपृक्) ऊपर (शयते) सदा के लिये सोगया ।

दधीचि की हड्डी से वज्रनिर्माण

इन्द्रो दधीचो अस्थिभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुत । जघान नवतीर्नव ।

(सामवेद छन्दार्चिक अ० २ दशतिः ७ मं० ५)

अर्थात्— (अप्रतिष्कुतः) जिसके सामने कोई न ठहर सके [ऐसे] (इन्द्रः) इन्द्र ने [प्रसिद्ध] (दधीचः) दधीचि नामक ऋषि की (अस्थिभिः) हड्डियों से [बने हुवे वज्र से] (नवतीर्नव) निन्यानवें [मायारूपधारी] (वृत्राणि) वृत्रासुरों को (जघान) मार डाला ।

इस मन्त्र का भाष्य करते हुवे समाजी स्वामी तुलसीराम मेरठी सायण भाष्य के आधार पर लिखते हैं कि "दधीचि के दर्शनमात्र से असुर हार जाते थे, फिर जब दधीचि स्वर्ग सिधारा तो समस्त पृथिवी असुरों से भर गई । तब इन्द्र ने उन असुरों से युद्ध करने में असमर्थ हो इस दधीचि ऋषि को ढूंढते हुवे सुना कि वह तो स्वर्ग को सिधार गया, तब इन्द्र ने वहां वालों से पूछा कि यहां उसका कुछ शेष अङ्ग कोई है ? उस (इन्द्र) से कहा कि उसका शिर शेष है जिससे उसने अश्वियों को मधु विद्या कही थी परन्तु हम नहीं जानते कि वह कहां है ? फिर इन्द्र ने कहा कि उसे ढूंढिये । उन्होंने ढूंढा । उसे शर्य्यणावती में पाय कर ले आए (शर्य्यणावत् कुरुक्षेत्र का नाम है) उसके शिर की हड्डियों से इन्द्र ने असुरों को मारा ॥"

(तुलसीरामकृत साम भाष्य पृष्ठ १७३ से)

नमुचि दैत्य का बध

(क) अपां फेनेन नमुचेः शिर इन्द्रोदवर्तयः ।

(ऋग्वेद ८ । १४ । १३)

(ख) अपां फेनं वज्रमसिंचन्न शुष्कोनार्द्रमिति तेनेन्द्रो नमुचेरसुरस्य व्युष्टायांशरात्रावनुदित आदित्ये न दिवा न नक्तमिति शिर उदवासयत् ।

(शतपथ १० । ७ । ३ । १-३)

अर्थात्—(क) हे (इन्द्र) इन्द्र तैने (अपां फेनेन) जलों की झाग से (नमुचेः) [प्रसिद्ध] नमुचि दैत्य का (शिर) माथा (उदवर्तयः) काट डाला । (ख) इन्द्र ने जल की झाग से वज्र को सींच कर जब वह न सूखा, और न गीला रहा तब उस विचित्र हथियार से—रात गुजर जाने पर परन्तु दिन ऊगने से पहिले अर्थात् न दिन में न रात में उस असुर नमुचि का शिर काट डाला ।

त्वष्टा का पुत्र विश्वरूप

(क) त्वष्टुर्ह वै पुत्रः । त्रिशीर्षा षडक्ष आस तस्य त्रीण्येव मुखान्यासुः.....विश्वरूपो नाम ।

(शतपथ १ । ७ । ३ । १)

(ख) तस्य (विश्वरूपस्य) सोमपानमेवैकं मुखमास । सुरापाणमेकमन्नस्याऽशनायैकं तमिन्द्रो द्विद्वेष । तस्य तानि शीर्षाणि प्रचिच्छेद ।

(शतपथ १ । ६ । ३ । २)

अर्थात्—(क) त्वष्टा पुत्र विश्वरूप नामक था, जिसके तीन शिर और छः आंखें तथा तीन मुख थे (ख) वह एक मुख से सोमपान, दूसरे से सुरापान और तीसरे से अन्न खाता था । इन्द्र का उससे द्वेष होगया, इस लिये इन्द्र ने उसके तीनों शिर काट डाले ।

वेद विद्या के चमत्कार

वृद्ध च्यवन युवा होगये

पुनश्च्यवानं चक्रथुर्युवानम् ।

(ऋग्वेद मं० ६ सूक्त ११८)

अर्थ—हे अश्विनीकुमारों ! आपने (पुनः) फिर वृद्ध (च्यवानं) च्यवन ऋषि को (युवानं) नौजवान (चक्रथुः) बना दिया था ।

च्यवनो वै दाधीचोऽश्विनोः प्रिय आसीत् ।
सो जीर्य्यात् तमेतेन (वीङ्केन) साम्नाप्सु व्यैंकयतान्तं
पुनर्युवानमकुरुताम् ।

(ताण्ड्य १४ । ६ । १०)

अर्थ— दाधीच, च्यवन, अश्विनीकुमारों का बहुत प्रिय था, वह वृद्ध होगया उसे अश्विनीकुमारों ने स्नान विषय से और औषधियों के प्रयोग से फिर तरुण बना दिया ।

सा सुकन्या होवाच यस्मै मां पिता अदान्नैवाहं तं जीवंतꣳ
हास्यामीति ।

(शतपथ ४ । १ । ५ । ६)

अर्थ— सुकन्या ने कहा पिता ने मुझे जिस (वृद्धातिवृद्ध) के लिये दिया है मैं इसे जीते जी नहीं छोड़ूंगी ।

व्याख्या— पुराण ग्रन्थों में लिखा है कि सुकन्या के पिता ने विशेष कारण वश उसे जरठ च्यवन को सौंप दिया था । उसके पातिव्रत्य की परीक्षा के लिये, अश्विनीकुमारों ने उसे अन्य पुरुष से सम्बन्ध कर लेने की बात कही, जिसके उत्तर में सुकन्या ने टकासा जवाब देदिया । इस पर प्रसन्न होकर अश्विनीकुमारों ने च्यवन को युवा बना दिया । आयुर्वेद में आज तक 'च्यवनप्रास' का विधान लिखा है इस कथा से 'अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्' मानने वालों को अपना भ्रम दूर कर लेना चाहिये, सन्तोष का फल कितना मीठा होता है यह तत्व इस कथा से भली भांति स्पष्ट हो जाता है ।

कटा मस्तक जोड़ दिया

आथर्वणायाश्विनौ दधीचेऽअश्व्यं शिरः प्रत्यैरयतम् ।

(ऋग्वेद मं० १, अ० १७, सू० ११७ मं० २२)

अर्थ— (आश्विनौ) अश्विनीकुमार-देव वैद्यों ने (आथर्वणाय दधीचे) अथर्वा दधीचि के लिये (अश्व्यं) घोड़े का कटा हुआ मस्तक (प्रत्यैरयतम्) जोड़ दिया ।

(दध्यङ् आथर्वणः) तौ अश्विनौ ह, (छिन्नस्य विष्णुशिरसः पुनः सन्धानविद्याध्यापनार्थं) उपनिन्ये, तौय दोपनिन्ये अथास्य (दधीच आथर्वणस्य) शिरः छित्वा अन्यत्रापनिदधतुः। अथाश्वस्य शिर आहृत्य तद्धास्य प्रतिदधतु।

(शत० १४। १। १। २४)

अर्थ— अश्विनीकुमार कटे हुवे विष्णु शिर को पुनः जोड़ देने की संजीवनी विद्या पढ़ाने के लिये, अथर्वा दधीचि ऋषि के पास आये, आते ही (तजुर्बा दिखाने के लिये) दधीचि का शिर काटकर अन्यत्र रख दिया, और एक घोड़े का मस्तक दधीचि के धड़ पर जोड़ दिया।

कट जाने पर लोहे की टांग जोड़ दी

विः प्रतिजंघां विश्पलाया अधत्तम्।

(ऋग्वेद सू० ११८ संग्रहे ११ मं० ८)

अर्थ— हे अश्विनीकुमारो आपने (विश्पलायै) अगस्त ऋषि के पुरोहित खेल की स्त्री विश्पला की (जंघां) कटी हुई जंघा के स्थान में लोहे की टांग (अधत्तम्) जोड़ दी। यथा-

सायणभाष्ये— "विश्पलायै संग्रामे छिन्नजंघायै अगस्त्यपुरोहितस्य खेलस्य संबधिन्यै एतत्संज्ञकायै स्त्रियै आयसीं जंघां प्रत्यधत्तम्।"

मृत को जीवित कर दिया।

यदि क्षितायु र्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव।
तमाहरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्यार्षमेनं शतशारदाय।

(अथर्व० ३। ११। २)

अर्थ— (यदि) अगर (क्षितायुः) आयु क्षय हो चुकी हो (यदि) यद्वा (परेतः) मर चुका हो (यदि) अगर (मृत्योः) मौत के (अन्तिकं) पास (नीत एव) पहुँच गया हो (तं) उसे (निर्ऋतेः) मौत के (उपस्थात्) मुख में से (शतशारदाय) सौ वर्ष जीने के लिये (आहरामि) वापिस लौटाता हूँ।

हजार वर्ष की आयुः।

सहस्रायुः सुकृतश्चरेयम्। सहस्रं प्राणामय्यायतन्ताम्।

(अथर्व १७। १। २७। ३०)

अर्थ— हे परमात्मन् मैं (सहस्रायुः) हज़ार वर्ष की आयुवाला (सुकृतः) पुण्य कर्म करता हुआ (चरेयम्) विचरूं (सहस्रं) हजार वर्ष तक (मयि) मुझ में (प्राणाः) प्राण (आयतन्ताम्) संचार करें।

वैदिक-देवतावाद

स्वामी दयानन्द और उसके अन्धभक्तों ने वेदों के सर्वोच्च सिद्धान्त देवतावाद को भी मटियामेट करने के लिये कुछ कोरकसर बाक़ी नहीं रक्खी है, हिन्दू साहित्य का प्रत्येक ग्रन्थ जिन देवताओं के अस्तित्व का सर्वाङ्ग पूर्ण वर्णन करता है, प्रत्यक्षवादी समाजी उन्ही देवताओं के स्थान में 'बेसवा, निदेवशरवत' की रट्ट लगाने वाले अपने पण्डितम्मन्यों को बिठाना चाहता है। आर्य्यसमाजियों का कहना है कि 'पढ़े लिखे आदमी का नाम देवता है,' अर्थात् उनकी दृष्टि में सभी मिडल फेल छोकड़े बने बनाये देवता हैं। इस लिये इस प्रघट्ट में हम देवतावादसम्बन्धी कुछ प्रमाणों का संग्रह करते हैं, जिससे प्रत्येक आस्तिक हिन्दू को भली भांति विदित होजाए कि देवसत्ता का अपलाप करने वाले नरपुङ्गव कहां तक वेदाज्ञा परिपालन कर रहे हैं।

देवताओं की श्रेणियें

अग्निर्देवता वातो देवता सूर्य्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवता आदित्या देवता मरुतो देवता विश्वेदेवा देवता बृहस्पति र्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता।

(यजु-१४। २०)

अर्थ— अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, अष्टवसु, एकादशरुद्र, द्वादश आदित्य, एकोनपञ्चाशत् मरुत, विश्वेदेवा, बृहस्पति इन्द्र, और वरुण ये सब देवता हैं।

देवताओं का निवास

(क) **द्यौर्वै सर्वेषां देवानामायतनम्।**

(शतपथ-१४। ३। २। ८)

(ख) देवगृहा वै नक्षत्राणि ।

(तैत्तिरीय १ । ३ । २ । २-३)

(ग) तद्यदेतस्मिन्नाके स्वर्गे लोके देवा असीदंस्तस्माद्देवा नाकसदः ।

(शतपथ ८ । ६ । १ । १)

अर्थात्—(क) सब देवताओं का निवास स्थान आकाश है ।

(ख) तारागण देवताओं के घर हैं ।

(ग) देवता लोग दुःखरहित स्वर्ग लोक में निवास करते हैं । इस लिये उन्हे (नाकसद्) कहा जाता है ।

देवता सर्वज्ञ होते हैं

(क) देवा वै नक्षत्रमः ।

(यजुः १४ । २४)

(ख) देवा महिमानः ।

(यजुः ३१ । १६)

(ग) मनो ह्वै देवा मनुष्यस्य जानन्ति

(शतपथ २ । १ । ४ । १)

(घ) विद्वांसो हि देवाः ।

(शतपथ ३ । ७ । ३ । १०)

(ङ) मनुष्याणां परोक्षं तद्देवानां प्रत्यक्षम्

(ताण्ड्य २२ । १० । ३)

अर्थात्—(क) देवता लोग मनुष्य को अच्छी प्रकार जानते हैं ।

(ख) देवता महिमावाले होते हैं ।

(ग) वे मनुष्य के मनको भली प्रकार जानते हैं ।

(घ) वह स्वभाव से हि विद्वान् होते हैं ।

(ङ) जो मनुष्यों के आंखों से परे होता है वह देवताओं के लिये प्रत्यक्ष है ।

देवता अमर होते हैं।

(क) अमृता देवाः

(शतपथ २।१।३।४)

(ख) द्राघीयो हि देवायुषम्।

(शतपथ ७।३।१।१०)

(ग) (प्रजापतिः) अमृतत्वं प्रायच्छत् (देवेभ्यः)

(ताण्ड्य २२।१२।१)

अर्थात्—(क) देवता मरते नहीं।

(ख) उनकी आयु बड़ी होती है।

(ग) प्रजापति ने देवताओं को अमर बनाया।

देवताओं के विशेष गुण

(क) जाग्रति देवाः।

(शत० २।१।४।७)

(ख) न वै देवाः स्वपन्ति।

(शत० ३।२।२।२२)

(ग) अपहतपाप्मानो देवाः।

(शत० २।१।३।४)

(घ) आनन्दात्मानो ह वै सर्वे देवाः।

(शत० १०।३।५।१३)

(ङ) यदुहकिंचिद्देवा कुर्वते स्तोमेनैव तत्कुर्वते।

(शत० ८।४।३।२)

(च) तिर इव वै देवा मनुष्येभ्यः।

(शत० ३।१।१।८)

(छ) सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः

(शत० ३।९।४।१)

अर्थात्— (क) देवता सदैव जागते हैं।
(ख) वे कभी नहीं सोते।
(ग) वे पापरहित होते हैं।
(घ) और आनन्दात्मा होते हैं।
(ङ) वे जो कुछ करते हैं सो स्तोमद्वारा करते हैं।
(च) वे मनुष्यों से छिपे हुवे से होते हैं।
(छ) देव सत्य होते हैं और मनुष्य झूठ होते हैं।

उनका रहन सहन।

अनस्थाः पूताः पवनेन शुद्धाः शुचयः शुचिमपि यन्ति लोकम्।
नैषां शिश्नं प्रदहति जातवेदाः स्वर्गे लोके बहुस्त्रैणमेषाम्।

(अथर्व— ४। ३४। २)

अर्थ— (अनस्थाः) अस्थि रहित (पूताः) पवित्र (पवनेन शुद्धाः) वायु से निर्मल (शुचयः) स्वच्छ (शुचिं लोकं) पवित्र स्वर्ग लोक को (अपियन्ति) जाते हैं। (जातवेदाः) कामाग्नि (एषां) इन देवताओं के (शिश्नं) उपस्थेन्द्रियको (न) नहीं (दहति) जलाता है। और (स्वर्गे लोके) स्वर्ग लोक में (एषां) इनके लिये (बहुस्त्रैणं) बहुत सी स्त्रियों का समूह होता है।

यत्र सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः।

(अथर्व ६। १२०। ३)

अर्थ— (यत्र) जिस स्वर्ग में (सुहार्दः) मित्रतायुक्त (सुकृतः) पुण्यात्मा जन (स्वायाः) अपने (तन्वः) शारीरिक (रोगं) रोगको (विहाय) छोड़ कर (मदन्ति) आनन्द करते हैं।

देवता युवा ही रहते हैं

न वो अस्त्यर्भको देवासो न कुमारकाः। विश्वे सन्तो महान्त इत।

(ऋ० मं० ८ सू० ३ मं० १)

अर्थ— (देवासः) हे देवताओ! (वः) आप लोगों में कोई (अर्भकः) दुध-मुँहा बच्चा (न) नहीं (अस्ति) है। और (कुमारकः) कुमार अवस्था वाला भी (न) नहीं है। (विश्वे) आप सब (महान्तः) बड़े (इत) ही (सन्तः) हो।

नव्या नव्या युवतयो भवन्ति महद्देवानामसुरत्वमेकम्।

(ऋग्वेद मं० ३० सू ५५। मं० १६)

अर्थ— स्वर्ग में देवताओं के लिये (नव्या नव्या) नई नई (युवतयः) स्त्रियें (भवन्ति) होती हैं, यह (देवानां) देवताओं के लिये (एकं) एक (महत्) बड़ी (असुरत्वं) आत्मरति है (असुषु प्राणेषु रमणं तस्य भावस्तत्वम्)

निष्कर्ष— उपरोक्त प्रमाणों से यह भली भांति स्पष्ट होजाता है कि देवताओं की १ विशेष योनि होती है। उनके शरीर सूक्ष्म होते हैं, तथा वह भोग योनि के जीव होने के कारण हमारी भांति आपद्ग्रस्त नहीं रहते बल्कि अपने किये सकाम कर्मों का फल भोगने के लिये स्वर्ग में निवास करते हैं किये पुण्य क्षीण हो जाने पर फिर उन्हें जन्ममरण के चक्र में लौटना पड़ता है। इसी लिये शास्त्रों में निष्काम कर्म की प्रशंसा की है क्योंकि वह मुक्ति का उत्पादक होता है। देवताओं का रहन सहन सब कुछ मनुष्यों की अपेक्षा विलक्षण है, वे सूक्ष्म शरीर तथा अणिमा आदि ऐश्वर्य्य से युक्त होने के कारण आवाहन करने पर आते हैं और अपने भक्तों को वर देते हैं। जो पुरुष पुराणों में देवचरित्रों को पढ़कर सन्देहग्रस्त हो जाते हैं; उन्हें इस सारे वैदिक देवचरित्र को ध्यान पूर्वक पढ़ना चाहिये। शंकाओं का मूल केवल यही है कि उन्हें साधारण पुरुष समझ लिया जाता है। यदि उन्हें इसी देवरूप में ग्रहण किया जावे तो फिर शंका का अवकाश नहीं रहेगा। निरुक्त में यास्काचार्य्य ने देवतानिर्णय बड़े ही मार्के का किया है। जो लोग विद्वानों को ही देवता समझ बैठे हैं, उन्हें स्मरण रखना चाहिये कि 'सत्यार्थप्रकाश' और 'संस्कारविधि' भी इस बात का खण्डन करते हैं। यथा— सं० वि० नामकरण प्रकरण में तिथि और नक्षत्रों के देवता लिखकर उनके लिये अग्नि में आहुति डालनी लिखी है। यदि विद्वान् ही देवता होते तो गरमा-गरम घी समाजी उपदेशकों के मुखारविन्द में ही स्वाहा किया जाता।

आर्यसमाजी जब देवसत्ता को वेदप्रमाणों द्वारा सिद्ध हुई समझ लिया करते हैं तो फिर "हमें प्रत्यक्ष दिखा दो' का शोर किया करते हैं अतः इस विषय में भी हम वेदों की सम्मति ही उद्धृत करते हैं। जिससे कुछ भी हुज्जत करने का अवकाश न रहे।

अनधिकारी को दीखते नहीं

(क) परोक्षं वै देवाः।

(शत० ३। १। ३। २५)

(ख) न ह्वा अनार्षेयस्य देवा हविरश्नन्ति।

(कौशीतकी ब्राह्मण ३। २)

(ग) नहवा अव्रतस्य देवा हविरश्नन्ति ।

(ऐतरेय ७ । ११)

(घ) परो वा अस्माल्लोकात्स्वर्गो लोकः ।

(ऐतरेय ६ । २०)

(ङ) यद् यद् रूपं कामयते तत्तद्देवता भवति ।

(निरुक्त अ० १० । खण्ड १७)

अर्थात्— (क) देवता पुरुष से परोक्ष होते हैं ।

(ख) देवता अनाड़ी के हवि को नहीं लेते ।

(ग) और न हीनव्रत पुरुषों के हवि को ग्रहण करते हैं ।

(घ) इस लोक से स्वर्ग लोक उत्कृष्ट है । (वहां रहते हैं)

(ङ) वे जब जैसा रूप चाहते हैं वैसा ही बना लेते हैं ।

वेदोक्त पितृयोनि

यद् वो अग्निरजहादेकमंगं, पितृलोकं गमयञ्जातवेदः ।
तद्व एतत्पुनराप्याययामि सांगास्स्वर्गे पितरो मादयध्वम् ।

(अथर्व १८ । ३ । ४ । ६४)

अर्थ— (पितरः) हे पितरो ! (पितृलोकं) पितृलोक को (गमयन्) जाने के समय (यद्) जो (वः) आपके जिस (एकं) एक (अंगं) अङ्ग को (जातवेदोऽग्निः) जातवेदा अग्नि ने (अजहात्) जलाया है (वः) आपके (तद्) उस अंग को [कर्मकाण्ड द्वारा] (पुनः) फिर (आप्याययामि) पुष्ट करता हूँ, जिससे (सांगाः) सम्पूर्ण शरीर वाले आप (स्वर्गे) स्वर्ग लोक में (मादयध्वम्) आनन्द करें ।

मृतों की ही पितर संज्ञा है

पितॄणां लोकमपिगच्छन्तु ये मृताः ।

(अथर्व १२ । २ । ४५)

अर्थ— (ये) जो (मृताः) मर चुके हैं वे (पितॄणां लोकं) पितरों के लोक को (गच्छन्तु) जाएं ।

कहां रहते हैं

तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते ।

(अथर्व १८।२।४८)

अर्थ— अन्तरिक्ष के उस तीसरे स्थान में पितर रहते हैं जिसे 'प्रद्यौः' कहते हैं।

पितृलोक की विशेषता

(क) अन्तर्हितो पितृलोको मनुष्यलोकात्

(तैत्ति० १।६।८।६)

(ख) तृतीये ह वा इतो लोके पितरः

(तैत्ति० १।३।१०।५)

(ग) पितृणां वा एषा दिग्यद्दक्षिणा

(षड्विंश- ३।१)

(घ) उभे दिशावन्तरेण विदधाति प्राचीं च दक्षिणां चैतस्या ह दिशि पितृलोकस्य द्वारम् ।

(शत० १३।८।१।५)

अर्थात्— (क) पितृलोक मनुष्यलोक से छिपा हुआ है।

(ख) इससे तीसरे स्वर्ग लोक में पितर रहते हैं।

(ग) दक्षिण दिशा पितरों की है।

(घ) पूर्व और दक्षिण दिशा के मध्य भाग में होने वाली दिशा में पितृलोक का द्वार है।

निष्कर्ष— मृतों को ही पितर कहा जाता है, वे इस मनुष्यलोक से किसी भिन्न स्थान में रहते हैं, जो दक्षिण दिशा में पितृलोक के नाम से प्रसिद्ध है। समाजियों की 'संस्कारविधि' के बलिवैश्वदेव प्रकरण में स्वामी दयानन्द ने भी पितृनिमित्तक बलियों को दक्षिण की ओर देना लिखा है जो मृतक पितर के लिये ही सम्भव हो सकता है, अन्यथा समाज के सभी पितर लंका में ही रहते हों सो बात नहीं।

श्राद्ध कैसे पहुँचता है

त्वमग्न ईडितो जातवेदो वाड् हव्यानि सुरभीणि कृत्वा प्रादाः पितृभ्यः।

(अथर्व १९। ३। ४८)

अर्थ— (अग्ने!) हे अग्निदेव (त्वं) तू (ईडितः) स्तुतिकिया हुआ (जातवेदः) जिस योनि में जहां हमारे पितर रहते हैं उनका जानने वाला है (वाड्हव्यानि) हमारा प्रदान किया हुवा स्वधाकृत हव्य (सुरभीणि) सुगन्धित (कृत्वा) बनाकर (पितृभ्यः) पितरों को (प्रादाः) प्रदान कीजिये।

अग्निमुखा एव तत्पितृलोकाज्जीवलोकमभ्यायान्ति।

(शत० १२। ८। ४। ६)

अर्थ— अग्नि के द्वारा ही पितर लोग, पितृलोक से जीवलोक में आते हैं।

ब्राह्मणभोजन

इममोदनं निदधे ब्राह्मणेषु विष्टारिणं लोकजितं स्वर्ग्यम्।

(अथर्व ४। ३४। ८)

अर्थ— मैं (इमं) इस (ओदनं) भात आदि भोजन को (ब्राह्मणेषु) ब्राह्मणों में (निदधे) स्थापन करता हूँ=खिलाता हूँ। जो (विष्टारिणं) सद्गति का विस्तार करने वाला है (लोकजितं) इच्छित लोकों को जीतने वाला है (स्वर्ग्यं) स्वर्गधाम का दाता है।

अग्निष्वात्ता 'फायर मैन' नहीं होते।

यान् अग्निरेव दहन्त्स्वदयति ते पितरो अग्निष्वात्ताः।

(शत० २। ६। १। ७)

अर्थ— जिनके शरीर विधिपूर्वक अग्नि ने ही जलाकर भस्म कर दिये हों वे पितर अग्निष्वात्ता हैं।

यमराज

यो मम्मार प्रथमो मर्त्यानां यः प्रेयाय प्रथमो लोकमेतत्।
वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्य्यत॥

(अथर्व १८। ३। १३)

अर्थ— (मर्त्यानां) सब मनुष्यों में (यः) जो प्राणी (प्रथमः) पहले पहिल (ममार) मरा, और (यः) जो (प्रथमः) पहिले पहिल (एतत्) उस पितृ (लोकं) लोक में (प्रइयाय) पहुंचा (जनानां) मनुष्यों को (संगमनं) नियम में चलाने वाले (वैवस्वतं) सूर्य्य के पुत्र [उस] (यमं राजानं) यमराज को (हविषा) हविद्वारा (सपर्य्यत पूजित करो।

यमो वैवस्वतो राजेत्याह तस्य पितरो विशः।

(शत० १३। ४। ३। ६)

अर्थ— विवस्वान् का पुत्र यमराज है, उसकी प्रजा पितर हैं।

मालपूवा

अपूपापिहितान्कुम्भान् यांस्ते देवा अधारयन्।
ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्च्युतः।

(अथर्व-१८। ४। २५)

अर्थ— हे पितृदेवो! (यान्) जो (अपूपापिहितान्) मालपूवों से ढके हुए (कुम्भान्) घट (ते) आपके लिये (देवाः) अग्नि, विश्वेदेवा, आदि श्राद्ध देवताओं ने (अधारयन्)धारण किये हैं (ते ते) वे वे सब (मधुमन्तः) मधु से युक्त और (घृतश्च्युतः) जिनसे घी चू रहा हो ऐसे पदार्थ आपके लिये (स्वधावन्तः) तृप्ति करने वाले (सन्तु) हों।

निष्कर्ष— गरुड आदि पुराणों में इसी आधार पर पितृलोक का विशेष वर्णन और श्राद्धादि से मृत पितरों की तृप्ति का उल्लेख किया है। मृत श्राद्ध के वैदिक होने पर भी, कई भाइयों की आंखों में नरम खीर कांटे की तरह खटकती रहती है और हमारे खाये हुए कोमल पूड़े उनके पेट में बेतरह दर्द उठा दिया करते हैं। उन्हें अपनी चिकित्सा के लिये उपर्य्युक्त प्रमाणों का खूब मनन करना चाहिये।

भूतयोनि

एषां पश्चात्प्रपदानि पुरःपार्ष्णी पुरोमुखाः खलजाः शकधूमजा उरुंडा ये च मट्मटाः। कुम्भमुष्का अयाशवः। तानस्या ब्रह्मणस्पते प्रतिबोधेन नाशय।

(अथर्व ८। ६। १५)

अर्थ— (येषां) जिनके (पश्चात्) पीछे की ओर (प्रपदानि) पैर हैं (पुरः) आगे की तरफ (पार्ष्णी) एड़ी होती हैं। (पुरोमुखा) आगे निकला हुआ मुख होता है, जो (खलजाः) खलिहानों में पैदा होते हैं। (शकधूमजाः) गोबर आदि में उत्पन्न होते हैं (उरुंडा) विना शिर के (मट्मटा) मट २ शब्द करते हैं। (कुम्ममुष्काः) जिनके अण्डकोष घड़े के समान होते हैं और (अयाशवः) वायुवत् शीघ्रता से घुसने वाले हैं (ब्रह्मणस्पते !) हे अथर्ववेद के जादू टोना जानने वाले देव ! तू उन भूतों को (प्रतिबोधेन) सफेद सरसों के प्रयोग से (नाशय) दूर कर।

निष्कर्ष— जो दुर्गति से मरते हैं वे भूतयोनि को प्राप्त होते हैं, ऐसे जीव प्रायः नाना प्रकार की वासनाओं को पूरा करने के लिये अवसर पाकर निर्वल आत्मा वाले स्त्रीबालकादिकों में घुस जाते हैं वे स्वामी दयानन्द के शब्दों में 'वायुभूतोदिगम्बरः' होते हैं। अथर्व वेद के इस समग्र सूक्त में उसी भूत योनि का वर्णन है और उससे बचने के उपाय बताये गये हैं उक्त विषय का विशेष विवेचन प्रत्यक्षाध्याय में किया जाएगा।

पिशाचयोनि ।

यो अन्तरिक्षेण पतति दिवं यश्चातिसर्पति।
भूमिं यो मन्यते नाथं तं पिशाचं प्रदर्शय ॥

(अथर्व० ४। २०। ६)

अर्थ— (यः) जो पिशाच (अन्तरिक्षेण) अन्तरिक्ष मार्ग से (पतति) गिरता है (यश्च) और जो (दिवं) द्यौ लोक में (अतिसर्पति) यथेच्छ घूमता है (यः) जो (भूमिं) पृथिवी का (नाथं) स्वामी अपने को (मन्यते) समझता है। हे औषधे ! (तं) उस (पिशाचं) पिशाच को (दर्शय) दिखा।

निष्कर्ष—यह योनि भूत योनि से भी निकृष्ट है। जिसकी और्ध्वदैहिक क्रिया नहीं होती है वे उग्र पापी इस योनि में भटकते हैं, पुराणों में उन कर्मों का भी वर्णन है जिनके कारण यह योनि प्राप्त होती है और इससे छूटने के अर्थ गयादि श्राद्ध का विधान किया है, नये आत्मतत्ववेत्ताओं का कथन है कि हर वक्त हमारे चारों ओर अगणित रूहें घूमती रहती हैं। जब वे हम पर आक्रमण करती हैं तो पुरुष की वृत्ति पाप की ओर झुक जाती है।

राक्षसी-योनि

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं, जहि श्वयातुमुत कोकयातुम् ।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं, दृषदेव प्रमृण इन्द्र ! रक्ष ॥

(अथर्व० ८ । ४ । २२)

अर्थ— (इन्द्र !) हे इन्द्र देवता आप (उलूकयातुं) उल्लू की तरह घूमने वाले (शुशुलूकयातुं) भेड़िये की तरह घूमने वाले राक्षस का (जहि) नाशकर (श्वयातुं) कुत्ते की तरह घूमने वाले (उत) और (कोकयातुं) चकवे की तरह फिरने वाले (सुपर्णयातुं) गरुड़ की तरह घूमने वाले (उत) और (गृध्रयातुं) गीध की तरह घूमने वाले राक्षसों को भी (दृषदेव) पत्थर की तरह (प्रमृण) मारदे, और हमें (रक्ष) रक्षाकर ।

निष्कर्ष— यह भी एक विशिष्ट देवजाति है, इसका प्रभाव और बल प्रायः देवताओं के विरोध में व्ययित होता है । मायाद्वारा अनेक रूप धारण करके उपद्रव मचाना ही इस जाति का पेशा है ।

गन्धर्व और अप्सरा

याः क्लन्दास्तविषीचयो अक्षकामा मनोमुहः ।
ताभ्यो गन्धवपत्नीभ्यः अप्सरोभ्योऽकरं नमः ॥

(अथर्व २ । २ । ५)

अर्थ— (याः) जो (क्लन्दाः) बुलाने वाली (तविषीचयः) बलवती (अक्षकामाः) द्यूत में परस्पर जीतने वाली (मनोमुहः) मन को मोहने वाली हैं (ताभ्यः) उन (गन्धर्वपत्नीभ्यः) गन्धर्वोंकी पत्नीस्वरूप (अप्सरोभ्यः) अप्सराओं को (नमः) नमस्कार (अकरम्) करता हूँ ।

निष्कर्ष— अथर्ववेद के इस सूक्त में विश्वावसु, चित्ररथ, आदि गन्धर्वों का और घृताची, मेनका आदि नाम की अप्सराओं का स्पष्ट वर्णन लिखा है । यह जाति भी देवताओं की ही एक विशेष शाखा है, दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थप्रकाश के (२७१) पृष्ठ पर इन्हे रजोगुणविशिष्ट उत्तम योनि माना है, इनके अतिरिक्त विद्याधर, यक्ष, किन्नर, गुह्यक, सिद्ध, आदि भी दिव्य योनियें हैं, जैसा कि अमर कोश के प्रथम काण्ड में लिखा है ।

विद्याधराप्सरोयक्षरक्षोगन्धर्वकिन्नराः ।
पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः ।

(प्रथमकाण्डस्ववर्ग)

अर्थात्— यह सब देवयोनि हैं। पुराणों में दिव्य अदिव्य सभी प्रकार के प्राणियों का वर्णन है, दिव्य योनि के प्राणियों के चरित्र अलौकिक होते हैं, उनके कार्य पुरुषों की शक्ति से बाहिर हैं। आज कल प्रायः जितने सन्देह उत्पन्न होते हैं उनका एकमात्र मूल यह है कि लोग दिव्य चरित्रों को साधारण मनुष्यों के चरित्रों से तुलना करते हैं, जब वे दिव्य चरित्र वर्णित कार्य करने की शक्ति अपने में नहीं देखते तो बस उस कथांश को 'गप्प असंभव नामुमकिन' कह कर छोड़ देते हैं। यदि पात्रों के दिव्यादिव्य भाव का विचार कर लिया जावे तो श्रीः १०८ स्वामी सन्देहानन्द जी महाराज सदा के लिये गया जी चले जाएं।

दिव्य शक्ति और योग शक्ति

हम दिव्यशक्तियों के विषय में सब से प्रथम आर्यसमाज प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती की सम्मति प्रगट करते हैं, क्योंकि ऐसे चमत्कारों पर प्रायः यहीं लोग विश्वास नहीं करते। आपने यजुर्वेद भाष्य में साधारण योगियों के विषय में बड़ी अद्भुत २ बातें लिखी हैं। यथा—

आकाश में चढ़ना

स्वर्यन्तो नापेक्षन्त आद्यां रोहन्ति रोदसी।
यज्ञं ये विश्वतोधारꣳ सुविद्वाꣳसोवितेनिरे।

(यजु० १७। ६८)

भाष्य— [स्वामी दयानन्द कृत] जो अच्छे पण्डित योगिजन योगाभ्यास के पूर्ण नियम करते हुवों के समान अत्यन्त सुख की अपेक्षा करते हैं, वा आकाश और पृथिवी को चढ़ जाते हैं। अर्थात्—लोकान्तरों में इच्छापूर्वक चले जाते हैं, वा प्रकाशमय योग विद्या और उस यज्ञादि कर्म का विस्तार करते हैं वे-अविनाशी सुख को प्राप्त होते हैं।

सूर्य्य में घुसना

पृथिव्या अहमुदन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षादिवमारुहम्।
दिवो नाकस्य पृष्ठात्स्वर्ज्योतिरगामहम्।

(यजु० १७। ६७)

दयानन्द भाष्य—हे मनुष्यों ! जैसे किये हुए योग के अङ्गों के अनुष्ठान, संयम, सिद्ध अर्थात्-धारणाध्यान और समाधि में परिपूर्ण में पृथिवी के बीच आकाश में उठ जाऊं वा आकाश से प्रकाशमान सूर्य्य लोक को चढ़ जाऊं वा सुख कराने हारे प्रकाशमान उस सूर्य्यलोक के समीप से अत्यन्त सुख और ज्ञान के प्रकाश को मैं प्राप्त होऊं वैसा तुम भी आचरण करो।

भावार्थ—(दयानन्द लिखित) मनुष्य अपने आत्मा के साथ परमात्मा के योग को प्राप्त होता है तब अणिमा आदि सिद्धि उत्पन्न होती हैं, उसके पीछे कहीं से न रुकने वाली गति से अभीष्ट स्थानों को जा सकता है, अन्यथा नहीं।

दूसरों के शरीर में घुसना

अग्ने सहस्राक्ष शतमूर्द्धञ्छतं ते प्राणाः सहस्रं व्यानाः।
त्व ँ साहस्रस्य राय ईशिषे तस्मै ते विधेम वाजाय स्वाहा ॥

(यजु० १७। ७१)

(स्वामी दयानन्दकृत भावार्थ)— जो योगी पुरुष तपस्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान आदि योग के साधनों से योग (धारणा ध्यान समाधि संयम) के बल को प्राप्त होता और अनेक प्राणियों के शरीर में प्रवेश करके अनेक शिर नेत्र आदि अंगों से देखने आदि कार्यों को कर सकता है अनेक पदार्थों वा धनों का स्वामी होसकता है उसका हम लोगों को अवश्य सेवन करना चाहिये।

निष्कर्ष—योग शास्त्र में आठ सिद्धियें लिखी हैं। यथा—

अणिमा महिमा चैव लघिमा गरिमा तथा।
प्राप्तिः प्राकाम्यमीशत्वं वशित्वं चाष्टसिद्धयः ॥

अर्थात्—शरीर छोटा बड़ा बनाना, हलका भारी बनना, जिसे चाहे उसे प्राप्त करना, वश में करना, प्रभुत्व जमाना, इच्छानुकूल गमन करना इत्यादि सभी तरह के दुर्लभ कार्य्य सहज में कर डालना योगी के बायें हाथ का खेल है। अधकचरे समाजी भाई इन सिद्धियों पर विश्वास नहीं रखते, वे पुराणों में जहां ऐसी बातें सुन पाते हैं तो भौंचक्के रह जाते हैं, हमने बड़े परिश्रम के साथ स्वामी दयानन्द के यजुर्वेद भाष्य का पारायण करके अपने भाइयों को विश्वास दिलाने के लिये ये तीन मन्त्र उद्धृत किये हैं और उनका भाषाभाष्य, तथा भावार्थ भी स्वामी जी का बना हुवा ही ज्यों का त्यों उतार दिया है क्या अब भी उन्हें भागने को जगह है ?

वेदोक्त-तांत्रिक-विधान

वेदों में-खास कर अथर्व वेद में—मारण मोहन उच्चाटनादि अनेक विधानों का उल्लेख मिलता है, यद्यपि ऐसे विधानों का अनुष्ठान तामसी होने के कारण हमारे पूर्व ने प्रायः तिरस्कृत सा ही माना है, तथापि कोई साहस यह भी कहने का साहस नहीं कर सकता कि वैदिक साहित्य में इस विषय का सर्वथा अभाव ही है। तथास्तु कुछ विधान यहां उद्धृत किये जाते हैं—

वशीकरण—

उत्तुदस्त्वोत्तुदतु मा धृथाः शयने स्वे।
इषुः कामस्य या भीमा तया विध्यामि त्वा हृदि ॥

(अथर्व ३। २५। १)

अर्थ— [सायणभाष्यानुवाद] (उत्तुदः) व्यथित करने वाला कामदेव (त्वा) तुझे (उत्तुदतु) व्यथित करे (स्वे) अपने (शयने) सेज पर तू (मा) मत (धृथाः) ठहर (कामस्य) कामदेव का (या) जो (भीमा) भयङ्कर (इषुः) बाण है (तया) उससे (त्वा) तुझको (हृदि) हृदयमें (विध्यामि) भेदता हूँ। [इस समग्र सूक्तमें इस विषय का वर्णन है]

मोहन

अमीषां चित्तानि प्रतिमोहयन्ती गृहाण अङ्गान्यप्वे परेहि ।

(अथर्व ३। २। ५)

अर्थ— [सायणभाष्यानुवाद] (हे अप्वे !) संमोहनकृत्ये ! (अमीषां) इन हमारे शत्रुवों के (चित्तानि) चित्तों को (प्रतिमोहयन्ती) प्रत्येक को मोहित करती हुई [इनके सारे] (अङ्गानि) अङ्गों को (गृहाण) ग्रहण कर= जकड़ दे [और] (परेहि) जा [इस समस्त सूक्त में प्रायः मोहनविधान का ही प्राधान्य है]

उच्चाटन

हरितालेन गोहृदयशोणितेन च·····यं द्विष्यात् प्रम[illegible]हिष्टि येनास्य शय्यामवकिरदंगारं च भस्मना नैकग्रामे वसति ।

(सामविधान २। ६। ६)

अर्थात्—हरताल और गोरोचन को अभिमंत्रित करके, जिससे द्वेष हो तथा जिसे निकालना अभीष्ट हो- उसकी सेज पर गिरा दे और अंगार भस्म भी डाले तो वह किसी एक गांव में न ठहर सकेगा अर्थात्—मारा मारा फिरेगा।

मारण।

इन्द्र! जहि पुमांसं यातुधानमुत स्त्रियम्। मायया शाशदानम्।

(ऋग्वेद मं० ७ सू० १०४। मं० २५)

अर्थ—(इन्द्र!) हे इन्द्र! (मायया) माया से कपटाचार से (शाशदानम्) दुःख देने वाले (यातुधानं) राक्षस (पुमांसं) पुरुष को (उत) और (स्त्रियं) स्त्री को (जहि) मारदे।

त्रिरात्रोपोषितः कृष्णचतुर्दश्या ꣳ शवादंगारमाहृत्य चतुष्पथे वाधकमिध्ममुपसमाधाय वैभीतकेन स्रुवेण सर्षपतैलेनाहुतिसहस्रं जुहुयात्। संमील्येन यत्र वृश्चशब्दः स्यात्तत्र पुरुषः शूलहस्त उत्तिष्ठति तं ब्रूयादमुं जहीति हन्त्येनम्।

(सामविधान ३। ६। ३)

भावार्थ—तीन रात व्रती रह कर कृष्णपक्ष की चतुर्दशी को चिता से अग्नि लाकर चौराहे में आक आदि उग्र वृक्षों की लकड़ियों में और बहेड़े के स्रुव से सरसों के तेल की एक हजार आहुति दे। सन्नाटे में जहां आहट प्रतीत हो वहां एक शूलधारी पुरुष खड़ा होगा, उससे कहदे कि मेरे अमुक शत्रु को मारदे, वह मार देगा।

निष्कर्ष— उपर्युक्त सूक्तों में मारण, मोहन, उच्चाटन, और वशीकरण, आदि का विस्तृत वर्णन लिखा है हम विस्तारभय से एक से अधिक मन्त्र उद्धृत नहीं कर सके, पुराणों में ऐसे तान्त्रिक विधान देख कर कई महानुभाव शंकित हो जाया करते हैं हमने ऐसे विधानों को वेदमूलक सिद्ध करने के लिये, यहां चारों वेदों के मन्त्रों का समावेश किया है। जादू, टोनों के प्रत्यक्ष प्रभाव तो हम रात दिन देखते हैं परन्तु, इस समय प्रायः (सावर मन्त्रों का प्रचार है) वेदानुयायी सज्जनों का कर्त्तव्य है कि वे विशुद्ध वेद मन्त्रों द्वारा ही, अपने समस्त कार्य सिद्ध किया करें। इससे जहां वेदों का प्रचार बढ़ेगा वहां एक लुप्तप्राय पुरातन विद्या का उद्धार भी होजायगा।

वैदिक अवतारवाद

पुराण प्रतिपादित मुख्यतः १०— और २४ तथा आंशिक भेद से अनन्त अवतारों का वर्णन वेद में भी विशद रूप से उपलब्ध होता है। उदाहरणार्थ प्रसिद्ध १० अवतारों का वर्णन यहां लिखा जाता है। पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र आदि विद्वानों ने उक्त मन्त्रों को अपने ग्रन्थों में उद्धृत करके नीलकण्ठ भाष्य के आधार पर जो व्याख्या की है हम भी यहां 'मार्गस्थो नावसीदति' के न्याय से वही उद्धृत करते हैं। पाठक पढ़ें और मनन करके तथ्य तक पहुंचे।

मत्स्य।

मनवे ह वै प्रात:..... मत्स्यः पाणो आपेदे सहास्मै वाचमुवाच बिभृहि मा पारयिष्यामि त्वेति। कस्मान्मा पारयिष्यति– इति ओघ इमाः सर्वाः प्रजा निर्वोढास्ततस्त्वा पारयितास्मि।

(शतपथ–१।८।१।१)

अर्थात्—एक समय मनु जी ने नदी के तट पर अवनेजन के लिये जल हाथ में उठाया, तब एक मछली का बच्चा अकस्मात् हाथ में आगया, मनुजी विचारने लगे, तब उस मत्स्य ने कहा 'तू मेरी पालना कर मैं तुझे पार उतारूंगा', मनुजी ने चकित होकर पूछा कि मुझे कहां से पार करोगे, मत्स्य ने कहा कि 'जब प्रलय में यह सब जीव जल निमग्न होजायेंगे तब मैं तुम्हें पार करूंगा,' (इसके बाद मत्स्य का बढना तथा समुद्र में पहुंचना) और महाप्रलय का होना आदि वर्णन भी पुराणों के समान ही शतपथ में दश कण्डिका तक लिखा है। कुरान और बाईबिल वर्णित 'नुह की किस्ती' इसी के आधार पर लिखी गई है, नुह शब्द मनुः शब्द का अपभ्रंश प्रतीत होता है।

कूर्म।

"अन्तरतः कूर्मभूतः.....तमब्रवीत्, मम वै त्वङ् मांसात्समभूत्, नेत्यब्रवीत्, पूर्वमेवाहवाहमिहासनिति तत्पुरुषस्य पुरुषत्वम्। स सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपाद् भूत्वोदतिष्ठत्।

(तैत्तिरीयारण्यक १।२३।३)

अर्थात्—प्रजापति के शरीर से रस कम्पायमान हुआ, उस जलमें कूर्म्म रूप से विचरते हुये भगवान् को देखकर- प्रजापति ने कहा कि हे कूर्म ! तू मेरे त्वचा मांस से उत्पन्न हुआ है। कूर्म्म ने कहा नहीं मैं पहिले ही से यहां था, अतएव मुझे पुरुष (पुरः+तिष्ठतीति- पुरुषः) कहते हैं। तब कूर्म्म भगवान् (यजुर्वेदप्रतिपादित) सहस्रों शिर, नेत्र, पांव वाला विराट् रूप धारण करके स्थित हुए।

बाराह।

(क) वाराहेण पृथिवी संविदाना।

(अथर्व १२। १। ४८)

(ख) उद्धृतासि वाराहेण कृष्णेन शतबाहुना।

(तैत्तिरीय १। १। ३०)

अर्थ—(क) बाराह भगवान् ने पृथ्वी का उद्धार किया।

(ख) हे पृथ्वी तू सहस्र भुजाधारी भगवान् बाराह ने उद्धृत की थी।

नृसिंह।

वज्रनखाय विद्महे तीक्ष्णदंष्ट्राय धीमहि नरसिंहः प्रचोदयात्।

(तैत्तिरीय- १। १। ३१)

अर्थ—वज्रनख और तीक्ष्णदंष्ट्र नृसिंह स्वरूप का हम ध्यान करते हैं। वह हमारी बुद्धि को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करें।

वामन।

इदं विष्णु र्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समूढमस्य पा ꣳ सुरे॥

(ऋग्वेद १। २२। १७)

अर्थ—वामनावतारधारी विष्णु ने इस जगत् को तीन चरणों से आक्रान्त कर पद धरे हैं, और इनके पद में यह भूमि आदि लोक अन्तर्हित होगये।

वामनो ह विष्णुरास

(शत० १। २। ५। ५)

अर्थ—भगवान् वामन विष्णु थे।

पर्शुराम ।

प्रोवाच रामो भार्गवेयो विश्वान्तराय ।

(ऐतरेय ७ । ५ । ३४)

अर्थ—भृगुवंशावतंस पर्शुराम जी ने विश्वान्तर के प्रति यह ज्ञान कहा ।

रामचन्द्र ।

मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र जी का चरित्र कुछ विस्तार से वर्णन किया जाता है ।

अयोध्या ।

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या, तेषां हिरण्यमयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ।

(अथर्व १० । २ । ३१)

अर्थ—आठ चक्र (गोल बाजार) और नवदर्वाजों वाली साक्षात् देवपुरी अयोध्या नगरी है । जिसमें सुवर्णपूरित कोश (खजाना) स्वर्गीय ज्योति से प्रकाशित था ।

सरयू नदी ।

"सरयूः सिन्धुरूर्मिभि र्महोमहीरवसायन्तु वक्षणी ।

(ऋग्वेद-१० । ५ । ६४ । ६)

अर्थ—सरयू नदी अपनी महती तरङ्गों से हमारे यज्ञ की रक्षा के अर्थ यहां उपस्थित हो ।

महाराज दशरथ ।

चत्वारिंशद् दशरथस्य शोणाः ।

(ऋग्वेद २ । १ । ११)

अर्थ—महाराजा दशरथ के चालीस शोण (लाल रङ्ग के विचित्र घोड़े) थे ।

शक्तिरूप सीता की वन्दना ।

अर्वाची सुभगे भव सीते ! वन्दामहे त्वा ।

(ऋग्वेद ३ । ८ । ६)

अर्थ—हे सुभगे सीते ! हम आप को प्रणाम करते हैं। आप हमारे अनुकूल हों।

शिवधनुर्भंग ।

"अहं रुद्रा या धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवाउ ।

(ऋग्वेद- मं० १२५ । ६)

अर्थ— (भगवान् कहते हैं) मैं ही ब्रह्मद्वेषी राक्षसों का विनाश करने के लिये रामावतार धारण करके, महादेव के धनुष को ज्या (रोंदा) से युक्त करता हूँ।

रामविवाह ।

इन्द्रः सीतां विगृह्णातु तां पूषानुयच्छतु ।

(ऋग्वेद ३ । ८ । ६)

अर्थ—रामजी सीता को ग्रहण करें, और जनकजी उसे प्रदान करें।

विश्वामित्रयज्ञरक्षा ।

विश्वामित्रो यदवहत् सुदासम् ।

(ऋग्वेद ३ । ३ । २२)

अर्थ—विश्वामित्र जी सुदासगोत्रोत्पन्न राम जी को लिवा लेगये।

वन गमन ।

भद्रो भद्रया सचमान आगात् ।

(सामवेद उत्तरार्चिक १५ । २ । १ । ३)

अर्थ—सेवन करने योग्य रामचन्द्र जी पुण्यश्लोका सीता सहित वनको गये।

सीताहरण ।

जारोऽभ्येति पश्चात् ।

(साम० उत्तरार्चिक १५ । २ । १ । ३)

अर्थ—रामचन्द्र जी के चले जाने पर मायावी रावण ज़ार बुद्धि से आया।

रावण

ब्राह्मणो जज्ञे प्रथमो दशशीर्षा दशास्यः ।
स सोमं प्रथमं पपौ स चकारारसंविषम् ॥

(अथर्व- ४ । ६ । १)

अर्थ—पहिले एक दशमुख और दश शिर वाला ब्राह्मण उत्पन्न हुआ। उसने प्रथम तो यज्ञानुष्ठान तपश्चर्यारूप अमृत पान किया, पश्चात् 'वर' प्राप्त होजाने पर उसे विष बना दिया। अर्थात्- शक्ति का दुरुपयोग किया।

सीता की अग्नि परीक्षा।

सुप्रकेतैर्द्युभिरग्निर्वितिष्ठन्नुषद्भिर्वर्णैरभिरामस्थात्।

(साम उत्तरार्चिक १५।२।१।३)

अर्थ—सुन्दर चिन्हों से और दीप्तिमान् वर्णों से उपलक्षित द्युलोक की साधन-भूत, रामपत्नी सीता सहित अग्नि देव रामचन्द्र के सन्मुख उपस्थित हुवे।

राम राज्य।

अग्निः प्रियेषु धामसु कामो भूतस्य भव्यस्य। सम्राडेको विराजति।

(यजु० १२।११७)

अर्थ— तेजोविवृद्ध रामचन्द्र जो भूत और भविष्यत् कालवर्ती राजाओं में अद्वितीय सम्राट् हुए। जो अपनी प्रिय प्रजा की समस्त कामनाओं को पूरा करते थे।

कृष्णावतार

श्री कृष्णचन्द्र आनन्द कन्द जो का चरित्र भी कुछ विस्तार से लिखते हैं।

कारागार में जन्म और गोकुल गमन।

यदप्रवीता दधते ह गर्भं सद्यश्चिज्जातो भवसीदुदूतः।

(ऋग्वेद ४।७।१।६)

अर्थ—हे भगवन् आप को (अप्रवीता) निगड़ बन्धन में बद्ध श्रीदेवकी जी गर्भ में धारण करती हुईं, और आप अवतरित होते ही तत्काल माता से पृथक् हो गये। अर्थात् गोकुल चले गये।

विद्याध्ययन

एतद् घोर अंगिरसः कृष्णाय देवकी पुत्रायोक्त्वोवाच।

(छान्दोग्य ३।१७।६)

अथ—यह उपदेश घोर अंगिरस ने देवकीपुत्र कृष्ण के लिये कह कर सुनाया था।

माखन लीला

घृतं पीत्वा मधु चारु गव्यं पितेव पुत्रानभिरक्षतादिम्।

(अथर्व २।१३।१)

अर्थ— [ग्वालन कहती हैं] हे भगवन्! इस सुन्दर स्वादिष्ठ गाय के माखन को खाकर जिस प्रकार पिता पुत्र की रक्षा करता है इस प्रकार हमारी रक्षा कर।

चीर हरण

यस्य ते वासः प्रथमवास्यं हरामस्तं त्वा विश्वेऽवन्तु देवाः।

(अथर्व २। १३। ५)

अर्थ— हे कुमारीगण! (यस्य) जिस (ते) तेरे [नग्न स्नान के कारण] (प्रथमवास्यं) [कात्यायनी व्रत रूप] यशः के नाशक (वासः) वस्त्र को [हम गोपों ने] (हरामः) हरण किया है (विश्वेदेवाः) वरुणादि सब देवता (त्वा) तुम्हारे (तं) उस व्रत की (अवन्तु) रक्षा करें।

कालीय दमन

कालिको नाम सर्पो नवनागसहस्रबलः।
यमुनहृदे ह्रसो जातो यो नारायणवाहने॥

(ऋक् परिशिष्ट)

अर्थ— नौ सहस्र हाथियों के बल वाला कालीय नामक नाग यमुना के ह्रद में रहता था कृष्ण जी ने उसे अपना वाहन बनाया, अर्थात् शिर पर सवार होकर उसे नाथा।

कृष्णजी विष्णु थे

नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि। तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्।

(तैत्तिरीयारण्यक १०। १। ६)

अर्थ— वसुदेव के पुत्र नारायण के अवतार श्रीकृष्णजी का हम ध्यान करते हैं। वह विष्णु हमें सन्मार्ग के लिये प्रेरित करें।

द्वारिका पुरी

अपामिदं न्ययनं समुद्रस्य निवेशनम्। मध्ये ह्रदस्य नो गृहाः।

(अथर्व-६। १०६। २)

अर्थ— यह जल वाला अपार समुद्र स्थान है, जिसके मध्य में हम लोगों के घर हैं।

निष्कर्ष—इस प्रकार वेदों में समस्त अवतारों का संक्षिप्त वर्णन उपलब्ध होता है।

हम विस्तार भय से दिग्दर्शन कराना पर्याप्त समझते हैं, पुराणों में सब अवतारों का चरित्र इसी आधार पर लिखा गया है। कोई मूर्ख इससे यह न समझ बैठे कि इससे तो वेदों का अनादित्व मिट जाता है, क्योंकि 'भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदे प्रतिष्ठितम्' के अनुसार वेदों में भी नित्य इतिहास विद्यमान है और उसकी विद्यमानता से अनादित्व पर कुछ भी आक्षेप नहीं आसकता यही ऋषियों का सिद्धान्त है।

वैदिक-ग्रहशान्ति

शन्नो ग्रहाश्चन्द्रमसाः शमादित्यश्च राहुणा।
शन्नोमृत्युर्धूमकेतुः शं रुद्रास्तिग्मतेजसः॥

(अथर्व-१९।९।१०)

अर्थ—चन्द्रमा के साथ के सब ग्रह तथा सूर्य के साथ राहु तथा मृत्यु सूचक धूमकेतु एवं विकराल रुद्रगण हमारे लिये कल्याणकारी हों।

निष्कर्ष—पुराणों में जो सूर्य्यादि नवग्रहों की शान्ति के लिये पूजनादि का विधान लिखा है। वही अथर्व वेद के १९ वें काण्ड में विस्तार से लिखा मिलता है। हमारे साथ ग्रहों का क्या सम्बन्ध है और वे हमारे लिये क्या अनिष्ट कर सकते हैं तथा क्यों? यह एक विस्तृत कथा है, जो विज्ञान के गहरे समुद्र में गोता लगाने से ही समझ में आसकती है। तथापि हम इतना तो यहां अवश्य बता देना चाहते हैं कि यह संसार विराट् भगवान् का शरीर है, और ग्रह नक्षत्रादि उसके अंग प्रत्यंग हैं। हमारा शरीर भी विराट् का एक अंश है। अतः उसमें भी समस्त ग्रहादिकों के अंशांश विद्यमान हैं, विराट् रूप के प्रतिपादन में यजुर्वेद के 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' आदि मन्त्रों में संसार की समस्त वस्तुवें विराट् के जिस अंग प्रत्यंग के रूप से वर्णित की गई हैं, उनका ठीक हमारे उसी अंग से विशेष सम्बन्ध है, जैसे 'चक्षोः सूर्य्योऽजायत' में सूर्य्य को विराट् का नेत्र माना गया है। तो हमारे नेत्रों से सूर्य्य का गाढ सम्बन्ध है, उसके बिना हमारे नेत्र चर्म्मविशेषमात्र हैं, चन्द्रमा विराट् का मन है तो हमारा मन भी पूर्ण चन्द्रमा को देख कर प्रफुल्लित होजाता है। 'मङ्गल' विराट् के रक्त से बना है इस लिये उसका हमारे रक्त से सम्बन्ध है। इसी प्रकार बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनिश्चर, राहु और केतु की बात है, अब जिस प्रकार पृथ्वी की गति से ग्रीष्म, वसन्त और वर्षादि ऋतुवें होती हैं और पुरुष को गर्मी शर्दी आदि भोगनी पड़ती हैं, ठीक इसी प्रकार अन्यान्य ग्रहों की गति विगति से मनुष्यों के शुभाशुभ फल की बात है।

मनुष्य के जन्म के समय जो ग्रह जिस स्थान में था, उसी के हिसाब से आयुपर्यन्त वह जब २ जैसी २ दशा में पहुँचता है मनुष्य को तब २ वैसा २ ही शुभाशुभ फल भोगना पड़ता है। यही फलित ज्योतिष का सार है। क्रूर ग्रहों का फल दूर करने के लिये, ईश्वर के अंगभूत उन्हीं ग्रहों की प्रार्थना दान पुण्यादि करना कहा गया है क्योंकि हमारे दुष्कर्मों का दुष्परिणाम, उन्ही ग्रहरूप ईश्वर के अङ्गों द्वारा मिलता है। इसी लिये वेदों में ग्रहशान्त्यर्थ प्रार्थनायें की गई हैं और इसी के आधार पर पुराणों में इस सिद्धान्त का विस्तार किया गया है।

वैदिक-प्रतिमापूजन

मा असि प्रमा असि प्रतिमा असि।

(तैत्तिरीयारण्यक प्रपा० ४-अनु० ५)

अर्थ— हे महावीर तुम ईश्वर की प्रतिमा हो।

सहस्रस्य प्रतिमा असि।

(यजु० १५। ६५)

अर्थ—हे परमेश्वर आप सहस्रों की प्रतिमा (मूर्ति) हैं।

अर्चत प्रार्चत प्रियमेधासो अर्चत।

(ऋग्वेद अनु० ६ अध्या० ५ सू० ५८ मं० ८)

अर्थ—हे बुद्धिमान् मनुष्यो! उस प्रतिमा का पूजन करो भली भांति पूजन करो।

मूर्ति के अङ्ग प्रत्यंग।

मुखाय ते पशुपते यानि चत्त्वारि ते भव! त्वचे रूपाय संदृशे प्रतीचीनाय ते नमः। अङ्गेभ्यस्त उदराय जिह्वाय आस्याय ते दद्भ्यो गन्धाय ते नमः॥

(अथर्ववेद ११। २। ५-६)

अर्थ—हे पशुपते शिव! आप के मुख को, तीन नेत्रों को, त्वचा को, रूप को, अङ्गों को, उदर (पेट) को, जिह्वा को, दान्तों को और नासिका को नमस्कार हो।

पत्थर में आवाहन

एह्यश्मानमातिष्ठाश्मा भवतु ते तनूः।
कृण्वन्तु विश्वेदेवा आयुष्टे शरदः शतम्॥

(अथर्व० २। १३। ४)

अर्थ— हे परमात्मन्! तुम आकर इस पाषाण में विराजमान हो यह आप का शरीर बन जावे, और सब देवता सैकड़ों वर्ष पर्यन्त इसमें आप की विभूति को स्थिर करें।

प्राणप्रतिष्ठा

एतु प्राणा एतु मनः एतु चक्षुरथो बलम्।

(अथर्व ५।३०।१२)

अर्थ—इस प्रतिमा में प्राण आयें मन आये, नेत्र और बल आयें।

मूर्ति को नमस्कार

ऋषीणां प्रस्तरोऽसि नमोऽस्तु दैव्याय प्रस्तराय।

(अथर्व १६।२।६)

अर्थ— हे प्रतिमा! तू ऋषियों का पाषाण है, तुझ दिव्य पाषाण के लिये नमस्कार हो।

निष्कर्ष—इस प्रकार वेदों में प्रतिमा पूजन का विधान स्पष्ट मिलता है, और पुराण शास्त्रों में उसी का स्पष्टीकरण किया गया है, स्वामी दयानन्द ने संस्कार विधि (पृष्ठ ६२–७४) में ऊखल, मूसल, छुरा, झाड़ू, कुशा और जूते तक का पूजन लिखा है। यजुर्वेद (१२।७०) में सुहागे के लिये "जल वा दुग्ध से सींचा हुआ पटेला घी तथा शहद वा शक्कर आदि से संयुक्त करो, पटेला हम लोगों को घी आदि पदार्थों से संयुक्त करेगा"— लिख कर उस का पंचामृत से स्नान कराना और उससे अभीष्ट वरदान का पाना लिखा है, मुसलमानों की 'कबर' परस्ती, ईशाइयों का का क्रास (चूमना) एक प्रसिद्ध बात है, इतने पर भी केवल सनातनधर्मियों को बुतपरस्त कहना महा अज्ञता है। सनातनधर्मी ईश्वर की सर्वव्यापकता का वास्तविक आदर्श स्थिर करने वाले हैं। वह गीता के 'यद् यद् विभूतिमत्सत्वम्' के सिद्धान्त को कार्य्यरूप में परिणत करके दिखाते हैं। हमें आशा है भ्रान्त भाई इस तत्व को समझने का प्रयत्न करेंगे।

वैदिक–शकुनवाद

स्वस्ति मे सुप्रातः सुसायं सुदिवं सुमृगं सुशकुनं मे अस्तु।

(अथर्व १९।८।३)

अर्थ— (अग्ने !) हे अग्नि देव ! (मे) मेरे लिये (सुप्रातः) सुन्दर प्रातःकाल (सुसायं) सुन्दर सायंकाल (स्वस्ति) कल्याणकारी हो (सुदिवं) शुभ दिन हो (सुमृगं) मृगादि पशु शुभ हों (सुशकुनं) सुन्दर पक्षी (मे) मेरे लिये कल्याणकारी (अस्तु) हो।

अनुहवं परिहवं परिवादं परिक्षवम् ।
सर्वं मे रिक्तकुम्भान् परातान्सवितः सुव ॥

(अथर्व १६ । ८ । ४).

अर्थ— (सवितः) हे सवितादेव ! (अनुहवं) चलते को पीछे से बुलाना (परिहवं) दोनों ओर से बुलाना (परिवादं) विवाद (परिक्षवम्) छींक आदि (सर्वैः) सब प्रकार से (रिक्तकुम्भान्) खाली घड़ों को (मे) मेरे से (तान्) उनको (परा-सुव) दूर कर।

(क) पूर्णनार ! प्रभाकुम्भमेतम्

(अथर्व १६ । ८ । ८)

(ख) सुमंगलो भद्रवादी शकुन्ते

(अथर्व २ । ४२ । ३)

(ग) यदुलूको वदति मोघमेतत्

(अथर्व ६ । २६ । १)

अर्थ (क) हे सौभाग्यवती नारी ! तू इस घट को भर कर (मेरे सामने आ)।
(ख) ऐ पक्षी तू शुभ बोलता हुआ मंगलकारी हो।
(ग) यह जो उल्लू पक्षी बोलता है इसका दुष्परिणाम विफल हो।

(निष्कर्ष— पुराण शास्त्रों में उक्त मन्त्रों के आधार पर शकुनों का वर्णन किया गया है। कई महानुभाव (?) इसे पोप लीला कह कर, अपनी बुद्धिमत्ता का परिचय दिया करते हैं, परन्तु हमारा दावा है कि यह सब वेदमूलक है। वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर शकुनों की वास्तविकता खूब व्यक्त होजाती है क्योंकि भावि शुभाशुभ का परिज्ञान उद्भिज्जों और तिर्य्यंचों को हमसे बहुत पूर्व होजाता है अतः ऋषियों ने उनकी बोल चाल से उसे जानने का प्रयत्न किया था, प्रत्यक्ष देखा जाता है, जब वर्षा होने का समय निकट हो, परन्तु अभी बादलों का नामोनिशान भी न हो, तब हमें तो वर्षा का अनुमान नहीं होता, लेकिन छोटी २ चींटियें सफेद २ अण्डे मुंह में दबाये सैंकड़ों की संख्या में सुरक्षित स्थान में जाने को निकल पड़ती हैं। अतः उनकी ऐसी क्रिया को देख कर भावि वर्षा का अनुमान कर लेना प्रकृति निरीक्षण

मात्र ही है इसी प्रकार अन्यान्य शकुनों का तत्व समझना चाहिये। पुराणों में उक्त सभी शकुनों का वर्णन यथास्थान किया गया है, जिज्ञासु जन वहां देख कर लाभ उठा सकते हैं।

वैदिक वर्णव्यवस्था

अन्य सिद्धान्तों की तरह वर्णव्यवस्था के सम्बन्ध में भी वेदों में पुराण-प्रतिपादित व्यवस्था का ही समर्थन किया गया है यथाः—

विराट् क अङ्गों से चारों वर्ण

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायतः॥

(यजुः ३१।११)

अर्थात्— उस विराट् के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, उरु स्थान से वैश्य और पांओं से शूद्र पैदा हुवे हैं।

वर्ण जन्म से होता है

चत्वारो वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः।
तेषां पूर्वः पूर्वो जन्मतः श्रेयान्।

(आपस्तम्ब १।१।१)

अर्थात्— ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण हैं पहिला पहिला वर्ण दूसरे की अपेक्षा जन्म से श्रेष्ठ है।

(क) यस्मादेते मुख्यास्तस्मान्मुखतो ह्यसृज्यन्त।

(शतपथ)

(ख) ब्रह्मैव प्रथममसृज्यत।

(शतपथ ६।१।१।१०)

(ग) क्षत्रियोऽजनि विश्वस्य भूतस्याधिपतिः।

(घ) ऋग्भ्यो जातं वैश्यवर्णमाहुः।

(तैत्तिरीय ३।१२।६।२)

(ङ) स शौद्रवर्णमसृजत।

(शतपथ १४।४।२।२५)

अर्थात्— (क) क्योंकि ये मुख्य हैं, इस लिये वे मुख से रचे गए। (ख) ब्राह्मण ही पहिले बनाए (ग) समस्त जीवों का अधिपति क्षत्रिय का जन्म हुवा (घ) वैश्य वर्ण ऋक् से उत्पन्न हुवा है। (ङ) उसने शूद्र वर्ण बनाया।

केवल कर्म से वर्ण नहीं बदलता

(क) ब्राह्मणो हि रक्षसामपहन्ता ।

(शतपथ १ । २ । १ । ८)

(ख) तस्माद् वैश्यपुत्रं नाभिषिंचति ।

(शतपथ १३ । २ । ६ । ८)

अर्थात्— (क) ब्राह्मण ही राक्षसों का हनन करने वाला (ख) इस कारण से वैश्य का पुत्र अभिषिक्त नहीं किया जाता ।

इस प्रकार वेदों में जन्म प्रधान वर्णव्यवस्था का धाराप्रवाह वर्णन मिलता है, इतिहास भी जन्मप्राधान्य का ही समर्थन करता है अन्यथा— राक्षसकर्म्मकारी रावण और क्षात्रधर्म्मनिष्ठ वीर-शिरोमणि— पर्शुराम, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य तथा अश्वत्थामा आदि व्यक्ति गुण कर्म्म के अनुसार ब्राह्मण न बने रहते ! इसी तरह ब्रह्मज्ञानोपदेष्टा जनक क्षत्री न रहते, तथा राणा प्रताप की दांई भुजा— सेठ भामाशाह वैश्य=बणिया न कहलाते । तात्पर्य्य यह है कि सृष्टि के आरम्भ से लेकर कल तक आवश्यकतानुसार आपद्धर्म्मरूप से अनेक व्यक्तियों ने वर्णान्तर के धर्म्म से भी अपना जीवन बिताया, और गुण कर्म्म तथा स्वभाव में भी सोलहों आने तादृश बने रहे, तथापि उनका जन्म सिद्ध वर्ण तथैव प्रसिद्ध रहा । यदि ऐसा न होता तो सुप्रसिद्ध धनुर्धारी-और अर्जुन के मुकाबले में डटने वाले योद्धा कर्ण को— अविदित कुल होने के कारण सूत पुत्र कह कर न चिढ़ाया जाता ! क्योंकि गुण कर्म और स्वभाव के अनुसार तो वह किसी भी क्षत्रिय वीर से कम न था । अतः वेदादि शास्त्रों की यही व्यवस्था है । अमुक वर्ण में जन्म लिया है और उसी वर्ण के धर्म्म का पालन किया तो वह व्यक्ति पूर्णतया उस वर्ण का माना जाना चाहिये परन्तु जो उत्पन्न तो अमुक वर्ण में हुवा परन्तु कर्म्म वर्णान्तर के करता है वह अपने जन्मसिद्ध वर्ण का कहलाता हुवा भी तादृश सन्मान का अधिकारी नहीं अर्थात्— जन्म प्राधान्य से गुणकर्म्म और स्वभाव की विद्यमानता-वर्ण का मुख्य लक्षण है, तथा गुणादि की अविद्यमानता में जन्ममात्र होना गौण लक्षण है, किन्तु जन्म की अविद्यमानता में गुण कर्म्म और स्वभाव का अस्तित्व किसी वर्ण विशेष का बोधक नहीं ।

वेदोक्त तीर्थ महिमा

इमं मे गङ्गे ! यमुने ! सरस्वति ! शुतुद्रि ! स्तोमं सचत परुष्ण्या ।
असिक्न्या मरुद्वृधे ! वितस्तयार्जीकीये ! शृणु हया सुषोमया ॥

(ऋग्वेद १० । ७५ । ५)

अर्थ— [सायणभाष्यानुसार] हे गंगा, यमुना, सरस्वती, शुतुद्री (सतलज), परुष्णी, असिक्नी, मरुद्वृद्धा, वितस्ता (व्यासा), सोमा, और आर्जीकीया नाम वाली दश नदियो ! तुम हमारी प्रार्थना को श्रवण करो और स्वीकार करो।

प्रयाग में गंगा यमुना संगम

सितासिते सरिते यत्र संगते, तत्र प्लुतासो दिवमुत्पतंति ।
ये वै तन्वं विसृजन्ति धीरास्ते जनासोऽमृतत्वं भजन्ते ।

(ऋक्परिशिष्ट)

अर्थ— जिस स्थान में सफेद और काली नदियों (अर्थात्—गंगा और यमुना) का संगम हुवा है उस स्थान में यात्रा स्नान आदि करने से स्वर्ग मिलता है। और जो धीर पुरुष इस स्थान में शरीर त्याग करते हैं वे अमरपद को प्राप्त होते हैं।

गंगाजल महौषधि है

हिमवतः प्रस्रवन्ति सिन्धौ समह संगमः ।
आपोह मह्यं तद्देवी ददन् हृद्द्योतभेषजम् ॥

(अथर्व ६ । २४ । १)

अर्थ— [सायण भाष्य का भाषानुवाद] [गंगादिनदीरूपाः पापक्षयहेतवः— गंगा आदि नदियों के— पापों को नष्ट करने वाले] (आपः) जल (हिमवतः) हिमाचल से (प्रस्रवन्ति) बहते हैं [और उनका] (सिन्धौ) समुद्र में (समह) समान रूप से (सङ्गमः) सङ्गम है [वह गंगाजल] (देवी) दिव्य जल है [सो] (मह्यं) मुझे (हृद्द्योतभेषजम्) हृदय के दाह को दूर करने वाला, अथवा हृदय को प्रकाशमय बनाने वाला=औषध (ददन्) प्रदान करे।

जगन्नाथजी

अदो यद्दारु प्लवते सिन्धोः पारे अपूरुषम् ।
तदारभस्व दुर्हणो तेन गच्छ परस्तरम् ॥

(ऋग्वेद १० । १५५ । ३)

अर्थ— [सायणभाष्यानुवाद]— (अदो=विप्रकृष्टदेशे वर्तमानं) वह सुदूर उड़ीसा प्रदेश में विद्यमान (अपूरुषं) किसी निर्माता पुरुष का न बनाया हुवा (यद्दारु= दारुमयं पुरुषोत्तमाख्यं देवताशरीरं) लकड़ी के कलेवर वाला श्री पुरुषोत्तम भगवान् का शरीर (सिन्धोः पारं) ठेठ समुद्रके किनारे पर (प्लवते) विद्यमान है, (दुर्हणो)

हे अमरपद के अभिलाषी मनुष्य ! (तदारभस्व) तू उसकी शरण में जा [और] (तेन) उस दारुमय देव की उपासना से (परस्तरं=अतिशयेन तरणीयं उत्कृष्टं वैष्णवं लोकं) सर्वोत्कृष्ट वैकुण्ठपद को (गच्छ) प्राप्त हो।

यत्र देवो जगन्नाथः परं पारं महोदधेः।
बलभद्रः सुभद्रा च तत्र माममृतं कृधि ॥

(ऋग्वेद परिशिष्ट)

अर्थात्— महोदधि=समुद्र के किनारे जहां देवाधिदेव श्री जगन्नाथ जी बलभद्र जी और सुभद्रा जी विद्यमान हैं मुझे उस स्थान में अमरपदभागी बनाइये।

तीर्थों की महिमा अकथनीय है, यूं तो प्रायः सभी पन्थों में किसी न किसी स्थान को पवित्र मानकर यात्रा करने की प्रथा विद्यमान है परन्तु वे पन्थ मनुष्यकल्पित होने के कारण अपने तीर्थों की भित्ति प्राकृतिक एवं वैज्ञानिक आधार पर स्थिर नहीं कर सके, इस लिये उनके सेवन से लाभ के स्थान में हानि ही होती है। परन्तु सनातनधर्म्म में उन्हीं स्थानों को तीर्थ रूप में माना जाता है जिनका कि प्राकृत वातावरण ही स्वभावतः पवित्र हो, और विज्ञान की कसौटी पर उनके लाभ पूरे उतरते हों। उदाहरणार्थ भगवती भागीरथी गंगा को ही लीजिये, आज यूरोप के बड़े से बड़े डाक्टर गंगाजल की परीक्षा करने के बाद— यह मानने को विवश होगये हैं कि 'गंगाजल रोगों के अस्थिगत कीटाणुओं को भी नष्ट कर डालता है और गंगा किनारे का वातावरण— खास कर हरिद्वार से ऊपर उत्तर काशी पर्य्यन्त— तपेदिक आदि असाध्य रोगों को नाश करने की शक्ति रखता है, इसी प्रकार अन्यान्य तीर्थ स्थान भी वैज्ञानिक कसौटी पर लाभप्रद सिद्ध होते हैं। क्या हम आशा करें कि उक्त प्रमाणों के आधार पर लिखी हुई पुराणोक्त तीर्थ महिमा को हमारे भाई मातृभूमि की वन्दना का आदर्श समझ कर उससे समुचित लाभ उठाने का प्रयत्न करेंगे ?

वेद और पुराणों के विषयों की इयत्ता नहीं होसकती, अतः हम एतावन्मात्र निरूपण करके ही इस अध्याय को समाप्त कर देते हैं। यदि पाठकों को विशेष कुछ जानने की उत्कण्ठा हो तो उन्हें किसी वेद-पुराणों के विशेषज्ञ महानुभाव से स्वाध्याय करने का प्रयत्न करना चाहिये। इस लघु कलेवर ग्रन्थ में वेद-पुराणों के अखूट खजाने की रत्न राशि कहां तक समा सकती है— यह बात पाठक समुदाय ही स्वयं सोच सकता है। इस लिये 'दिङ्मात्रमिह दर्शितम्' कहते हुवे हम विश्राम लेते हैं।

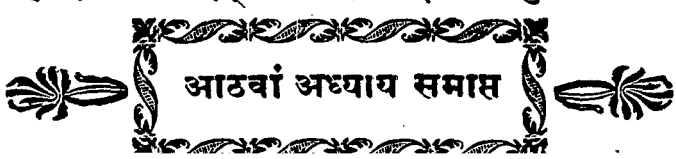

सन्देहाभासनिवारणाध्यायः

(नौवां-अध्याय)

—*÷*—

अश्लीलताऽसंभवता-विरुद्धताऽऽ-
भासः, पुराणेषु य उच्यते परैः ।
सर्वं समाधाय तमत्र, वर्ण्यते
पुराण-तत्वं निगमागमान्वितम् ॥

आज से लगभग अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व जिस तरह बौद्धों, जैनियों और चारवाक-मतावलम्बियों ने वेदों को बदनाम करने के लिये 'त्रयो वेदस्य कर्तारो भांडधूर्तनिशाचराः'— का कर्णकटु कोलाहल मचा रक्खा था, इसी तरह आज कतिपय पाश्चात्य पामरों ने और अदूरदर्शी एवं उद्दण्ड दयानन्दियों ने, पवित्र पुराणों को पददलित करने के लिये— 'पुराण कोई पाठ्य पुस्तक नहीं हैं, वे तो पोपों के गपोड़े हैं, उनके पढ़ने से पुरुषों को पाप करने का प्रोत्साहन मिलता है' इत्यादि अनेक निर्मूल भ्रम फैला रक्खे हैं।

यद्यपि पुराणों के निष्पक्ष समालोचक- मि० पार्जिटर तथा मि० विसेन्ट स्मिथ आदि पाश्चात्य विद्वानों ने एवं गुरुकुल कांगड़ी के प्रोफेसर श्री रामदास गौड़ तथा पं० नरदेव शास्त्री आदि दयानन्दियों ने तथ्य और पथ्य समझ कर पुराणों के अनुपम महत्व को भली प्रकार स्वीकार किया है, तथापि इन इने गिने व्यक्तियों के तादृश विचारों का- मिस मेयो और उसके पिछलगुवे-लोकू, बुद्धू, मनसू, रामू,-ऐरू गैरू, नत्थू खैरू, जैसे संकीर्ण हृदयव्यक्तियों पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा है, उपदेशक पद को कलंकित करने वाले सैंकड़ों पंडितम्मन्य अभी तक भी पुराणों के प्रतिकूल अनुचित आन्दोलन (Propaganda) करते ही जा रहे हैं। दुर्भाग्यवश सर्वसाधारण में भी मि० पार्जिटर के ग्रन्थ 'ऐतिहासिक किवदन्ती' (Historical Tradition) का परिचय मुट्ठीभर शास्त्रव्यसनी पंडितों तक ही सीमित है, परन्तु मिस मेयो की 'मदर इण्डिया'

का बदनाम नाम शैतान की तरह बेहातियों तक में भी प्रख्यात सा होगया है, इसी तरह श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, श्रीरामदास जी गौड, और नरदेव शास्त्री सरीखे सभ्य समाजियों के पुराण प्रशंसक भाव तो पोथियों के पन्नों— और समाचार पत्रों के कालिमों में ही विश्राम लेरहे हैं परन्तु – (फक्कड़ कक्कड़ों की लिखी हुई- भविष्य-शिव-गरुड़ आदि पुराणों की कटु आलोचनाएं तथा 'पुराण-तत्व-प्रकाश' 'पुराण मत पर्य्यालोचन' जैसे थोथे पोथे, नवयुवकों के अपरिपक्व मस्तिष्कों को बिगाड़ने के लिये दयानन्दियों और सुधारकों—बनाम बिगाड़कों द्वारा संचालित प्रत्येक पुस्तकालय में तत्परता से रक्खे जाते हैं, तथा समाजी स्कूलों में 'वादसमिति' (Debating club) बना कर अथवा सत्यार्थप्रकाश की कथा सुना कर प्रत्येक बालक को पुराणों के प्रतिकूल बगावत मचाने के लिये पहलवान बनाने का जघन्य प्रयत्न किया जाता है, हमारे इस लम्बे रोने धोने का तात्पर्य्य यह है कि इस समय पुराणों को पददलित करने का जो प्रबल प्रयत्न किया जा रहा है वह इतना उग्र, इतना भयंकर, एवं इतना विनाशकारी है कि जिसके कुछ दिन तक इसी तरह और जारी रहने से हिन्दू संस्कृति, हिन्दू धर्म्म तथा हिन्दू जाति का अस्तित्व भी सुरक्षित रखना महा-कठिन होजायगा। इस लिये देश जाति और धर्म्म का भला चाहने वाले सज्जनों को इस बढ़ते हुवे तोफ़ान से युवकवर्ग का अवश्य त्राण करना चाहिये।

जिस तरह शवर स्वामी, कुमारिल भट्ट और आद्य शङ्कराचार्य्य आदि महानुभावों ने अनेक ग्रन्थ लिख कर तत्कालीन बौद्धादि के पाखण्ड का खण्डन किया था, और एक बारगी फिर से वेद विज्ञान की विजय वैजयन्ती फर्राने लगी थी, इसी तरह अब भी सादर समुदाय को पुराणनिन्दकों की प्रबल प्रवञ्चना का पर्दाफाश करके पुराणों का वैज्ञानिक तत्व सर्व साधारण के सामने ग्रन्थ रूप में समुपस्थित करने का पुनीत प्रयत्न करना चाहिये।

उपर्य्युक्त भाव से प्रेरित होकर ही हम इस ग्रन्थ के विगत अध्यायों में पुराणों की 'वहिरङ्ग-परीक्षा' तो प्रायः करचुके हैं, अब इस अध्याय में अवसर प्राप्त 'अन्त-रङ्ग-परीक्षा' भी की जाती है।

नास्तिकों और अर्धनास्तिकों की ओर से पुराणों पर जितने आक्षेप किये जाते हैं उन सबको सामान्य रूप से तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। सो कुछ आक्षेप ऐसे हैं जिनका मूल कारण अश्लीलताभास बताया जाता है, और दूसरे ऐसे हैं जिनमें असम्भवताभास को हेतु ठहराया जाता है, तथा तीसरे वे हैं जिनमें परस्पर-अथवा वेदादि शास्त्रों के विरुद्ध होने का आभास दीख पड़ता है, बस! इन्हीं

तीन प्रबल दोषाभासों को पर्वतायमान करके पुराण साहित्य को अनेक दोषों का खजाना कहा जाता है। इस लिये हम इस अध्याय में यथासम्भव सभी आक्षेपों पर उचित विचार करना चाहते हैं। आशा है विज्ञ पाठक इस विभाजन पद्धति से जहां उन समग्र दोषाभासों का क्रम जानने में कृतकार्य्य हो सकेंगे वहां आक्षेपों की इयत्ता से भी पूर्णतया परिचित होजायेंगे-अथच इससे यह लाभ भी होगा कि विस्तार-भय से इस ग्रन्थ में जिन आक्षेपों का समाधान न भी लिखा गया होगा, ऐसे आक्षेपों का भी उक्त विभाग-त्रय में से यथायोग्य किसी एक में परिगणित कर लेने पर उस उस विभाग के समाहित आक्षेपों की भांति नये आक्षेपों का भी पाठक स्वयं समाधान कर सकेंगे।

ब्रह्मा-दुहिता-प्रसंग

१ आर्यसमाज की ओर से पुराणों की समालोचना या दुरालोचना में आज तक जितने ट्रैक्ट लिखे गये हैं, उन सबमें-सम्पादकों ने प्रायः कथाओं के वास्तविक स्वरूप को जान बूझकर छुपाने का दुराग्रह किया है, यहां तक कि- 'ब्रह्मा-दुहिता' वाली कथा का वेद के मन्त्र-भाग, और ब्राह्मण-भाग द्वारा, तथा श्री कुमारिल भट्ट और स्वयं स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा भी वास्तविक अभिप्राय प्रकट किये जाने पर अभी तक ये निरे निठल्ले उक्त कथा को बीभत्स रूप में पेश करके अपठित जनता को भ्रम में डालने का जघन्य प्रयत्न करते हैं, इस लिये सर्व प्रथम इसी कथाका रहस्य प्रकट किया जाता है। तद्यथा—

वैदिक-स्वरूप

(क) प्रजापतिः स्वां दुहितरमधिष्कन्।

(ऋग्वेद १०। ६१। ७)

(ख) प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायद्।

(ऐतरेय ३। ३३)

(ग) प्रजापतिः स्वां दुहितरमभिदध्यौ।

(शतपथ १। ७। ४। १)

(घ) पिता दुहितुर्गर्भमाधात् ।

(अथर्व ९ । १० । १२)

(ङ) प्रजापतिर्वा इदमासीत्तस्य वाग् द्वितीयासीत्ताम्मिथुनं समभवत्सा गर्भमाधत्त ।

(ताण्ड्य २० । १४ । २)

(च) प्रजापतिरुषसमध्यैत् स्वां दुहितरम् ।

(ताण्ड्य ८ । २ । १०)

अर्थात्—(क) प्रजापति ने अपनी पुत्री का धर्षण किया (ख) प्रजापति ने अपनी पुत्री का अनुगमन किया (ग) प्रजापति ने अपनी पुत्री को चाहा (घ) पिता ने पुत्री में गर्भ स्थापित किया (ङ) प्रजापति अकेला था और वाग् (सरस्वती) दूसरी थी, उन दोनों ने संग किया, वह गर्भवती होगई । (च) प्रजापति ने अपनी पुत्री उषा के पीछे गमन किया ।

पौराणिक-स्वरूप

(क) वाचं दुहितरं तन्वीं स्वयम्भूर्हरतीं मनः ।
अकामां चकमे क्षत्तः ! सकाम इति नः श्रुतम् ॥
तमधर्म्मे कृतमतिं विलोक्य पितरं सुताः ।
मरीचिमुख्या ऋषयो विश्रम्भात्प्रत्यबोधयन् ॥
नैतत्पूर्वैः कृतं त्वद्ये न करिष्यन्ति चापरे ।

(ख) स इत्थं गृणतः पुत्रान्पुरो दृष्ट्वा प्रजापतीन् ।
प्रजापति-पतिस्तन्वं तत्याज व्रीडितस्तदा ॥

(श्रीमद्भागवत ३ । १२ । २८-३३)

अर्थात्— (क) [मैत्रेयने कहा— हे विदुर !] काम के वश होकर स्वयंभू ने कामनारहित 'वाक्' नाम वाली अपनी पुत्री को चाहा ऐसा हमने सुना है । उस पिता की इस प्रकार अधर्म्म में बुद्धि देख कर मरीचि आदि पुत्रों ने हठात् समझाया कि— आज तक ऐसा कर्म्म न तो किसी ने किया है, और न अब तथा आगे को कोई ऐसा करेंगे ।

अर्थात्— (ख) प्रजापति ने इस प्रकार अपने सामने ही पुत्रों को कहते हुवे सुन कर लज्जित हो अपना वह शरीर छोड़ दिया ।

उपर्युक्त वेद-प्रमाणों और पुराण श्लोकों को ध्यानपूर्वक पढ़जानेमात्र से प्रत्येक संस्कृतज्ञ इसी परिणाम पर पहुंचेगा कि श्रीमद्भागवत में जो कुछ लिखा है वह शब्दों के हेर फेर से वेद मन्त्रों का ही सरल अनुवादमात्र है, यदि इस में कुछ अन्तर है तो वह यही है कि जहां वेदों में सम्राट् की तरह निधड़क होकर खुले शब्दों में 'पिता द्वारा पुत्री में गर्भ स्थापित कर देना' लिखा है वहां पुराणों में इस स्पष्टता को वालिश-जन-भयावह जानकर सभ्यतापूर्वक केवल 'कामनामात्र करना' बताया है।

इतने पर भी इस पाप रूप से जँचने वाले वैज्ञानिकभावका सांमंजस्य बिठलाने के लिये और लोकमर्य्यादा की शृंखला को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये, धर्मशास्त्रोक्त प्रायश्चित्तानुष्ठानार्थ स्वयं ब्रह्मा जी का शरीर त्यागना लिखा है।

प्रतिवादी जन पुराणों पर आक्षेप करते समय शायद यह भूल जाया करते हैं कि यह कथा वेदों में भी तो ज्यों की त्यों कई स्थानों पर आती है अतः जो समर्थन वैदिक कथा का होगा वही पौराणिक का भी होजायगा, अस्तु यह तो हुई आक्षरिक समानता की बात, अब इस का वास्तविक भाव भी सुनिये।

आधिभौतिक-अर्थ *

यह एक वैज्ञानिक कथा है, इसमें बताया गया है कि सर्दी के दिनों में सूर्य्योदय के समय जो कुहरा छा जाया करता है वह क्या है? पाठकों ने प्रायः देखा होगा कि हेमन्त और शिशिर ऋतु के दिनों में प्रातःकाल सूर्य्य के चारों ओर भाफों के पड़त बादलों की तरह छा जाया करते हैं जिसे नीहार-धुन्ध या कुहरा के नाम से पुकारते हैं। कभी २ तो यह कुहरा इतना गहरा होजाया करता है कि घन्टों तक सूर्य्य भगवान् के दर्शन भी नहीं होपाते, और वृक्षों के पत्तों पर छोटे २ जल कण सिमट कर खासी टपकन आरम्भ होजाती है। बस इसे ही वैज्ञानिक रूप से बताना, उक्त आलंकारिक कथा का तात्पर्य्य है।

यहां ब्रह्मा नाम सूर्य्य का है, जैसा कि आगे चल कर स्वयं वेद भगवान् स्पष्ट कर देते हैं— यथा—

---

* टिप्पणी— यहां सूर्य्यपिण्डाभिमानी चेतन देव का अभिप्रेत नहीं है, किन्तु पांचभौतिक, स्थूल एवं जड़, सूर्य्य-पिण्ड से ही 'कुहरे' की उत्पत्ति प्रकट करना अभीष्ट है अतः हम इस अर्थ को 'आधिभौतिक' शीर्षक द्वारा व्यक्त करना उचित समझते हैं।

(क) योह्येव सविता स प्रजापतिः ।

(शतपथ १२ । ३ । ५ । १)

(ख) प्रजापतिर्वै सविता

(ताण्ड्य ८ । २ । १०)

अर्थात्—(क) (ख) प्रजापति नाम सूर्य्य का है ।

इसी प्रकार उस सूर्य्य से उत्पन्न होने के कारण उषा (प्रातःकालीन प्रकाश) ही उसकी पुत्री है । प्रति दिन आगे २ उषा (पौ) और पीछे २ सूर्य्य का उदय होता है । इसे ही आलंकारिक रूप से वेद पुराणों में पुत्री के पीछे पिता का जाना बताया है । सूर्य्य के आकर्षण से खिंचा हुवा जल वाष्प रूप में परिणत होजाता है, और वही सर्दी के दिनों में सूर्य्य के किरणों के तिरछे रूप में पृथिवी पर पड़ने से ठिठुर जाता है । और सिमट २ कर कुहरे के रूप में वर्षता है । श्रीमद्भागवत में इस कथा के उपसंहार में ही यह भाव स्पष्ट कर दिया गया है, यथा—

तां दिशो जगृहु र्घोरां नीहारं यद् विदुस्तमः ।

(श्रीमद्भागवत ३ । १२ । ३४)

अर्थात्—ब्रह्माजी ने पुत्रों के समझाने पर जो शरीर त्याग दिया था उसे दिशाओं ने ग्रहण कर लिया, जोकि घोर अन्धकार नीहार=अर्थात्–कुहरा कहा जाता है ।

तात्पर्य यह हुवा कि जब उषा के पीछे २ सूर्य्यरूप ब्रह्मा चले, तब उसके पुत्र रूप किरणों ने उसे समझाया जिससे सूर्य्य ने अपने चारों ओर घिरे हुवे वाष्परूप शरीर का त्याग कर दिया । जिसे पूर्वादि दिशाओं ने ग्रहण किया, अर्थात्–वह सब दिशाओं में छा गया । वही नीहार है । वेदों में इसे ब्रह्मारूप सूर्य्यद्वारा पुत्रीरूप उषा में नीहाररूप गर्भ का धारण कहा गया है, और पुराणों में शिष्टता की रक्षा के लिये ब्रह्मारूप सूर्य्य का पुत्रीरूप उषा के पीछे भागना और किरणरूप पुत्रों के समझाने पर अपने कलेवररूप कुहरा का त्याग कर देना बताया गया है इसमें न कोई अश्लीलता की बात है और नाहीं अधर्म की गन्ध है किन्तु एक वैज्ञानिक सिद्धान्त की सरलता अवश्य है, और वह भी वेदों तथा पुराणों दोनों में ही समानरूप से वर्णित है फिर केवल पुराण शास्त्रों को ही व्यर्थ क्यों कोसा जाता है यह हमारी समझ में नहीं आता ?

कुमारिल भट्ट की सम्मति

हमारे इस वास्तविक भाव को पढ कर सम्भव है कई पाठकों के हृदय में यह आशंका उत्पन्न होजाय कि 'यह कल्पना अभी घड़ ली गई है' हम इस अभियोग से

बचने के लिये पूर्वाचार्य्यों की सम्मतियें उद्धृत करना उचित समझते हैं। जब बौद्ध और जैनों ने वेदों में 'ब्रह्मा का पुत्री के पीछे भागना' अश्लील बताकर कोलाहल मचाया था, उस समय पण्डितचक्र-चूड़ामणि श्री कुमारिल भट्ट जी ने उन्हें मुंह तोड़ उत्तर देते हुवे बताया था कि—

प्रजापतिस्तावत् प्रजापालनाधिकाराद् आदित्य एवोच्यते स च अरुणोदयवेलायां उषसमुद्यन्नभ्येत्। सा तदागमनादेवोपजायत इति तद्दुहितृत्वेन व्यपदिश्यते। तस्यां चारुणकिरणाख्यबीजनिक्षेपात् स्त्रीपुरुषयोगवदुपचारः।

(तन्त्रवार्तिक १।३।७)

अर्थात्— संसार का रक्षक होने के कारण सूर्य्य ही प्रजापति है, वह अरुणोदय (पौफटने) के समय उषा (प्रभातकालीनश्वेतिमा) के पीछे २ उदित होजाता है, वह उषा सूर्य्य से ही उत्पन्न होती है अतः उसका पुत्रीवत् वर्णन किया है उसी (उषा) में वह (सूर्य) अपनी लाल किरण रूप बीज डालता है, जो उपचार से स्त्री पुरुष के संयोग की तरह कहा जाता है।

स्वामी दयानन्द की सम्मति

सविता सूर्य्यः सूर्य्यलोकः प्रजापतिसंज्ञकोऽस्ति तस्य दुहिता कन्यावद् द्यौरुषा चास्ति। यस्माद्यदुत्पद्यते तत्तस्यापत्यवत्, स तस्य पितृवदिति रूपकालंकारोक्तिः। स च पिता तां रोहितां किंचित् रक्तगुणप्राप्तां स्वां दुहितरं किरणैर्बीजस्थवच्छीघ्रमभ्यध्यायत् प्राप्नोति। ... तस्यामुषसि दुहितरि किरणरूपेण वीर्य्येण सूर्य्यादिवसस्य पुत्रस्योत्पन्नत्वात्। ... तयोः पितादुहित्रोः समागमादुत्कटदीप्तिः।

(ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका ग्रं० प्रा० विषये पृष्ठ २१८)

अर्थात्— [स्वामी दयानन्द कृत भाषार्थ] यहां प्रजापति कहते हैं सूर्य्य को जिसकी दो कन्या एक प्रकाश दूसरी उषा क्यों कि जो जिससे उत्पन्न होती है वह उसका ही सन्तान कहाता है, इस लिए उषा जो कि तीन चार घड़ी रात्रि शेष रहने पर पूर्व दिशा में रक्तता दीख पड़ती है वह सूर्य्य किरण से उत्पन्न होने के कारण उस की कन्या कहाती है, उनमें से उषा के सन्मुख जो प्रथम किरण जाके पड़ती है, वही वीर्य्य स्थापन के समान है उन दोनों के समागम से पुत्र अर्थात् दिवस उत्पन्न होता है।

पाठकगण ! कुमारिलभट्ट और आर्य्यसमाजप्रवर्तक स्वामी दयानन्द की सम्मति पढ़ कर इस कथा की वास्तविकता को समझ गये होंगे ! पुराणशास्त्रों में भी इसका यही भाव है, जैसा कि पुराण शब्दों से ही भली भांति विदित होजाता है। श्रीमद्भागवत के शब्दों पर ध्यान दीजिये वहां वेदव्यास जी ने अपने कवित्वकौशल से पुत्री का विशेषण 'तन्वी' लिखा है, जिसका अर्थ 'सूक्ष्म शरीर वाली' होता है। इस से यह व्यक्त कर दिया गया है कि इस कथा का सम्बन्ध स्थूलशरीरधारिणी किसी पुत्री से नहीं है सो उषा भी प्रकाश विशेष होने से सूक्ष्म कही जा सकती है, अत एव पुराण में वही अभिप्रेत है। आगे चलकर इसी प्रसङ्ग में 'इति नः श्रुतम्' शब्द भी बड़े महत्व के हैं जिनसे उक्त कथा के श्रुतिसम्मत होने की सूचना दीगई है, तथा ब्रह्मा जी के पुत्रों को 'मरीचिमुख्याः' शब्द द्वारा प्रकट करने का अभिप्राय भी यही है कि— श्रीमद्भागवत में इस कथा का अर्थ सूर्य्यउषापरक है यह बात पाठकों को विदित होजाए- अतः एव समस्त कोशकारों का अभिमत सूर्य्य किरण का पर्य्याय 'मरीचि' शब्द यहां प्रयुक्त हुवा है। यही इस कथा का आधिभौतिक अर्थ है, जिसमें रूपकालंकार पद्धति द्वारा 'कुहरे' की उत्पत्ति से सम्बन्ध रखने वाला भौतिक-विज्ञान भली भांति प्रकट किया गया है।

आध्यात्मिक-अर्थ

हम शैलीनिरूपणाध्याय में विस्तारपूर्वक यह लिख आये हैं कि जिस तरह वेद के एक ही मन्त्र के निरुक्तादि ग्रंथों में आध्यात्मिक आधि-भौतिक और आधिदैविक पक्षों में घटित होने वाले भिन्न २ अनेक अर्थ प्रकट किये गये हैं इसी तरह पुराणों में भी वेद के उन उन मन्त्रों की-(एक पुराण में आधिदैविक पक्ष में तो दूसरे में आध्यात्मिक पक्ष में, और तीसरे में आधिभौतिक पक्ष में त्रिविध व्याख्या की गई है, तो उपर्य्युक्त कथा की श्रीमद्भागवतवर्णित आधिभोतिक व्याख्या तो ऊपर प्रकट की जा चुकी है अब 'ब्रह्मवैवर्त-पुराण' में की गई 'आध्यात्मिक-व्याख्या' नीचे अङ्कित की जाती है।

अच्छा ! 'ब्रह्मा पुत्री के पीछे भागा' इस वेदवर्णित कथा का आध्यात्मिक अभिप्राय क्या है—इस जिज्ञासा के उत्तर में वेद भगवान् कहते हैं कि—

(क) तस्य (पुरुषस्य) मन एव ब्रह्मा।

(कौशीतकी १७। ७)

(ख) मन एव ब्रह्मा।

(गोपथ पू० २। १० ॥ उ० ५। ४)

(ग) यत्प्रजापतिस्तन्मनः ।

(जैमिनि उपनिषद् १ । ३३ । २)

(घ) प्रजापतिर्वै मनः ।

(शतपथ ४ । १ । १ । २२)

(ङ) वाग् वै सरस्वती ।

(कौषीतकि ५ । २)

(च) वाक् सरस्वती ।

(शतपथ ७ । ५ । १ । ३१)

(छ) वाक् तु सरस्वती ।

(ऐतरेय ३ । १)

(ज) मनो ह पूर्वं वाचो यद्धि मनसाभिगच्छति तद्वाचा वदति ।

(ताण्ड्य १ । १ । १ । ३)

(झ) स (प्रजापतिः) वाचमयच्छत् ।

(ऐतरेय २ । ३३)

अर्थात्— (क-ख-ग-घ) प्रजापति या ब्रह्मा 'मनः' को कहते हैं । (ङ-च-छ) सरस्वती नाम वाणी का है । (ज) वाणी से पूर्व मनः का स्थान है सो जो कुछ पहिले मन से सोचा जाता है वही फिर वाणी से कहा जाता है । (झ) उस प्रजापति रूप मन ने वाणी रूप सरस्वती को काबू में किया ।

उपर्य्युक्त प्रमाणों के अनुसार आध्यात्मिक पक्ष में उक्त कथा का तात्पर्य्य यह है कि मनः में जैसा संकल्प उठता है वही वाणी रूप में प्रकट होता है अर्थात्-मन की सत्ता से ही वाणी की उत्पत्ति होती है, इसी लिये-इन दोनों का यहां पिता पुत्री रूप में वर्णन किया है, जब मनः, वाणी रूप अपनी पुत्री में प्रेरणा रूप वीर्य्याधान करता है तभी उससे शब्द रूप पुत्र उत्पन्न होता है, सो 'ब्रह्म-वैवर्त-पुराण' में उक्त आध्यात्मिक अर्थ को स्पष्ट करने के लिये श्रीराधाजी के पूछने पर श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं—

मनःस्वरूपो ब्रह्मा मे ज्ञानरूपो महेश्वरः ॥५८॥

वागधिष्ठात्री देवी या सा स्वयं च सरस्वती ॥५९॥

(ब्रह्मवैवर्त खण्ड ४ अ० ३६ श्लोक ५८)

अर्थात्—मनः ही ब्रह्मा है, ज्ञान को महेश्वर समझो, तथा वाणी की अधिष्ठात्री देवी ही सरस्वती है ।

यहां इतना और भी समझ लेना आवश्यक है इस कथा का अध्यात्म विधान रूपक में-मरीचि आदि पुत्रों का समझाना घटित नहीं होता था अत एव ब्रह्मवैवर्त में श्रीवेदव्यास जी ने उक्त घटना के बजाय यह प्रकट किया है कि 'पुत्री के पीछे भागते हुवे ब्रह्मा को उसके पुत्र महादेव ने सावधान किया' इस अंश का तात्पर्य्य यह है कि वाणी का अनुगमन करते हुवे मनः को विवेक बार बार सावधान करता है, यही इस कथा का 'आध्यात्मिक-अर्थ' है, जिससे मनोविज्ञान का एक अद्भुत रहस्य प्रकट होता है।

आधिदैविक-अर्थ

ब्रह्म लोक के अधिष्ठाता, सृष्टि के रचियता, चतुर्मुख एवं दिव्य गुणोपेत श्री ब्रह्माजी महाराज— ईश्वर की त्रिगुणमयी मूर्ति के एक अङ्ग हैं. वेदों में— 'ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव' आदि अनेक मन्त्र उनकी सत्ता, प्रतिष्ठा तथा महिमा का वर्णन करते हैं, इस बात का दिग्दर्शन हम वेद-पुराण-समन्वयाध्याय के आरम्भ में कर चुके हैं सो 'ब्रह्म ब्रह्माभवत् स्वयम्, (तैत्तिरीय ३। १२। ६। ३) के अनुसार जब स्वयं ब्रह्म ही साकार रूप में प्रकट होकर सृष्टि रचना करता है, उस समय उसे 'ब्रह्मा' कहते हैं।

उक्त ब्रह्मा जी से सनकादि ऋषि एवं मरीचि आदि कई एक मानसिक पुत्रों की उत्पत्ति होती है परन्तु उक्त मानसिक सन्तानों के विचार प्रायः निवृत्तिपरक थे अतः सृष्टि की यथेच्छ वृद्धि न देख कर श्री ब्रह्माजी ने अपने शरीर के दो भाग बना डाले, सो उनका वाम भाग स्त्री रूप होगया, और दक्षिण भाग पुरुष बना, यह सब रहस्य वेदों और स्मृतियों में भी इसी रूप में लिखा है, यथा—

स वै नैव रेमे, तस्मादेकाकी न रमते, सद्वितीयमैच्छत्, -सह एतावानास, यथा स्त्रीपुमांसौ परिष्वक्तौ, स इममेवात्मानं द्विधापादयत्, ततः पतिश्च पत्नी च अभवताम्। ततो मनुष्या अजायन्त। साह इयमीक्षांचक्रे कथं नु मां आत्मन एव जनयित्वा सम्भवति, हंत तिरोसानीति। सा गौरभवत् वृषभइतरः सतामेव समभवत्ततो गावोऽजायन्त। वडवा इतरा अभवदश्व इतरः। गर्दभी इतरा अभवद्गर्दभ इतरः। सतामेव समभवत्त एकफा अजायन्त अजा इतरा अभवत् वस्त इतरः। अविरितरा मेष इतरः। सतामेव समभवत्त अजा अवयश्च

अजायन्त । यदिदं किंच मिथुनं आपिपीलिकाभ्यः तत्सर्वमसृजत । सो वेद अहं वाव सृष्टिरस्मि । अहं हि इदं सर्वं असृक्षीति । ततः सृष्टिरभवत् ॥

(शतपथ १४ । ३ । ४ । ३ आदि)

अर्थात्—उसको अकेले में आनन्द नहीं आया इसी लिये संसार में भी अकेले में आनन्द नहीं आता । उसने दूसरे को चाहा, वह इतना मोटा हुवा कि जितने स्त्री पुरुष दोनों मिलकर हो सकते हैं । तब उसने अपने उस परिपुष्ट शरीर के दो भाग किये एक भाग पति और दूसरा पत्नी बना उनसे मनुष्य पैदा हुवे । पत्नी ने देखा कि इसने मुझको अपने शरीर से ही बनाकर मुझ से रमण किया इस खेद से वह छुप गई, और छुपकर गौ हुई, पुरुष ने भी वृषभ बनकर उससे व्यवाय किया उससे गो जाति उत्पन्न हुई । फिर वही पत्नी घोड़ी हुई, पुरुष घोड़ा बना, वह गधी बनी, वह भी गधा बन गया, दोनों ने मैथुन किया उससे एक टाप वाले (बिना फटे खुर वाले) अश्व गर्दभ आदि पैदा हुवे । फिर पत्नी बकरी बनी, पति बकरा बन गया, वह भेड हुई, वह भी मेंढा होगया, दोनों ने रमण किया उससे भेड बकरी आदि उत्पन्न हुवे, इसी प्रकार वे चिउंटी तक बनते गये और संसार बनता गया । तब उसने जाना कि मैं ही सृष्टि हूँ । मैंने ही इस सब (चराचर) को पैदा किया, इस लिये उसी का नाम सृष्टि है, क्योंकि उससे ही यह सृष्टि बनी है । यही आशय मन्वादि धर्म्मशास्त्रों में व्यक्त किया है, यथा—

द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत् ।
अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः ॥

(मनु १ । ३२)

अर्थात्— वह ब्रह्मा अपने देह के दो भाग करके आधे हिस्से से पुरुष और आधे हिस्से से स्त्री बन गया, तब उसने मैथुन धर्म्म से उस पत्नी में ' विराट् ' नामक पुत्र को उत्पन्न किया ।

अन्य मत वालों से दो दो बातें

यह कथा इस रूप में केवल हिन्दु धर्म्म ग्रन्थों में ही लिखी हो सो बात भी नहीं है, मुसलमानों और ईसाइयों के धर्म्म ग्रन्थों में इन्हीं भावों की धुँधली किन्तु अपरिमार्जनीय छाया दीख पड़ती है जैसे—

(क) तब परमेश्वर ने भूमि की धूल से आदम को बनाया और उसके नथनों में जीवन का श्वास फूंका । (तौरेत २ । ७)

(ख) ईश्वर ने आदम को बड़ी नींद में डाला, और वह सोगया, तब उसने उस की पसलियों में से एक पसली निकाली·····और ईश्वर ने आदम की उस पसली से एक नारी बनाई और उसे आदम के पास लाया।

(तौरेत २। २१-२२)

(ग) आदम तू और तेरी जोरू बहिश्त में रह कर आनन्द में जहां चाहो खाओ। (कुरान १। १। २। ३३)

अच्छा! तो अब ब्रह्मा के वामाङ्ग से जो स्त्री उत्पन्न हुई थी, उसी का नाम सरस्वती या वाक् है। जन्यजनक भाव की दृष्टि से इन दोनों को पिता पुत्री भी कहा जासकता है, परन्तु वास्तव में ये दोनों पति पत्नी रूप से सृष्टि के उत्पादक हैं यदि मुसलमान और ईसाई उक्त कथा पर आक्षेप करने का साहस करें तो पूर्व उनको भी तो यह विचार लेना होगा कि आदम की पसली से पैदा होने वाली औरत भी तो उसकी पुत्री ही कही जासकती है सो उक्त आदम और हव्वा के परस्पर मैथुन से सब आदमी पैदा हुवे हैं अतः वे सभी पिता पुत्री के संयोग से पैदा हुवे ठहरेंगे।

यदि दयानन्दी लोग यही आक्षेप करें तो उन को भी यह सोचना होगा कि एक ही निराकार से आदि सृष्टि के समय जो जीवों के जोड़े उत्पन्न हुवे थे, वे सब एक पिता से पैदा होने के कारण परस्पर भाई बहिन मानने चाहियें, आगे चल कर जब वे मैथुन धर्म्म में प्रवृत्त होकर इस समस्त मनुष्य समाज के उत्पादक हुवे तो निस्सन्देह सब आर्य्य समाजी भाई बहिन के संयोग से उत्पन्न हुवे प्राणी मानने पड़ेंगे- कदाचित् मुसलमान ईसाई और दयानन्दी आदि इस आपत्ति से बचने के लिये कहने लगें कि 'बेशक हव्वा आदमकी पसली से बनी है, परन्तु हम उसे उसकी पुत्री मानने को तैयार नहीं, यदि अङ्ग से उत्पन्न होने के कारण हव्वा को आदम की लड़की ठहराया जासकता है, तब तो मनुष्यके रुधिर और पसीने से-जूं, लीख, खटमल आदि अनेक तरह के जीव पैदा होते हैं वे सब भी उसकी सन्तान होनी चाहिये, तथा उनका भी दूसरी सन्तानों की तरह पैतृकसम्पत्ति (Paternal Property) में हिस्सा होना चाहिये! क्या कोई बुद्धिमान् इस प्रकार के उपहास को पसन्द करेगा? इसी प्रकार दयानन्दी जवाब दें कि निःसन्देह आदि सृष्टि के समय एक ही निराकार बाबा की बदौलत जीवों के जोड़े टपक पड़े थे, तथापि हम उन्हें परस्पर भाई बहिन मानने को प्रस्तुत नहीं— पिता पुत्र और बहिन भाई का सम्बन्ध तो मैथुनी सृष्टि में ही लागू होना चाहिये,। हमारी धर्म्मपत्नी, जो आर्य्याभिविनय का पाठ करती हुई परमात्मा को बार बार 'हे परमपिता परमात्मन्!' ऐसा संबोधित करती हैं और हम भी इसी

तरह परमात्मा को पिता २ कहते हैं क्या इस से हम दोनों एक पिता की सन्तान बन सकते हैं ?।

यदि उक्त सम्प्रदायों की ओर से दिये गए उपर्युक्त उत्तर ठीक हैं तो फिर कोई भी बुद्धिमान् सरस्वती को भी ब्रह्मा की तादृश पुत्री कह सकने का साहस नहीं कर सकता ! क्यों कि किसी भी वेद या पुराण में ऐसा लेख नहीं मिलता कि 'ब्रह्मा जी ने अपनी अमुक धर्म्मपत्नी के साथ मैथुन करके सरस्वती नामक कन्या को उत्पन्न किया था' बल्कि सर्वत्र यही वर्णन आता है कि जैसे आदम की पसली से हव्वा बनी, और निराकार से धड़ाधड़ जोड़े निकल पड़े, इसी तरह ब्रह्मा की इच्छा से उसका अपना ही वाम भाग स्त्री रूप में परिणत होगया जिसे सरस्वती नाम से पुकारा जाता है।

यदि कोई प्रश्न करे कि (१) जब वह वस्तुतः पुत्री है ही नहीं तब उसे वेदों और पुराणों में पुत्री नाम से क्यों स्मरण किया ? तथा (२) मरीचि आदि महर्षियों को ब्रह्मा जी के इस कार्य्य में अधर्म्म की गन्ध क्यों आई ? एवं (३) ब्रह्मा जी ने अन्त में प्रायश्चित्तस्वरूप अपना शरीर क्यों छोड़ा ? इन तीनों प्रश्नों का उत्तर यह है कि—

(१) सनातन धर्म्म अकेले ब्रह्म को ही सब कुछ मानता है, अतः इस संसार को भी वह ब्रह्म का विवर्तमात्र समझता है जैसा कि 'हरिरेव जगद् जगदेव हरिर्हरितो जगतो नहि भिन्नतनूः' आदि वेदान्त स्तोत्रों में प्रकट किया गया है। ऐसी दशा में परमात्मा संसार का 'अभिन्ननिमित्तोपादान कारण' ठहरता है सो यही रहस्य प्रकट करने के लिये उक्त कथा में सरस्वती का ब्रह्मा से उत्पन्न होना लिखा है, फिर उसी के संसर्ग से आगे सृष्टि का क्रम स्थिर किया गया है। यही इसको पुत्रीरूप से वर्णन करने का तात्पर्य्य है।

(२) हमारे यहां प्रत्येक कार्य्य को, परमार्थ और व्यवहार दो दृष्टियों से परखने की शैली चली आती है, सो ब्रह्मा और सरस्वती का संयोग मरीचि आदि ऋषियों को व्यवहार दृष्टि से विपरीत सा जँचता था, क्यों कि वे 'यो यस्य उत्पादकः स तस्य पिता' इस व्याप्ति से सरस्वती को पुत्री ही मानना उचित समझते थे। परन्तु परमार्थ दृष्टि से विधिनिषेधात्मक विधान की सीमा मैथुनी स्थूल सृष्टि तक ही सीमित है, मानसिक दिव्य देहधारी सूक्ष्म जगत् को तादृश नियमों में जकड़ने की आवश्यकता नहीं, यही गूढ़तर धर्म्म रहस्य प्रकट करने के लिये श्री ब्रह्मा जी ने सरस्वती द्वारा समस्त प्राणियों को उत्पन्न किया। यही दूसरे प्रश्न का समाधान है।

(३) परमार्थ दृष्टि से ब्रह्मा जी का सरस्वती द्वारा सृष्टि उत्पन्न करना यद्यपि दोषास्पद नहीं था, तथापि मैथुनी और अमैथुनी सृष्टि के विभिन्न धर्म्मों का गूढतारतम्य न समझकर कदाचित् कोई स्थूल शरीरधारी पुरुष भी आगे ऐसे व्यवाय में प्रवृत्त होने के लिये ब्रह्मा जी के दृष्टान्त का अनुकरण न करने लगे, अतः लोकमर्य्यादा की रक्षार्थ श्री ब्रह्माजी ने मैथुनी सृष्टि का आरम्भ होजाने पर अपने उस दो भागों में विभक्त होने वाले शरीर का त्याग कर डाला। इसका यह तात्पर्य्य हुवा कि मरीचि आदि ऋषियों की व्यवहार दृष्टि में अधर्म्म जंचने वाले कार्य्य का जो प्रायश्चित्त हो सकता था ब्रह्मा जी ने वह कर डाला, इससे भावी पुरुषों को ऐसी प्रवृत्ति से रोकने के लिये यह प्राण त्याग की अर्गला लगगई।

सो आधिदैविक-पक्ष पर आक्षेप करने वाले महाशयों को यह समझना चाहिये कि—ब्रह्मा के मनसे उत्पन्न हुई सरस्वती केवल उत्पत्ति के कारण गौण रूप से पुत्री पुकारी जा सकती है, वास्तव में उससे पुत्री का नाता नहीं है। पीछे दौड़ना या भोग करना उसी अंश तक पाप होसकता है, जहां तक कि स्थूल शरीर का सम्बन्ध है। यहां तो दिव्य चरित्र है, निरुक्तादि के अनुसार 'देवता जैसा रूप चाहते हैं, वैसे ही बन जाते हैं'। पिता, माता, पुत्र, पुत्री, साला और भैनोई आदि संबंध भी स्थूल पांच भौतिक शरीर पर ही लागू होते हैं, आत्मा तो इन सब संबंधों से बरी है और देवता आत्मस्वरूप होते हैं। जैसा कि वेद पुराणसमन्वयाध्याय के देवतावाद प्रघट्ट में विस्तार से समझाया गया है, अतः यहां धर्म्माधर्म्म का विवेक दिव्य अदिव्य के विचार से ही करना न्याय है, यदि हठात् दिव्य देहधारियों को भी स्थूल शरीर धारियों के नियमों से जकड़ने का प्रयत्न किया जायगा तो महान् अनर्थ उपस्थित होगा। क्योंकि सृष्टि के आदि में पहिले पहिल जो भी स्त्री पुरुष उत्पन्न हुवे वह किसी एक ही व्यक्ति के पुत्र पुत्री मानने पड़ेंगे! फिर उनका परस्पर सबंध भाई बहिन का सबंध ही होगा। यह आपत्ति सभी मतमतान्तर वादियों के मत में उपस्थित होगी। और इसका यह फल होगा कि सारा संसार ही बहिन भाई के संयोग से उत्पन्न हुवा सिद्ध होजायगा। इस लिये मानसी अयोनिज सृष्टि में नाममात्र का अमुक सम्बन्ध रहने पर भी वह लोक व्यवहार में बाधक नहीं होता, यही शास्त्रसम्मत सिद्धान्त है। अतः ब्रह्मा का सरस्वती के पीछे भागना इसी दृष्टि से पढना चाहिये, फिर शंका उत्पन्न होने का कोई अवसर न रहेगा।

हमने तीनों अर्थ प्रगट कर दिये हैं, हमारी दृष्टि में तीनों ही यथार्थ हैं, रुचि भेद से जिसे जो पसन्द हो वह उसे ही ग्रहण कर सकता है, परन्तु अश्लीलता की दुहाई देकर किसी वैदिक भाव को पददलित करना कोरी नास्तिकता है, जिसे हम हिन्दू धर्म्म और हिन्दू जाति के लिये विघातक समझते हैं।

ब्रह्मा और वालखिल्य

ब्रह्मा जी के चरित्र पर कलि-कल्मष-कलुषित-हृदय-धारी, पुरुषों की ओर से दूसरा आक्षेप यह किया जाया करता है कि पुराणों में लिखा है—'जब महादेव और पार्वती का विवाह संस्कार होने लगा तो संस्कार कराने वाले ब्रह्मा जी ने पार्वती का रूप लावण्य देखने की उत्कट इच्छा से गीली समिधाएं जलाकर धुंवाधार कर डाला, ज्योंही सब लोग धुंवें से बचने के लिये अपने २ मुख ढांपने लगे त्योंही ब्रह्मा जी ने झटपट घूंघट उठा कर पार्वती जी का मुख देख लिया। मुख के दर्शन करते ही तत्काल उनका वीर्य्यपात होगया, जिसे छुपाने के अभिप्राय से ब्रह्मा जी ने वह वीर्य्य अग्नि में स्वाहा कर दिया और उससे बालखिल्य नामक साठ हजार ऋषि उत्पन्न हुवे'। यह वर्णन अतीव अश्लील और असम्भव है, तथा सभ्य समाज के सामने कहने सुनने के अयोग्य है—इत्यादि।

हम इस कथा का समाधान लिखने से पूर्व यह कह देना आवश्यक समझते हैं कि हमने कई शास्त्रार्थों में दयानन्दी समाज की ओर से उपर्युक्त आक्षेप किये जाने पर इस कथा का पूरा पता पूछा, परन्तु एकबार भी किसी महाशय ने कुछ न बताया। 'पुराण-मत-पर्य्यालोचन', 'पुराण-तत्व-प्रकाश' आदि पुस्तकों में भी मूल श्लोक और पूरा पता ढूंढा मगर न मिला, हां! पुराण-तत्व प्रकाश के लेखक ने 'गौर्य्या विवाहे' इत्यादि एक श्लोक उतार कर उसे 'विष्णुपुराण धर्म्म संहिता अध्याय १०' का बताया है। पाठकवर्ग सारे विष्णु पुराण को पढ डालें, परन्तु उसमें 'धर्म्म संहिता' नामक प्रकरण का कहीं उल्लेख नहीं मिलेगा। विष्णु-पुराण का विभाजन अंशों में किया गया है, उसमें छः अंश हैं, और प्रत्येक अंश में अमुकसंख्याक अध्याय हैं। फिर मालूम नहीं ला० चिम्मनलाल के चौपट चौबारे में—यह धर्म्म संहिता वाला विष्णु पुराण निराकार बाबा ने कहां से दे भेजा है?

जो लोग पुराणों के हिन्दी अनुवादों को भी पढने की योग्यता नहीं रखते, और अमुकग्रन्थ को देखे विना ही अटकल पच्चू प्रमाण उतार कर अट्ट सट्ट पता छुपा डालते हैं वे न सिर्फ भोले भाले पाठकों से ही विश्वास-घात करते हैं, अपितु 'तां तु यस्तेनयेद् वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः' इस मनु (४। २२६) वचन के अनुसार अपनी आत्मा की भी वंचना करते हैं ईश्वर ऐसे पंडितंमन्य, पञ्चम-अन्यथा सिद्धों से हिन्दू साहित्य की रक्षा करे! आस्तां तावत्।

वैदिक स्वरूप-

(क) रुद्रो वै ज्येष्ठः श्रेष्ठश्च देवानाम् ।

(कौषीतकी २५ । १३)

(ख) स द्वितीयमैच्छत् । ततः पतिश्च पत्नीचाभवताम् ।

(शतपथ १४ । ३ । ४ । ४)

(ग) तं यत्र देवाः समस्कुर्वन् ।

(शतपथ ८ । ३ । ३ । १२)

(घ) ब्रह्मा वा ऋत्विजाम् अभिषिक्ततमः ।

(शतपथ १ । ७ । ४ । १६)

(ङ) स प्रजापतिर्व्यस्रंसत ।

(शतपथ ८ । २ । २ । ६)

(च) ते देवा अब्रुवन् मेदं प्रजापते रेतो दुषदिति यदब्रुवन् मेदं प्रजापते रेतो दुषदिति तन्मादुषमभवत्, तन्मादुषस्य मादुषत्वं मादुषं ह वै नामैतत् यन्मानुषम् । तन्मादुषं सन् मानुषमित्याचक्षते परोक्षेण ।

(ऐतरेय ३ । ३३)

(छ) अस्माद् वीर्य्यमुदक्रामत् । तं देवा अग्नौ प्राबृंजन् ।

(शतपथ ७ । १ । २ । १-६)

(ज) यद्वा उर्वरयोरसंभिन्नं भवति खिलमिति वै तदाचक्षते । बालमात्रा उ हेमे प्राणा असंभिन्नास्तद्यदसंभिन्नास्तस्माद् बालखिल्याः ।

(कौषीतकी ३० । ८)

(झ) प्राणा वै बालखिल्याः प्राणानेवैतदुपदधाति । ता यद् बालखिल्या नाम ।

(शतपथ ८ । ३ । ४ । १)

अर्थात्— (क) रुद्रभगवान् देवताओं में बड़े और श्रेष्ठ हैं । (ख) उसने दूसरे को चाहा, तब पति और पत्नी होने लगे । (ग) जहां सब देवता शिव का [विवाह] संस्कार करते हुवे (घ) ब्रह्माजी सब ऋत्विजों के प्रधान नियत हुवे (ङ) वह

प्रजापति ब्रह्मा स्खलित होगए (च) देवताओं ने कहा 'प्रजापति का यह रेत (वीर्य्य) दुषत=(दूषित-दुष्ट किंवा हेय) मत हो'— सो जो 'मत दुषत्' हो ऐसा कहा इसी से 'मादुष' शब्द की प्रवृत्ति होगई। यही 'मादुष' शब्द का निर्वचन है। और इस मादुष से ही [मनुष्य शब्द का पर्य्याय] मानुष शब्द बना है। क्योंकि परोक्ष रीति से मादुष को ही मानुष कहा जाता है [अर्थात्—ब्रह्मा का वह स्खलित तेजः 'मादुष' (मतदुष्ट) कहा जाने के कारण 'मानुष' शब्द का प्रवर्तक हुवा। (छ) इस ब्रह्मा का जो वीर्य्य निकला था देवताओं ने उसे आग में डाल दिया (ज) सो जो पदार्थ अणु-मात्र भी नहीं भिन्न हो उसे 'खिल' कहते हैं। ये प्राण बालमात्र से अभिन्न हैं इस लिये असंभिन्न होने के कारण इन्हें बालखिल्य कहते हैं, (झ) प्राणों को बालखिल्य कहते हैं, जो कि यज्ञ में इस नाम वाली इष्टिकाएं उपधान का जाती हैं वे प्राणों की ही प्रतिनिधि समझनी चाहियें।

पौराणिक स्वरूप—

(क) गौर्य्या विवाहे तत्पादौ, दृष्ट्वा प्रस्खलितोऽभवत्।
यत्र ते बालखिल्यास्तु जाताः सद्ब्रह्मचारिणः॥

(शिवपुराण, धर्म्मसं ६। ७४)

(ख) प्रदक्षिणं तथा चाग्नेश्चतुर्थी च कृतं तदा।
ब्रह्मणः स्खलनं जातं शिवाङ्गुष्ठप्रदर्शनात्॥
तद्गोपितं तदा तेन ह्युत्सङ्गे पतितं च यत्।
ततोजातास्त्वसंख्याता बटुका ब्रह्मसूत्रकाः॥
जटादण्डधरास्तेच बद्धकक्षा सहस्रशः।
नमस्कृत्य च ब्रह्माणं स्थितास्ते तु तदाग्रतः॥
शिवोऽपि बटुकान्दृष्ट्वा ब्रह्मणे कुपितस्तदा।
संप्रार्थितस्तदा देवीं गंगां दत्वा च पावितः॥
अनुगृह्य पुनस्तत्र स्थापितश्च पितामहः।
बटुकान्सूर्य्यशिष्यांश्च कृत्वा कार्य्यमथाकरोत्॥
बटुका वर्द्धितास्तत्र सूर्य्यसेवापरायणाः।
रथपृष्ठे रथाग्रेच धावन्ति ते तपस्विनः॥

ब्रह्मचारिस्वरूपेण स्थितास्ते वेदपारगाः ।
अवशिष्टं तु यत्कृत्यं कारयामास वै तदा ॥

(शिवपुराण, ज्ञानसंहिता १८ । ६८-६८

अर्थात्— (क) गौरी के विवाह में ब्रह्माजी प्रस्खलित होगए जिसमें प्रसि वालखिल्य नामक ब्रह्मचारी उत्पन्न हुवे । (ख) जिस समय अग्नि की चार प्रदक्षिण की जाने लगीं उस समय पार्वती के अंगूठे को देख कर ब्रह्माजी स्खलित होगए। औ गोद में पड़े हुवे तेज को ब्रह्मा जी ने छुपाया, जिससे यज्ञोपवीत एवं जटादण्डधा असंख्य ब्रह्मचारी पैदा हुवे। वे ब्रह्माजी को नमस्कार करके आगे खड़े हुवे । शि भगवान् उन वटुकों को देख कर ब्रह्माजी पर क्रुद्ध हुवे, अनन्तर प्रार्थना करने पर शिव ने सन्तुष्ट हो ब्रह्माजी को गंगोदक देकर पवित्र किया। और अनुग्रहपूर्वक फि विवाह यज्ञ में उसी ब्रह्म पद पर नियत किया; तथा उन वटुकों को भी सूर्य्य भगवान् व शिष्यता में समर्पण कर दिया। सूर्य्य की सेवा करते हुवे वे वटुक बड़े होगए औ तपस्वी एवं वेदों के पारंगत होकर ब्रह्मचारिस्वरूप में सूर्य रथ के आगे पीछे भागते हैं इस समस्त व्यवस्था के बाद विवाह का अवशिष्ट कर्म्म सम्पादन किया गया।

तुलना—

उपर्य्युक्त आख्यायिका के वैदिक और पौराणिक स्वरूप की शाब्दिक तुल करने पर प्रत्येक संस्कृतज्ञ सहज में ही इस परिणाम पर पहुंचेगा कि श्री वेदव्यास ने उक्त कथा में जो २ भाव व्यक्त किये हैं वे सब के सब वेदों में स्पष्टतया उपलब्ध हो हैं,। उक्त दोनों स्वरूपों में यदि कुछ अन्तर है तो केवल यह है कि जहां वेदों में— ब्र के स्खलित हुवे वीर्य्य को समस्त देवताओं द्वारा डंके की चोट पवित्र घोषित कर हुवे उसे अग्नि में स्वाहा कर डालना बेरोक टोक लिख दिया गया है, वहां शिवपुर में उक्त भावों को अत्यधिक शिष्ट सम्मत बनाने के लिये इस समस्त प्रसङ्ग में वीर्य रेतः आदि शब्दों के भी समावेश से परहेज किया गया है, तथा अंगूठामात्र दी पड़ना ही व्यक्त किया है। इतने पर भी स्खलन का छुपाना और गंगोदक के संस्प से पवित्र होने की आवश्यकता प्रकट करना— लोक-मर्य्यादा की सुरक्षा की परा का है, जो वेदव्यासजी ने अपनी लोकोत्तर कविता चातुरी से वेदोक्त भावों को अभिव्य करते हुवे भी तथैव अक्षुण्ण रहने दी है। अस्तु यह तो हुई शाब्दिक तुलना की ब अब इसका वास्तविक तात्पर्य्य भी समझिये।

वास्तविक-भाव

ब्रह्म-माया अथवा पुरुष-प्रकृति यहां शिव और गौरी समझने चाहियें, इनका विवाह=ऐक्य=मिथुनीभाव सृष्टिरचना का उपलक्षण है, और इस रचना कार्य्य का सूत्रधार सूर्य्य भगवान् ही यहां ब्रह्मा समझना चाहिये, वेदों में सूर्य्य भगवान् को सृष्टि कार्य्य का सर्वस्व माना है यथा—

(क) सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ।

(यजुः ७ । ४२)

(ख) प्रजापतिः सविता भूत्वा प्रजा असृजत ।

(तैत्तिरीय १ । ६ । ४ । १)

अर्थात्- (क) सूर्य्य जंगम और स्थावर जगत् का आत्मा है (ख) प्रजापति ने सूर्य्य बन कर प्रजा की रचना की ।

सो सृष्टि के आरम्भ में जब पुरुष और प्रकृति का मिथुनीभाव सम्पन्न होने लगा उस समय 'पद्भ्यां भूमिः' (यजु ३१ । १३) के अनुसार प्रकृति की चरणस्थानीया भूमिको देखकर सूर्य्य रूप ब्रह्माका तेजः छिटक पड़ा और वही तेजः अनेक दिव्य शक्तियों के तारतम्य से घनीभूत आग्नेय वाष्प में व्याप्त होगया, जो अभी तक भी प्रकाशक सूर्य्य रश्मियों द्वारा जीवमात्र को प्राणप्रद (Oxygen) के रूप में परिणत होकर प्राणित करता है । यही वालखिल्यों की उत्पत्ति का तात्पर्य्य है ।

वर्तमान साइन्स (Modern Science) प्राणों का आधार एकमात्र प्राणप्रद वायु को प्रकट करता है और इस आक्सिजन का दारोमदार केवल सूर्य्य रश्मियों पर अवलम्बित है इसी लिये वेदों और पुराणों दोनों में भी प्राणों अथवा बालखिल्यों का सूर्य्य के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध प्रकट किया गया है । यथा—

उद्यन्नु खलु वा आदित्यः सर्वाणि भूतानि प्राणयति तस्मादेनं प्राण इत्याचक्षते । (ऐतरेय ५ । ३१)

अर्थात्—उदित होता हुवा सूर्य्य समस्त प्राणियों को प्राणदान देता है इसलिये सूर्य्य को 'प्राण' कहते हैं ।

शतपथ ब्राह्मण में वर्णन आता है कि यज्ञमें वालखिल्य नामक जिन इष्टिकाओं का उपधान किया जाता है वे सब प्राणों की ही प्रतिनिधिभूत प्रतिमाएं हैं ।

प्राणविज्ञान का निरूपण करना ही इस आख्यायिका का मुख्य तात्पर्य्य है । सो संक्षेप से यहां प्रकट कर दिया गया है । कदाचित् शंकावादी महाशय शिव गौरी ब्रह्मा और बालखिल्य आदि को कर्म्म-फल-जन्य-स्थूल-शरीर-धारी, मादृश पुरुष

मानने का दुराग्रह करें तब भी इस वेदोक्त गाथा पर कुछ आक्षेप नहीं आसकता क्यों कि पूर्व समय में पूर्वाफाल्गुणी और पुष्य इन दोनों नक्षत्रों को भी कई एक ऋषियों के मत से वैवाहिक नक्षत्रों में गिना जाता था परन्तु प्रत्यक्ष में उक्त नक्षत्रों में विवाहे जाने वाले दम्पती की हानि दीख पड़ती थी यथा पूर्वाफाल्गुणी में विवाह होने के कारण भगवान् रामचन्द्र जी और सीता जी को प्रायः आयुभर वियुक्त सा रहना पड़ा, और अन्यान्य राजाओं की भांति पूर्णतया गार्हस्थ्य का सुख नहीं मिल सका, अतः यह नक्षत्रवियोजक समझा गया। इसी प्रकार श्री ब्रह्मा जी का सरस्वती के साथ पुष्य नक्षत्र में विवाह हुवा था, जिसका फल अत्यन्त कामवृद्धि हुवा और इस फल को लोकसंग्रह के लिये प्रत्यक्ष दिखा देने के लिये समस्त देवताओं की भरी पंचायत में ब्रह्मा जी ने उपर्युक्त नाटक रचा, जिस तरह नाटक के पात्र अनेक प्रकार के स्वांग रचकर जनता को 'रामादिवत् प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्' का उपदेश दिया करते हैं इसी तरह श्रीब्रह्मा जी ने भी सृष्टि के भावी मनुष्यों को पुष्यनक्षत्र में विवाह करने का परिणाम कामवृद्धि दिखाने के लिये यह स्वांग रचा, और इस नक्षत्र को शाप दे डाला, उस दिन से ये दोनों नक्षत्र वैवाहिक नक्षत्रों की तालिका से बहिष्कृत समझे जाने लगे, इस तरह उक्त लीला से संसार का महान् उपकार हुवा, इस घटना का उल्लेख ज्योतिष के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'विवाहवृन्दावन' में आता है यथाः—

प्राचेतसः प्राहुः शुभं भगर्क्षं सीता तदूढा न सुखं शिषेवे।
पुष्यस्तु पुष्यत्यतिकाममेव प्रजापतेराप स शापमस्मात्॥

अर्थात्—प्राचेतस ऋषि पूर्वाफाल्गुणी नक्षत्र को विवाह में शुभ मानते थे, किन्तु इस नक्षत्र में विवाही गई सीता जी को आयुभर सुख नहीं मिला। और ब्रह्मा जी ने कामवर्द्धक पुष्य नक्षत्र में विवाह किया था जिसका कुपरिणाम दिखा कर इसे शाप देदिया [इस तरह यह दोनों नक्षत्र विवाह में मनहूस साबित हुवे और आस्तिक संसार ने इनमें विवाह करना छोड़ दिया]

इतने पर भी यदि प्रतिवादी को वीर्य्यपात की बात पर जात दिखाने का चाव हो तो उसे यह समझ लेना चाहिये कि यह वही वीर्य्य है कि जिसे अढाई लाख दयानन्दी प्रातः सायं इकट्ठे होकर 'आर्य्याभिविनय' का पाठ करते हुवे निराकार बाबा से

'वीर्य्यमसि वीर्य्यं मयि धेहि।
(यजुः १९। ९)

अर्थात्—हे ईश्वर! तू वीर्य्य है मुझे वीर्य्य दे। इत्यादि मन्त्र बोलकर मांगा करते हैं।

असुरों का ब्रह्मा से बलात्कार

कई निरे निठल्ले ब्रह्मा के चरित्र पर तीसरा आक्षेप यह भी किया करते हैं कि—ब्रह्मा ने असुरों को बनाया, असुर लोग ब्रह्मा का रूप देखकर मोहित होगये और अपनी पाप वासना मिटाने के लिये ब्रह्मा के ऊपर चढगये तथा ..... करना आरंभ किया तत्पश्चात् ब्रह्मा भाग कर विष्णु की शरण में गया और विष्णु जी के कहने से उस अशुद्ध शरीर को छोड़ दिया। यह लीला अत्यन्त अश्लील है। तथा ब्रह्मा की निर्बलता द्योतक है।

वैदिक स्वरूप

(क) स (प्रजापतिः) जघनादसुरानसृजत्।

(तैत्तिरीय २। २। ६। ७)

(ख) ते पितरमेत्याब्रुवन् रेतो वा असिंचामहै। ... तान् प्राजापत्या अप्सरोरूपं कृत्वा पुरस्तात्प्रत्युदैत्। तस्यामेषां मनः समपतत्।

(कौषीतकी ६। १)

(ग) अथ संध्यायां यदपः प्रयुंक्ते ता विप्रुषो वज्रीभूत्वा असुरानपाघ्नन्ति।

(षड्विंश ४। ५)

अर्थात्— (क) उस प्रजापति ने अपने जघन भाग से असुरों को उत्पन्न किया। (ख) वे अपने पिता के पास आकर बोले कि हम वीर्य्य सींचेंगे। उनके आगे प्रजापति की देह अप्सरा का रूप बना कर उदित होगई, उसमें असुरों का मनः गिर गया। (ग) इस लिये संध्योपासना करते हुवे जो जल सूर्य्य को अर्घ दिया जाता है वे जल के कण वज्र बनकर उन असुरों को नष्ट कर देते हैं।

पौराणिक स्वरूप

देवोऽदेवाञ्जघनतः सृजति स्मातिलोलुपान्।
त एनं लोलुपतया मैथुनायाभिपेदिरे॥

ततो हसन्स भगवानसुरैर्निरपत्रपैः ।
अन्वीयमानस्तरसा क्रुद्धो भीतः परापतत् ॥
स उपव्रज्य वरदं प्रपन्नार्तिहरं हरिम् ।
अनुग्रहाय भक्तानामनुरूपात्मदर्शनम् ॥
पाहि मां परमात्मंस्ते प्रेषणेनासृजं प्रजाः ।
ता इमा यभितुं पापा उपाक्रामन्ति मां प्रभो! ॥
सोऽवधार्य्यास्य कार्पण्यं विविक्ताभ्यात्मदर्शनः ।
विमुञ्चात्मतनुं घोराभित्युक्तो विमुमोच ह ॥
तां कणचरणाम्भोजां मदविह्वललोचनाम् ।
उपलभ्यासुरा धर्म्म ! सर्वे संमुमुहुः स्त्रियम् ॥
इति सायंतनीं संध्यामसुराः प्रमदायतीम् ।
प्रलोभयन्तीं जगृहु र्मत्वा मूढधियः स्त्रियम् ॥

(श्रीमद्भागवत ३ । २० । २३-३७)

अर्थात्— ब्रह्माजी ने अपने जघन भाग से अतीव लोलुप असुरों को उत्पन्न किया, वे लौल्य के कारण उसे ही ग्राम्यधर्म्म के लिये चाहने लगे। निर्लज्ज असुरों ने घृणापूर्वक हंसते हुवे ब्रह्मा जी का पीछा किया, और ब्रह्माजी वेग क्रोध एवं भय से गिर पड़े। तब भक्तों की पीड़ा को हरण करने वाले श्री विष्णु भगवान् की शरण में जाकर ब्रह्माजी ने प्रार्थना की कि हे भगवन्! आपकी आज्ञा से मैं प्रजा रच रहा हूँ परन्तु ये पापिष्ठ असुर मेरा पीछा करते हैं अतः आप रक्षा कीजिये। तब भगवान् का इशारा पाकर ब्रह्माजी ने अपना वह कलेवर तत्काल छोड़ दिया। जो अनेक वस्त्र और भूषणों से सुसज्जित स्त्री के रूप में असुरों के सामने दीख पड़ने लगा। और वे असुर उसके रूप लावण्य पर लट्टू होगये। इस प्रकार मूढ बुद्धि वाले असुरों ने सायंकाल की संध्या को मदभरी औरत के समान प्रलोभन करती हुई देख कर उसे अपना लिया।

वास्तविक-भाव

उपर्युक्त आख्यायिका के वैदिक और पौराणिक स्वरूपों की आकारिक समता

सुस्पष्ट है, अतः कुछ अधिक लिखना व्यर्थ है। इस कथा में 'अन्धकार-विज्ञान' के निरूपण के साथ साथ आसुरी वृत्ति का सच्चा चित्र खींचते हुवे असुरों की अपने दादा ब्रह्मा जी के साथ जो अत्यन्त निन्दनीय चेष्टा प्रकट की है, न जाने उससे यार लोगों को ब्रह्मा जी के महत्व पर क्या आशंका होगई है ? यदि कोई नालायक छोकरा अपने बूढे दादा का अपमान करने पर तुल जाए तो इससे शास्त्र और संसार की दृष्टि में बेटे की ही महानीचता व्यक्त होगी दादा की नहीं ?।

रहा आत्मरक्षा के लिये ब्रह्मा जी का विष्णु से फर्य्याद करना— सो यदि कोई गुण्डा किसी जज साहिब पर आक्रमण करे तो वह पुलिस में ही इसकी शिकायत करेगा, क्योंकि मुजरिम को हथकड़ियों में जकड़ना जज का काम नहीं बल्कि पुलिस इन्चार्ज का काम है। इस का यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि जो जज अपनी भी आत्मरक्षा नहीं कर सकता और दौड़ा २ पुलिस में इत्तिला देता है वह भला दूसरों की क़ानून से क्या रक्षा कर सकता है ?। इसी प्रकार जगत् की रक्षा का भार श्री विष्णु भगवान् पर निर्भर है। असुरों द्वारा किसी भी देवी देवता के सताए जाने पर उसकी शिकायत विष्णु भगवान् से ही की जानी चाहिये, इसमें निर्बलता या सबलता का सवाल नहीं, बल्कि अधिकार और प्रबन्ध व्यवस्था का आदर्श है। यह कतिपय पंक्तियें मनुष्य दृष्टि को सामने रख कर लिखी गई हैं, अब इसका वास्तविक भाव समझना चाहिये।

ब्रह्मा रूप सूर्य्य के जघन=अधोभाग से अन्धकाररूप असुर गण की उत्पत्ति हुई है। जिस प्रकार सूर्य्य के आगे २ उषा का चलना बताया जाता है इसी प्रकार सूर्य्य के पीछे २ अन्धकार चलता है।

अर्थात्— जिस २ प्रदेश में सूर्य्य अस्ताचल को लांघता जाता है वहीं २ अंधकार का साम्राज्य छा जाता है। यही असुरों का ब्रह्मा जी के पीछे दौड़ने का तात्पर्य्य है। जब विष्णुरूप नियामक शक्ति के तारतम्य से सूर्य्यरूप ब्रह्मा अपने अन्धकाराक्रान्त कलेवर को त्याग देता है तब वही सूर्य्य की उन्मुक्त रश्मियें लालिमा लावण्य से परिपूरित होकर सायं संध्या के रूप में प्रकट होजाती हैं और अन्धकार क्रमशः उस संध्या को आत्मसात् कर लेता है। यही इस कथा का आलंकारिक तात्पर्य्य है, जो इस कथा के उपसंहार में मूल में ही श्री वेदव्यास जी ने 'इति सायंतनीं संध्याम्' आदि श्लोक द्वारा प्रकट कर दिया है।

वृन्दा-विष्णु-समागम

पद्मपुराण (उत्तर खण्ड अध्याय २) वर्णित कार्तिक माहात्म्य में तथा देवी भागवत (६ । १६ वें, अध्याय से २५ वें अध्याय तक) में वृन्दा या तुलसी का भगवान् विष्णुद्वारा पातिव्रत धर्म्म भङ्ग किया जाना, और उसके पति जलन्धर या शङ्खचूड़ का मारा जाना लिखा है, कई महाशय उक्त कथा को भी आक्षेपरूप से पेश किया करते हैं, अतः हम विष्णुचरित्र की विशुद्धता प्रकट करने के लिये सर्वप्रथम इसी कथा पर विचार करना उचित समझते हैं।

इस विस्तृत आख्यान का संक्षिप्त सार यह है कि भगवान् श्रीकृष्ण के शिशु-लीलासखा सुदामा गोप ने शापवश दानवी योनि को प्राप्त होकर इस पृथ्वी पर जन्म लिया, जो जलंधर या शंखचूड़ नाम से विख्यात परम तेजस्वी दानव अपनी पतिव्रता स्त्री के सतीत्वप्रभाव से सर्वथा अजेय था। जब वह समस्त देवताओं के अधिकार छीन कर अनेक प्रकार के अत्याचार करने लगा। और देवाङ्गनाओं के पातिव्रत धर्म्मों को भी धूल में मिलाने पर तुल गया, एक दिन यह दुष्ट ऐसे ही दुर्भाव से महादेव जी का स्वांग भर कर जगज्जननी पार्वती के पास भी पहुँचा परन्तु वहां इसका छल कपट न चल सका, अन्त में देव-दानवों में महाघोर संग्राम ठन गया। देवताओं की रक्षा के लिये साक्षात् शिव भगवान् ने देवसेना का सेनापतित्व ग्रहण किया और एक लम्बे अर्से तक घमासान युद्ध होने पर भी वृन्दा के सतीत्व प्रभाव से वह दानव न मर सका, तब तो सब देवताओं ने आत्मरक्षा के लिये विष्णु भगवान् की शरण ली, और भगवान् ने संसार की समस्त स्त्रियों का पातिव्रत धर्म्म बचाने के लिये वृन्दा का सतीत्व भङ्ग करना ही अनिवार्य्य जान कर इस दुष्ट की आरम्भ की हुई पद्धति का अनुसरण करते हुवे जलंधर का रूप धारण करके वैसा किया, जिस से वह दुष्ट दानव मर गया, जब वृन्दा को यह भेद मालूम हुवा तो उसने विष्णु भगवान् को स्त्री वियुक्त एवं पाषाणमय होने का शाप दिया, और स्वयं चिता बना कर जल गई,। जन्मान्तर में वही वृन्दा पातिव्रत तथा विष्णुस्पर्शन के प्रभाव से तुलसी पौदे के रूप में प्रकट हुई और शालिग्राम रूप पाषाणभूत विष्णु भगवान् की अनन्यप्रिया समझी जाने लगी।

वैदिक-स्वरूप

(क) पाप्मा वै सपत्नः।

(शतपथ ८ । ५ । १ । ६)

(ख) स्त्रियं दृष्ट्वा यः कितवं ततापान्येषां जायां सुकृतं च योनिम्।
पूर्वाह्णे अश्वान्युयुजे हि वभ्रून्त्सो अग्नेरन्ते वृषलः पपाद।
(ऋग्वेद १० । ३४ । ११)

(ग) देवाश्च असुराश्च उभये प्राजापत्या अस्पर्धन्त, ते देवाः···
··· असुरानभ्यायन्।
(शतपथ ६ । ६ । २ । ११)

(घ) स (विष्णुः) देवानां श्रेष्ठोऽभवत्।
(शतपथ १४ । १ । १ । ५)

(ङ) नास्य जाया शतवाही कल्याणी तल्पमाशये।
यस्मिन् राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजाया चित्या॥
(अथर्व ५ । १८ । १२)

(च) अन्ये जायां परिमृशन्त्यस्य।
(ऋग्वेद १० । ३४ । ४)

(छ) आरादरातिं निर्ऋतिं परोग्राहिं क्रव्यादः पिशाचान्।
रक्षो यत्सर्वं दुर्भूतं तत्तम इवापहन्मसि।
(अथर्व ८ । २ । १२)

(क) 'पाप्मा' नाम वाला एक देवशत्रु था (ख) (यः) जो (कितवं) धूर्त=छल कपटकारी (पूर्वाह्णे हि) प्रातःकाल [उठते] ही (वभ्रून्) भूरे रङ्ग के (अश्वान्) घोड़ों को (युयुजे) रथ में जोत कर [जहां तहां जाता] और (अन्येषां) दूसरे पुरुषों की (सुकृतं च योनिं) वस्त्र भूषणादि अलंकारों से सजी हुई (जायां स्त्रियं) नौजवान धर्म्मपत्नियों को (दृष्ट्वा) देखकर [कामाग्नि से] (तताप) तपा करता था, (स) वह (वृषलः) [स्त्रियों के पातिव्रत-]=धर्म्म का नाशकरने वाला [असुर] (अन्ते) आखीर में (अग्नेः) इस काम रूप अग्नि के कारण (पपाद) पतित हो गया=मारा गया। (ग) देवता और असुर दोनों प्रजापति के पुत्र आपस में स्पर्धा करते थे, वे देवता [अत्याचारों की हद होजाने पर] असुरों पर टूट पड़े। (घ) वह विष्णु भगवान् देवताओं के मुखिया हुवे। (ङ) (यस्मिन् राष्ट्रे) जिस [असुर के] राज्य में (ब्रह्मजाया) ब्राह्मणों [उपलक्षण से] प्रजा जनों की धर्म्मपत्नियें (चित्या) [पातिव्रतभंग की] चिन्ता से (निरुध्यते) हर घड़ी घिरी रहती हैं (अस्य) इस

असुर की (शतवाही) [पातिव्रत के प्रताप से पति को अजेय, अछेद्य, अभेद्य, एवं दुराधर्ष बना सकने की] सैंकड़ों शक्तियों वाली (जाया) धर्म्म पत्नी= 'वृन्दा' किं वा 'तुलसी' (कल्याणी न) [हम देवताओं के लिये] कल्याण करने वाली नहीं है [अर्थात्-वृन्दा के पातिव्रत से यह अजर अमर है और इसके जीवित रहने से समस्त देवङ्गनाओं के पातिव्रत का भङ्ग होजाना स्वाभाविक है अतः] (तल्पमाशये) [इसकी] सेज पर सोना चाहिये (च) [जो संसार भर की स्त्रियों का धर्म्म भ्रष्ट करने पर तुला है इसी के मार्ग का अनुसरण करते हुवे] (अस्य) इस असुर की (जायां) स्त्री वृन्दा का (अन्ये) दूसरे भी (परिमृशन्ति) स्पर्श करते हैं। (छ) [इस लिये] (परोग्राहिं) दूसरों की स्त्रियों को ग्रहण करने वाले, (क्रव्यादं पिशाचं) कच्चा मांस और रुधिर खाने वाले (यत्सर्वं दुर्भूतं तत्) जो कुछ संसार में बुराइयें हो सकती हैं वे सब जिस एक में मौजूद हों ऐसे इस (निर्ऋतिं) महापापी (रक्षो अरातिं) राक्षस शत्रु को (तम इव) अन्धकार की तरह (आराद् हन्मसि) हर तरह से मार डालूंगा।

पौराणिक स्वरूप-

(क) सुदामा नाम गोपश्च श्रीकृष्णांशसमुद्भवः।
सांप्रतं राधिकाशापादनुवंशसमुद्भवः॥
शंखचूड़ेति विख्यातस्त्रैलोक्ये नच तत्समः।

(देवीभागवत ६। १७। २८-३०)

(ख) कामतः स जगामाशु यत्र गौरी स्थिताऽभवत्।
दशदोर्दण्डपंचास्यस्त्रिनेत्रश्च जटाधरः॥
महावृषभमारूढः सर्वथा रुद्रसन्निभः।
आसुर्य्या मायया व्यास स बभूव जलंधरः॥
अथ रुद्रं समायान्तमालोक्य हरवल्लभा।
अभ्याययौ सखीमध्यात्तदर्शनपथेऽभवत्॥
यावद्ददर्श चार्वंगीं पार्वतीं दनुजेश्वरः।
तावत्स वीर्य्यं मुमुचे जडाङ्गश्चाभवत्तदा॥

(शिव पुराण युद्धखण्ड २२। ३७-४१)

(ग) सतीत्वहानि स्तत्पत्न्या यत्र काले भविष्यति ।
तत्रैव काले तन्मृत्युरिति दत्तो वरस्त्वया ॥

(देवीभागवत ६ । १६ । ६१)

(घ) शङ्खचूडस्य रूपेण जगाम तुलसीं प्रति ।

(देवीभागवत ६ । २३ । ११)

अर्थात्— (क) जो भगवान् कृष्ण के अंश से उत्पन्न होने वाला सुदामा नाम गोप था, वही समयान्तर में श्री राधा जी के शाप से दानव वंश में जन्म धारण करके 'शंखचूड़' नाम से विख्यात हुवा, यह अपने जमाने में तीन लोक में अद्वितीय वीर था। (ख) एक बार वह जलन्धर कामान्ध होकर जहां श्री पार्वती जी विराजमान थीं वहां पहुंचा। इसने माया से दश भुजाएं, पांच मुख, तीन नेत्र, मस्तक पर जटाजूट, आदि सब कुछ शंकर भगवान् के समान बनाये और बैल पर सवार होकर आसुरी माया से शिव महाराज के तुल्य बन गया। पार्वती जी दूर से इसे शिव भगवान् जान कर प्रत्युत्थान देने के लिये सखियों के बीच से खड़ी हुईं जब इस दानव-राज ने पार्वती के रूप लावण्य को देखा तो यह स्खलित, एवं शिथिल अङ्ग होगया। [पार्वती जी तत्काल अन्तर्धान होगईं और मिलने पर विष्णु भगवान् से परामर्श किया कि-] (ग) जब तक इस दुष्ट की धर्म्मपत्नी का सतीत्व नष्ट न होगा तब तक यह न मर सकेगा इस दानव को ऐसा वरदान मिला है। (घ) [सो विष्णु भगवान् संसार भर की स्त्रियों का सतीत्व बचाने के अभिप्राय से] शंखचूड़ का रूप बनाकर तुलसी के पास गये। इत्यादि।

यहां तक उपर्युक्त कथा के मुख्य २ भावों की वेदों से तुलना की गई है, प्रत्येक संस्कृतज्ञ ऊपर लिखे वैदिक और पौराणिक दोनों स्वरूपों का पाठमात्र कर लेने पर किंचिन्मात्र भी विभिन्नता अनुभव न करेगा, अब अवसर प्राप्त वास्तविक भाव प्रकट किया जाता है।

आधिभौतिक

'पद्म-पुराण' में इस आख्यायिका का जो कथानक (Plot) अङ्कित किया है वह भौतिक विज्ञान से सम्बन्ध रखता है, तुलसी नामक प्रसिद्ध औषधि त्रिदोषजन्म अनेक ज्वरों, एवं मलेरिया के कीटाणुओं (Germs) को समूल नष्ट कर डालती है, यह बात आज कल की नई खोज में भी सिद्ध होचुकी है, प्राचीन ऋषियों ने 'ऋतम्भरा' प्रज्ञा द्वारा इस रहस्य का साङ्गोपाङ्ग गवेषण किया था, इसी लिये हमारी

दैनन्दिनी दिनचर्य्या में तुलसी के सेवन का पर्य्याप्त उपयोग पाया जाता है, प्राचीन भारत में वह कोई आर्य्य घर न था, जिसमें कि तुलसी की वाटिका न लगी हो, इस लघु किन्तु अलौकिक पौदे की महती उपयोगिता जान कर ऋषि जनों ने इसे धार्मिक सिंहासन पर बिठलाकर सम्मानित किया था, अतएव यह पौदा ईश्वर भक्त धर्म्मात्माओं के निवास स्थान का परिचायक बन गया था। उस दिन हनुमान् जी ने राक्षसपुरी लंका में सीता को खोजते हुवे अचानक विभीषण के घर में गोस्वामी तुलसीदास जी के शब्दों में 'नव तुलसी के वृन्द बहु' देख कर ही एक अपरिचित व्यक्ति में विश्वास करके अपना हृदय निकाल कर आगे रख दिया था।

इस पौदे को यह सम्मान अन्धविश्वास के कारण मिलगया हो ऐसी बात भी नहीं है, वनस्पति विज्ञान के जगत्प्रसिद्ध आचार्य्य श्री जगदीशचन्द्रवसु महोदय ने तो अभी हाल में तुलसी के सम्बन्ध में अपनी खोज का वर्णन करते हुवे यहां तक कहा है कि 'तुलसी के संसर्ग से सुवासित वायु जहां तक घूमता है वहां तक मलेरिया आदि बीमारियों के घातक कीटाणु (Deadly Grems) विनाश होते चले जाते हैं, यदि इस पौदे को गरीब अनाथों से लेकर महामहिम महाराजाओं तक को समान रूप से आरोग्य प्रदान करने वाला ईश्वरीय औषधालय कह दिया जाए तो अतिशयोक्ति न होगी'— इत्यादि।

हमारे पूर्वजों ने भी इन्हीं सब लाभों को ध्यान में रखते हुवे ईश्वराधन, स्तोत्रपाठ, जप, तपः एवं समस्त धार्मिक कृत्यों को 'तुलसीवनसंश्रितः' (विष्णुसहस्रनाम) होकर करने का आदेश किया है। इसके सींचने से और परिक्रमा करने से अनेक लाभ बतलाए हैं,। तुलसीदल को दांतों से कुचलना, दांतों को शीघ्र गिरा देता है और नेत्रज्योति को भी हानि पहुंचाता है, अतएव सुवर्णकणों से अभिव्याप्तगण्डकीनदी के पाषाण (शालिग्राम) के जल से इसे संमिश्रित किया जाता है, और घिसे हुवे चन्दन आदि विशुद्ध काष्ठिक द्रव्यों के मेल से इसे पान किया जाता है, इस तरह यह अच्छिन्न दल विना किसी कष्ट के गले के नीचे उतर जाता है और अनुपान के संयोग से इसकी वैद्युती शक्ति सुरक्षित रहती है। धार्मिक परिभाषा में इसे 'चरणामृत' कहा जाता है, और इस के पीने से—

"अकालमृत्युहरणं सर्वव्याधिविनाशनम्"—

के अनुसार अकालमृत्यु की निवृत्ति और समस्त व्याधियों का विनाश माना जाता है।

तुलसी पौदे में यह महाशक्ति कहां से आई ? और शालिग्राम शिला का संसर्ग इसके साथ क्यों सम्बद्ध हुवा ?। इत्यादि जिज्ञासाओं की पूर्ति करने के लिये

श्री वेदव्यास जी ने वेदोक्त वनस्पति-विज्ञान के आधार पर उपर्य्युक्त विष्णु-वृन्दा आख्यान का विवेचन किया है, तद्यथा—

जल को धारण करने वाला बादल ही 'जलन्धर' है, और उस बादल में सर्वात्म-भाव से रहने वाली 'विद्युत्-शक्ति' ही वृन्दा है, साध्वी स्त्री का सर्वस्व जिस प्रकार उस का एक मात्र पति ही होता है, इसी प्रकार मेघान्तर्वर्ती विद्युत् का भी अनन्य आश्रय बादल ही है। वह मेघ क्षण २ में नए रूप बदल कर आकाश में विचरता है, और कई बार तो 'कुन्द-इन्दु-सम-धवल-देह-द्युति' बन कर एवं बीच २ में नीलकण्ठ सी छटा दिखाता हुवा,— 'भव, भव, विभव, पराभवकारिणी। विश्वविमोहिनी, स्ववश-विहारिणी'— प्रकृति रूप पार्वती देवी को भी विमुग्ध कर डालने को उद्यत होता है,। सूर्य्य चन्द्रादि ग्रह, नक्षत्र, तारे, सितारे, और सियारे ही देदीप्यमान देवता हैं जो अपनी २ कान्ति रूप कान्ताओं को इस घनघमण्ड के प्रतिरोध से मानो व्याकुलित सी देख पाते हैं। यह जलन्धर दैवीसम्पदा रूप प्राणिमात्र के जीवन-आधार, जलों को आत्मसात् करके मानो सबके जीवन को मुट्ठी में लेलेता है अत एव वे सब विचलित हो उठते हैं। परन्तु मेघान्तर्वर्ती विद्युत् की प्रवाह धारा जब तलक अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होती रहती है तब तलक वाष्पभूत जलसंघ का एक कण भी पृथ्वी पर नहीं टपक सकता, अत एव पार्वतीरूप प्रकृति के परामर्श से, व्यापनशील वायु-रूप विष्णु- तरलता से प्रवाहित होता हुवा मेघान्तवर्ती विद्युत् रूप वृन्दा का सर्वतो-भावेन संस्पर्शन करता है, बस इस वायु के संसर्ग से ज्योंही मेघान्तर्वर्ती विद्युत् में स्पन्दन क्रिया का संचर हुवा कि त्योंही वाष्पभूत जलसंघ सिमट २ कर कणशः पृथ्वी पर गिर जाता है।

हवा का प्रत्येक प्रवाह वर्षा का कारण होता हो सो बात नहीं है। वर्तमान विज्ञानवेत्ता (Scientist) भी उस खास प्रकार की मानसून (Monsoon) नामक हवा को ही वृष्टिकारक बताते हैं, सो उक्त रूपक में भी वायुरूप विष्णु जलन्धर का वेश बदल कर ही वृन्दा के निकट पहुंचता है तभी उसका पति विदीर्ण होकर पृथ्वी पर गिरता है। अर्थात्— वायु का स्वाभाविक रूप बरसात का कारक नहीं— यह भाव उक्त रूपक में बड़ी ही चातुरी से अभिव्यक्त किया है। अस्तु।

वही मेघान्तर्वर्ती विद्युत् शक्ति— [जिसे न्याय शास्त्र में—

भौमदिव्यौदर्य्याकरजभेदात्।

—के अनुसार 'दिव्य अग्नि' के नाम से स्मरण किया है,]— जल कणों से संमिश्रित होकर ' अद्भ्यःपृथ्वी, पृथ्वीभ्य ओषधयः। ' सिद्धान्त के मुताबिक तुलसी नामक

पोदे के रूप में उत्पन्न होती है अर्थात्— तुलसी के अन्दर जो अलौकिक शक्ति विद्यमान है वह परम्परा से मेघान्तर्वर्ती दिव्य अग्नि के प्रवाह से ही इस में आई है, । इसी गूढ़ रहस्य को अभिव्यक्त करने के लिये श्री वेदव्यास जी ने वृन्दा का सती होकर जन्मान्तर में तुलसी वृक्ष के रूप में उत्पन्न होना दिखलाया है। वृन्दा ने विष्णु भगवान् को जड़ीभूत होजाने का शाप दिया था, सो शालिग्राम शिला मानो व्यापक वायु का ही जड़ीभूत पिण्ड है, जैसे अग्नि के साथ वायु का स्वाभाविक सम्बन्ध है और वायु के झोंकों से अग्नि की अगण्य सी चिनगारी भी उत्तरोत्तर अभिवृद्ध होजाती है, इसी प्रकार तुलसीदल में जो परम्परागत दिव्य अग्नि है वह शालिग्राम शिला के संसर्ग से और भी अनन्तगुण होजाती है, यही इसका आशय है।

यद्यपि इस कथानक में पात्रों के नाम तक भी ऐसे चुने गए हैं कि जिनके कहने मात्र से उक्त रूप का ढांचा सहसा मन में बैठ जाता है, जैसे— असुर का नाम 'जलन्धर' होना ही अक्षरार्थ के अनुसार उसे मेघ सिद्ध करता है, और संघीभूत जलवृन्द की नियामक शक्ति को वृन्दा के अतिरिक्त और कुछ कहा ही क्या जा सकता है! तथापि किसी अन्यथासिद्ध को अप्रामाणिकता के पचड़े में पड़ने का अवसर न मिल सके, एतदर्थ यहां कुछ संकेत करना अनावश्यक न होगा— यथा—

(क) (प्रजापतिः) तं (पाप्मानं अवृश्चत्। यदवृश्चत्। तस्माद्वृष्टिः।
(तैत्तिरीय ३। १०। ६। १)

(ख) वृष्टिर्वै याज्या विद्युदेव। विद्युद्धीदं वृष्टिमन्नाद्यं संप्रयच्छति।
(ऐतरेय २। ४१)

(ग) अयं वै वर्षस्येष्टे योयं (वायुः) पवते।
(शतपथ १। ८। ३। १२)

(घ) तस्माद्यां दिशं वायुरेति तां दिशं वृष्टिरन्वेति।
(शतपथ ८। २। ३। ५)

अर्थात्— (क) प्रजापालक विष्णु भगवान् ने उस 'पाप्मा' नामक असुर को छेदन कर डाला, क्यों कि उसका वश्चन (छेदन) किया गया था अत एव इस क्रिया को वृष्टि कहते हैं (ख) यजन योग्य विद्युत् ही वस्तुतः वृष्टि है क्योंकि यह विद्युत् ही वर्षा और अन्नादि पदार्थों के देने वाली है। (ग) यह जो वायु स्पन्दन करता है यही वर्षा क्रिया का आधायक है। (घ) इस लिये जिस तरफ को वायु बहता है उसी तरफ पीछे २ वृष्टि जाती है।

इस प्रकार तुलसी विटप के अलौकिक चमत्कार का परोक्षपद्धति से निर्देश करने वाला यह कथानक, 'पौराणिक-वनस्पति-विज्ञान' का ज्वलन्त उदाहरण है। जिसका हम आधिभौतिक निरूपण करने के बाद अब आधिदैविक विवेचन करते हैं।

आधिदैविक-

वैकुण्ठाधिपति विष्णु भगवान् ने संसार की समस्त स्त्रियों का सतीत्व बचाने के लिये ही वृन्दा का पातिव्रत भङ्ग किया है, यह हम कई बार लिख आए हैं, कई महाशयों को इस चरित्र में पापाचार की पर्य्याप्त मात्रा दीख पड़ा करती है, उनकी शङ्काओं का सार यह है कि—

(१) विष्णु ने छल से एक साध्वी स्त्री का सतीत्व नष्ट किया अतः वे कपटी, परस्त्रीगामी=व्यभिचारी, एवं महापापी ठहरते हैं।

(२) जिसे एक दानव स्त्री का शाप भुगतना पड़ा हो वह 'सर्वशक्तिमान्' नहीं कहला सकता।

पहिले आक्षेप का समाधान यह है कि- जलंधर नित नये रूप धार कर समस्त देवाङ्गनाओं को छलने की कोशिश करता था, यहां तक कि जगज्जननी पार्वती को भी ठगने के लिये इसने कुछ उठा न रक्खा, अतः ऐसे दुष्ट को इसी के आरम्भ किये मार्ग का अनुसरण करके मार डालना-छल-कपट का द्योतक नहीं, बल्कि 'शठं प्रति चरेच्छाठ्यम्' नीति का निदर्शन है। आज कल के 'आर्य्यवीर' (?) भले ही इस नीति को पुश्तों से गुलामी जीवन बिताने के आदी होने के कारण 'कपटाचार' कहकर स्वयं धर्म्मात्मा होने का दम भरते हों परन्तु हमारे पूर्वज तो—

व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः।

(भारविः)

अर्थात्-जो पुरुष मायावी=धूर्तों में स्वयं भी धूर्तता से पेश नहीं आते वे महामूर्ख पद पद पर अपमानित हुवा करते हैं।— इस उग्र नीति के पुजारी थे, तभी वे ब्रह्माण्डाधिनायक और जगत्सूत्र-धार बन कर आन और शान से जीवन बिताया करते थे। अपनी कायरता एवं बुजदिली को छुपाने के लिये झूठ मूठ धर्म्म की आड़ लेना कोरी आत्म-प्रवञ्चना एवं विडम्बनामात्र ही है। अतः विष्णु भगवान् की यह लीला कपटाचार नहीं बल्कि देशोद्धारका उदार उपकार है। यहां तक हमने कापट्यलांछन का परिमार्जन किया अब 'परस्त्री-गमन' का भी खुलासा सुनिये।

ब्रह्म दृष्टि से-

शङ्कावादी महाशय 'मीठा मीठा गप्प और कड़वा कड़वा थू' के अनुसार इस कथा के उतने अंश को तो ठीक मान लेता है जितने अंश में कि विष्णु द्वारा वृन्दा के आलिंगन का निरूपण है परन्तु वह अंश उसे फूटी आंखों भी नहीं सूझता जिस में कि विष्णु भगवान् को 'कर्म्मफलजन्यशरीरधारी' न मान कर, अजर, अमर, अविनाशी, अविकार, सर्वरूप एवं सर्वाधार माना गया है,। 'परस्त्री-गमन' के आक्षेप का मूल केवल यही है कि शङ्कावादी ने विष्णु भगवान् को पुराण वर्णन के सर्वथा प्रतिकूल कर्म्मफलजन्यशरीर वाला और अपने जैसा निरा निठल्ला आदमी समझ रक्खा है तभी तो महाशय जी की तंग खोपड़ी में— 'स्वस्त्री'- और 'परस्त्री'- का व्यावहारिक खब्त समाया है तथा गमनागमन का तूफ़ान आया है। अन्यथा सर्वरूप और सर्वाधार ईश्वर के लिये कोई भी 'पर' (पराया) नहीं होता, बल्कि उसके निकट तो परमाणु से लेकर ब्रह्माण्ड पर्य्यन्त के सभी पदार्थ 'स्व' (अपने) ही ठहरते हैं। वह एकला ही चिउंटी से लेकर हाथी तक समस्त प्राणियों में व्याप्त होकर रमण करता है। तरङ्गें भले ही अपनी भिन्न २ सत्ताएं एवं विभिन्न रूप मानने लगें, परन्तु समुद्र के निकट तो वे सब उसी एक की सत्ता से सत्ता वाली हैं तथा अनेक होती हुई भी समुद्र के ही एक रूप में पर्य्यवसित होती हैं। इसी प्रकार हम सब मनुष्य अपने व्यावहारिक जीवन में भले ही माता, पिता, स्त्री, पुत्र, भ्राता, भगिनी एवं मित्र बान्धवादि अनेक नाम नियत करलें परन्तु वह व्यापक विष्णु तो हम सब में अकेला ही आत्मरूप से अवस्थित होकर अपने एकत्व को नहीं छोड़ता ;। अत एव वेद में—

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उतवा कुमारी ।—

कह कर उसे स्मरण किया है। सो इस दृष्टि से जलन्धर और वृन्दा दोनों ही उस विष्णु के अंशभूत थे, देवी भागवत में तो स्पष्ट ही, शंखचूड़ापरनामक जलन्धर को सुदामा गोप और वृन्दा को तुलसीनामक गोपिका लिखा है, जो शापवश इस आसुरी योनि को प्राप्त होगये थे। अत एव स्थान २ में—

(क) **श्रीकृष्णांशसमुद्भवः ।**

(ख) **तदंशा तत्सखी प्रिया ॥**

(देवीभागवत ६। १८। २३-२८)

अर्थात्—जलंधर और वृन्दा दोनों ही विष्णु भगवान् के अंश से उत्पन्न हुवे थे— ऐसा लिखा है।

जब कि वे दोनों विष्णु के ही अंशभूत थे, तब विष्णु का जलंधर रूप से वृन्दा के साथ संसृष्ट होना 'आत्मरति' ही कहला सकता है। इस लिये वृन्दा को 'परस्त्री' समझना विवेकरहित महाशयों का ही काम है। इसके अतिरिक्त गमनागमन का प्रश्न भी 'कर्म्मफलजन्यशरीरधारी' मनुष्यों तक ही सीमित है, क्यों कि सर्व-व्यापक भगवान् तो भले बुरे समस्त पदार्थों में समान रूप से अभिव्याप्त होता हुवा किसी भी दुर्गुण से विलिप्त नहीं होता, वह तो— 'रवि, पावक, सुरसरि की नाईं' समस्त मलों का मलत्व दूर करने पर भी स्वयं निर्लेप ही बना रहता है। अतः पौराणिक दृष्टिकोण से उक्त लीला का परीक्षण करने पर यह सर्वथा निर्दोष सिद्ध होती है।

पुरुष दृष्टि से—

कदाचित् इतना लिखने पर भी शङ्कावादी महाशयों को भगवान् के इस चरित्र में 'अधर्म्म' की गन्ध आती रही तो हमें विवश होकर उनसे उनके अभिमत धर्म की परिभाषा दर्य्याफ्त करनी पड़ेगी, कि वे वास्तव में किस बला को धर्म्म समझे बैठे हैं! पूर्वाचार्य्यों ने तो—धर्म्म का स्वरूप निर्णय करते हुवे निम्नलिखित लक्षण किया है,

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्म्मः।

अर्थात्—जिन कर्तव्यों के अनुष्ठान से जीव की इस लोक में पूर्ण उन्नति हो और परलोक में कल्याण हो वे सब कार्य्य कलाप धर्म्मसीमा के अन्तर्गत समझने चाहियें।

यदि उपर्य्युक्त धर्म्म लक्षण की कसौटा पर भगवान् की इस लीला को परखा जाए तो यह सर्वथा धर्म्मसंगत सिद्ध होती है। क्योंकि दुष्ट जलंधर को मारे बिना देवता लोग आज़ाद नहीं होसकते, और उसके अत्याचार पूर्ण शासन का खात्मा नहीं होसकता था, यह स्पष्ट बात है परन्तु वह कण्टक भी तब तक मर ही नहीं सकता था जब तक कि उसकी पतिव्रता धर्म्मपत्नी का सतीत्व अखण्डित बना रहे। ऐसी दशा में उस दुराचारी को मारने के लिये अगत्या उसकी धर्म्मपत्नी का सतीत्व खण्डित करना ही अनिवार्य्य था, दूसरे शब्दों में—संसार भर की साध्वी स्त्रियों के पातिव्रत धर्म्मों को सुरक्षित रखने के लिये अकेली वृन्दा का सतीत्व छुड़ा देना सर्वथा और सर्वदा धर्म्मानुकूल था।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, आदि धर्म्म के मुख्य दश अङ्ग हैं, प्रायः सभी मतमतान्तरवादी न्यूनाधिक इनके अनुष्ठान के समर्थक हैं परन्तु इनका स्वरूप क्या होना चाहिये इस विषय का तत्व शास्त्रों की गहराई तक पहुंचने वालों की ही समझ में आसकता है,। कल्पना कीजिये एक उद्दण्ड अत्याचारी हाथ में खड्ग उठाए किसी नगर

में कत्ले आम कर रहा है, आबाल वृद्ध जो भी उसके आगे आता है उसेही वह तलवार के घाट उतार डालता है, । मेरी भुजाओं में वह शक्ति है कि यदि मैं चाहूँ तो उस अत्याचारी को मार कर नगर के निरीह प्राणियों की जान बचा सकूं । परन्तु मुझे खयाल है कि उस क़ातिल को मारने से मुझे 'मनुष्य वध का पाप' लगेगा अतः मैं धर्म्मभीरुता से हाथ पर हाथ रक्खे इस क़त्लेआम का बीभत्सपूर्ण दृश्य आंखें उघाड़े देखता रहजाऊं— कहिये ! क्या मेरी इस प्रकार की प्रवृत्ति धर्म्मसङ्गत मानी जा सकेगी ? शायद कोई भी समझदार मनुष्य इस प्रश्न का उत्तर 'हां' में न देगा, वास्तव में मेरा कर्तव्य ऐसे समय में यही होना चाहिये कि मैं कमर बान्ध कर शीघ्रातिशीघ्र उस कातिल का गला काट डालूं, निःस्सन्देह ऐसा करते हुवे मुझे एक मनुष्य की हिंसा करनी पड़ेगी परन्तु धर्म्मदृष्टि से यह हिंसा अहिंसा ही सिद्ध होगी, क्योंकि इसके अनुष्ठान से मैं अगणित प्राणियों के बचाने का पुण्य कार्य्य कर सकूंगा। इस लिये वेदादि शास्त्रों में भी ऐसी आज्ञाओं का उल्लेख मिलता है, यथा—

(क) इन्द्र ! जहि पुमांसं यातुधानमुत स्त्रियम् ।
मायया शाशदानम् ॥

(ऋ० ७ । १०४ । २५)

(ख) गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥

(मनुः ८ । ३५०)

अर्थात्— (क) हे इन्द्र ! छल बल से घात करने वाले अत्याचारी पुरुषों वा स्त्रियों को मार डाल (ख) गुरु, बालक, वृद्ध, किम्बा बहुश्रुत ब्राह्मण, कोई भी यदि आततायी (आग लगाने वाला, विष खिलाने वाला, स्त्री चुराने वाला तथा कत्ल आदि करने वाला) हो तो उसे बिना किसी विचार के मार डालना चाहिये ।

इत्यादि प्रमाणों का समन्वय करने से यही सिद्धान्त स्थिर होगा कि अहिंसा त्रिकालाबाधित धर्म्म नहीं है बल्कि खास परिस्थितियों में अमुक अत्याचारी को मारना भी धर्म्म कहा जा सकता है, इसी प्रकार सत्य अस्तेय आदि धर्म्माङ्ग भी खास खास परिस्थितियों में अधर्म साबित हो सकते हैं, जैसे—कसाई के हाथ से छूटी हुई गाय को अमुक तरफ भागती हुई देखकर कसाई के पूछने पर ठीक उसी दिशा का पता बतलाना सत्य होते हुवे भी धर्म्मसङ्गत नहीं कहला सकता, बल्कि यहां चुप रहजाना ही अधिक न्याय्य हो सकता है । इसी तरह अत्याचारी के हथियार को हथिया लेना

किम्बा किसी को मार डालने के अभिप्राय से आततायी के घर में रक्खे हुवे विष को चुरा कर नष्ट कर डालना चोरी होते हुवे भी अधर्म्म नहीं कहला सकता। वर्तमान सभ्य गवर्नमेन्टों के क़ानून भी ऐसी परिस्थितियों में एक हद तक ऐसे अभियुक्तों को दोषी करार नहीं देते। धर्म्म की इस सूक्ष्मता को ध्यान में रखते हुवे ही भगवान् श्रीकृष्ण जी ने परमपावनी भगवद्गीता में खुले बन्दों में लिख दिया है कि—

कर्म्मण्यकर्म्म यः पश्येदकर्म्मणि च कर्म्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्म्मकृत् ॥

(भगवद्गीता ४। १८)

अर्थात्—जो मनुष्य वेद शास्त्र विहित अहिंसा, अस्तेय, सत्य आदि अनुष्ठेय कर्म्मों में [अमुक अमुक परिस्थिति के अनुसार प्राप्त होने वाली] अकर्म्म=नानुष्ठेयता की सीमा को जानता है, और इसी प्रकार वेदशास्त्र-निषिद्ध, हिंसा-असत्य-चोरी आदि त्याज्य, अतएव अकर्म्मों में [परिस्थितिवशात् प्राप्त होने वाली] कर्म्म=करणीयता को देखता है, वही मनुष्य बुद्धिमान् कहा जा सकता है और वही योगी है तथा उसी को यथावत् समस्त विहित कर्म्मों का करने वाला समझना चाहिये।

इस लिये 'धर्म्मस्य तत्वं निहितं गुहायाम्' इस उक्ति के अनुसार उपर्य्युक्त धर्म्माधर्म्म विवेचन की दृष्टि से भी अगणित पतिव्रताओं के सतीत्व की रक्षा के लिये विष्णु-भगवान् का वृन्दा से संगत होना अधर्म्म नहीं ठहर सकता बल्कि 'अनेकान्तवाद' सिद्धान्त के अनुसार 'आनुषंगिक-कर्तव्य' ही निश्चित होता है। यही पहिले आक्षेप का संक्षिप्त समाधान है।

वृन्दा का शाप लगने की दशा में सर्वशक्तिमत्ता के अभाव का जो दूसरा आक्षेप है उसका उत्तर यह है कि विष्णु भगवान् ने जलंधर को मारने के लिये ही अनिच्छा से वृन्दा का संसर्ग किया था, किसी कामवासना से प्रेरित होकर नहीं। इस से जलन्धर मर गया वह मरना ही चाहिए था परन्तु निरपराध वृन्दा को जो अपनी लीला का लक्ष्य बनाना पड़ा था इस का भी तो कुछ मुवावजा उस बेचारी को देना उचित था, अतः भगवान् ने 'कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुम् प्रभुः' होते हुवे भी स्वेच्छा से इसके शाप को शिरोधार्य्य किया, जिस से पातिव्रत की अलौकिक शक्ति का चमत्कार तीन लोक को विदित होगया और इस तरह साध्वी वृन्दा की कीर्ति सदा के लिए अमर होगई।

जिस प्रकार दूधमुँहे बच्चे अपने बूढे दादाओं की आंखों में अंगुलियें डाल देते हैं तथा उनकी दाढी और मूछों को नोच डालते हैं तब भी बूढे बाबा बदला चुका

सकने की सामर्थ्य रखते हुवे भी वात्सल्यवश उन बच्चों को मारते नहीं, बल्कि हंस कर उस क्षणिक दुःख को सहन कर लेते हैं इसी प्रकार भगवान् भी तथैव सर्वशक्तिमान् होते हुवे अपने भक्तों के चोचलों को स्वेच्छा से स्वीकार कर लेते हैं। इस लिये भगवान् को वृन्दा का शाप विवशता से भुगतना नहीं पड़ा बल्कि वह तो उन्होंने स्वेच्छा से स्वीकार किया है, अतः 'सर्वं परवशे दुःखं सर्वं स्वात्मवशे सुखम्' के अनुसार भगवान् का यह शाप स्वीकार करना उनकी सर्वशक्तिमत्ता को कुछ हानि नहीं पहुंचा सकता।

इस तरह हम विविध दृष्टियों (Different Views) से विष्णु वृन्दा आख्यायिका का विवेचन करने के अनन्तर इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि यह आख्यान 'वृष्टि विज्ञान' 'वनस्पति विज्ञान' का सर्वाङ्ग पूर्ण निदर्शक है यदि न्याय और निष्पक्षता पूर्वक किसी भी दृष्टि से इसे परखा जाएगा तो इस के किसी भी अंश पर कुछ आक्षेप करने का अवसर न मिल सकेगा।

मोहिनी रूप में छल कपट

श्रीमद्भागवत आदि पुराणों में वर्णन आता है कि जब देव दानवों ने मिल कर क्षीर सागर को मथ डाला और उस में से अन्यान्य रत्नों के साथ अमरतादायक अमृत भी निकल आया तो दानव लोगों ने बलात्कार से उसे हथिया लिया, बेचारे देवता विष्णु भगवान् की शरण में पहुँचे। भगवान् ने मोहिनी रूप बना कर दैत्य दानवों को तो हाव भावों में ही फांस रक्खा और छल कपट से देवताओं को 'अमृत' पिला दिया।

कई नौसिखिये विवेकहीन महाशय, इस शिक्षा-पूर्ण चरित्र में भी अन्याय का आभास ढूंढा करते हैं, हम उनके परिज्ञानार्थ इस कथा पर भी उचित विचार करना आवश्यक समझते हैं। तद्यथा—

वैदिक-स्वरूप

(क) यददो वात ! ते गृहे अमृतस्य निधिर्हितः।
ततो नो धेहि जीवसे।

(ऋग्वेद १०। १८६। ३)

(ख) एषां चित्तानि प्रतिमोहयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि।

(अथर्व० ३। २। ५)

(ग) (प्रजापतिः) अप्सरोरूपं कृत्वा पुरस्तात्प्रत्युदैत् ।
तस्यामेषां मनः समपतत् ।
(कौषीतकी ६ । १)

(घ) (प्रजापति) स्तेभ्य एतेन नवरात्रेणामृतत्वं प्रायच्छत् ।
(ताण्ड्य २२ । १२ । १)

(ङ) अथ हैन ँ शश्वदपि असुरा उपसेदुः·····तेभ्यस्तमश्च मायां च प्रददौ ।
(शतपथ २ । ४ । २ । ५)

अर्थात्— (क) (वात) हे परमात्मन् ! विष्णु ! (ते गृहे) आपके निवास स्थान [क्षीर सागर] में (यददः) यह जो (अमृतस्य निधिः) अमृत का खजाना (हितः) स्थित है (ततः) उससे (जीवसे) जीवित बने रहने के लिये (नः) हमको (धेहि) पोषित कीजिये । (ख) (अप्वे) हे मोहिनि माये ! (एषां) इन असुरों के (चित्तानि) चित्तों को (प्रतिमोहयन्ती) सब प्रकार से मुग्ध करती हुई [तू इनके] (अङ्गानि) समस्त अङ्गों को (गृहाण) काबू करले [और] (परेहि) इधर लौट आ । (ग) =प्रजा का रक्षक विष्णु भगवान् मनोहर स्त्री रूप बनाकर आगे उपस्थित हुवा, इसके रूप लावण्य में उन सब असुरों का मन फंस गया । (घ) =तब उन सब देवताओं को तो इस नवरात्र=अभिनव-रमणीय मोहिनी रूप द्वारा अमृत दे दिया । (ङ) जब इसके पास बार २ असुर पहुंचे तो उन्हें तमः=कोरा झांसा और माया=भूल भुलैया में रख दिया ।

पौराणिक-स्वरूप

नीयमानेऽसुरैस्तस्मिन्कलशेऽमृतभाजने ॥३६॥
विषण्णमनसो देवा हरिं शरणमाययुः ॥
इति तद्दैन्यमालोक्य भगवान् भृत्यकामकृत् ॥३७॥
योषिद्रूपमनिर्देश्यं दधार परमाद्भुतम् ॥४१॥
सा त्वं नः स्पर्धमानानामेकवस्तुनि मानिनि !
ज्ञातीनां बद्धवैराणां शं विधत्स्व सुमध्यमे ! ॥६॥
विश्वासं पण्डितो जातु कामिनीषु न याति हि ॥९॥
यद्यभ्युपेत कच साध्वसाधुवा, कृतं मयावो विभजे सुधामिमाम् ॥१२॥

अप्रमाणविदस्तस्या स्तत्तथेत्यन्वमंसत ॥१३॥
असुराणां सुधादानं सर्पाणामिव दुर्नयम् ।
मत्वा जातिनृशंसानां न तां व्यभजदच्युतः ॥१६॥
दैत्यान् गृहीतकलशो वञ्चयन्नुपसञ्चरैः ।
दूरस्थान्पाययामास जरामृत्युहरां सुधाम् ॥२१॥
तस्यां कृतातिप्रणयाः प्रणयापायकातराः ।
बहुमानेन चावद्धा नोचुः किंचन विप्रियम् ॥२३॥

(श्रीमद्भागवत स्कन्ध ८ अध्याय ८-९)

अर्थात्— (जब) वह अमृत से भरा हुवा कलश असुरों ने हथिया लिया तो दुःखित हुवे देवता भगवान् विष्णु की शरण में पहुंचे । इस प्रकार देवताओं की दीनता देख कर शरणागतपालक भगवान् ने बड़े २ चतुरों को भी चकित कर देने वाला अत्यन्त सुन्दर, एवं अवर्णनीय स्त्रीरूप धारण किया । [भगवान् के इस रूप लावण्य पर मुग्ध हुवे दैत्यों ने कहा कि] हे लचकीली कमरवाली सुन्दरी ! हम दोनों भाई भाई इस अकेले— अमृत कलश पर आपस में लड़ रहे हैं सो आप जिस तरह से हमारा कल्याण हो वैसे ही निबटारा कर दीजिये । [यह सुन कर मोहिनीरूपधारी भगवान् ने खुले शब्दों में सचेत किया कि—] बुद्धिमान् पुरुष मुझ सी कामिनी (भक्तों का काम बनाने वाली) स्त्रियों में कभी भी विश्वास नहीं किया करते । [इतने पर भी जब दानवों ने वह कलश भगवान् के हाथ में सौंप कर यथोचित बांट देने की प्रार्थना की तो भगवान् ने स्पष्ट कह दिया कि—] मैं उन्नीस वा इक्कीस चाहे कुछ भी करदूं यदि तुम्हें वह सब स्वीकार हो तो तभी मैं इस अमृत को बांट सकती हूँ । यह सुन कर उन विवेकहीन असुरों ने कुछ भी न समझा और बिना सींग पूंछ हिलाये यह शर्त मान ली । तब तो अच्युत (=अपनी मर्यादा पर स्थिर रहने वाले भगवान्) ने यह जान कर कि इन तामसी असुरों को अमृत पिला कर अमर बना देने में वैसी ही अनीति है, जैसी कि विषधर सर्पों को परिपुष्ट करने में हो सकती है सो इन्हें जातिनृशंस (= जन्म से ही क्रूरता दुर्गुण वाले) जान कर अमृत नहीं दिया । बल्कि समस्त दैत्यों को तो हाव भाव कटाक्षों से काठ का उल्लू बनाये रक्खा और दूर बैठे हुवे देवताओं को सबका सब अमृत पिला दिया । असुर यह सब कुछ देखते हुवे भी उस मोहिनी रूप में अतीव आसक्त चित्त होने के कारण प्यार टूट जाने के खयाल से कुछ भी अप्रिय नहीं बोले किन्तु चुपचाप बैठे हुवे सर्वस्व लुटता देखते रहगये ।

विवेचन

उपर्य्युक्त कथा के वैदिक और पौराणिक दोनों स्वरूपों की तुलना करने पर प्रत्येक संस्कृतज्ञ इसी परिणाम पर पहुंचेगा कि इन दोनों धर्म्म ग्रन्थों में समान रूप से ही इस आख्यायिका का उल्लेख विद्यमान है। इसके अतिरिक्त पौराणिक स्वरूप के उद्धरण में जो मूल शब्दों में ही भगवान् की इस प्रकार की लीला रचने का कार्य्य कारणपूर्वक विवेचन किया है उसका मनन करने पर तो कोई भी बुद्धिमान् उक्त कथा के किसी भी अंश पर कुछ आक्षेप कर सकने का मज़ाज़ नहीं रखता क्यों कि भगवान् असुरों को साफ कह रहे हैं कि— "स्त्री का विश्वास मत कीजिये" इतने पर भी जब वह सचेत नहीं हुवे तो फिर भगवान् ने अपनी पोज़ीशन 'बचाए रखने' के लिये अपनी इच्छानुकूल विभाग कर देने की शर्त पेश की वह भी असुरों को स्वीकृत हुई अन्त में जब केवल देवताओं को अमृत पिलाया जाचुका तब भी वे बेचारे चस्के तक नहीं,। जो महाशय असुरों के आनरेरी वकील बन कर भगवान् के इस चरित्र को छल-कपट-विश्वासघात की बात कहते हुवे अपनी ज़ात व औक़ात दिखाया करते हैं उन्हें इतना भी होश नहीं कि अमृत के उम्मेदवार मुद्दई असुरों को भी जिस फैसले पर कुछ आपत्ति नहीं उस पर किसी दूसरे ऐरे ग़ैरे को बक झक करने का क्या अधिकार ? यदि भगवान् असुरों को विश्वास दिलाते कि 'मैं तुम्हारे को अमृत दूंगा', और पीछे कपट से उन्हें कोरा रख देते तो शायद किसी अंश में भगवान् पर विश्वास-घात का आक्षेप उचित होता, परन्तु जब भगवान् बार २ ललकार कर कह रहे हैं कि— 'मैं उसी हालत में तुम्हारा निर्णायक होसकता हूँ जब कि मुझे जो जैसा उचित जँचे वैसा सब कुछ कर सकने का पूरा अधिकार हो और तुम्हें उसके मानने में कुछ भी एतराज़ न हो'— ऐसी दशा में उनका किया हुवा निर्णय विश्वास-घात या छल-कपट कैसे कहा जासकता है ?

हां ! भगवान् ने— असुरों को अमृत देना उचित क्यों नहीं समझा— इस अंश पर विचार अवश्य किया जा सकता है। सो इसका कारण भी 'असुराणां सुधादानं' आदि श्लोक द्वारा मूल में ही लिखा है। यद्यपि इस श्लोक का तात्पर्य्य सरल है परन्तु वेदव्यास जी ने इसकी शब्दयोजना से जिन जिन गम्भीर भावों को अभिव्यक्त किया है वे सब मनन करने योग्य हैं— कल्पना कीजिये कि महाशयों की सिफारिस के अनुसार भगवान् दैत्य दानवों को भी भरपेट अमृत पिला देते तो इसका यही परिणाम होता कि वे सब तामसी जीव अमर बन कर अपनी प्रकृति के अनुसार

सदैव काल के लिये दैवी सम्पदा का विनाश कर डालते। क्या असुरों को अमृत पिलाना— आततायी के हाथ में दुधारी तीखी तलवार देने के बराबर नहीं है? अत्याचारियों को अमर बनाना— भैंस के आगे बीन बजाने के समान नहीं है? और स्वभावतः ही 'अघ्नो द्विजान् देवयजीन्निहन्मः' को जीवन का आदर्श मानने वाले जंगी जीवों को मौत से भी निर्भय बना देना— एक करेला फिर उसे नींब चढाने के तुल्य नहीं हैं? इस लिये जिस तरह माली— बाग में, फूलों से रंगीले— और फलों से रसीले, पौदों को ही पानी से सींचा करता है तथा इसके विरुद्ध नौकीले कंटीले झाड़ झूंडों को समूलोन्मूलन करके फैंक दिया करता है इसी प्रकार जगत् की मर्य्यादा को सुस्थिर बनाए रखने वाले विष्णु भगवान् भी सदा से आसुरी सम्पदा का विनाश करके दैवी सम्पत् को आश्रय देते आए हैं।

भगवान् की इस प्रकार की भावना में— 'देवताओं की रियायत' का स्वप्न देखना भी अनावश्यक है क्यों कि अमृत पिलाने से जिस प्रकार देवताओं का भला हुवा है, इसी प्रकार असुरों को अमृत न पिलाने से भी उनका अत्यधिक उपकार ही हुवा है। कदाचित् भगवान् असुरों को अमर बना देते तो वे असुर सदैव असुर ही बने रहते, अपने जीवन को सुधारने— या मुक्त होजाने का उनको कभी भी सुअवसर न मिलता। इस तरह वे असुरशरीरावच्छिन्न अगणित आत्माएं अनन्त काल तक घोर अन्धकार में पड़ी रहतीं, ऐसी दशा में पाठक स्वयं विचार सकते हैं कि भगवान ने असुरों को अमृत न पिला कर उनका भला किया है या बुरा? सो वेदव्यास जी ने इन्हीं गम्भीर भावों को प्रतिध्वनित करने के लिये ही असुरों को "आतिनृशंस" विशेषण द्वारा सम्बद्ध किया है, जो व्यक्ति— जाति=स्वभाव=निसर्ग एवं प्रकृति से ही नृशंस=क्रूर=या घातुक हो उसे पाप करने के लिये और अधिक मौक़ा देना किसी भी हितचिन्तक का काम नहीं होसकता! सो भगवान् का उन असुरों के पापमय आसुरी शरीरों को अमर बनाने में "दुर्नय"=अनीति या सरासर अन्याय समझना ठीक ही होसकता है।

इसके अतिरिक्त यदि कोई रोगी किसी ऐसे कुपथ्य को खाने के लिये तैयार हो कि जिसके भक्षण से उसका सदा के लिये रोगी ही बने रहना सुनिश्चित हो, तो सुयोग्य चिकित्सक कभी भी उसे वह कुपथ्य खिलाने को तैयार न होगा, बल्कि येन केन प्रकारेण भलो चेपल कर उसे कुपथ्य से बचाने का ही प्रयत्न करेगा, ठीक इसी प्रकार भगवान् ने भी आसुरीशरीरावच्छिन्न आत्माओं को अमृतरूप कुपथ्य देकर सदैव के लिये असुर ही बनाए रखने का अहित करना उचित नहीं समझा।

जब कि असुर, मोहिनी भगवान् के हाथ में अमृत का कलश सौंप कर बार २ यह प्रार्थना करते हैं कि "शंविधत्स्व" अर्थात्— जैसे हमारा कल्याण हो वैसा ही कीजिये, फिर भगवान् उनकी प्रार्थना को अनसुनी करके उनका बुरा कैसे कर सकते थे। वास्तव में अमृत न पिलाने में ही उनका कल्याण था, क्योंकि समुद्रमथने से निकले हुवे रत्नों के बांटने में ही देवासुर संग्राम का सूत्रपात होगया था, जिसमें कि वे सब असुर भगवान् के हाथ से मर कर सद्गति को प्राप्त होगए थे। अमृत पीकर अमर बन जाने की दशा में उन्हें यह जीवन सुधार का अलभ्य लाभ नहीं मिल सकता था। इस लिये किसी भी दृष्टिकोण से क्यों न परीक्षा कीजाए भगवान् का यह चरित्र न्याय-संगत ही ठहरेगा।

जल में वीर्य्यस्खलन

ब्रह्मवैवर्त पुराण में सृष्टि उत्पत्ति का इन्द्रियातीत रहस्य सुस्पष्ट करने के लिये रासलीला का रूपक बांधा है जिसमें बताया गया है, कि— समस्त देवताओं की समाजमण्डली चारों ओर खड़ी थी अग्नि वायु आदि की स्त्रियें भी उनके निकट थीं मध्य में कृष्ण भगवान् थे, उनका वीर्य्यस्खलन होगया, लज्जा से कृष्ण ने उसे जलमें छोड़ दिया और वहां एक हजार वर्ष के बाद एक बच्चा पैदा हुवा जिसे 'विराट्' कहते हैं—इत्यादि।

साधारण योग्यता रखने वाला पुरुष भी उपर्युक्त रूपक का सीधा तात्पर्य्य समझ सकता है कि 'प्रकृति' की अनेक शक्तियें और उनके अधिष्ठातृदेव ही यहां रास का समाज मण्डल है, तथा समस्त शक्तियों का आधारभूत 'ब्रह्म' ही कृष्ण है, जो कि सबके मध्य में खड़ा होने के उपलक्षण से समस्त सृष्टि विधान का केन्द्र (centre) प्रकट किया गया है 'एकोहं बहु स्याम्' की भावना ही उसका स्खलन है तथा सृष्टि के सर्गोन्मुख होने का सम्पूर्ण कार्य्य कारण कलाप ही जल या आपः कहा जा सकता है, सो ब्रह्म के माध्यस्थ द्वारा प्रकृति की प्रेरणा से जो आरंभिक कारणसामग्री का प्रादुर्भाव हुवा उसे ही पारिभाषिक शब्दों में यहां 'विराट्' नाम से स्मरण किया है। यही इस रूपक का सरल स्पष्टीकरण था, परन्तु प्रो० रामदेव को 'पुराण-मत-पर्य्यालोचन' पुस्तक में इस रूपक पर भी अकाण्ड ताण्डव करने का शौक चर्रा उठा है, आप की पवित्र (?) सम्मति में यह वर्णन भी अश्लीलता का एक उदाहरण है। हमें महाशय जी की सूझ पर दया आती है जब कि वेदों और स्मृतियों में भी हूबहू यही वर्णन मिलता है तो फिर आप का बेचारे पुराणों पर ही कलम कुठार चलाने

का यह कैसा-प्रयास है ? वास्तव में न यहां अश्लीलता है और नाहीं उसका आभास है, किन्तु 'काम-रेतः-जल और रेचन' 'आदि पारिभाषिक शब्दों के शास्त्रोक्त अर्थ न समझना और मनमानी आलोचना करने का जघन्य उपहास है। अस्तु, हम इस रूपक की भी वैदिकता प्रकट कर देते हैं, जिससे पाठक इन स्वयम्भू समालोचकों की अनुपम अक्ल का अन्दाज़ कर सकें।

वैदिक-स्वरूप

(क) कामस्तदग्रे समवर्तताधिमनसोरेतः प्रथमं यदासीत्।

(ऋग्वेद १०। १२६। ४)

(ख) तस्य रेतःपरापतत्।

(तैत्तिरीय १। १। ३। ८)

(ग) अग्निर्हवा ऽअपोऽभिदध्यौ मिथुन्याभिः स्यामिति,
ताः सम्बभूव, तासुरेतः प्रासिञ्चत्।

(शतपथ २। १। १। ५)

(घ) ततो विराडजायत।

(यजुः ३१। ५)

अर्थात्— (क) (अग्रे) सृष्टि के आरंभ समय में (कामः) ['एकोऽहंबहुस्याम्' रूप] संकल्प (आसीत्) था (तदधि) इसके उपरान्त (मनसः) ज्ञान रूप ब्रह्म से (यत् प्रथमं) जो मुख्य किम्वा पहिला (रेतः) वीर्य्य है [वह] (समवर्तत) उत्पन्न हुवा। (ख) उसका वीर्य्य गिर गया (ग) अग्नि ने आप=जलों= (संघीभूत-सर्ग-कारणों) को चाहा कि मैं इनसे मिथुनीभाव को प्राप्त होजाऊं, वे प्रकट होगए, उन जलों में रेतः वीर्य्य (किं वा उत्पादक प्रगति) को सेचन किया। (घ) उससे विराट् उत्पन्न हुवा।

पौराणिक-स्वरूप

कृष्णस्य कामबाणेन रेतःपातो बभूव ह।
जले तद्रेचनं चक्रे लज्जया सुरसंसदि ॥ २३ ॥

(ब्रह्मवैवर्त ब्र० खं० अ० ४)

अर्थात्—कृष्ण= (योगियों के चित्त को आकृष्ट करने वाले) ब्रह्म का काम= ('एकोऽहंबहुस्याम्' रूप-) संकल्प के क्षोभ से रेतः= (उत्पादनात्मक) वीर्य्य का पात होगया था जिसे लज्जा से देवताओं की सभा में-जलों में छोड़ दिया गया।

साक्षर समुदाय उपर्युक्त दोनों स्वरूपों की शाब्दिक तुलना करने पर स्वयं सोच सकता है कि पुराणों में जो कुछ लिखा है वही वेद में भी तथैव विद्यमान है इसमें यदि कुछ भेद है तो एतावन्मात्र है कि जहां वेद में त्रिविड़ प्राणायाम पूर्वक वीर्य्य का पात लिखा है वहां पुराणों में संक्षेप से शिष्ट शब्दों में उसे व्यक्त कर दिया है। मन्वादि धर्म्मशास्त्रों में भी ठीक इसी आशय के श्लोक पाये जाते हैं यथा—

अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्।

(मनुः १। ८)

अर्थात्—सृष्टि के आरंभ में जलों को रचा और उनमें बीज को डाल दिया।

कहना न होगा कि रेतः, वीर्य्य, बीज, आदि शब्द परस्पर पर्य्यायभूत हैं। क्या अब भी महाशय जी राई का पहाड़ बनाकर पुराणों को कोसते हुवे न लजायेंगे?

माया मोह का दुरुपदेश

विष्णु-पुराण (अंश ३ अध्याय १७-१८) में और पद्मपुराण (सृष्टिखण्ड अध्याय १३) में वर्णन आता है कि 'एक समय दैत्यों ने बलपूर्वक समस्त दैवी सम्पत्ति का अपहरण कर लिया और वेदोक्त यज्ञानुष्ठानों के प्रभाव से अजेय बनकर समस्त ब्रह्माण्ड को पीड़ित करने लगे। देवताओं ने विष्णु की शरण ली। भगवान् ने देवरक्षा के लिये कपट मुनि का स्वांग भरकर दैत्यों को ऐसा छकाया कि वे वैदिक अनुष्ठानों से पराङ्मुख होगये, अथच अन्त में निर्वीर्य्य होजाने के कारण पराजित होगये'।

महाशय रामदेव जी को भगवान् की इस नीतिमत्ता में भी 'छल' की बू आती है! सच है लम्बे अर्से तक कालिजों की गुलामी में परिपुष्ट होने वाले एक एम० ए० ग्रेजुवेट के मस्तिष्क में इस प्रकार का राष्ट्रीय भाव कहां तक समा सकता था! यदि महाशय जी, आततायी, अत्याचारी, एवं सर्वस्व-अपहरण करने वाले शत्रु की तीखी तलवार के छीन लेने में भी 'छल' का आरोप कर सकते हैं तो 'किमाश्चर्य्यमतः परम्'। जिन यज्ञानुष्ठानों के बल से वे दैत्य संसार में अन्धेरगर्दी मचा रहे थे—और वेदों का दुरुपयोग कर रहे थे, यदि चकमा देकर उन्हें उस मार्ग से गिरा दिया गया,

और भक्त जनों के प्राण बचा दिये तो इसमें अनर्थ कौनसा होगया ? आस्तां तावत्— इस प्रसङ्ग पर भी चन्द पंक्तियें लिखना अनावश्यक न होगा।

वैदिक-स्वरूप—

(क) इन्द्रो मायाभिः पुरूरूप ईयते।

(ऋग्वेद ६। ४७। १८)

(ख) यो नः पूषन्नघो वृको दुःशेव आदिदेशति।
अप स्म तं पथो जहि।

(ऋग्वेद १। ४२। २)

(ग) असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूयाः।

(ऋग्वेद उपोद्घात)

अर्थात्— (क) इन्द्र परमात्मा अपनी मायाओं द्वारा अनेक तरह के रूप बनाकर लीला करता है। (ख) हे देवसत्ता के पोषण करने वाले देव! जो पापी, क्रूर, हमारे स्वत्व को छीनने वाला, और अकारण रुष्ट होने वाला दुष्ट हम पर हकूमत करता है, आप उस असुर को मार्गभ्रष्ट कर दीजिये। (ग) [वेद विद्या आदेश करती है कि—] निन्दक, कुटिल और उद्दण्ड पुरुष के प्रति मुझे मत बताओ।

पौराणिक-स्वरूप

(क) मायामोहोयमखिलांस्तान्दैत्यान्मोहयिष्यति।
भवता सहितः सर्वान् वेदमार्गबहिष्कृतान् ॥३४६॥

(ख) अल्पैरहोभिः संत्यक्ता स्तैर्दैत्यैः प्रायशस्त्रयी ॥३६४॥

(पद्मपुराण सृष्टिखण्ड अध्याय १३)

अर्थात्— (क) [विष्णु भगवान् ने कहा कि—] माया मोह अवतार वेद मार्ग से बहिष्कृत उन समस्त दैत्यों को मोहित करेगा। (ख) इस तरह थोड़े ही दिनों में उन दैत्यों ने वेदत्रयी का प्रायः त्याग कर दिया।

जब कि वेद भगवान् स्पष्ट शब्दों में मायावी रूप बना कर अत्याचारियों को मार्ग भ्रष्ट कर डालने का आदेश करता है और दुष्टों के लिये वेदोपदेश का सर्वथा निषेध करता है तब भगवान् के इस चरित्र पर आक्षेप करने का साहस करना नितान्त उपहास नहीं तो और क्या है ?

बली से छल

भागवतादि पुराणों में वर्णन आता है कि 'एक समय दैत्यराज बली ने समस्त देवताओं को पराजित करके उनकी विपुल सम्पत्ति को हथिया लिया, देवता विष्णु की शरण में गए। भगवान् ने उनकी रक्षार्थ वटुक-वामन, रूप धार कर बली से तीन पांव भूमि मांगी और अन्त में विराट् रूप बना कर तीन पांव में ही समस्त ब्रह्माण्ड को नाप डाला, इस तरह देवताओं को पुनः उनका स्वत्व मिल गया, तथा भगवान् ने सन्तुष्ट होकर बली को भी तलातल साम्राज्य का अमर सम्राट् नियत कर दिया इत्यादि···'—

वैदिक-स्वरूप

(क) देवाश्च वाऽसुराश्च उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे ततो देवा अनुव्यमिवासुरथहासुरा मेनिरे अस्माकमेवेदं खलु भुवनम्। तेहोचुः हन्तेमां पृथिवीं विभजामहै। तेहासुरा असूयन्त इवोचुर्यावदेवैष विष्णुरभिशेते तावद्वो दद्म इति। वामनोह विष्णुरास।

(शतपथ १।२।५।१-५)

(ख) स विष्णु रिमांल्लोकान्विचक्रमे।

(ऐतरेय ६।१५)

(ग) इदमेव प्रथमेन पदेन पस्पाराथेदमन्तरिक्षं द्वितीयेन दिवमुत्तमेन।

(शतपथ १।९।३।९)

(घ) इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समूढमस्य पांसुरे।

(ऋग्वेद १।२२।१७)

अर्थात्—(क) देवता और असुर दोनों प्रजापति कश्यप के बेटे थे, वे आपस में स्पर्धा रखते थे। तब देवताओं की शक्ति क्षीणप्रायः होगई और असुरों ने समझा कि यह सब भुवन=प्रवृद्ध साम्राज्य हमारा— 'ही' है, वे बोले इस पृथ्वी को बांटेंगे, असुरों ने झिड़क कर कहा कि बस! जितनी भूमि पर यह विष्णु लेटा है उतनी ही तुझे देंगे, विष्णु भगवान् वामन थे [अत्यधिक छोटा शरीर होने के कारण ही दैत्यों

ने मज़ाक में उन्हें पृथ्वी नापने का पैमाना नियत करना चाहा था परन्तु उन्हें क्या पता था कि 'चोरों की बजाजी और लाठियों के गज' वाली कहावत चरितार्थ होजायगी] = (ख) विष्णु ने इन समस्त लोकों को नाप डाला। (ग) इस भूमण्डल को पहिले कदम से, अन्तरिक्ष को दूसरे से, तथा द्युलोक को तीसरे से [नाप डाला] (घ) त्रिविक्रमावतारधारी भगवान् ने इस समस्त ब्रह्माण्ड को नाप डाला। उन्होंने तीन प्रकार से पांव रक्खा, यह समस्त दृश्य जगत् उसके धूलिधूसर एक पांव में समा गया।

पौराणिक-स्वरूप

मन्वन्तरे तु संप्राप्ते तथा वैवस्वते द्विज ! ।
वामनः कश्यपाद् विष्णुरदित्यां संबभूव ह ॥
त्रिभिः क्रमैरिमांल्लोकाञ्जित्वा येन महात्मना ।
पुरन्दराय त्रैलोक्यं दत्तं निहतकण्टकम् ॥

(विष्णु पुराण अंश ३ । १ । ४२-४३)

अर्थात्—वैवस्वत मन्वन्तर के प्राप्त होने पर महर्षि कश्यप द्वारा अदिति के पेट से विष्णु भगवान् ने वामन अवतार धारण किया था जिस महात्मा ने तीन कदम नाप से इन समस्त लोकों को जीत कर इन्द्र को तीन लोक का निष्कण्टक साम्राज्य दिलाया था।

श्रीमद्भागवत में यह आख्यान बड़ी ही प्राञ्जल भाषा में निबद्ध किया है। जब शुक्राचार्य्य के हज़ार बार हटाने पर भी बली ने उदारतापूर्वक सर्वस्व देदेने का आग्रह न छोड़ा और भगवान् ने समस्त ब्रह्माण्ड को तीन पाओं में नाप डाला तो उस समय बली ने भगवान् के इस कार्य्य की भूरि २ प्रशंसा करते हुवे कहा कि—

त्वं ननमसुराणां नः पारोक्ष्यः परमो गुरुः ।
यो नोऽनेकमदान्धानां विभ्रंशं चक्षुरादिशत् ॥

(श्रीमद्भागवत ८ । २२ । ५)

अर्थात्— हे भगवन् ! आप हम असुरों के लिये छुपे हुवे परम गुरु हो, जो कि आप राजमद से अन्धे हुवे हम लोगों की फूटी आंखों को सहसा खोल देते हो।

बली की उदारता और धर्म्मनिष्ठा को देखकर भगवान् भी अत्यन्त सन्तुष्ट हुवे और बोले—

एष दानवदैत्यानामग्रणीः कीर्तिवर्द्धनः।
अजैषीदजयां मायां सीदन्नपि न मुह्यति॥
क्षीणरिक्थश्च्युतः स्थानात्क्षिप्तो बद्धश्च शत्रुभिः।
ज्ञातिभिश्च परित्यक्तो यातनामनुयापितः॥
गुरुणा भर्त्सितः शप्तो जहौ सत्यं न सुव्रतः।
छलैरुक्तो मया धर्म्मो नायंत्यजति सत्यवाक्॥
एष मे प्रापितः स्थानं दुष्प्रापममरैरपि।
सावर्णेरन्तरस्यायं भवितेन्द्रो मदाश्रयः॥

(श्रीमद्भागवत ८। २२। २८-३१)

अर्थात्— कीर्ति को बढ़ाने वाले, इस दानव मुख्य ने मेरी अजेय माया को भी जीत लिया है जो कि यह आपत्ति में फंसकर भी सत्य से पराङ्मुख नहीं होता। सम्पत्ति चली गई, राज सिंहासन से गिर गया, सैंकड़ों फटकारें पड़ीं, शत्रुओं ने बान्ध लिया, बान्धव साथ छोड़ गए, अनेक यातनायें सहीं, गुरु ने डाटा और शापित किया,— सब कुछ होने पर भी इस सुव्रत ने अपने सत्य को न छोड़ा, मैंने भी परीक्षार्थ छलपूर्वक धर्म्म भ्रष्ट करने की चेष्टा की परन्तु यह टस से मस न हुवा अतः मैं इसे वह स्थान देता हूँ कि जो देवताओं को भी नहीं मिल सकता, फिर सावर्णि मन्वन्तर में यह मेरे आश्रय से इन्द्र पद को प्राप्त होगा।

महाशय जी को इस चरित्र में भी छल कपट का उमड़ा हुवा तूफान दीख पड़ता है। अगरचे इस बली वामन आख्यायिका का सुस्पष्ट वर्णन प्रायः चारों वेदों में विद्यमान है और वेदों का थोड़ा सा स्वाध्याय करने वाले विद्वान् भी उन प्रसिद्ध मन्त्रों से सुपरिचित हैं तथापि जैसे तैसे पुराणों को बदनाम कर डालने की शपथ उठाने वाले महाशय लोग आंखों पर ठीकरी रखकर 'दशहस्ता हरीतकी' कहे बिना नहीं रह सकते।

यदि कोई बलवान्=बली 'शक्तिः परेषां परिपीडनाय' के अनुसार दूसरों के स्वत्वों को हड़प कर रहा हो! और कोई न्यायशील पुरुष— लड़ाई झगड़ा बढ़ाए बिना, और लाखों का खून बहाए बिना ही उन दोनों को अपने २ स्वत्वों का अधिकारी बनाकर— वेद (यजुः ४०। १) की—

'मागृधः कस्यस्विद्धनम्'—

आज्ञा का आदर्श समझादे तो यह न्याय होगा या अन्याय? हमें आश्चर्य्य होता है कि एम० ए० जी की उलटी सूझ में गुण भी दोष क्यों जंचता है? क्या संसार के इतिहास में ऐसा कोई दूसरा भी उदाहरण मिल सकता है कि जिसमें किसी मध्यस्थ ने दो महान् राष्ट्रों के सर्वान्तकारी संघर्ष को इस तरह शान्तिपूर्वक मिटा कर उभयपक्ष को अपने २ वास्तविक हक पर नियत कर दिया हो? यह विष्णु भगवान् की ही महिमा है कि—

न तीर छूटे, न तेगें चमकीं, न तोप बन्दूक़ दगने पाई।
पलक झमक में जो जिसका हक़ था वह उसके आगे पड़ा हुवा है॥

—अस्तु, पूर्वोक्त वेद मन्त्रों में भी इस 'आदर्श-क्रान्ति' की बांकी झांकी देखिये—और अनुभव कीजिये कि बली और वामन दोनों ही किस तरह इस लीला में एक दूसरे की भूरि २ प्रशंसा करते हैं तथा 'छल' का आरोप करने वाले महाशय 'मुद्दई सुस्त गवाह चुस्त' वाली कहावत के अनुसार किस तरह दूर खड़े लजाते हुवे नज़र आते हैं।

वृकासुर से कपट

श्रीमद्भागवत (१०।८८।१३-४०) में वर्णन आता है कि 'वृकासुर दैत्य ने घोर तप करके महादेव जी से यह वर पाया कि वह जिसके शिर पर हाथ रखदे वही पुरुष तत्काल मर जाए—इस असुर को वर पाते ही शरारत सूझी कि पहिले महादेव पर ही हाथ साफ़ क्यों न करूं, इस तरह वरदान की सचाई भी विदित होजाएगी और महादेव के भस्म होजाने से पार्वती के समान सुन्दरी स्त्री भी मिल जाएगी। महादेव जी ने इस दुष्ट के पीछा करने पर किसी तरह दौड़ भागकर विष्णु भगवान् से यह सब किस्सा सुनाया, भगवान् ने बटुक ब्रह्मचारी का वेष बनाकर इस असुर को समझाया कि तू क्यों व्यर्थ भागता है, कहीं महादेव का वर भी सच्चा हो सकता है! यदि तुझे परीक्षा करनी हो तो पहिले अपने मस्तक पर तो हाथ रख कर देख, यदि कुछ भी ताप अनुभव हुवा तभी सच्चा समझना, उसने वैसा ही किया तो वह तत्काल वहीं ढेर होगया।—इत्यादि कथा में भी कासगञ्ज के चिम्मनलाल बणिये को तखड़ी तराजू का काण्टा 'छल' की तरफ झुकता हुवा नजर आता है, इस लिये हम लाला जी की 'बाण बुद्ध' को शुद्ध करने के लिये इस पर भी चन्द पंक्तियें लिखना ज़रूरी समझते हैं।

वैदिक-स्वरूप—

(क) त्वं तस्य द्ययाविनोऽघशंसस्य कस्यचित्।
पदाभितिष्ठ तपुषिम्।

(ऋग्वेद १।४२।४)

(ख) मायाभिरिन्द्र मायिनम्।

(ऋग्वेद अष्ट० १ अ० १ व० २१)

(ग) नमो वञ्चते परिवञ्चते।

(यजुः १६।२१)

अर्थात्—(क) हे भगवन्! (त्वं) तू (तस्य) उस (द्ययाविनः) [मुझ से वर पाकर मुझे ही भस्म कर डालना रूप-] दोनों प्रकार की हानि पहुँचाने वाले (अघशंसस्य) हमारा अनिष्ट चिन्तन करने वाले (कस्यचित्) अज्ञात असुर के (तपुषिम्) तपाने, फूंकने, किं वा भस्म कर डालने वाले अङ्ग को (पदाभितिष्ठ) पाँव से कुचल डाल। (ख) हे परमात्मन्! उस मायावी वृकासुर को आप भी अपनी मायाओं द्वारा [काबू काजिये] (ग) हे ठगने वाले के लिये महान् ठगने वाले भगवन् आप को नमस्कार हो।

पौराणिक-स्वरूप

देवं स वव्रे पापीयान् वरंभूतभयावहम्।
यस्य यस्य करं शीर्ष्णि धास्ये स म्रियतामिति ॥२१॥
इत्युक्तः सोऽसुरो नूनं गौरीहरणलालसः।
स्वहस्तं धातुमारेभे सोऽबिभ्यत्स्वकृताच्छिवः ॥२३॥
तं तथा व्यसनं दृष्ट्वा भगवान्वृजिनार्दनः।
दूरात्प्रत्युदियाद्भूत्वा बटुको योगमायया ॥२७॥
इत्थं भगवतश्चित्रैर्वचोभिः स सुपेशलैः।
भिन्नधीर्विस्मृतः शीर्ष्णि स्वहस्तं कुमतिर्न्यधात् ॥३५॥
अथापतद्भिन्नशिरा वज्राहत इव क्षणात् ॥३६॥

(श्रीमद्भागवत १०।८८।२१-३६

अर्थात्—उस पापिष्ठ असुर ने महादेव जी से ऐसा भयंकर वर मांगा कि मैं जिस २ के शिर पर हाथ रखदूं वही मरजाए। [महादेव जी के तथास्तु कहने पर] वह असुर गौरी को हरण करने की लालसा से शिव भगवान् के मस्तक पर ही हाथ रखने चला, जिस से शिव भगवान् भयभीत हुवे। विष्णु जी यह आपत्ति देख कर योग माया से वटुक रूप बना कर उस असुर को मिले [और अनेक तरह के वचन कह कर उसे उल्लू बना डाला] भगवान् के पालिसी भरे वचनों से आगा पीछा भूल कर उस दुष्ट ने अपना हाथ अपने ही शिर पर रख लिया, जिससे तत्काल ही वज्र से चुटियाए हुवे की भांति वह छिन्नमस्तक होकर गिर पड़ा।

हमने दोनों स्वरूपों को प्रकट कर दिया है जब कि वेद के उपर्युक्त मन्त्र में मायावी को माया द्वारा मार डालने की खुली आज्ञा विद्यमान है फिर भी इस चरित्र पर आक्षेप करना केवल अपनी अनुपम योग्यता (?) प्रकट करना नहीं तो और क्या है? लाला जी! अब भले ही ढीली धोती बांधकर आततायी दुष्टों के अत्याचारों को सहन करने में 'अहिंसा' के स्वप्न देखते हों परन्तु आन और शान पर मर मिटने वाले हमारे पूर्वज तो दुष्टों के लिये—

निशिचर हीन करौं मही, भुज उठाइ प्रण कीन।

— के पक्के पुजारी थे। सो उक्त चरित्र में भी एक महाकृतघ्न, और परस्त्री तकने वाले पापी असुर को— 'मियां की जूती मियां का शिर' वाली कहावत के अनुसार सफाए हस्ती से मिटा डालने का अनुकरणीय आदर्श विद्यमान है।

कृष्ण की माखन चोरी

१०

श्रीमद्भागवतादि पुराणों में लिखा है कि 'भगवान् विष्णु ने कृष्णावतार में बाललीलायें करते हुवे कई बार माखन भी चुराया था,—यह सर्वजनीन प्रसिद्ध बात है, कई महाशयों के पेट में इस माखन लीला से बेतरह दर्द उठा करता है अतः इस पर भी विचार किया जाता है—

वैदिक-स्वरूप

क) घृतं पीत्वा मधु चारु गव्यं पितेव पुत्रानभिरक्षतादिमम् ॥

अथर्व २।१३।१)

(ख) मानः प्रिया भोजनानि प्रमोषीः ।

(ऋग्वेद १ । १०४ । ८)

(ग) तस्कराणां पतये नमोनमः ।

(यजुः १६ । २१)

अर्थात्— (क) [ग्वालन प्रार्थना करती हैं कि-] हे भगवन्! ताजा, मीठा जो गाय का माखन=घृत है आप उसे ग्रहण कीजिये, और जिस तरह पिता अपनी सन्तान की रक्षा करता है इस तरह हम सब भक्तों की रक्षा कीजिये (ख) [सूखे विस्कुटों पर छापा मारते हुवे निराकार को देख कर तंग हुवे स्वामी दयानन्द सरस्वती 'आर्य्याभिविनय' प्रथमप्रकाश मन्त्र ४६ में उपर्युक्त मन्त्र की व्याख्या करते हुवे झींखते हैं कि-] हे इन्द्र परमैश्वर्य्ययुक्तेश्वर! "मानः प्रिया०" हमारे प्रिय भोगों को मत चोर और मत चोरवावै । (ग) चोरों के स्वामी भगवान् को नमस्कार हो ।

पौराणिक-स्वरूप

(क) स्तेयं स्वाद्वन्नयथ दधिपयःकल्पितैः स्तेययोगैः ॥२६॥

(ख) हस्ताग्राह्ये रचयति विधिं पीठकोलूखलाद्यैः ।
छिद्रं ह्यन्तर्निहितवयुनः शिक्यभाण्डेषु तद्वित् ॥३०॥

(श्रीमद्भागवत १० । ८ । २६-३०)

अर्थात्— (क) भगवान् कृष्ण बनावटी चोरी के अनेक ढंग बनाकर स्वादिष्ठ दही दूध माखन आदि चुरा कर खाजाते थे । (ख) कदाचित् माखन ऊंचे छींके पर रक्खा हो और वहां तक हाथ न पहुँच पाता हो तो भगवान् पीढ़े ऊखल आदि चीज़ों का मचान बांध लेते थे, यदि यह वस्तुवें भी न मिलें तो लठिया के साथ छींके पर लटकती हुई माखन की हंडिया में छेद करके ही अपना काम निकाल लेते थे ।

विसकुटभोजी मौजी महाशयों को इस बालकेलि में भी चोरी की दफ़ा आयद होती नज़र आती है, परन्तु उन्हें यह मालूम नहीं कि जब घर का मालिक ही हाथ बांध कर निरन्तर अपनी किसी वस्तु के उड़ा लेजाने की प्रार्थना करता रहा हो, तब कभी एक दिन बड़े नाज़ो नखरे के साथ नन्दकिशोर चोर ने भक्त की ओर कृपा कोर की हो, और जिसका माखन लुटा हो वह स्वयं अपने अहोभाग्य मानकर सीरणी

बांटता फिरता हो तो फिर किसी 'ऐरे गैरे नत्थू खैरे' को खाहमखा बाड़ में बोहिया तुड़वाने की क्या जरूरत? पढ़िये प्राचीन कवियों ने इस लीला को किन हृदयस्पर्शी शब्दों में गूंथा है—

(क) नीतं यदि नवनीतं, नीतं नीतं च किं तेन।
आतपतापितभूमौ माधव! माधाव माधाव॥

अर्थात्— [माखन उठा कर भागते हुवे कृष्ण को देख कर घर की मालकिन गोपी प्रेमविह्वल होकर कहती है कि—] प्यारे कृष्ण! यदि तैने माखन लेलिया तो लेलिया, इससे क्या हुवा, हे माधव! तू नंगे पांवों इस धूप से तपी हुई भूमि पर मत भाग! बिलकुल मत दौड़!!

कभी चोरों के लिये भी लुटे हुवे व्यक्ति इस तरह हमदर्दी दिखाया करते हैं? और सुनिये एक दिन भगवान् यशोदा जी से कह रहे थे कि—

(क) मय्यारी मोही माखन भावे।
जो मेवा, पकवान कहत तूं मोहि नहीं रुचि आवे।

—वहां एक ग्वालिन खड़ी यह बात सुन रही थी वह मन ही मन सोचने लगी कि—

(ख) व्रज युवती इक पाछे ठाडी सुनत श्याम की बात।
मन में कहत कभूं अपने घर देखों माखन खात॥
बैठें जाय मथनिया के ढिग तब मैं रहौं छिपानी।
सूरदास प्रभु अन्तर्यामी ग्वालिन मन को जानी।

—एक दूसरी गवालिन तो साफ ही कह उठी कि—

(ग) धेनु के चरैय्या प्यारे भय्या बलभद्र जू के,
नन्द के ललैय्या मोरे अंगना में आउरे।
दही दूध बहुत प्याऊं माखन घनो सो लाऊं,
मीठी मीठी तान नेक गाय के सुनाउरे॥
नन्द जू के किशोर मेरे चित्त हू के चोर,
नेक तो अधर धर बांसुरी बजाउरे।
या छबि ऊपर कोटि काम वार डारे,
दया सखी प्रेमवश हिय में समाउरे॥

—इस तरह लम्बी चौड़ी प्रार्थना के बाद तब कभी हमारे चोरराज ने चोरी करनी मंजूर की।

(घ) गए श्याम तिहि ग्वालिन के घर।
हरि आवत गोपी जब जान्यो आपन रही छिपाई।
सूने सदन मथिनिया के ढिग बैठि गए अरगाई॥
माखन भरी कमोरी देखी लै लै लागे खान।
चिते रहे मणि खंभ छाहिं तन तासों करें सयान॥
प्रथम आज मैं चोरी आये भलो बन्यो है संग।
आप खात प्रतिबिम्ब खवावत गिरत कहत कारंग॥
सुन सुन बात श्यामके मुखकी उमँग हँसी सुकुमारी।
सूरदास प्रभु निरखि ग्वालि मुख तब भजि चले मुरारी॥

यदि इतने पर भी महाशयों की तसल्ली न हो तो उनके लिये अदालत का दरवाजा खुला पड़ा है, जाकर हम कृष्ण भक्तों की नालिस करदें कि– 'सनातन धर्मियों के इष्ट देव ने हमारे नकड़ दादा का सवा सात मन माखन चुरा खाया, हर्जाना मिलना चाहिये'। फिर देखिये कि पौने पांच साल की आयु वाले दूध मुंहे कृष्ण पर कौन सी दफा कायम होती है!

जिस माखन लीला के चिन्तन से रस खान सरीखे अहिन्दू कवियों का भी चित्त गद्गद हो उठता था यदि उसी लीला पर हिन्दूत्व का दम भरने वाले अधकचरे महाशय कुछ बकवास करें तो यह उनकी हिमाकत ही समझनी चाहिये।

ऊपर के पद्यों के अनुसार एक तो हमारे कृष्ण भगवान् हैं कि जिन्हें हम सौ सौ बार अपना दही माखन खिलाने को पुकारते हैं तब कभी वे एक आध बार अपनी कृपा दिखाते हैं, उधर दयानन्दियों का भूखड निराकार है कि जो 'मानः प्रिया०' की व्याख्यानुसार स्वामी दयानन्द जी द्वारा हजार बार झिड़का जाने पर भी सूखे बिस्कुटों पर दल बल सहित छापा मारे बिना नहीं मानता! यदि सुज्ञ पाठक, दोनों सम्प्रदायों की भावना, और उनके इष्ट देवों की सभ्यता का तुलनात्मक दृष्टि से विचार करेंगे तो उन्हें विदित होजाएगा कि एक ओर प्रार्थना है तो दूसरी ओर फट्कार! इधर प्रेमरस की उमंगें हैं तो उधर हाहाकार!! यहां हाथी की तरह झूमते हुवे नखरे से मलीदा खाना, तो वहां 'देख बिगानी चोपड़ी गिर पड़ बेईमान' कहावत का इज़हार!!!

चीर-हरण

बहुत से महाशय, भगवान् द्वारा गोपियों के वस्त्र चुराए जाने वाली कथा पर भी कई तरह के आक्षेप किया करते हैं अतः इस कथा पर भी चन्द शब्द लिखना अनावश्यक न होगा—

वैदिक-स्वरूप

(क) अहत वसानोऽवभृथादुपैति ।
(ताण्ड्य १६ । १३ । ६)

(ख) एतद्वै पत्न्यै व्रतोपनयनम् ।
(तैत्तिरीय ३ । ३ । ३ । २)

(ग) अप्सु वै वरुणः ।
(तैत्तिरीय १ । ६ । ५ । ६)

(घ) अनृते खलु वै क्रियमाणे वरुणो गृह्णाति ।
(तैत्तिरीय १ । ७ । २ । ६)

(ङ) यस्यतेवासः प्रथमवास्यं हरामस्तं त्वा विश्वेऽवन्तु देवाः ।
(अथर्व २ । १३ । ५)

अर्थात्— (क) बिना फटा वस्त्र ओढे हुवे याज्ञिक स्नान करना चाहिये । (ख) स्त्री के लिये भी नग्न स्नान न करना आवश्यक व्रतोपनयन है । (ग) [क्यों कि-] जलों में वरुण देवता का निवास है । (घ) जो पूर्वोक्त नियम को झुटलाता है उसे वरुण पकड़ता है । (ङ) हे कुमारीगण ! (यस्य) जिस (ते) तेरे [नग्न स्नान के कारण-] (प्रथमवास्यं) [कात्यायनी व्रतरूप-] यशः के नाशक (वासः) वस्त्र को [हम गोपों ने] (हरामः) हरण किया है (विश्वेदेवाः) वरुणादि सब देवता (त्वा) तुझारे (तं) उस व्रत की (अवन्तु) रक्षा करें ।

पौराणिक-स्वरूप

हेमन्ते प्रथमे मासि नन्दव्रजकुमारिकाः ।
चेरुर्हविष्यं भुञ्जानाः कात्यायन्यर्चनव्रतम् ॥१॥
नद्यां कदाचिदागत्य तीरे निक्षिप्य पूर्ववत् ।
वासांसि कृष्णं गायन्त्यो विजहुः सलिले मुदा ॥२॥

भगवाँस्तदभिप्रेत्य कृष्णो योगेश्वरेश्वरः ।
वयस्यैरावृतस्तत्र गतस्तत्कर्म्मसिद्धये ॥८॥
तासां वासांस्युपादाय नीपमारुह्य सत्वरः ॥९॥
अत्रागत्यावलाः कामं स्वं स्वं वासः प्रगृह्यताम् ॥१०॥
आकण्ठमग्नाः शीतोदे वेपमानास्तमब्रुवन् ॥१३॥
जानीमोङ्ग व्रजश्लाघ्यं देहि वासांसि वेपिताः ॥१४॥
अत्रागत्य स्ववासांसि प्रतीच्छन्तु शुचिस्मिताः ॥१५॥
ततो जलाशयात्सर्वा दारिकाः शीतवेपिताः ।
पाणिभ्यां योनिमाच्छाद्य प्रोत्तेरुः शीतकर्शिताः ॥१७॥
भगवानाह ता वीक्ष्य शुद्धभावप्रसादितः ।
यूयं विवस्त्रा यदपो धृतव्रता,
व्यगाहतैतत्तदु देवहेलनम् ॥
बध्वाञ्जलिं मूर्ध्न्यपनुत्तयेऽहंसः,
कृत्वा नमोऽधोवसनं प्रगृह्यताम् ॥१९॥

(श्रीमद्भागवत १० । २२ । १–२८)

अर्थात्—हेमन्त ऋतु के प्रथम महीने=मार्गशीर्ष में नन्द व्रज की रहने वाली कुमारिका– (लग भग पांच वर्ष की आयु वाली कन्या–) एं, हविष्य अन्न को खाकर कात्यायनी देवी का व्रत किया करती थीं। एक दिन वे नित्य की तरह यमुना के किनारे सब वस्त्र उतार कर नंगी नहाने लगीं और भगवान् कृष्ण के गीत गाने लगीं। योगेश्वर भगवान् उनका सब अभिप्राय जानकर उस व्रत की पूर्णता के लिये गोपों ग्वालों सहित वहां आए और उनके वस्त्र उठा कर झटपट कदम्ब वृक्ष पर चढ गये। [कन्याओं के वस्त्र मांगने पर भगवान् ने कहा कि–] हे अवलाओ ! यहां आकर अपने २ वस्त्र ले लीजिये। [परन्तु वे कन्यायें तथैव] कण्ठ पर्य्यन्त ठण्डे जलमें डूबी हुई, तथा कांपती हुई कहने लगीं कि हे भगवन् हम आप को व्रज में–श्लाघनीय जानती हैं, अतः इस तरह कांपती हुई हम अवलाओं के वस्त्र देदीजिये ! [भगवान् ने उन की बाल्यभाव सुलभ 'नग्निका' अवस्था की परीक्षा के लिये कहा कि–) हे पवित्र–मुस्कान वाली कन्याओ ! यहां आकर अपने वस्त्र लीजिये। तब शीत से कांपती हुई वे कन्यायें दोनों हाथों से अपने अङ्ग को ढांप कर तत्काल जल से निकल आईं।

भगवान् उनके इस विशुद्ध भाव को देख कर अतीव प्रसन्न हुवे और कहने लगे कि—हे देवियो ! तुमने कात्यायनी व्रत को धारण करते हुवे भी जो नंगी होकर स्नान किया है इससे वरुण देव का अपमान हुवा है, अतः पहिले इस पाप के प्रायश्चित्तार्थ तुम्हें मस्तक पर अञ्जलि बांधकर नमस्कार करना चाहिये फिर अपने वस्त्रों को लीजिये।

पाठक दोनों स्वरूपों का मनन करके परिणाम निकालें, कि वेद भगवान् किस प्रकार खुले बन्दो नग्न स्नान का निषेध कर रहा है, खास कर व्रतनिष्ठा स्त्रियों के लिए तो उक्त आज्ञा का पालन करना कितना आवश्यक है—यह बात भी उपर्युक्त वेद मन्त्रों में सुस्पष्ट प्रकट करदी गई है। किसी प्रकार का आक्षेप करने से पूर्व इस लीला के नीचे लिखे भावों को समझ लेना चाहिये—

(१) स्नान करने वाली सबकी सब ५ से ८ वर्ष तक की आयु वाली क्वारी कन्याएं थीं, क्योंकि-कात्यायनी व्रत का विधान ऐसी कन्याओं के लिये ही शास्त्र-सम्मत है। अतएव पौराणिक स्वरूप में उन्हें- 'कुमारिका'- और 'दारिका' शब्द से याद किया है।

(२) वे सब भगवान् की शरणागत होकर यह व्रत कर रही थीं अतएव उनके लिये 'हविष्यं भुञ्जानाः' 'कृष्णं गायन्त्यः' ऐसा लिखा है। इससे भगवान् को उनकी देख रेख रखना आवश्यक था।

(३) भगवान् की आयु भी इस समय छः साल और तीन महीने की थी क्योंकि गोवर्द्धन उठाने के समय- 'क सप्तहायनो बालः' (श्री०भा० १०। २६। १४) शब्दों में भगवान् को सात वर्ष का लिखा है, चीरहरण लीला इससे ठीक ११ मास पूर्व घटी थी, अतः इतनी छोटी अवस्था के बालक बलिकाओं में किसी प्रकार के कुभाव की सम्भावना नहीं होसकती।

(४) यह स्नान प्रायः पौफटे होता है जब कि एक दूसरे का मुंह भी नहीं ताक सकता। अब भी प्रायः कार्तिक स्नान इसी समय किया जाता है।

(५) भगवान् एकेले नहीं थे बल्कि- 'वयस्यैरावृतः' के अनुसार अपनी बराबर आयु वाले ग्वालों के झुण्ड सहित थे। कुवासना वाले व्यक्ति तो दूसरे के कानों कान ऐसी बात नहीं पहुँचाना चाहा करते इससे भगवान् का विशुद्ध भाव स्पष्ट है।

(६) ये कन्याएं नित्य ही नग्न स्नान करती थीं जैसा कि- 'तीरे निक्षिप्य-पूर्ववत्' शब्दों से विदित होता है, इससे यह भी अनुमान किया जा सकता है कि शायद पहिले भी उन्हें एक दो बार नग्न स्नान करने से ज़बानी हटाया जा चुका हो परन्तु न हटने पर अन्त में वस्त्र उठाकर शर्म्मिन्दा करने की नौबत आई हो, क्योंकि पिछले दिनों गङ्गास्नान के समय नंगी नहाने वाली औरतों को हज़ार बार समझाने पर भी

जब यह कुप्रथा न हटी तो महावीर दल के नेताओं ने इसी तरह शर्मिन्दा करने की ठानली थी, अतः भगवान् का यह वस्त्रों पर छापा मारना एक कुप्रथा को जड़से मिटा देना ही होसकता है।

(७) भगवान् वस्त्र उठाते ही झटपट कदम्ब वृक्ष की सघन पत्तियों में मुंह छिपा कर बैठ गए, जैसा कि 'नीपमारुह्य सत्वरः' आदि शब्दों द्वारा प्रकट किया गया है, क्या इससे नग्न स्नाताओं को न देखने की अभिरुचि ध्वनित नहीं होती ?

(८) भगवान् ने जब लज्जित करने के लिये बाहिर आने की बात कही तो वे कन्याएं 'आकण्ठमग्नाः' ही बनी रहीं।

(९) अन्त में— नग्न स्नान से किन कन्याओं का व्रतभङ्ग हुवा है यह जांचने के लिये जब दूसरी बार फिर बाहिर आने का आग्रह किया गया तो वे सब आगईं। इसका तात्पर्य्य यह है— शास्त्रों में और लोक में भी उसी व्यक्ति को अपराधी ठहराया जाता है जो कि अमुक कार्य्य को बुरा भला समझ सकने लायक मस्तिष्क रखता हो— यह एक नियम है। अबोध बालक, या सदसद्-विवेक-हीन पागल द्वारा इत्तिफाकिया पिस्तौल का घोड़ा दब जाने पर किसी व्यक्ति की मृत्यु होसकती है परन्तु ऐसी हालत में अज्ञानी होने के कारण उन्हें प्राणदण्ड नहीं दिया जा सकता यह कानून है। ठीक इसी तरह भगवान् भी यह जानना चाहते थे कि ये कन्याएं सभी अबोध हैं कि वा इनमें से किसी को वस्त्र ढांपने की आवश्यकता का भी यौवनसुलभ परिज्ञान है, इस परीक्षा का साधन एकमात्र उन्हें नंगी दशा में जल से बाहिर आजाने को विवश करना ही होसकता था। कदाचित् उनमें एक भी यदि सुवासन या मुटियार होती तो वह सारे संसार के भी हजार बार चिल्लाने पर नग्न दशा में बाहिर आने को तैयार न होती, और इस पड़दा प्रथा के बांध के कारण वह वरुण देव के अपमान की भी पापभागिनी सिद्ध होती। परन्तु हमारे घरों में अबोध बालिकायें एक समय तक अङ्ग ढांपने की परवाह नहीं करतीं क्योंकि उन्हें अभी तक स्त्री पुरुष की विशेषता का भान ही नहीं होता, अतः शास्त्र में उन्हें- 'नग्निका' नाम से याद किया है और पड़दे का बोध होजाने वाली कन्याओं को 'अनग्निका' कहा गया है। सो भगवान् भी यह बात जानना चाहते थे कि ये सब की सब 'नग्निकायें' हैं कि वा इन में कोई 'अनग्निका' भी है, सो परीक्षा करने पर विदित हुवा कि सभी नग्निका हैं, अतः भगवान् ने वरुण देव को नमस्कारमात्र कर देने से नग्न स्नान पाप का प्रायश्चित्त करवा दिया, क्योंकि जो अभी अबोध हैं, वरुण देव भी उन्हें सापराध नहीं मान सकते। कदाचित् कोई अनग्निका होकर भी नग्न स्नान करती तो वह जान बूझकर पाप करने वाली होने के कारण अधिक प्रायश्चित्त की भागिनी होती।

रास-लीला

१२

भगवान् कृष्ण की रासलीला से प्रायः हिन्दूमात्र परिचित हैं, कुछ ब्रैक्टिड हिन्दू उक्त लीला के विषय में भी अपनी कलि-कल्मष-कलुषित प्रवृत्ति से विवश होकर अनावश्यक अनाप शनाप बका करते हैं, यह लीला मानो पुराणों को बदनाम करने के ठेकेदारों (Contractors) का अमोघ ब्रह्मास्त्र है ! अपनी नाक खुद काट कर शहीद बनने के शौकीन समाजी, प्रायः सभी शास्त्रार्थों में इस लीला का मनमाने ढंग से ज़िक्र किये बिना दम नहीं लेते, अतः एक सीमा तक सर्व साधारण में भी उक्त कथा का गूढ रहस्य न समझ सकने की अयोग्यता के कारण भारी भ्रम फैला हुवा है, कहा जाता है कि उस दिन-थियासोफिकल सोसाइटी की सर्वस्व श्रीमती एनी बेसेन्ट ने भी शङ्कावादियों से ऊब कर यहां तक कह डाला था कि- 'प्यारे कृष्ण ! यदि तुम्हें अपनी रासलीला का रहस्य समझा सकने वाले किसी योग्य ऋषि को वर्तमान भारत में भेजना स्वीकार नहीं था तो कृपा करके श्रीमद्भागवत ग्रन्थ को भी अपने साथ ही लेजाना चाहिये था'— ।

श्रीमती जी के ये उद्गार जहां उनकी अनुपम कृष्ण भक्ति एवं रासलीला की गूढता के द्योतक हैं, वहां उक्त लीला के-भागवत-वर्णित-स्वरूप का, पूर्वापर-सम्बन्ध-पूर्वक समन्वय न कर सकने की असमर्थता के भी परिचायक हैं । हमारा दावा है कि यदि कोई सादर अन्तर्मुख होकर इस लीला का रहस्य ढूंढना चाहे तो उसे कहीं बाहिर दौड़ धूप करने की आवश्यकता न होगी, किन्तु श्रीमद्भागवत के मूल शब्दों में ही उसे अपनी सब शङ्काओं का सन्तोषजनक समाधान मिल जाएगा । अस लिये क्रमागत विवेचन शैली के अनुसार हम—उक्त लीला के वैदिक और पौराणिक स्वरूपों को प्रकट करके इस पर समुचित प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे । यथा —

वैदिक-स्वरूप

(क) नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि ।
तन्नो विष्णुः प्रचोदयात् ।

(तैत्तिरीयारण्यक १० । १ । ६)

(ख) मर्त्या ह वाग्रे देवा आसुः ।

(शतपथ ११ । १ । २ । १२)

(ग) अपहत पाप्मानो देवाः ।

(शतपथ २ । १ । ३ । ४)

(घ) अनस्थाः पूताः पवनेन शुद्धाः शुचयः ।

(अथर्व ४ । ३४ । २)

(ङ) एकाकी न रमते ।

(बृहदारण्यक १ । ४ । ३)

(च) ततो वपूंषि कृणुते पुरूणि ।

(अथर्व ५ । १ । २)

(छ) कामो जज्ञे प्रथमो नैनं देवा आपुः पितरो न मर्त्याः ।

(अथर्व ९ । २ । १९)

(ज) नव्या नव्या युवतयो भवन्तीर्महद्देवानामसुरत्वमेकम् ।

(ऋग्वेद ३ । ५५ । १६)

(झ) त्वं काम ! सहसासि प्रतिष्ठितो,
विभुर्विभावा सख आ सखीयते ।

(अथर्व १९ । ५२ । २)

(ञ) त्वं जामिर्जनानामग्ने मित्रो असि प्रियः ।
सखा सखिभ्य ईड्यः ॥

(ऋग्वेद १ । ७५ । ४)

अर्थात्— (क) वसुदेव के पुत्र श्रीकृष्ण भगवान् साक्षात् नारायण विष्णु थे । (ख) सब देवता भी मनुष्य [गोप] बन कर अवतीर्ण हुवे थे । (ग) देवता स्वभावतः पापरहित होते हैं । (घ) वे सब दिव्य शरीर वाले एवं वायु के तुल्य सर्वथा पवित्र होते हैं । (ङ) भगवान् अकेला रमण नहीं करता । (च) तब अपने अनेक रूप बनाता है । (छ) कामदेव सब में मुख्य है अतएव उसे देव पितर और मनुष्य नहीं पासके । (ज) यह भी देवताओं का ही देवत्व है कि जो वे नई नई युवतियों के रूप में परिणत होसकते हैं । (झ) हे कामदेव ! तू साहस में प्रतिष्ठा पाए हुवे है, हे सखे ! [कृष्ण !!] आप घट घट में व्यापक हो एवं विशेषता करके हमारे भावों के ज्ञाता हो [अतः] सब तरह से सखीजन की तरह आचरण कीजिये । (ञ) हे तेजस्वी कृष्ण आप हम भक्त जनों के बन्धु, मित्र एवं प्यारे हो [अतएव] हम सखीजनों के सखा होने के कारण सर्वथा स्तुत्य हो ।

पौराणिक-स्वरूप

(क) वसुदेवगृहे साक्षाद्भगवान्पुरुषः परः ।
जनिष्यते तत्प्रियार्थं सम्भवन्तु सुरस्त्रियः ॥२२॥
भवद्भिरंशैर्यदुषूपजन्यताम् ॥२३॥
(श्रीमद्भागवत १० । १ । २२-२३)

(ख) गोपजातिप्रतिच्छन्ना देवा गोपालरूपिणः ॥
(श्रीमद्भागवत १० । १८ । ११)

(ग) यः सप्तहायनो बालः करेणैकेन लीलया ।
कथं बिभ्रद् गिरिवरं पुष्करं गजराडिव ॥
(श्रीमद्भागवत १० । २६ । ३)

(घ) भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः ।
वीक्य रन्तुम्मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः ॥१॥
जगौ कलं वामदृशां मनोहरम् ॥३॥
ता वार्य्यमाणाः पतिभिः पितृभिर्भ्रातृबन्धुभिः ।
गोविन्दापहृतात्मानो न न्यवर्तन्त मोहिताः ॥८॥
अन्तर्गृहगताः काश्चिद्गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः ॥९॥
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीण-बन्धनाः ॥११॥
ता दृष्ट्वान्तिकमायाता भगवान्व्रजयोषितः ।
अवदद् वदतां श्रेष्ठो वाचः पेशैर्विमोहयन् ॥१७॥
रजन्येषा घोररूपा घोरसत्वनिषेविता ।
प्रतियात व्रजं नेह स्थेयं स्त्रीभिः सुमध्यमाः ॥१९॥
भर्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां परो धर्म्मो ह्यमायया ॥२४॥
श्रवणादर्शनाद्ध्यानान्मयि भावोऽनुकीर्तनात् ।
न तथा सन्निकर्षेण प्रतियात ततो गृहान् ॥२७॥

मैवं विभोर्हति भवान् गदितुं नृशंसं,
सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम् ॥
भक्ता भजस्व दुरवग्रह मात्यजास्मा-
न्देवो यथादिपुरुषो भजते मुमुक्षून् ॥३१॥
प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा ॥३२॥
सिञ्चाङ्ग ! नस्त्वदधरामृतपूरकेण,
हासावलोककलगीतजहृच्छयाग्निम् ॥
नोचेद्वयं विरहजाग्न्युपयुक्तदेहा,
ध्यानेन याम पदयोः पदवीं सखे ! ते ॥३५॥
व्यक्तं भवान्व्रजजनार्तिहरोऽभिजातो,
देवो यथादिपुरुषः सुरलोकगोप्ता ॥
तन्नो निधेहि करपङ्कजमार्तबन्धो !
तप्तस्तनेषु च शिरस्सु च किंकरीणाम् ॥४१॥
इति विक्लवितं तासां श्रुत्वा योगेश्वरेश्वरः ।
प्रहस्य सदयं गोपीरात्मारामोऽप्यरीरमत् ॥४२॥
बाहुप्रसारपरिरंभकरालकोरु-
नीवीस्तनालभननर्मनखाग्रपातैः ॥
क्ष्वेल्यावलोकहसितैर्व्रजसुन्दरीणा-
मुत्तम्भयन् रतिपतिं रमयांचकार ॥४६॥
एवं भगवतः कृष्णाल्लब्धमाना महात्मनः ।
आत्मानं मेनिरे स्त्राणां मानिन्योऽभ्यधिकं भुवि ॥४७॥
तासां तत्सौभगमदं वीक्ष्य मानं च केशवः ।
प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत ॥४८॥
(श्रीमद्भागवत १० । २९ । १-४८)

(ङ) नखलुगोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक् ॥
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान्सात्वतां कुले ॥४॥

प्रणतदेहिनां पापकर्शनं तृणचरानुगं श्रीनिकेतनम् ॥
फणिफणार्पितं ते पदाम्बुजं कृणु कुचेषु नः कृन्धि हृच्छयम् ॥७॥

श्रीमद्भागवत १० । ३१ । ४-७)

(च) इतिगोप्यः प्रगायन्त्यः प्रलपन्त्यश्च चित्रधा ॥
रुरुदुः सुस्वरं राजन्कृष्णदर्शनलालसाः ॥१॥
तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः ॥
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः ॥२॥

(श्रीमद्भागवत १० । ३२ । १-२)

(छ) तत्रारभत गोविन्दो रासक्रीडामनुव्रतैः ।
स्त्रीरत्नैरन्वितः प्रीतैरन्योन्याबद्धबाहुभिः ॥२॥
कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्व्रजयोषितः ।
रेमे स भगवांस्ताभिरात्मारामोऽपि लीलया ॥२०॥
रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः ॥१७॥
नासूयन् खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया ।
मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान्स्वान्स्वान्दारान्व्रजौकसः ॥३८॥

(श्रीमद्भागवत १० । ३३ । २-३८)

अर्थात्— (क) [ब्रह्मा जी ने देवताओं के प्रति कहा कि-] साक्षात् परम पुरुष भगवान् वसुदेव जी के घर में अवतार लेंगे । इस लिये हे देववृन्द ! आप और आप की स्त्रियों को भी उनके सहयोग के लिये व्रजभूमि में अपने २ अंशों से अवतीर्ण होना चाहिये । (ख) सो सब गोपाल लोग ग्वाल वेष में छुपे हुवे देवता ही थे । (ग) भगवान् कृष्ण ने सात वर्ष की छोटी सी आयु में गोवर्द्धन पर्वत को एक हाथ से ऐसे उठा लिया जैसे कि कमल फूल को मत्त हाथी उठा लिया करता है [इसके अगले ही वर्ष में रासलीला हुई थी जब कि भगवान् की आयु आठ वर्ष की थी]. (घ) भगवान् ने शरद् ऋतु की विकसित मल्लिका वाली रात्रियों को जान कर अपनी योग माया के आश्रय से क्रीड़ा करने का विचार किया ॥ १ ॥ स्त्रियों के मन को लुभाने वाली कलनिनादिनी वंसी बजाई ॥ २ ॥ [सुनते ही व्रज स्त्रियें-] पतियों, पिताओं, भ्राताओं और बन्धुवा के रोकने पर भी,- कृष्ण ने जिनकी आत्मा को चुरा लिया था

वे सब की सब मुग्ध हुई गोपियें न हटीं ॥ ८ ॥ जिन गोपियों को घर में बन्द होने के कारण निकलने का अवकाश न था वे [भगवान् में तीव्र अनुराग होने के कारण-] तत्काल इस गुणमय शरीर को त्याग कर मुक्त होगईं ॥ ९ ॥ ११ ॥ सुवक्ता भगवान् ने उन व्रज स्त्रियों को अपने पास आई जानकर हृदयको लुभाने वाले शब्दों में कहा कि— ॥ १७ ॥ हे व्रजसुन्दरियों ! यह घोर रात है, और इस बन में अनेक भयङ्कर जीव रहते हैं इस लिये तुम सब वापिस व्रज को लौट जाओ, यहां किसी भी स्त्री को नहीं ठहरना चाहिये ॥ १९ ॥ क्योंकि निश्छल भाव से पति की सेवा करना ही स्त्रियों का परम धर्म्म है ॥ २४ ॥ और मुझ में भी जैसी प्रेम भक्ति सुनने, देखने, ध्यान करने, और कीर्तन करने से उत्पन्न होती है वैसी निकट रहने से नहीं होती अतः फौरन अपने २ घरों को लौट जाओ ॥ २७ ॥ [भगवान् के इन वचनों को सुनकर गोपियों ने कहा कि-] हे भगवन् ! आप को इस तरह के रूखे बचन कहने उचित नहीं क्योंकि हम तो संसार के समस्त विषयों को छोड़ कर आप के चरण शरण में आने वाली भक्ता हैं, इस लिये आप हमें मत दुत्कारिये ! बल्कि जिस प्रकार मुमुक्षु जनों को आदि पुरुष परमात्मा शरण में रखता है इसी प्रकार आप भी हमें शरण में लीजिये ॥ ३१ ॥ आप तो निश्चित ही समस्त शरीर धारियों में व्याप्त रहने वाली प्यारी आत्मा हो ॥ ३२ ॥ आप के देखने और मनोहर बांसुरी की ध्वनि सुनने से जो हमारे हृदयों में कामाग्नि धधक रही है, उसको अपने अधरामृत का प्रवाह सींच कर शान्त कीजिये, वरना—प्यारे कृष्ण ! हम सब इस विरहाग्नि की ज्वालाओं से जलकर तुम्हारा ध्यान करती हुई यहीं आप के चरणों में विलीन हो जायेंगी [मर जायेंगी] ॥ ३५ ॥ निःसन्देह आप देवताओं के रक्षक, आदि पुरुष, परमात्मा हो ! और व्रजवासियों की पीड़ा को दूर करने के लिये अवतीर्ण हुवे हो ! हे आर्तबन्धो ! इस लिये आप अपना हस्तकमल हम किंकरियों के स्तनों और शिरों पर रखिये ॥ ४१ ॥ योगेश्वर भगवान् को इस तरह उन गोपियों का करुणाक्रन्दन सुनकर दया आगई, और अपने आप में ही रमण करने वाले होते हुवे भी वे हंसकर गोपियों को रमण कराने लगे ॥ ४२ ॥ बाहु फैलाना, लिपटना, गले लगाना, हाथ, अलक, जंघा, नीवि (कमर के कपड़े की गांठ) और स्तनों को छूना, हंसी, मसखरी, नखच्छेद देना, क्रीड़ा, कटाक्ष और मन्द मुस्कान इत्यादि से कामोद्दीपन करते हुवे भगवान् गोपियों को रमण कराने लगे ॥ ४६ ॥ इस प्रकार महात्मा कृष्ण जी से मान पाकर वे गोपियें अपने आप को भूमण्डल में सर्वाधिक सुन्दरी समझने लगीं ॥ ४७ ॥ भगवान् इनके इस सौभाग्य मद और मानको नष्ट करके कृपाभाव दिखाने के लिये तत्काल वहीं अन्तर्धान होगये ॥ ४८ ॥ (ङ) [तब विरह कातर गोपियें रो रो कर कहने लगीं कि-] हे भगवन् ! आप निश्चित

ही किसी गोपी के पुत्र नहीं है बल्कि समस्त प्राणियों के अन्तरात्मा हैं। हे प्यारे कृष्ण! आप तो ब्रह्मा जी की प्रार्थना से इस विश्व की रक्षा के लिए सात्वत कुल में अवतीर्ण हुवे हो ॥ ४ ॥ हे भगवन्! आपके—शरणागत प्राणियों के पापों को दूर करने वाले लक्ष्मी के घर होते हुवे भी भक्तिवश गौवों के पीछे भागने वाले और विषधर कालीय सर्प के क्रूर फणों पर नृत्य करने वाले जो चरण कमल हैं, उन्हें हमारी कुचाओं पर रख कर कामदेव को विनष्ट कर डालिए ॥ ७ ॥ (च) इस तरह गोपिएं गाती हुईं और अनेक प्रकार के प्रलाप करती हुईं भगवान् के दर्शनों की इच्छा से ऊंची आवाज़ में रोने लगीं ॥ १ ॥ तब उन सबके बीच में मन्द मन्द मुस्काते हुवे साक्षात् कामदेव को भी लजाने वाले भगवान् आविर्भूत हुवे। जो पीताम्बर पहिने और गले में माला धारण किए हुवे थे ॥ २ ॥ (छ) तब वहां भगवान् ने अपनी परम भक्त सुप्रसन्न गोपियों के हाथों में हाथ डालकर रास क्रीड़ा (Dance) आरम्भ की ॥ २ ॥ जितनी व्रज स्त्रियें थीं उतने ही अपने रूप बनाकर वह आत्माराम भगवान् लीला से उन गोपियों के साथ रमण करने लगे ॥ २० ॥ जैसे बालक [कांच या जल आदि स्वच्छ पदार्थों में दीख पड़ने वाले] अपने प्रतिबिम्बों के साथ खेला करता है इसी तरह लक्ष्मीपति भगवान् भी उन व्रजसुन्दरियों के साथ रमण करने लगे ॥१७॥ माया से मोहित हुवे गोपों ने अपनी २ स्त्रियों को अपने निकट समझा इस लिये वे भगवान् के इस चरित्र पर कुछ भी दोषारोपण नहीं कर सके ॥ ३८ ॥

परीक्षित की दो जिज्ञासायें और उनका उत्तर।

रासलीला के विषय में परीक्षित जी ने दो प्रश्न उपस्थित किये हैं। जो वास्तव में किसी भी विज्ञ श्रोता के हृदय में उक्त कथा के सुनने पर स्वभावतः उत्पन्न होसकते हैं, हम पाठकों के लाभार्थ उन दोनों प्रश्नों को तथा श्री वेद व्यास जी द्वारा किए गए उनके समाधानों को यहां उद्धृत करना आवश्यक समझते हैं, तद्यथा—पहिला प्रश्न—क्रीड़ा में सम्मिलित न हो सकने वाली गोपियों के मुक्त होजाने के सम्बन्ध में इस प्रकार है:—

(१)

राजोवाच— कृष्णं विदुः परं कान्तं नतु ब्रह्मतया मुने!
गुणप्रवाहोपरमस्तासां गुणधियां कथम्? ॥
श्रीशुक उवाच—उक्तं पुरस्तादेतत्ते चैद्यः सिद्धिं यथागतः।
द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोक्षजप्रियाः ॥

नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप !
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः ॥
कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च ।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते ॥

(श्रीमद्भागवत १० । २६ । १२-१५)

अर्थात्—राजा परीक्षित ने पूछा कि—हे शुकदेव मुने ! वे गोपियें भगवान् कृष्ण को केवल अपना परम प्रेमीकान्त समझकर ही प्रीति करती थीं, ब्रह्म या अवतार बुद्धि से उसमें विशुद्ध प्रेम नहीं करती थीं- तो फिर उन गुणासक्त गोपियों का गुणमय प्रवाह कैसे शान्त होगया ? [अर्थात्—रागद्वेषादि के निवृत्त होजाने पर ही जीव मोक्ष को प्राप्त हो सकता है वे तो स्वयं अत्यन्त अनुराग संयुक्त थीं फिर उनका मुक्त होजाना कैसे सुसम्भव है ?] श्री शुकदेवजी ने कहा कि-हे राजन् ! मैंने पूर्व ही तुम्हें समझाया था कि- भगवान् कृष्ण का परम द्वेषी शिशुपाल द्वेष बुद्धि से भी निरन्तर भगवान् का स्मरण रखने के कारण मुक्त हो गया था, सो यदि द्वेषभावना से तन्मयता को प्राप्त होने वाला व्यक्ति मुक्त हो सकता है तो ये गोपियें तो भगवान् में अनुरागात्मिका कान्ता भक्ति रखती थीं फिर वे क्यों न मुक्त होतीं ? ॥ हे नृप ! भगवान् का प्रादुर्भाव ही मनुष्यों के परम कल्याण के लिये हुवा है, क्योंकि अव्यय, अप्रमेय, और निर्गुण ब्रह्म का-गुणात्मा होजाना तभी सप्रयोजन होसकता है ॥ जो मनुष्य—काम, क्रोध, भय, स्नेह, एकता और सौहार्द-किसी भी कारण से प्रेरित होकर परमात्मा में निरन्तर 'लौ' लगाते हैं, वे भावना के परिपक्व होजाने से अवश्य ही 'तन्मयता' को प्राप्त होते हैं ।

तात्पर्य्य यह हुवा कि 'तीव्रसंवेग' ही मुक्त होजाने का द्वार है, फिर चाहे वह किसी भी साधन से उत्पन्न क्यों न हो ! जिस तरह एक भगवद्भक्त, प्रेमविह्वल होकर खाते पीते सोते जागते-गर्ज़ है कि हर घड़ी और हर पल-चारों ओर अपने प्यारे महबूब की बांकी झांकी देखा करता है । इसी तरह एक द्वेषी भी अपने जानी दुश्मन की करतूतों से तंग आकर रात दिन उसी की भयानक सूरत को अपने आगे खड़ी देख पाया करता है । यही हालत उन आशिकों की है जो कि तन्मय- होकर यहां तक कह दिया करते हैं कि:—

दिल के आइने में है तसवीरे यार,
जब ज़रा गर्दन झुकाई देखली ।

—इस लिये शुकदेव जी का यह उत्तर कि- "काम, क्रोध, भय, स्नेह, आदि किसी भी साधन से 'तन्मयता' होसकती है, और यह तन्मयता रूप 'तीव्र संवेग' ही देहाध्यास को दूर करके मुक्तिपथ में आरूढ करने का कारण है- सो इस नियम के अनुसार जैसे भगवद्द्वेषी शिशुपाल मुक्त होगया था इसी तरह अनुराग-संपन्न गोपियें भी मुक्त होगईं।"— सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होता है।

प्रत्यक्ष में भी प्रायः देखा जाता है कि तुलसीदास, सूरदास आदि कवियों का जीवन आरम्भ में अत्यन्त निकृष्ट एवं गए गुज़रे स्त्री भक्तों से भी बदतर था, कहा जाता है कि उस समय वे अपनी प्रियतमाओं के-हाड़ चाम से बने, और मलमूत्र से सने, नश्वर शरीरों की चाह में ऐसे पागल- ऐसे दिवाने- ऐसे तन्मय- और ऐसे मस्ताने हुवे थे कि नदी में बहता हुवा मुर्दा उन्हें काठ का लट्ठा जान पड़ा था, यही क्यों—झरोखे में लटकता हुवा विषधर सर्प कमन्द का रस्सा सूझ पड़ा था-परन्तु जब उनकी प्रियतमाओं ने—

जैसो प्रेम हराम में, ऐसो हर में होय।
चला जाय वैकुण्ठ को, रोक सके ना कोय॥

—कह कर उन की वर्तमान अवस्था का सच्चा चित्र आगे रक्खा, तब, आन की आन में— पलक की झमक में— वह उमड़ा हुवा स्त्रीविषयक प्रेम प्रवाह— एक दम भगवद्भक्ति रूप में परिणत होगया था, जो तड़प, जो तन्मयता, जो अनुराग और जो 'तीव्रसंवेग' अभी २ एक गन्दे पानी के क्षणभंगुर बुलबुले को पाने के लिये बेचैन किये देती थी— वही कर्म्मनाशा की गन्धीली धारा अब पतित पावनी भागीरथी के रूप में बहने लगी थी।— कहना न होगा कि उक्त कवियों की विशुद्ध भगवद्भक्ति, चिराभ्यस्त-स्त्री भक्ति की ही प्रतिमूर्ति थी, इस लिये शुकदेवजी का उपर्युक्त समाधान कि— येन केन प्रकारेण भी उत्पन्न होने वाला 'तीव्र संवेग' मुक्ति का दायक है— ठीक ही है।

दूसरा प्रश्न- रास लीला की विशुद्धता के विषय में इस प्रकार है—

(२)

राजोवाच— संस्थापनाय धर्म्मस्य प्रशमायेतरस्य च।
अवतीर्णो हि भगवानंशेन जगदीश्वरः॥२७॥
स कथं धर्म्मसेतूनां वक्ता कर्ताऽभिरक्षिता।
प्रतीपमाचरद् ब्रह्मन्! परदाराभिमर्शनम्॥२८॥

आप्तकामो यदुपतिः कृतवान् वै जुगुप्सितम्।
किमभिप्राय एतं नः संशयं छिन्धि सुव्रत ! ॥२९॥
श्रीशुक उवाच—धर्म्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम्।
तेजीयसां न दोषाय, वह्नेः सर्वभुजो यथा ॥३०॥
नैतत्समाचरेज्जातु मनसाऽपि ह्यनीश्वरः।
विनश्यत्याचरन्मौढ्याद्यथा रुद्रोऽब्धिजं विषम् ॥३१॥
ईश्वराणां वचःसत्यं तथैवाचरितं क्वचित्।
तेषां यत्स्ववचोयुक्तं बुद्धिमांस्तत्समाचरेत् ॥३२॥
कुशलाचरितेनैषामिह स्वार्थो न विद्यते।
ईशितुश्चेशितव्यानां कुशलाकुशलान्वयः ॥३३॥
यत्पादपङ्कजपरागनिषेवतृप्ता-
योभप्रभावविधुताखिलकर्म्मबन्धाः ॥
स्वैरं चरन्ति मुनयोऽपि न नह्यमाना-
स्तस्येच्छयात्तवपुषः कुत एव बन्धः ॥३४॥
गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषां चैव देहिनाम्।
योन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक् ॥३५॥

(श्रीमद्भागवत १०। ३३। २७–३५)

अर्थात्—राजा परीक्षित ने पूछा कि—भगवान् कृष्ण साक्षात् जगदीश्वर हैं, वे धर्म्मस्थापन तथा अधर्म्मविनाश के लिये ही अवतीर्ण हुये हैं ॥ २७ ॥ हे ब्रह्मन् ! सो जो स्वयं-धर्म्ममर्यादाओं का वक्ता, कर्त्ता और रखवाला हो उसने ही दूसरों की स्त्रियों का स्पर्शरूप धर्म्मविरुद्ध कार्य्य क्यों किया ? ॥ २८ ॥ हे सुव्रत ! आप्तकाम यदुपति ने निःसन्देह यह जुगुप्सित किया है। परन्तु ऐसा करने का अभिप्राय क्या है ?—मेरे इस संशय को कृपया दूर कीजिये ॥ २९ ॥ शुकदेवजी ने कहा कि— सामर्थ्य वालों का साहस और धर्म्म-व्यतिक्रम भी देखा जाता है किन्तु तेजधारियों को उस का कुछ दोष नहीं होता, जैसे अग्नि दूषित पदार्थ को खाकर भी दूषित नहीं होता ॥३०॥ जो इस प्रकार की सामर्थ्य नहीं रखता उसे मन से भी कभी ऐसे आचरण का अनुकरण करने की चेष्टा नहीं करनी चाहिये, यदि कोई मूढतावश ऐसे भयावहमार्ग

में पांव रक्खेगा तो वह तत्काल ही नष्ट होजाएगा, जैसा कि भगवान् शंकर के हलाहल विषपान का अनुकरण करने से विनष्ट होना अवश्यम्भावी है ॥३१॥ अतः सामर्थ्य वालों का वचन तो सर्वांश में सत्य होता है परन्तु उनका आचरण एक सीमा तक ही, सर्व साधारण को सामर्थ्य वाले महानुभावों के उपदिष्ट मार्ग पर तो अवश्य चलना चाहिये परन्तु उनका आचरण सर्वांश में अनुकरणीय नहीं मानना चाहिये- यही बुद्धिमानों को उचित है ॥ ३२ ॥ जिस भगवान् के चरणकमलों का रसपान करने से तृप्त हुवे मुनिजन, 'तीव्रसंयोग' के प्रभाव से समस्त कर्म्मबन्धनों से विमुक्त होकर स्वेच्छाचारी एवं जीवन्मुक्त हो जाते हैं वही भगवान् अपनी इच्छा से नर देह धारण करके कृष्ण रूप में अवतीर्ण हुवा है सो उसे कोई कर्म्म कैसे बांध सकता है ! ॥३४॥ जो कृष्ण,- गोपियों, उनके पतियों, एवं संसार के प्राणिमात्र में- आत्मरूप से व्याप्त होकर विचरता है वही सबका अधीश्वर रासलीला के समान बालविनोद करने से किसी कर्म्म से लिप्त नहीं होसकता ॥ ३५ ॥

उपर्य्युक्त शंका समाधान का संक्षिप्त सार यह है कि- परीक्षित जी को भगवान् द्वारा किये गए परस्त्रीस्पर्श में पाप की गन्ध आती थी जिसके उत्तर में शुकदेव जी ने बताया कि—

'समरथ कहं नहीं दोष गुसाईं ।
रवि पावक सुरसरि की नाईं ॥'

अर्थात्—सूर्य्य अग्नि और गङ्गा की तरह सामर्थ्यवान् को कुछ भी दोष नहीं होता ।

कई मूढ पुरुष उपर्य्युक्त उत्तर को 'निर्बल उत्तर बताकर मज़ाक उड़ाते हुवे कहा करते हैं कि तब तो राजा महाराजाओं को कुछ भी धर्म्माधर्म्म कर डालना चाहिये क्योंकि श्रीमद्भागवत और तुलसीदास जी के कथनानुसार उनको समरथ होने के कारण कुछ भी दोष नहीं लगेगा । इस प्रकार का कथन वास्तव में वे ही लोग कर सकते हैं जिन्हों ने कि 'कोदों' के बट्टे विद्या पढी हो, उक्त दोनों ग्रन्थों में जिस 'सामर्थ्य' का उल्लेख है, वह- धन, विद्या, शरीर बल और समूह बल से प्राप्त नहीं हो सकती, किन्तु वह तो साक्षात् ईश्वर या उसके अवतारों की स्वाभाविक सामर्थ्य है । जिस तरह अग्नि में मल मूत्र डाल दीजिये तो वह जल कर भस्मीभूत होजाएगा— अग्नि मल की तमाम दुर्गन्ध को नष्ट कर डालेगा, परन्तु साथ ही उस दुर्गन्ध से स्वयं भी सर्वथा दूर रहेगा । इसी तरह सूर्य्य देव-पाखाने के गीलेपन को तथा उसकी घिनावनी बदबू को अपनी किरणों द्वारा खैंच लेगा- मगर स्वयं इन दुर्गणों से

संलिप्त न होगा, यही बात परीक्षा करने पर गंगोदक में भी पाई गई है,। सो 'सामर्थ्य' का तात्पर्य्य है— वह शक्ति, कि जिससे— किसी दुष्ट पदार्थ के समस्त दोषों को निकाल डालना, परन्तु उन दोषों को अपने निकट भी नहीं आने देना— सम्भव हो। श्रीमद्भागवत में ऐसी सामर्थ्य वाले महानुभावों को ही 'ईश्वर' या 'तेजीयान्' नामों से याद किया है। कृष्ण भगवान् में इस प्रकार की सामर्थ्य विद्यमान थी। उन्होंने भक्त-किन्तु कामासक्त गोपियों की काम्रवासना को समूल नष्ट कर डाला परन्तु स्वयं तथैव अनासक्त बने रहे। जैसा कि—'आत्मन्यवरुद्धसौरतः (१०।३३। २६)' आदि शब्दों द्वारा अभिव्यक्त किया गया है।

इस लिये हम तो यही कहेंगे कि— जिस व्यक्ति में कालीय जैसे विषधर सर्प पर नाचने की सामर्थ्य हो, उसके लिये रासलीला में नाचना भी पाप नहीं होसकता! जो नाग के विषैले फण से निर्भयतापूर्वक लिपट सकने की शक्ति रखता हो, उसके लिये किसी गोपी के शरीर का स्पर्श करना भी दोषावह नहीं होसकता!!। तथा जिस महापुरुष में धधकती दावाग्नि को सहर्ष पान कर जाने की क्षमता हो उसके लिये अधरामृत का रस पिलाना भी आक्षेप-जनक नहीं कहा जासकता!!!—यह तो हुवा मूल ग्रन्थ का शङ्कासमाधान, अब उक्त लीला के सम्बन्ध में टीकाकारों एवं विवेचकों की सम्मतियें भी सुनिये।

श्रीधर स्वामी की सम्मति

(क) ब्रह्मादिजयसंरूढ - मूढ - कन्दर्पदर्पहा।
जयतिश्रीपतिर्गोपीरासमण्डल-मण्डनः॥

(ख) ननु विपरीतमिदं परदारविनोदेन कन्दर्पविजेतृत्वप्रतीतिः। मैवं- 'योगमायामुपाश्रितः' (१०।२९।१) 'आत्मारामोप्यरीरमत्' (१०।२९।४२) 'साक्षान्मन्मथमन्मथः' (१०।३२।२) 'आत्मन्यवरुद्धसौरतः' (१०।३३।२६)-इत्यादिषु स्वातन्त्र्याभिधानात्, तस्माद् रासक्रीडाविडम्बनं कामविजयाख्यापनायेत्येव तत्त्वम्। किञ्च शृङ्गारकथोपदेशेन विशेषतो निवृत्तिपरेयं पञ्चाध्यायीति व्यक्तीकरिष्यामः॥

(श्रीमद्भागवत श्रैधरी १०।१।१)

अर्थात्—(क) ब्रह्मादि देवताओं को जीत लेने के गर्व से मूढ हुवे कामदेव के घमण्ड को चूर्ण करने वाले, गोपियों की रासमण्डली के अलङ्कार, लक्ष्मीपति भगवान् की सदैव जय हो। (ख) दूसरों की स्त्रियों के साथ विनोद करके कामदेव का विजय दिखलाना— यह भी विपरीत है— यदि कोई इस प्रकार की शङ्का करे तो ठीक नहीं, क्योंकि–'योगमायामुपाश्रितः' इत्यादि वचनों द्वारा भगवान् की अनासक्तिरूप=स्वतंत्रता प्रकट की है [अर्थात्–भगवान् ने अपने से भिन्न किसी से भी विनोद नहीं किया, बल्कि अपनी योगमाया के आश्रय से अपनी ही आत्मा से कामदेव के अभिमान को चूर्ण करते हुवे अपने आप में ही विनोद किया है,] इस लिये रास क्रीड़ा का तमाशा भगवान् के कामदेव–विजय को प्रकट करता है, यही इसका तत्व है। यह रासपञ्चाध्यायी शृङ्गार रस के बहाने से सर्वथा निवृत्तिपरक है जैसा कि हम अपनी टीका में स्पष्ट करेंगे ॥

श्रीधर स्वामी के शब्दों में रासलीला का तत्व– अजेय काम को जीतना है,। इधर शरद् ऋतु की रात, पूर्णिमा की चांदनी, एकान्त वन, सुपुष्पित पादप, कालिन्दी का किनारा, सुसज्जित–युवतियों का– समुदाय और गानवाद्यनृत्य की बहार— एक से बढ़कर एक कामोद्दीपक सामग्री जुटी थी—उधर इन सब की विद्यमानता में भी 'आत्मन्यवरुद्धसौरतः' (१० । ३३ । २६) के अनुसार भगवान् हिमालय की चट्टान के समान=बर्फ के पहाड़ की तरह तथैव सुस्थिर एवं प्रकृतिस्थ होकर डटे हुवे थे। इस लोकोत्तर दृश्य को, वही आंखें देख सकती हैं कि जिन में सद्भावना की सलाई के सेवन से विवेचना की बीनाई बदस्तूर बनी रहती हो ॥

रास–से सृष्टि रचना का सम्बन्ध

महर्षि वेद व्यास जी ने ब्रह्मवैवर्त पुराण (ब्रह्मखण्ड अध्याय ४) में रासलीला का सम्बन्ध सृष्टि रचना के आरम्भिक रहस्यों से भी सम्बद्ध किया है, श्रीकृष्ण जी को केन्द्रीभूत ब्रह्म–और गोपियों को प्रकृति की विभिन्न शक्तियों की प्रतिमूर्ति मानकर इनके पारस्परिक संघर्ष से ही सृष्टि का प्रादुर्भाव माना है। हम पीछे इसी अध्याय में "जल में वीर्य्यस्खलन" शीर्षक के नीचे— उक्त रूपक पर कुछ पंक्तियें लिख आये हैं अतः पिष्टपेषण करना व्यर्थ है,। केवल एतावन्मात्र सङ्केत करना अनावश्यक न होगा कि जब स्वयं पुराणकर्ता व्यास जी महाराज ही स्थानान्तर में उक्त लीला का रूपक—प्रायः अर्थ लगाते हैं तब सर्वसाधारण को भी अपनी रुचि के अनुसार आध्यात्मिक आदि सुसम्बद्ध तात्पर्य्यों के मनन करने में क्या उजर होसकता है ?।

वास्तविक भाव

हमने उक्त लीला का बार बार मनन करने पर जो अभिप्राय समझा है, पाठकों के लाभार्थ हम उसे भी प्रकट कर देते हैं, हम यह बात पीछे सप्रमाण सिद्ध कर चुके हैं कि व्रज के समस्त गोप और गोपियें देवो देवताओं के आंशिक अवतार थे, परन्तु मानवस्थूल शरीर की उपाधि से वे अपने देवत्व को भूले हुए थे। सो भगवान् ने जिस समय रास क्रीड़ा का अभिनय करना चाहा तो बंसी में कामबीज 'क्लीं' मन्त्र का निनाद किया, जिससे स्त्रीभावापन्न दिव्य आत्मायें जग उठीं और वे भगवान् के निकट आ पहुँचीं। यह रहस्य श्रीमद्भागवत (१० । २९ । ३) के—

'जगौ "कलं" वामदृशां मनोहरम्'—

—पद्य में व्यक्त किया है। उक्त पद्य में—' कलं '— क्लीं=काम बीज का निदर्शक है और ' वामदृशां मनोहरम् '— का अभिप्राय— स्त्रीभावापन्न दिव्य आत्माओं पर ही उसका प्रभाव पड़ सकता था— यह बताने के लिये प्रयुक्त हुवा है,। इसी लिये वंशी का शब्द सुन कर गोपियें ही भगवान् के निकट आई थीं,।

भगवान् ने यह जानने के लिये कि- 'उक्त दिव्यात्माओं को अपने देवत्व का कुछ स्मरण है-या-स्थूल शरीर की उपाधि से वह सर्वथा विस्मृत होगया'— उन को वापिस लौट जाने का उपदेश दिया, जिसके उत्तर में गोपियों ने स्पष्ट शब्दों में बतला दिया कि 'हमतो समस्त विषयों को छोड़ कर शरणागत भक्त हैं, और मोक्ष की इच्छा से यहां आई हैं, आप भी आदि पुरुष और सबके अन्तरात्मा हो'— [यह भाव- (१० । २९ । ३१-३२) में 'संत्यज्य सर्वविषयान्'— 'भक्ताः'— 'आदि-पुरुषः' और 'मुमुक्षून्' आदि शब्दों द्वारा अभिव्यक्त किया गया है] जब गोपियों की इन उक्तियों से भगवान् ने अच्छी तरह जान लिया कि ये सब दिव्यात्माएँ मेरी वंशी के निनाद से प्रबुद्ध होगई हैं ! और इनको अब अपने देवत्व का पूरा २ ज्ञान है ! ! तब भगवान् ने उनका विशुद्ध प्रेम और रासक्रीड़ा की अभिलाषा जान कर अपनी योगमाया के प्रभाव से उनके दो दो स्वरूप बनाए। उन में से पहिले— जो कि पांचभौतिक स्थूल शरीरावच्छिन्न=स्वरूप थे, उन्हें तो वापिस उन उन के घर में पहुँचा दिया,- जिससे गोप ग्वालों में अपनी २ माता पत्नी आदि को घर में न देख कर किसी प्रकार की बेचैनी न हो ! और दूसरे- योगमायानिर्मित- दिव्यात्मा सम्पन्न=स्वरूपों को वन में ही रहने दिया, इसके बाद जो भी लीला हुई है वह योगमायानिर्मित- भगवान् के अपने ही स्वरूपों के साथ हुई है। व्यास जी ने उक्त रहस्य का संकेत करने के लिये मूलग्रन्थ में ही निम्नलिखित शब्दों का उल्लेख किया है- यथा—

(क) मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान्स्वान्दारान्व्रजौकसः ॥

(श्री० भा० १० । ३३ । ३८)

(ख) यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः ।

(श्री० भा० १० । ३३ । १७)

(ग) कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्व्रजयोषितः ।

(श्री० भा० १० । ३३ । २०)

(घ) पुरुषः शक्तिभिर्यथा ।

(श्री० भा० १० । ३२ । १०)

अर्थात्— (क) व्रजनिवासियों ने अपनी कुटुम्बिनियों को अपने २ पास माना [अर्थात्—भगवान् की माया से पांच भौतिक स्थूल शरीरावच्छिन्न गोपियें अपने २ घरों में नित्य की तरह विद्यमान रहीं] (ख) जैसे बालक अपनी परछांई से खेला करता है [इसी तरह भगवान् ने अपनी योगमाया से निर्माण की हुई दिव्यात्मा-सम्पन्न गोपियों से रासक्रीड़ा की] (ग) भगवान् ने अपने उतने ही रूप बना लिये जितनी कि गोपियें थीं (घ) ब्रह्म जिस तरह अपनी माया शक्तियों से विनोद किया करता है उसी तरह भगवान् ने गोपियों से रासक्रीड़ा की ।

उपर्युक्त प्रमाणों से यह ध्वनित होता है कि जिस तरह ब्रह्माजी द्वारा वत्स और गोप चुराए जाने पर भगवान् ने अपनी योगमाया से उतने और वैसे ही ग्वाले तथा बछड़े बनाकर तथैव काम जारी रक्खा था किसी को कानों कान भी यह रहस्य विदित न होसका था इसी तरह रासलीला के समय भी भगवान् ने देवात्मा सम्पन्न एवं दिव्य शरीरावच्छिन्न गोपियों को तो मुक्त कर देने के लिये अपनी रासलीला में बुला लिया । और इस रहस्य को छुपा रखने के लिये नकली गोपियों को वापिस व्रज में भेज दिया ।

प्रायः देखा गया है कि जब जिस अंशावतार का कार्य्य समाप्त हो जाया करता है तो भगवान् किसी बहाने से उसकी उस दिव्य शक्ति को छीन लिया करते हैं, जैसे रामावतार में शिवधनुर्भङ्ग होजाने के पश्चात् श्री परशुराम जी की अवतारी शक्ति भगवान् रामचन्द्र जी में समा गई थी, तथा भगवान् कृष्ण जी के लीलासंवरण के पश्चात् वीरशिरोमणि अर्जुन साधारण निहत्थे ग्वालों से पराजित होगया था, अर्थात्— नारायणावतार श्रीकृष्ण के बिदा होते ही नरावतार अर्जुन भी अपनी उस अपूर्व शक्ति से हीन होगया था । सो इसी तरह सब देवता भी श्रीब्रह्माजी की आज्ञानु-

सार केवल भगवान् कृष्ण की प्रसन्नता के लिये ही अपने २ अंशों से व्रज भूमि में अवतीर्ण हुवे थे। जब भगवान् गोकुल वृन्दावन का कार्य्य प्रायः समाप्त कर चुके और दश दिनके बाद कंस विध्वंसादिका अवसर सामने दीखने लगा तो भगवान् को उन देवांश भूत गोप गोपियों का व्रज में ठहरना अनावश्यक जान पड़ा अतः भगवान् ने अपने बाल सखा गोपों को तो 'ब्रह्मवत्सहरण' लीला के बहाने वापिस ब्रह्मलोक को भेज दिया था और नकली गोप घर में रख दिये थे, अर्थात्–सब देवता तो इस तरह अपना कार्य्य परिसमाप्त होजाने पर पुनः अपने असली पद पर प्रतिष्ठित होचुके थे और व्रज में नकली ग्वाले रह गये थे। शेष रहीं थीं– गोपी भूत देवाङ्गनायें— सो उन्हें भी भगवान् ने 'रासलीला' के बहाने वंशी के इशारे से सब भेद समझा कर अपने पास बुला लिया, और उनके स्थान में नकली गोपियों को घर भेज दिया। इस तरह अपनी बाल लीला की समाप्ति के साथ २ भगवान् ने देवांशभूत गोप गोपियों के अवतार काल का भी उपसंहार कर डाला था।

परीक्षित प्रश्न का समन्वय

उपर्युक्त रीति से जब यह निश्चित होगया कि भगवान् ने रासलीला में किसी परस्त्री का स्पर्श नहीं किया, बल्कि अपनी योगमाया द्वारा उद्भावित– देवात्मासम्पन्न अपने ही अनेक रूपों से क्रीड़न किया है। तब स्वभावतः यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है, कि– ऐसी दशा में परीक्षित के पूर्वोक्त प्रश्न का क्या समन्वय होगा? अस्तु इसका भी विवेचन किया जाता है।

परीक्षित पूछते हैं कि— "भगवान् का अवतार धर्म्मस्थापन और अधर्म्मनाश के लिये हुवा है परन्तु रासक्रीड़ा का धर्म्मस्थापन और अधर्म्मनाश रूप अवतार कार्य्य से कोई सम्बन्ध नहीं है अर्थात्– यह तो केवल बालक्रीड़न=विनोदमात्र है। सो आप्तकाम='पूर्णकाम' परमात्मा को अपने अनेक रूप बना कर खेल करने की क्या आवश्यकता थी?— विनोदमात्र के लिये भगवान् का 'परदाराभिमर्शन'= [परस्य परमात्मनो दारारूपिण्यो या मायाशक्त्यस्तासामभिमर्शनं बलादाश्रयणमिति बृहद्भक्ततोषिणीटीकाकारः] आप्तकामता के 'प्रतीप'=प्रतिकूल है— इसका क्या अभिप्राय है?"— परीक्षित के प्रश्न कासार यह-है कि– रासलीला भगवान् का बाल-विनोद है परन्तु 'आप्त-काम' को विनोदार्थ माया-श्रयण की क्या आवश्यकता थी? यदि धर्म्म-स्थापन और अधर्म्म-नाशन के लिये मायाश्रयण किया जाता तो वह तो अवतार धर्म्म के अनुरूप होता परन्तु खेल कूद

के लिये अपने अनेक रूप बनाने का क्या अभिप्राय ? इस प्रश्न के उत्तर में शुकदेव जी ने समझाया कि— "भगवान् का विनोदमात्र के लिये योगमायाश्रयण करना, धर्म्म-स्थापन और अधर्म्मनाशन- रूप=अवतार=धर्म्म का 'व्यतिक्रम' अवश्य है, परन्तु ईश्वरावतारों का केवल क्रीड़ार्थ भी ऐसा करना देखा गया है। जो दोषास्पद नहीं।

वेद में— 'पूर्णकाम' परमात्मा को मायाश्रयण से सृष्टि की उत्पत्ति, पालन, और संहार आदि करने की क्या आवश्यकता है ? और सृष्टि-उत्पादन-विनाशन रूप 'पूर्णकामता' विरुद्ध ईश्वरेच्छा का क्या- अभिप्राय है ? —इस जिज्ञासा का उत्तर इस प्रकार दिया है:—

नतस्य कार्य्यं करणं च विद्यते।
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥

(श्वेताश्वतर ६।८)

अर्थात्— सृष्टि उत्पादन, विनाशन आदि करने में ईश्वर का कोई खास प्रयोजन नहीं है किन्तु यह उसकी स्वाभाविक चेष्टा है।

यहां (वेद में) यही उत्तर दिया गया है कि ईश्वर का स्वाभाविक कार्य्य 'पूर्णकामता' का बाधक नहीं हो सकता। श्रीमद्भागवत में भी परीक्षित का यही प्रश्न था कि भगवान् को 'आप्तकाम' होते हुवे भी योगमायाश्रयण से अनेक रूप बनाकर खेल करने की क्या आवश्यकता थी ? जिसका वेदानुमोदित यही उत्तर दिया गया है कि ईश्वरावतारों का विनोदार्थ भी मायाश्रयण करना स्वाभाविक है, अतएव वह 'पूर्णकामता' का बाधक नहीं होसकता। जिस प्रकार परमात्मा के लिये स्वेच्छा से उत्पादित सृष्टि के स्थितिलयादि बन्धन के कारण नहीं इसी प्रकार तदवतारों के लिये स्वेच्छा से किये हुवे क्रीड़नादि भी बन्धन नहीं होसकते। यह है परीक्षित के प्रश्न और शुकदेव जी के उत्तर का समन्वय।

ब्रह्म दृष्टि से

मूल ग्रन्थ में रासलीला की विशुद्धता सिद्ध करने के लिये जो कुछ भी लिखा है वह भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी को 'ब्रह्म' मानकर ब्रह्मदृष्टि से ही लिखा है,- जो ब्रह्म,- गोपों, और उनकी धर्मपत्नियों, तथा ब्रह्माण्ड के इतर प्राणियों में समान रूप से व्याप्त होकर 'सदसच्चाहमर्जुन:' (गीता) के अनुसार बुरा भला सब कुछ आप ही बना हुआ है, तथापि वह किसी गुण एवं दोष से लिप्त न होकर 'निर्लेप-निरञ्जन-निर्विकार ही बना रहता है, इसी प्रकार ब्रह्मावतार श्रीकृष्णचन्द्र जी भी अनासक्ति

के कारण अपने तमाम चरित्रों के विपाक से 'मुतलिक पाक़ज़ात' हैं। यह आशय-(श्रीमद्भागवत १०। ३३। ३५-३६) के 'यत्पादपङ्कज०' और 'गोपीनां तत्पतीनांच०' आदि पद्यों में स्पष्ट किया गया है। श्रीमद्भगद्गीता में स्वयं भगवान् ने भी श्रीमुख से उक्त रहस्य का प्रतिपादन किया है, यथाः—

(क) नच मां तानि कर्म्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ! ॥९॥

(ख) अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रिताः ॥
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥१०॥

(श्री० भगवद्गीता अध्याय ९)

अर्थात्— (क) हे धनञ्जय ! मुझे वे कर्म्म बांध नहीं सकते। (ख) मेरे ब्रह्म भाव को नहीं जानते हुवे अज्ञानी मुझे मनुष्य सम्बन्धी शरीर धारण किये हुवे को-भूतों का ईश्वर नहीं समझते [अर्थात्— अज्ञानी पुरुष मुझे भी शरीरधारी देख कर साधारण मनुष्यों की भांति कर्म्मबद्ध समझा करते हैं] इस लिये वे मेरी अवज्ञा किया करते हैं।

इस लिये ब्रह्म-दृष्टि से भगवान् की रासलीला का मनन करने पर कोई भी आक्षेपयोग्य बात बाकी नहीं रहती।

योगिराज-दृष्टि से-

बहुत से महाशय भगवान् को ब्रह्म- या अवतार कहते हुवे तो कुछ लजाया से करते हैं परन्तु वे स्वयं कहा करते हैं कि 'कृष्णजी योगिराज थे' अतः हम योगिराज दृष्टि से भी रासलीला का परीक्षण करना आवश्यक समझते हैं।

आज योग मार्ग लुप्तप्राय होरहा है, योगदर्शन के विभूतिपाद में योगियों के जिन चमत्कारों (=करामात=) का कार्य्यकारणपुरस्सर उल्लेख किया है उन्हें पढ़ते हुवे भी दांतों में अंगुली देनी पड़ती है। आकाश में उड़ जाना, लोकान्तर में चले जाना, दूसरों के शरीर में प्रविष्ट होजाना, अग्नि जल आदि पदार्थों की स्वाभाविक शक्ति को कुण्ठित कर देना, अपने शरार को यथेच्छ छोटा या बड़ा बना लेना, हलका या भारी बना लेना, और सर्वसाधारण को अपनी इच्छा के अनुसार किसी भी काम में प्रवृत्त कर सकना, इत्यादि अनेक चमत्कार योगी के बाएं हाथ का काम हैं।

समय समय पर ऐसे चमत्कारों को दिखाने वाले योगियों की चर्चा प्रायः समाचार-पत्रों में भी छपती रहती है। और सैकड़ों विश्वस्त सज्जनों ने अपनी आंखों भी ऐसे चमत्कारों को देख पाया है। एक वार हमें भी संयोगवश एक योगी

के दर्शन होगये थे, उक्तमहानुभाव अपनी जन्मभूमि-विहार प्रान्त के सारन जिले में बतलाते थे, । संस्कृत में श्लोकबद्ध भाषण करना इनकी विशेषता थी, यद्यपि अवस्था छोटी जँचती थी, तथापि प्रत्येक विषय में असाधारण अनुभव देख कर आश्चर्य्य होता था। यह महानुभाव अपनी मूत्रेन्द्रिय के साथ तेल को पिचकारी की तरह ऊपर चढ़ाया करते थे। हमारे बहुत आग्रह करने पर इन्होंने एक दिन बतलाया कि "मैं आज कल 'इन्द्रिय जय' का अभ्यास कर रहा हूँ, योगदर्शन में लिखा है कि—

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्वसंयमादिन्द्रियजयः।

(योगदर्शनविभूतिपाद ४७)

अर्थात्— ग्रहणादि में संयम करने से इन्द्रियों का जय होता है। परन्तु सर्वसाधारण को यह विदित नहीं वह 'ग्रहण' क्या बला है कि जिस में संयम करने से विषयेन्द्रिय को जीता जा सकता है, आपने फर्माया कि यह गुरुगम्य विद्या है, योगदर्शन के सूत्र- और उनकी व्याख्यामात्र पढ़ लेने से कुछ भी समझ में नहीं आसकता, अस्तु हम आपको कुछ अधिक बता देते हैं सुनिये। कामेन्द्रिय को जीतने के लिये योगनिष्ठ पुरुष को सर्वप्रथम बांस की तीखी फरचट के साथ शनैः अपनी जिह्वा के नीचे वाले तंतुओं को काट कर जीभ को लम्बी बनाने का अभ्यास करना पड़ता है, फिर उसे उल्ट कर कण्ठ के बीचो बीच खड़ा रखने का अभ्यास करना पड़ता है। इस अभ्यास के परिपक्व होजाने पर योगनिष्ठ की जिह्वा उस स्थान पर पहुँच जाती है कि जहां पर कि— आंख, नाक, कान, और कण्ठ के छिद्रों का केन्द्रीभूत एक ही छिद्र बना हुवा है। इसे 'खेचरी मुद्रा' कहते हैं। अस्तु उस छिद्र के रुक जाने से प्राण की गति अधोगामिनी होजाती है, तब कुम्भक प्राणायाम के अभ्यास से पुरुष को अपनी लिङ्गेन्द्रिय के साथ पानी खैंचने की चेष्टा करनी चाहिये। पानी खिंच जाने की शक्ति उत्पन्न होजाने के बाद तेल को खैंचना चाहिये। जैसा कि मैं आजकल खैंचता हूँ। जब अनायास तेल खिंचने लगजावे तब फिर पारे को खैंचने का अभ्यास करना चाहिये, बस, जब पारे को खींच सकने की शक्ति उत्पन्न होजाएगी तो फिर उसे अपना वीर्य्य खैंचने का अभ्यास करना चाहिये।"

हमारे यह पूछने पर कि— "महाराज! अपना वीर्य्य कैसे खैंचना चाहिये?"— योगी जी ने कहा कि- आप तो हमें व्यर्थ तंग करते हो जिस रास्ते नहीं जाना उसके पूछने का क्या मतलब? अच्छा! सुनो [आप कुछ पढे लिखे आदमी हो इस लिये बता देता हूँ, अन्यथा सर्वसाधारण के सामने तो इस प्रकार की बातें बताना भी अप-

नी हंसी करवाना है] पारे को खैंचने की शक्ति उत्पन्न होजाने के बाद फिर योगी को किसी औरत से मैथुन करके वीर्य्यस्खलित होजाने के बाद उसे उल्टकर वापिस खैंचने का अभ्यास करना पड़ता है, इस तरह वह योगनिष्ठ महात्मा अपने पतित हुवे वीर्य्य के साथ २ स्त्री के रज को भी खैंचने की योग्यता प्राप्त कर लेता है, तब योगी इस लायक होजाता है कि यदि सैंकड़ों स्त्रियें भी उस योगी के साथ बारी २ से लगातार भोग करती रहें, तब भी वह स्खलित नहीं होसकेगा। कदाचित् मिथ्याहार-विहार के दोष से अकस्मात् कभी वीर्य्यपात हो भी जाएगा तो वह पूर्वोक्त रीति से उसे पुनः धारण कर सकेगा— यही योगशास्त्रोक्त— 'ग्रहण' में संयम करने का वास्तविक अर्थ है कि जिसके द्वारा पुरुष अपने कामेन्द्रिय पर विजय प्राप्त कर सकता है।

उक्त योगी जी ने 'खेचरी-मुद्रा' आदि कई एक मुद्रायें प्रत्यक्ष में भी हमें करके दिखाईं। योग सूत्र की इस व्याख्या को सुनकर हम सब अवाक् रह गये।

अब पाठक अनुमान कर सकते हैं कि जिस तरह साधारण रीति से खाया हुवा विष अवश्य ही प्राणों का संहारक है, परन्तु किसी अनुभवी वैद्य द्वारा सिद्ध किया हुवा वही विष औषधि रूप में खाया हुवा अमृत का गुण करता है, इसी प्रकार व्यभिचार रूप में आसक्त होकर की हुई काम चेष्टा निस्सन्देह अधर्म्म होसकती है, परन्तु जब अनासक्त होकर अपने इन्द्रियदमन की सिद्धि के लिये, योगियों को भी इस मार्ग का अगत्या अनुसरण करना पड़ता है तो इसमें पाप की संभावना करना न्याय-सङ्गत नहीं होसकता! क्योंकि यदि किसी भी व्यक्ति को 'इन्द्रिय-विजय' करना अभीष्ट होगा तो 'उसके लिये विषस्य विषमौषधम्' और- 'कण्टकेनैव कण्टकम्' की नीति के अनुसार पूर्वोक्त रीति से 'ग्रहण' में ही संयम करना अनिवार्य्य होगा। सो इस तरह परम्परा से अपने वीर्य्य को खैंच सकने के अभ्यास के लिये स्त्री-सङ्ग भी करना ही पड़ेगा। अतः इसे कोई भी बुद्धिमान् पाप नहीं कह सकता।

प्रत्यक्ष में देखिये, कि यदि कोई पुरुष आत्महत्या करने के विचार से विष-पान करने की चेष्टा करता है तो वह वर्तमान कानून के अनुसार अपराधी समझा जाता है, और उसे अदालत की तर्फ से यथायोग्य दण्ड दिया जाता है। परन्तु रोग-निवृत्ति के लिये आए दिन रोगी पुरुष डाक्टरों और हकीमों से खरीद २ कर दशों तरह के विष खाते हैं उन्हें कोई नहीं पूछता। -यद्यपि उक्त दोनों दृष्टान्तों में विषपान-रूप क्रिया समान है तथापि विचार के वैषम्य से एक जगह वह अपराध है और दूसरी जगह अनपराध! ठीक इसी तरह व्यभिचारी और योगी की चेष्टा तो समान

होती है परन्तु आसक्ति और अनासक्ति के तारतम्य से शास्त्र— पहिली को 'पाप', और दूसरी को इन्द्रिय-विजय का 'साधन' मानता है।

इस तरह भगवान् को 'योगिराज' मानने पर भी रासलीला का तात्पर्य्य 'इन्द्रिय-विजय' ही होसकता है। जैसाकि— मूलग्रन्थ में ही स्थान २ पर 'आत्मन्यवरुद्धसौरतः' कह कर भगवान् का अनासक्त एवं निर्विकार रहना प्रकट किया गया है। इसी भावना से प्रेरित होकर टीकाकार श्रीधर स्वामी भी रासलीला का उद्देश्य— 'रासक्रीडाविडम्बनं कामविजयाख्यापनाय' के अनुसार 'कामविजय' ही बताते हैं जैसा कि हम पीछे लिख आए हैं।

पुरुष दृष्टि से-

कदाचित् कोई शङ्कावादी महाशय- दुराग्रहवश भगवान् कृष्ण को न ब्रह्म, न अवतार और नाहीं योगिराज मानने को तैयार हो किन्तु साधारण मनुष्य मानकर ही रासलीला पर आक्षेप करना चाहता हो तो हम उसे भी निराश नहीं होने देंगे। क्यों कि 'वक्तुरेव हि तज्जाड्यं यच्च श्रोता न बुध्यते' के न्यायानुसार यादृश-, तादृश-, शङ्कावादी महाशय की- ऊटपटाङ्ग शङ्का का भी समाधान कर देना सिद्धान्ती का परम कर्तव्य है अतः पुरुषदृष्टि से भी उक्त लीला पर विचार करते हैं।

कल्पना कीजिये कि भगवान् शङ्कावादी के कथनानुसार साधारण पुरुष थे, और उन्होंने अवश्य ही रासलीला के समय गोपियों से हँसी, मसखरी, तथा हाथापाई, भी की हो !— तथापि रासलीला की विशुद्धता में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ सकता क्यों कि—

(१) रासलीला के समय भगवान् की अन्यून आठ वर्ष की आयु थी— जैसा कि श्रीमद्भागवत (१०।१४।५६) में ब्रह्म-वत्सहरण के बाद की लीलाओं को "पौगण्ड" [५-से-१० वर्ष तक की] वयः की बताया है, और गोवर्द्धन पर्वत उठाने के समय— (१०।२६।१४) में सात वर्ष की अवस्था प्रकट की है, गोवर्द्धन लीला के अनन्तर आने वाली शरद् ऋतु में ही रासलीला हुई थी, अतः भगवान् आठवें वर्ष में थे यह निर्विवाद है।— सो आठ वर्ष के मनुष्य बालक में कामचेष्टा की सम्भावना भी नहीं की जा सकती इस लिये मनुष्य दृष्टि से भी रासलीला की पवित्रता स्पष्ट है।

(२) रासलीला में सम्मिलित होने वाली गोपियों की संख्या बहुत अधिक लिखी है, इसलिये इतने बड़े समुदाय में सबकेसमक्ष कामचेष्टा करना सर्वथा असम्भव है,।

(३) यदि अवश्य ही गोपियें अपने २ घरों को छोड़कर रात भर रासलीला में रही होतीं तो अपनी २ स्त्रियों को घर में न पाकर और बिलखते हुवे बालकों से

व्याकुल होकर गोप लोग- कुछ कदम की दूरी पर होने वाले इस रास में न पहुंचते !! इस से स्पष्ट है कि भगवान् ने उन गोपियों को घर लौटा दिया होगा और अपनी योगमाया निर्मित दिव्य गोपियों से ही रासक्रीडा की होगी ! यदि यह अनुमान विश्वास योग्य नहीं तो— गोपों का भी अपनी २ स्त्रियों को घर में न पाकर- खरींटे लेना युक्तिसङ्गत नहीं। इस लिये गोपियों के वापिस लौटने की दशा में अथवा गोपों के रास में पहुंच जाने की दशा में- हर दो हालत में- भगवान् की यह लीला विशुद्ध ही ठहरती है।

(४) यदि भगवान् ने उक्त लीला में कुछ भी अधर्म्माचरण किया होता तो— युधिष्ठिर के यज्ञ में कृष्ण जी की अग्रपूजा से बिगड़ कर बे रोक टोक सौ गाली सुनाता हुवा शिशुपाल इसे बिना कहे कब बाज़ आजाता ? [महाभारत पढिये वहां गोप, ग्वाला, माखन चोर तो खूब कहा है परन्तु- 'परस्त्री गामी' किं वा 'व्यभिचारी'- होने का ताना नहीं दिया है] इससे भी भगवान् का शुद्ध- आचरण- सम्पन्न होना स्पष्ट है।

(५) रास-लीला के मुख्य श्रोता वक्ता परीक्षित और शुकदेव जी हैं। सो शुकदेव जी जैसे जीवन-मुक्त, ब्रह्मज्ञानी, वक्ता के मुख से- मृत्यु से भय भीत होकर- राज पाट छोड़कर— मुक्ति के लिये प्रायोपवेशन— व्रत- धारी, परीक्षित जैसे श्रोता के प्रति कामचेष्टा का प्रसंग कहना सुनना कहां तक संभव होसकता है ? इससे भी रासलीला का निवृत्तिपरक होना सिद्ध होता है।

(६) यदि कहा जाए कि— "मूल में ही- 'बाहुप्रसार०' आदि पद्यों में जब कामोद्दीपक चेष्टाओं का किया जाना लिखा है फिर उसका अपलाप कैसे किया जा सकता है ?"— इसका उत्तर यह है कि वेद व्यास जी ने उक्त रासपंचाध्यायी में- अधिक से अधिक 'रमण' शब्द का ही प्रयोग किया है सो क्रीड़ावाचक 'रमु' धातु का अर्थ खेल-कूद और विनोद- मात्र ही होसकता है,- मैथुन, याभ, या स्त्रीसङ्ग तीन काल में भी नहीं हो सकता इससे भी रास लीला की विशुद्धता स्पष्ट है।

(७) सात आठ साल की आयु वाले बालकों का नाचना, कूदना, लिपटना और गले लगजाना न कभी पहिले अपराध समझा जाता था और नाहीं वर्तमान समय में पाप समझा जाता है। घरों में विनोदी बालक रात दिन इस तरह की लीलाएं प्रायः रचा करते हैं— परन्तु कभी किसी को उनके इस विनोद में कामचेष्टा की बू नहीं आती, फिर भगवान् के ही विशुद्ध बालविनोद को पाप कैसे कहा जा सकता है ?

(८) ध्यान पूर्वक मनन करने से श्री वेदव्यास जी की कविता चातुरी से भी भगवान् कृष्ण जी की पोज़ीशन साफ ज़ाहिर होती है, क्योंकि वेदव्यास जी ने रासलीला के प्रसङ्ग में- गोपियों का ज़िक्र उपस्थित होने पर प्रायः क्रीड़ावाचक— 'रमु' धातु की भी प्रेरणात्मक=णिजन्त क्रियाओं का ही प्रयोग किया है यथा—

(क) उत्तम्भयन् रतिपतिं रमयांचकार

(श्रीमद्भागवत १०। २९। ४६)

(ख) आत्मारामोऽप्यरीरमत्।

(श्रीमद्भागवत १०। २९। ४२)

—जिसका अर्थ 'रमण करना' नहीं- बल्कि 'रमण कराना' ही होसकता है इस से भी यही ध्वनित होता है कि भगवान् ने स्वयं 'रमण=क्रीडन' भी नहीं किया, बल्कि गोपियों ने ही भगवान् को साधन बनाकर स्वयं सब क्रीड़ा की है। इस से यदि कुछ आक्षेप हो भी सकता है तो वह किसी हद तक गोपियों पर ही होसकता है। एक आठ साले बालक पर हरगिज़ नहीं!

इस तरह हम अनेक दृष्टियों से भगवान् की रासक्रीड़ा का विवेचन करने के बाद इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि चाहे किसी भी दृष्टि को आगे रख कर रासलीला का परीक्षण क्यों न किया जाए उसी दृष्टि से यह चरित्र विशुद्ध सिद्ध होगा। इतने पर भी यदि कोई दुराग्रही अपनी बक झक को बन्द न करे तो उसका उपाय तो साक्षात् ब्रह्मा जी के पास भी कुछ नहीं हो सकता, क्योंकि—

'सर्वस्यौषधमस्ति शास्त्रविहितं मूर्खस्य नास्त्यौषधम्'॥

—के अनुसार भर्तृहरि सरीखे अनुभवी कवि भी मूर्खों के मुकाबले में नाकामयाब रहे हैं, हमारी तो गणना ही क्या है?

कुब्जा-समागम

१३ कई महाशय भगवान् कृष्ण के कुब्जा- समागम पर भी आक्षेप किया करते हैं इस लिये इस चरित्र का विवेचन करना भी अनावश्यक न होगा। अतः क्रमागत शैली के अनुसार सर्वप्रथम उक्त चरित्र का वैदिक स्वरूप प्रकट किया जाता है।

वैदिक स्वरूप

त्वमग्न इन्द्रो वृषभः सतामसि त्वं विष्णुरुरुगायो नमस्यः ।
त्वं ब्रह्मा रयिविद् ब्रह्मणस्पते त्वं विधर्त ! सचसे पुरन्ध्या ॥

(ऋग्वेद २ । १ । ३)

अर्थात्— (अग्ने) हे तेजस्वी परमात्मन् ! (त्वं) आप (इन्द्रः) सबके अधीश्वर हो [आप ही] (सतां) सज्जनों में (वृषभः) धर्म्म से उज्ज्वल (असि) हो [तथा] (त्वं) आप (उरुगायः) अधिक कीर्ति वाले [तथा] (नमस्यः) नमस्कार के योग्य (विष्णुः) विष्णु भगवान् हो (हे ब्रह्मणस्पते !) देव ! (त्वं) आप (रयिविद्) सृष्टितत्व के ज्ञाता (ब्रह्मा) ब्रह्मा जी हो (विधर्तः) हे विशेष प्रकार के कृष्णादि अवतार धारण करने वाले प्रभो ! (त्वं) आप [ही कृष्ण रूपमें] (पुरन्ध्या=) सैरिन्ध्री=कुब्जा दासी के साथ (सचते) सेवित [=युक्त] होते हो ।

पौराणिक-स्वरूप

अथ विज्ञाय भगवान् सर्वात्मा सर्वदर्शनः ।
सैरिन्ध्याः कामतप्ताया: प्रियमिच्छन् गृहं ययौ ॥१॥
गृहं तमायान्तमवेक्ष्य सासना-
त्सद्यः समुत्थाय हि जातसंभ्रमा ॥
यथोपसङ्गम्य सखीभिरच्युतं,
सभाजयामास मदासनादिभिः ॥३॥
तथोद्धवः साधुतयाभिपूजितो,
न्यसीददुर्व्यामभिमृश्य चासनम् ॥
कृष्णोऽपि तूर्णं शयनं महाधनं
विवेश लोकाचरितान्यनुव्रतः ॥४॥
सामज्जनालेप-दुकूलभूषण-
स्रग्गन्धताम्बूलसुधासवादिभिः ॥
प्रसाधितात्मोपससार माधवं
सव्रीडलीलोत्स्मितविभ्रमेक्षितैः ॥५॥

आहूय कान्तं नवसङ्गम-ह्रिया,
विशंकितां कंकणभूषणे करे ॥
प्रगृह्य शय्यामधिवेश्य रामया,
रेमेऽनुलेपार्पणपुण्यलेशया ॥६॥
सानङ्गतप्तकुचयोरुरसस्तथाच्युतो
जिघ्रन्त्यनन्तचरणेन रुजोमृजन्ती ।
दोर्भ्यां स्तनान्तरगतं परिरभ्य कान्त-
मानन्द-मूर्तिमजहादतिदीर्घतापम् ॥७॥
सैवं कैवल्यनाथं तं प्राप्य दुष्प्रापमीश्वरम् ।
अङ्गरागार्पणेनाहो दुर्भगेदमयाचत ॥८॥
आहोष्यतामिह प्रेष्ठ ! दिनानि कतिचिन्मया ॥
रमस्व नोत्सहे त्यक्तुं सङ्गं तेऽम्बुरुहेक्षण ! ॥९॥
तस्यै कामवरं दत्वा मानयित्वा च मानदः ।
सहोद्धवेन सर्वेशः स्वधामागम दर्चितम् ॥१०॥
दुराराध्यं समाराध्य विष्णुं सर्वेश्वरेश्वरम् ॥
यो वृणीते मनोग्राह्यमसत्वात्कुमनीष्यसौ ॥११॥

(श्रीमद्भागवत १० । ४८ । १-११)

अर्थात्— [शुकदेव जी ने कहा कि हे राजन् !] तदनन्तर सर्वात्मा और सर्वदर्शी भगवान् कृष्ण जी ने काम से संतप्त हुई कुब्जा का काम सन्ताप जानकर उस का प्रिय करने के निमित्त उसके घर पहुंचे ॥ घर में आते हुवे श्री कृष्ण जी को देखते ही घबड़ाई हुई कुब्जा आसन पर से उठ कर सखियों के साथ यथायोग्य रीति से सन्मुख पहुंची और आसन पाद्य अर्घ आदि द्वारा 'अच्युत' भगवान् का यथोचित सत्कार किया । तैसे ही उद्धव जी का भी उसने भली प्रकार सत्कार किया उद्धव जी आसन का स्पर्श करके भूमि पर ही बैठगए । तदनन्तर लोकरीति का वर्ताव करने वाले श्रीकृष्णजी ने भी नवीन एवं बहुमूल्य पलङ्ग पर प्रवेश किया । वह कुब्जा-स्नान, अङ्गलेपन, वस्त्र भूषण, फूल माला, इतर फुलेल, पान, और अमृत समान-आसव-आदि से अपने आप को सजा बजा कर लज्जापूर्वक मन्द-मुस्कान एवं हाव भाव से देखती

हुई भगवान् के निकट पहुंची ॥ [श्री कृष्ण जी के] नवीन समागम के कारण लज्जा-वश स्वयं पास आने से विशङ्कित हुई कुब्जा को भगवान् ने अपने पास बुलाकर उस के कंकणों से भूषित हाथ को पकड़ कर शय्या पर बिठलाया और उसके साथ क्रीड़ा की, चन्दन का लेपन करना मात्र जिसका थोड़ा सा पुण्य था [वह कुब्जा इतने बड़े मान को प्राप्त हुई] ॥ अनन्त शक्ति भगवान् कृष्ण के चरणों को सूंघती हुई वह कुब्जा अपने काम तप्त- स्तन, हृदय और आंखों की पीड़ा को उन चरणों से दूर करने लगी। तथा दोनों स्तनों के मध्य में प्राप्त हुवे आनन्द मूर्त्ति प्यारे कृष्ण को भुजा-ओं से आलिंगन करके अपना बहुत दिनों का ताप बुझाया ॥ इस तरह कैवल्य मुक्ति के दाता, सर्व दुर्लभ, श्रीकृष्ण जी को- चन्दन लेप के दान प्रभाव से- पाकर भी वह दुर्भागिन यही मांगती हुई कि- ॥ हे प्यारे, कमलनयन कृष्ण ! तुम्हारा सङ्ग छोड़ने को मेरा मन नहीं मानता इस लिये कुछ दिन तक यहां ठहरिये और रमण कीजिये, ॥ भक्तों को मान देने वाले सर्वेश्वर भगवान् उसे यथेच्छ वरदान एवं मान देकर उद्धव जी सहित अपने पूज्य स्थान को वापिस लौट आए ॥ सर्वसाधारण जिसकी आरा-धना नहीं कर सकते ऐसे चराचर के स्वामी विष्णु भगवान् को प्राप्त होकर भी जो 'मनोग्राह्य'= [मानसिक सीमा पर्य्यन्त ही जिसका सम्बन्ध हो एवं भूत अकिंचित्कर तुच्छ] 'वर' की याचना करता है उसे 'कुमनीषी'=दुर्बुद्धि=बेवकूफ ही समझना चाहिये।

ऊपर उक्त कथा के दोनों स्वरूप लिखे जाचुके हैं, पाठक ! 'त्वं विधर्त ! सचसे पुरन्ध्या'- इस मन्त्रांश का मनन करने पर उक्त लीला की वैदिकता का अनुमान भली प्रकार कर सकते हैं। पौराणिक स्वरूप के मूल शब्द ही ऐसे हैं कि जिनका साद्यन्त पर्य्यालोचन करने से कोई वास्तविक जिज्ञासा उत्पन्न ही नहीं होती। इसी लिये उक्त कथा के मुख्य श्रोता श्रीपरीक्षित जी ने इस विषय में शुकदेव जी से कुछ भी पूछने की आवश्यकता नहीं समझी।

जो महाशय आज कल इसे पढ़ कर शङ्कित होजाते हैं उन्हें वस्तुतः किसी धर्म्मतत्व के समझने की योग्यता ही नहीं है, तभी तो वे अपना पछोपा दिखाने के लिये कुछ न कुछ कह डालने की धृष्टता किया करते हैं। हमारे सामने भी कई शा-स्त्रार्थों के समय वादी महाशयों की तरफ से इस चरित्र पर उद्भङ्गना की गई जिसका सार यह था कि 'कृष्ण जी ने कुब्जा से व्यभिचार किया था'। परन्तु हमारे यह पूछने पर भी इस समय भगवान् की कितनी आयु थी ! तथा इस कथा में वह कौन से शब्द हैं कि जिनका अर्थ- व्यभिचार- मैथुन- याभ या स्त्रीसङ्ग हो सकता है ?- तो

महाशयों को बगलें झांकनी पड़ीं, । एक दिन म० मनसाराम आर्य्योपदेशक ने शास्त्रार्थ के समय जनता को भ्रम में डालने के लिये गला फाड़कर कहा कि "भागवत में साफ लिखा है कि— 'रेमे' 'रमस्व'— अर्थात्— [कृष्ण ने] रमण किया— सो संस्कृत में स्त्री संग या व्यभिचार को ही रमण कहते हैं। जैसे गेहूँ और गन्दुम एक ही वस्तु के दो नाम हैं इसी तरह 'रमण' कहो चाहे 'व्यभिचार' कहो, एक ही अभिप्राय है"— महाशय जी की इस चालाकी का पड़दा फाश करने के लिये हमने भी तत्काल आर्य्यसमाज की मान्य पुस्तक 'आर्य्याभिविनय' उठाई और उसका ५७ का पृष्ठ निकाल कर महाशय जी को ललकारा कि कहिये ! 'रमण' शब्द का अर्थ— 'व्यभिचार' आप को मान्य है न ?— 'हां' करने पर उक्त पुस्तक में से—

सोमरारन्धिनो हृदि०

(ऋग्वेद १ । ६ । २१ । १३).

—आदि मन्त्र और उसका स्वा० दयानन्द कृत भाषार्थ पढकर जनता को सुना देने के लिये कहा गया,— महाशय जी ने— पुस्तक हाथ में पकड़ली, परन्तु जब मन्त्रार्थ को देखा तो 'भइ गति सांप छुछुन्दर केरी'। लगे, आंखें फाड़ कर ज़िमी आसमान को तकने, । कई मिनिट तक जनता में सन्नाटा रहा, और श्रोता लोग महाशय जी की आवाज़ की प्रतीक्षा करते रहे, परन्तु यहां तो 'ज़िमी गुम्मद न गुम्मद गुल मुहम्मद' वाली कहावत चरितार्थ हो रही थी, अन्त में जब बार २ कहने पर भी आपने उक्त मन्त्रार्थ को पढ़ कर-सुनाने का साहस नहीं किया तो प्रधान जी की आज्ञा से वह मैंने ही पढ सुनाया जो इस प्रकार था—

"हे सौख्यप्रदेश्वर ! आप कृपा करके (रारन्धिनः, हृदि) हमारे हृदय में यथावत् रमण कीजिये"।

—जनता रमण शब्द सुनते ही खिल खिला उठी— सो यदि समाजियों का निराकार बाबा भी यदि उनकी प्रार्थना पर नित्य अढ़ाई लाख हृदयों की गोशेतनहाई में घुसकर 'रमण- आनन्द- प्रमोद' नहीं बल्की बकौल महाशय मनसाराम खुला व्यभिचार ही करता है तो- निराकार से साकार रूप में अवतीर्ण होने वाले 'मायामानुषविग्रह' श्रीकृष्ण जी का रमण करना किसी को क्यों खटकता है ? यह हमारी समझ में नहीं आता !

यहां यह बता देना भी अनुचित न होगा कि 'आर्य्याभिविनय' समाज का वह स्तोत्र है कि जिसका पुण्यपाठ [D. A. V.] स्कूलों, कालिजों, गुरुकुलों, और

आर्य्य कन्या पाठ-शालाओं में पढ़ने वाले] लड़के और लड़कियें प्रायः प्रतिदिन करते हैं, अब विज्ञ पाठक ही स्वयं परिणाम निकाल लें कि— वास्तव में 'रमण' शब्द का क्या अर्थ होना चाहिये ?

ब्रह्म--दृष्टि से--

भगवान् कृष्ण साक्षात् ब्रह्म थे, शरणागत भक्तों के मनोरथों को पूरा करना ही उनके अवतार धारण का मुख्य प्रयोजन था। कुब्जा एक मुद्दत से आपको हृदय से लगा कर भेंटने की आशा बांधे बैठी थी, यद्यपि इसका प्रेम विशुद्ध न था तथापि अनन्यता के कारण वह इतना परिपक्व होचुका था कि उससे कुब्जा के हृदय में 'तन्मयता' उत्पन्न होगई थी, भगवान् तन्मयता-सम्पन्न, व्यक्ति को अवश्य ही कृतकृत्य करते हैं, सो यही जानकर भगवान् परमवेदान्ती उद्धव जी को साथ लेकर कुब्जा के घर पहुंचे थे। वहां जाने पर कुब्जा ने जिस रीति से जो आवभगत की वह मूल शब्दों में ही साफ लिखी है अतः दुहराने की आवश्यकता नहीं। कुब्जा ने भगवान् को हृदय से लगा कर चिरसञ्चित विरह को दूर किया, और भगवान् ने भी उसका मन बहलाने के लिये रमण=विनोद=की सीमापर्य्यन्त जो भी विशुद्ध चेष्टाएं होसकती हैं उनके अनुष्ठान में कोई कोर कसर बाकी न रक्खी।

कुब्जा की अभिलाषा पूर्ण हुई परन्तु वह दुर्भागिन 'घर आई गङ्गा' से पूरा लाभ न उठा सकी और 'चक्रवर्ती से चबेना' ही मांग बैठी। अर्थात्— मुक्ति जैसी अलभ्य वस्तु को छोड़ कर घर रहना ही मांगा। भगवान् को क्या उजर था, जो मांगा सोई पाया। इस तरह भगवान् उद्धव सहित वापिस लौट आए, और कुब्जा को 'मनोग्राह्य' मांगने के कारण शुकदेवजी की ओर से 'कुमनीषीता' का 'प्रमाण पत्र' मिल गया। भगवान् का सिद्धान्त है कि—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ॥

(भगवद्गीता ४। ११)

अर्थात्— जो भक्त जिस भावना से मेरी शरण में आते हैं मैं भी उनको उसी प्रकार से पेश आता हूँ।

इस लिये ब्रह्म दृष्टि से उक्त चरित्र का परीक्षण करने पर यही परिणाम निकलेगा कि भगवान् का यह लीला विनोद-शरणागत भक्त की भावना को पूरा करने का आदर्शमात्र है, यही समझ कर मूल कथा में परीक्षित जी को कुछ पूछने की आवश्यकता अनुभव नहीं हुई।

पुरुष-दृष्टि से-

कदाचित् प्रमादी शङ्कावादी, भगवान् को ब्रह्म मानने से मुनकर हों तो हम उन के सन्तोषार्थ भी कुछ ऐसे कारण अङ्कित करते हैं कि जिनको समझ लेने से उक्त चरित्र की विशुद्धता भली भांति स्पष्ट होजाये। तद्यथा—

(१) कुब्जा समागम के समय कृष्ण जी की अन्यून ११ वर्ष की आयु थी, इसके दो प्रमाण हैं, पहिला—(क) भगवान् जिस क्षत्रिय जाति में उत्पन्न हुवे थे उस में 'गर्भादेकादशे राज्ञाम्' इस धर्म्मशास्त्र के वचनानुसार ग्यारहवें वर्ष में उपनयन संस्कार कराने का विधान है, सो आपका यह संस्कार उक्त लीला से लगभग तीन चार मास पूर्व ही सम्पन्न हुवा था, जैसा कि श्रीमद्भागवत (१० । ४५ । २६) के 'यथावद् द्विज-संस्कृतिम्' पद्यांश से प्रकट होता है, क्योंकि ११ वें वर्ष से अधिक आयु वाले क्षत्रिय बालक के उपनयन संस्कार को— 'यथावत्' नहीं कहा जासकता बल्कि उसे तो कालात्यय के कारण 'गौण' ही कहा जा सकता है। दूसरा प्रमाण यह है—(ख) श्रीमद्भागवत में दूसरे स्थान में स्पष्ट ही लिखा है कि—

ततो नन्दव्रजमितः पित्रा कंसाद्धि बिभ्यता।
एकादश समा स्तत्र गूढार्चिस्सबलोऽवसत्॥

(श्री० भा० ३ । २ । २६)

अर्थात्— कंस से भयभीत हुवे पिता वसुदेव ने कृष्ण को व्रज में नन्द जी के यहां पहुंचा दिया। यहां पर भगवान् कृष्ण बलदेव जी सहित ग्यारह वर्ष तक- राख में छुपी हुई अग्नि की तरह- निवास करते हुवे। —सो मथुरा में प्रवेश करते समय कुब्जा दासी ने भगवान् को चन्दन से चर्चित किया था और कंस को मार कर फुरसत पाते ही भगवान् उसके घर गये थे- इस समय निस्सन्देह भगवान् की आयु ११ वर्ष की ही थी— चूंकि इतनी छोटी आयु के बालक में कामचेष्टा का उत्पन्न होना असम्भव है इस लिये पुरुष दृष्टि से भी उक्त चरित्र पर कोई आक्षेप नहीं आसकता।

(२) भगवान् अकेले नहीं गए थे, बल्कि उनके साथ परम ज्ञानी,-षट्शास्त्रवेत्ता उद्धवजी भी थे जो साथ गए और साथ ही वापिस लौटे थे जैसा कि मूल में ही लिखा है। क्या कामवासना पूर्ण करने के निमित्त माशूक के घर जाने वाले जार पुरुष अपने साथ वेदान्ती पण्डितों का लेजाना भी आवश्यक समझते हैं ? यदि 'नहीं' तो उद्धवजी जैसे धर्म्मात्मा के साथ रहते हुवे किसी प्रकार की कुचेष्टा संभव है क्या ?

(३) कुब्जा के टकणे, घुटने, कमर, कुल्ले, कुहनी तथा गरदन आदि जोड़ों में कूब पड़ता था इसी लिये उसका अन्वर्थ नाम ही कुब्जा था। 'व्याधास्याचरण' आदि प्रसिद्ध श्लोक में भी 'कुब्जायाः कमनीयरूपमधिकम्' कहते हुवे व्यंग्योक्ति से उसे बड़ी भारी कुरूपा बतलाया है। आयु में भी वह अधेड़ थी। रणवास में प्रायः इसी प्रकार की कुरूपा दासियें ही रहा करती हैं। रामायण की कूबड़ी मन्थरा से सर्वसाधारण खूब परिचित है जो कि स्वयं—

'करि कुरूप विधि परवश कीन्हा'।

— के अनुसार अपने कुरूप की ड्योंडी पीटती थी। यह कुब्जा भी इसी श्रेणी की दासी थी— सो 'स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्' कहे जाने वाले बांके विहारी को दुनिया में यही एक अलभ्य कूबड़ी मिल पाई थी क्या? इस तरह की कुरूपा एवं अधेड़ दासी को तो 'लंगोटे में चून बान्धे घूमने वाला सात-पीढ़ी का रांडा' भी शायद ही कभी पसन्द करे! इस तरह भी यह चरित्र काम प्रधान नहीं- बल्कि 'भक्ति-प्रधान' ही सिद्ध होता है।

(४) कुब्जा इस समय घर में अकेली नहीं थी बल्कि 'यथोपसंगम्य-सखीभिरच्युतम्' (भा० १०। ४८। ३) के अनुसार बहुत सी सखियें भी उसके निकट थीं इससे भी समुदाय में कामचेष्टा की बात युक्तिसंगत नहीं हो सकती।

(५) मूल कथा में स्त्रीसङ्ग या मैथुन सूचक एक भी शब्द नहीं है, 'रमण' का अर्थ हास्य विनोद और खेल कूद ही हो सकता है, कदाचित् शङ्कावादी महाशय सेज पर बैठने, हाथ छूने और गले लगाने से व्यभिचार की ध्वनि निकालें तब तो महा अनर्थ होजाएगा! क्योंकि- माताएं और बहिने भी अकसर १०-११ वर्ष की आयु वाले बच्चों के साथ एक पलङ्ग पर बैठने में कुछ संकोच नहीं करतीं, देहातों में तो बारह चौदह वर्ष तक के बच्चे भी वक्तन फवक्तन माताओं की गोद में सो जाते हैं,। हमारी जवान २ कन्यायें अपनी सुसराल को बिदा होते वक्त पिता भ्राता आदि पुरुषों के गले में हाथ डालकर प्रायः मिला करती हैं,- क्या यहां भी ऐसी ही नीच कल्पना कीजियेगा? अब भी योरोप में बड़े से बड़े शाही खानदानों की साध्वी स्त्रियें भी मित्रों से हाथ मिलाती हैं, तथा भ्राताओं तक के कन्धे से कन्धा सटा कर डांस (dance) में नाचती हैं, एवं वहां के पाहुने विदा होते समय अपनी सब प्रकार की संबन्धिनों के मुख चूमते हैं परन्तु इसे व्यभिचार नहीं समझा जाता। इस दृष्टि से भी यह चरित्र विशुद्ध ही ठहरता है इस प्रकार हम 'ब्रह्म या- पुरुष' दोनों दृष्टियों से ही उक्त चरित्र की परीक्षा करने के बाद इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि इसमें अश्लीलता तो क्या अश्लीलताभास का भी अवकाश नहीं॥

अनेक मुनि गोपी बने !

१४ पद्म पुराण (पाताल खण्ड अध्याय २१) के आधार पर प्रो० रामदेव ने 'पुराण-मत-पर्य्यालोचन' पुस्तक में श्री कृष्ण चरित्र के ऊपर एक यह भी आक्षेप किया है कि 'उक्त पुराण में- उग्रतपाः, सत्यतपाः, हरिधाम, जाबालि और नारद आदि मुनियों को गोपी बनाकर उनके साथ कृष्ण का भोग करना लिखा है'। —महाशय जी गुरुकुल कांगड़ी के हैडमास्टर रह चुके हैं और एम० ए० पास कहे जाते हैं, इस लिये आप की इंगलिश योग्यता के सम्बन्ध में कुछ रायजनी करने का हमें अधिकार नहीं, परन्तु उक्त आक्षेप के घड़ने में आपने जिस बुद्धिमत्ता से काम लिया है उससे आपकी शास्त्र समझ पाने की क्षमता अपने आप प्रकट हो रही है प्रोफेसर साहेब ! इस प्रसंग में तो साफ लिखा है कि- 'उक्त मुनियों ने एक मुद्दत तक घोर तप किया, फिर वे शरीर त्याग कर दशों-कल्पों का समय बीत जाने पर द्वापर में गोप कन्या रूप में उत्पन्न हुवे, और कृष्णजी की बाल लीलाओं का आनन्द लूट सके' —इस सारे कथानक में न कहीं भोग का उल्लेख है न रोग का, जब कि भगवान् ने व्रज भूमि में केवल ११ वर्ष की आयुपर्य्यन्त ही निवास किया है और उक्त बाल लीला के साथ ही गोप गोपियों का सम्बन्ध है तो फिर इस चरित्र में 'भोग' के स्वप्न देखना महाशय जी की अपनी अज्ञता नहीं तो और क्या है ?

हम नहीं समझते कि- किसी ऐसे जीवात्मा का- जो कि कभी पूर्वकाल में मानव देहधारी होने के कारण मुनिपदवी को प्राप्त होचुका हो कल्पान्तर में भाग्य-शालिनी गोपी बन जाना— किस कसौटी से अश्लील जंचता है ?। यहां तो भला कल्पान्तर का उल्लेख है, जीवात्मा तो अगले जन्म में हो कर्म्म विपाक से-पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, आदि नीच योनियों में अथवा दिव्य योनियों में जासकता है ! यह कौन कह सकता है कि महाशय जी स्वयं, पिछले जन्म में किसी आर्य्य घराने की सभ्य महिला न थीं और अगले जन्म में पाश्चात्यशिक्षा दीक्षा के अनन्यप्रेम से पैरिस- की अपटूडेट (Upto-date) फैसनेबल लेडी नहीं बन सकतीं ! श्रीमान् जी ! यह तो सब कर्म्म-विपाक का तारतम्य है, इसका नियंत्रण एकमात्र ईश्वर के हाथ में है। क्या आप- और क्या हम, सभी जीव अनेक योनियों में जासकते हैं ! यदि यह आक्षेप कोई ईसाई या मुसलमान करता तो हर्ज न था परन्तु पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर

विश्वास रखने वाले दयानन्दी मत के नेता की कलम से इस प्रकार का अनावश्यक एवं निरर्गल आक्षेप शोभा नहीं देता ! —

महाशय जी ! परतन्त्र जीवात्मा का तो जिक्र ही क्या है ? वेदों में तो आपके निराकार बाबा का भी- स्त्री से पुरुष और पुरुष से स्त्री- रूप में प्रकट होना लिखा है, पढ़िये—

वैदिक-स्वरूप

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उतवा कुमारी ।
त्वं जीर्णो दण्डेन वंचसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥

(अथर्व १० । ८ । २७)

अर्थात्— [समाजी- सातवलेकरकृत भाषार्थ- 'वेदामृत'] तू स्त्री तू पुरुष तू कुमार और तू ही कुमारिका (असि) है । (त्वं) तू (जीर्णः) वृद्ध होकर (दण्डेन वञ्चसि) डंडा लेकर चलता है और तू ही (विश्वतः मुखः जातः भवसि) सर्वत्र मुख वाला होता है ।

पौराणिक-स्वरूप

(क) आसीदुग्रतपा नाम मुनिरेको दृढव्रतः ।
एवं ध्यानपरःकल्प-शतान्ते देहमुत्सृजन् ॥
सुनन्दा नाम गोपस्य कन्याभूत् स महामुनिः ।
(ख) मुनिरन्यः सत्यतपा···दशकल्पान्तरेचायं··· ।
·····कन्या भद्रेति विश्रुता ॥
(ग) हरिधामाभिधानस्तु ····· कल्पत्रयान्तरे ॥
(घ) जाबालिरितिविश्रुतः ····· नवकल्पान्तरे··· ॥

(पद्मपुराण पाताल खण्ड अध्याय २१)

अर्थात्— (क) दृढव्रत वाला उग्रतपा नामक मुनि निरन्तर ध्यान लगाता हुवा देहत्याग कर सौ कल्प के बाद सुनन्दा नाम की गोपकन्या हुई । (ख) सत्यतपा मुनि दशकल्प बीत जाने पर भद्रा नाम की गोपी हुवे । (ग) हरिधाम मुनि तीन कल्प के बाद और (घ) जाबालि मुनि नौ कल्प के बाद- गोपकन्या हुवे ।

एक कल्प ८, ६४, ००, ००, ००० मानव वर्षों के बराबर होता है, पौराणिक स्वरूप में ३–, ६–, १० और १०० कल्पों के अनन्तर अमुक २ अविनाशी जीवात्मा का अमुक २ गोपी के रूप में पैदा होना लिखा है, जिससे हिन्दू धर्म्म के 'कर्म्मविपाक' सिद्धान्त पर 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म्म कल्पकोटिशतैरपि' की अटल मुहर लग जाती है।

शिव लिंग की उत्पत्ति

१५ आर्य्यसमाज के प्रवर्तक स्वा० दयानन्द ने 'सत्यार्थ-प्रकाश' (समुल्लास ११ पृष्ठ ३४६) में शिवलिङ्ग की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक बिलकुल झूठा कथा घड़कर व्यर्थ ही शिवपुराण पर आक्षेप करने की धृष्टता की है, जिसे पढ़कर सर्वसाधारण को भ्रम होसकता है, अतः हम उक्तकथा का भी क्रमागत शैली के अनुसार यहां निरूपण करना आवश्यक समझते हैं।

पौराणिक-स्वरूप

शिवलिङ्ग वास्तव में क्या वस्तु है? इस बात का रहस्य 'शिवपुराण' वर्णित शिवलिङ्ग उत्पत्ति को मनन करने से भली भांति विदित हो सकता है, हम उदार पाठकों की सन्तुष्टि के लिये कुछ अंश यहां उद्धृत करते हैं। यथा—

इदं दृश्यं यदा नासीत्सदसदात्मकं च यत्।
तदा ब्रह्ममयं तेजो व्यसिरूपं च सन्ततम् ॥१५॥
न स्थूलं नच सूक्ष्मं च शीतं नोष्णं तु पुत्रक!।
आद्यन्तरहितं दिव्यं सत्यं ज्ञानमनन्तकम् ॥१६॥
योगिनोऽन्तरदृष्ट्याहि यद् ध्यायन्ति निरन्तरम्।
तद्रूपं सकलं ह्यासीज् ज्ञानविज्ञानदं महत् ॥१७॥
कियता चैव कालेन तस्येच्छा समपद्यत।
प्रकृतिर्नाम सा प्रोक्ता मूलकारणमित्युत ॥१८॥
ज्योतिर्लिङ्गं तदोत्पन्न-मावयोर्मध्य अद्भुतम्।
ज्वालामाला-सहस्राढ्यं कालानलचयोपमम् ॥६३॥

क्षयवृद्धिविनिर्मुक्त-मादिमध्यान्तवर्जितम् ।
अनौपम्यमनिर्दिष्टमव्यक्तं विश्वसम्भवम् ॥६४॥

(शिवपुराण-धर्म्मसंहिता अध्याय २ श्लोक १५-६४)

अर्थात्— यह स्थूल दृश्य जगत् जब उत्पन्न नहीं हुआ था, उस महाप्रलय के अन्त समय में जब सत् असत् कुछ भी नहीं था। (अर्थात् कुछ है वा नहीं ऐसा नहीं कहा वा माना जासकता था) उस समय निरन्तर व्याप्ति रूप ब्रह्ममय तेज प्रकट हुआ ॥ १५॥ (ब्रह्मा जी अपने पुत्र नारद के प्रति कहते हैं कि) हे पुत्र ! वह ब्रह्मतेजः स्थूल, सूक्ष्म, शीत और उष्ण कुछ भी नहीं था, उस अलौकिक दिव्य तेज का आदि वा अन्त कहीं नहीं था। वह सत्य था, ज्ञानस्वरूप था और अनन्त था ॥१६॥ योगी लोग समाधि में दिव्य दृष्टि से उसी तेज का निरन्तर ध्यान करते हैं। वही ज्ञान विज्ञान का देने वाला ब्रह्मतेज प्रकट हुआ ॥१७॥ कुछ काल के पश्चात् इस ब्रह्मतेज में इच्छा (क्रिया motion) प्रकट हुई, उसी को 'प्रकृति' कहते हैं जो चराचर की मूल कारण है ॥ १८ ॥ उस समय हम दोनों (ब्रह्मा और विष्णु) के मध्य में आश्चर्यजनक "ज्योतिर्लिङ्ग" उत्पन्न हुआ। वह जाज्वल्यमान तेजोमय परिधियों से युक्त और प्रलयाग्नि के तुल्य तेजस्वी था ॥ ६३ ॥ न घटता था न बढ़ता था, न उसका आदि था, न मध्य था, और न कहीं पर अन्त था। संसार में उसकी कोई उपमा नहीं, और न उसका वर्णन ही किया जासकता है, वह सर्वथा अव्यक्त था, तथा विश्व का उत्पत्तिस्थान था ॥ ६४ ॥

वैदिक स्वरूप--

(क) नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नोव्योमा परो यत् ।

(ऋग्वेद ८ । ७ । ७ । १)

(ख) सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादाध ।
नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत् ॥

(यजुर्वेद ३२ । २)

अर्थात्— (क) एक समय वह था जब कि सत्, असत्, स्थूल और सूक्ष्म द्यावाभूमि कुछ भी नहीं था। (ख) फिर विद्युत्-पुरुष="ज्योतिर्लिङ्ग" उत्पन्न हुवा जिस से कला काष्ठा आदि सब चराचर बना। जिस ज्योतिर्लिङ्ग का पार- ऊपर, नीचे, आसपास और बीच से कोई भी नहीं पा सका।

यही बात मनुस्मृति में भी लिखी है:—

तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् ।

(मनु० १ । ६)

अर्थात्— (सृष्टि के आरम्भ में) एक अण्ड उत्पन्न हुआ जो हजारों सूर्य्यों की बराबर तेजस्वी प्रकाशमान था ।

वास्तविक-भाव

उपर्युक्त वेद, स्मृति और पुराण शास्त्रों के मतैक्य से यह बात सिद्ध होजाती है कि सृष्टि के आरम्भ में निराकार ब्रह्म साकार रूप में परिणत होता हुआ ज्योतिर्लिङ्ग के स्वरूप में प्रकट हुआ । यही ज्योतिर्लिङ्ग ब्रह्माण्ड कहा जाता है । इसी ब्रह्माण्ड की अण्डाकार मूर्ति के समान ब्रह्म की प्रतिमा 'शिवलिङ्ग' के नाम से पूजी जाती है जिसका यह तात्पर्य है कि निराकार ब्रह्म का जो पहिला स्वरूप सृष्टि उत्पत्ति के समय प्रकट हुआ आस्तिक लोग उसी स्वरूप द्वारा ब्रह्म की उपासना करते हैं । जैसा कि शिवपुराण में लिखा है:—

शिवशक्त्योश्च चिन्हस्य मेलनं लिङ्गमुच्यते ।

(शि० पु० विद्येश्वरी संहिता १०७)

अर्थात्— शिव=ब्रह्म और शक्ति=माया के चिन्हों का जो मेलन है उसे 'शिवलिङ्ग' कहते हैं ।

ज्योतिर्लिङ्ग की उत्पत्ति का वर्णन केवल हिन्दू शास्त्रों में ही हो यह बात भी नहीं, इसी प्रकार का वर्णन अन्यान्य अहिन्दू धर्म्म ग्रन्थों में भी किसी न किसी रूप में पाया जाता है । उदाहरणार्थ— इस्लाम धर्म ग्रन्थ उक्त ज्योतिर्लिङ्ग को 'खुदा का नूर' नाम से याद करते हैं, इसी नूर से समस्त चराचर की उत्पत्ति मानते हैं । इसी प्रकार कृश्चियन लोगों के मान्य धर्म ग्रन्थ बाइबिल तौरेत (Old testament) पर्व १ । आयत १-३ में लिखा है कि "ईश्वर ने कहा उजाला हो और उजाला होगया" "ईश्वर का आत्मा जल के ऊपर डोलता था " इत्यादि ।

इसी प्रकार वर्तमान साइन्स में भी यही बात सिद्ध की गई है, विज्ञान वेत्ताओं (Scientific) का कहना है कि "सृष्टि के आरम्भ में चारों ओर हवाई गैस फैली हुई थी, कुछ काल के बाद उस में प्रगति=हरकत (Motion) पैदा हुई और वह क्रमशः अन्दर से ठोस होने लगी ।" इत्यादि । —इन सब बातों से यह सिद्ध होजाता है कि वेद का "विद्युत् पुरुष", पुराणों का "ज्योतिर्लिङ्ग", मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रों

का "सुवर्णमय अण्ड" मुसलमानों का "खुदाई नूर" कृश्चियनों का "उजाला" और साइन्स की "चमकीली गैस" सब एक ही पदार्थ के भिन्न २ नामान्तर हैं। यदि इस में कुछ अन्तर है तो केवल यह है कि जहां अहिन्दू खोज में उसे अनिश्चित एवं सन्दिग्ध शब्दों में कथन किया गया है वहां वेद और पुराणों में उसे सुनिश्चित रूप से प्रत्यक्ष की भांति सामने खड़ा कर दिया गया है जो कि हिन्दू शास्त्रों का सर्वतोमुख देदीप्यमान प्रकाश है।

'शिव' शब्द का अर्थ।

वास्तव में 'शिव' क्या पदार्थ है। जब तक निष्पक्ष भाव से इस विषय का विवेचन न किया जायगा तब तक सत्य वस्तु का परिज्ञान कदापि नहीं हो सकता। जिस पुरुष को किसी वस्तु का वास्तविक बोध न हो उसका कर्तव्य है कि वह गुरु की सेवा में समित्पाणि होकर तद्विषयक शास्त्र के पारायण से सत्यता का ज्ञान प्राप्त करे। उदाहरण के लिये— नाक पर भिनभिनाती मक्खियों से तंग आकर जड़ से नाक काट डालना निरी मूर्खता ही कही जायगी। इसी प्रकार किसी भी हिन्दू सिद्धान्त के रहस्य को पूरी रीति से न समझ सकने की अपनी योग्यता पर पश्चात्ताप करने के बजाय उलटा उसे झूठा कह डालना महामूर्खता ही है, मिस मेयो जैसी पापिष्ठहृदया एवं बोधरहित अज्ञ बालिका के मूर्खतापूर्ण उपहास के कारण "शिव-लिङ्ग" जैसे अध्यात्म-तत्वपूरित वैदिक सिद्धान्त को मटियामेट करने के लिये ज़बान खोलना समझदार हिन्दू का काम नहीं हो सकता।

'शिव' शब्द का निर्वचन इस प्रकार है— "शेते असौ शिवः" अर्थात् जो शयन करे उसे शिव कहते हैं तात्पर्य यह हुआ कि महाप्रलय के अनन्तर जैसे प्रकृति के समस्त कार्य बन्द होजाते हैं उस समय निश्चेष्ट, शान्त, निष्क्रिय एवं केवल चेतन-क्रियाविशिष्ट ब्रह्म को शिव कहते हैं।

वेद भगवान् कहते हैं:—

नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च।
मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च॥

(यजुर्वेद १६।४१)

अर्थात्— शम्भु कल्याणकारी सुखदाता, शिव भगवान् को नमस्कार। इस मन्त्र में स्पष्ट रीति से शम्भु, शङ्कर, शिव आदि नामों द्वारा शिव भगवान् की स्तुति की गई है। इस प्रकार माण्डूक्य उपनिषद् में भी लिखा है:—

अदृष्टमव्यवहार्य्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमैकात्म्यप्रत्यय-सारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यते स आत्मा विज्ञेयः ॥७॥

अर्थात्—जो किसी इन्द्रिय का गोचर नहीं, व्यवहार में नहीं लाया जा सकता, जो ग्रहण कर सकने के योग्य नहीं, जिसका कोई लक्षण नहीं, अतएव अचिन्त्य वाणी से अकथनीय, सर्वत्र एक आत्मा का भान जिसकी पहिचान का तत्व है। जिस में कोई भी मायाकृत प्रपञ्च नहीं, जो सजातीय विजातीय एवं स्वगत भेद शून्य, एक अद्वैत वस्तु है वही तुरीयावस्था रूप शिव है, वही आत्मा है उसी को जानना चाहिये।

वेदप्रतिपादित उक्त शिव भगवान् का माहात्म्य शिवपुराण में २४००० श्लोकों में विस्तार पूर्वक लिखा है इसी प्रकार स्कन्द, लिङ्ग, आदि पुराणों में भी लाखों श्लोकों द्वारा इसे समझाया गया है।

'लिङ्ग' शब्द का अर्थ.

व्याकरण में पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग, नपुंसकलिङ्ग, आदि शब्दों का भरपूर व्यवहार होता है परन्तु वहां लिङ्ग शब्द का अर्थ मूत्रेन्द्रिय नहीं किया जाता किन्तु शब्दों की विशिष्ट तीन श्रेणि समझा जाता है जो लिङ्गानुशासन की व्यवस्था के अनुसार अमुक अमुक प्रत्यय के तारतम्य से विभक्त की जाती हैं, यदि मिस मेयो और उनके पृष्ठपोषक आर्य्यसमाजियों के कथनानुसार यहां भी लिङ्ग शब्द का अर्थ 'मूत्रेन्द्रिय' कर दिया जाय तो हमारे बालक और बालिकाएं अश्लीलता के डर से सदा के लिये व्याकरण ज्ञान शून्य रह जाएंगे। इस लिये किसी भी अनेकार्थ वाचक शब्द के प्रयोग बाहुल्य-प्रमाणित, विशुद्ध अर्थ को त्याग कर मनमाने ढंग से अश्लील अर्थ की भावना पर ही जम बैठना ज्ञानशून्य पुरुष का ही काम है, आर्ष ग्रन्थों में लिङ्ग शब्द किन २ अर्थों में प्रयुक्त हुआ है यह नीचे लिखे कतिपय प्रमाणों से सिद्ध होजाएगा:—

निष्क्रमणं प्रवेशनमित्याकाशस्य लिङ्गम्।

(वैशेषिक दर्शन २।१।१०)

अर्थात्—जिस में निकलना, प्रविष्ट होना आदि क्रियाएं होती हों (वह आकाश है) यह आकाश का लिङ्ग-लक्षण है।

अपरस्मिन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि।

(वैशेषिक दर्शन २।२।६)

अर्थात्— पीछे, पहिले, एक साथ, देर से, और झटपट, इत्यादि व्यवहार जिस में होते हों (वह काल है) यह काल के लिङ्ग=चिन्ह=लक्षण हैं।

इति इदमिति यतस्तद्दिश्यं लिङ्गम्।

(वैशेषिक दर्शन २। २। १०)

अर्थात्— यहां से यह=(अमुक प्रदेश से अमुक स्थान) इत्यादि व्यवहार जिस में होते हैं (वह दिशा है) यह दिशा का लिङ्ग=लक्षण है।

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्।

(न्यायदर्शन १। १०)

अर्थात्— चाह, वैर, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान यह आत्मा का लिङ्ग= लक्षण है।

युगपज्ज्ञानानुपपत्ति र्मनसो लिङ्गम्।

(न्यायदर्शन १। १६)

अर्थात्— एक समय में एक साथ अनेक वस्तु का ज्ञान न होना मन का लिङ्ग=लक्षण है।

उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि आकाश, काल, दिशा, मन, और आत्मा आदि निराकार पदार्थ हैं उन में मूत्रेन्द्रिय की कल्पना करना भी निरी मूर्खता है, अतः 'लिङ्ग' शब्द के अर्थ संज्ञा, लक्षण, चिन्ह, परिभाषा, निशान, तारीफ, या डैफिनेशन आदि २ होते हैं।

अब विचार करना चाहिये जब कि 'शिव' शब्द का अर्थ ब्रह्म, और 'लिङ्ग' शब्द का अर्थ चिन्ह है तब ऐसी स्थिति में परब्रह्म की चिन्ह भूत प्रतिमा की उपासना करना प्रत्येक आस्तिक का परम कर्तव्य है, बिना किसी प्रकार का शास्त्र चिन्तन किये अपनी मूर्खतावश ऐसे रहस्यमय सिद्धान्त से दूर भागना सर्वथा बेवकूफ़ी है।

"भग" (जलाधारी) शब्द का अर्थ।

शिवलिङ्ग की भांति जलाधारी की बनावट को देख कर भी नास्तिकों ने पार्वती की योनि अर्थात्— मूत्रेन्द्रिय की कल्पना कर रक्खी है। तथा पुराण ग्रन्थों के जलाधारी वाचक "भग" योनि आदि शब्दों का अर्थ स्त्रीवर्ग की प्रजननेन्द्रिय समझा है जो महा अज्ञान है। वास्तव में वेदादि सच्छास्त्रों में उक्त शब्द प्रसङ्गानुसार माया= प्रकृति=ऐश्वर्य एवं कारण के वाचक आते हैं। यथाः—

प्रातर्जितं भगमुग्रं हवामहे ।

(अथर्व ३ । १६ । २)

अर्थात्— हम प्रातःकाल भगः ऐश्वर्य के अधिष्ठाता देव की स्तुति करते हैं। यहां "भग"=ऐश्वर्य का वाचक है। अतएव भगवान् शब्द भी (भग+वान्) ऐश्वर्य विशिष्ट ईश्वर का वाचक होता है। इसी प्रकार—

तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीराः ।

(यजु० ३१ । १९)

अर्थात्— (वह अजन्मा भी किस प्रकार विविध अवतार धारण करता है) उस परमात्मा की योनि=मूल कारण अथवा प्रकृति माया को धीर पुरुष ही यथार्थ-रूपेण समझ सकते हैं। यहां भी "योनि" शब्द का अर्थ स्त्रीवर्ग की जननेन्द्रिय नहीं होता।

शिवपुराण का निर्वचन।

पुराणों में "लिङ्ग भग" आदि शब्द किन अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं। इस बात का निर्णय स्वयं वेदव्यास जी ने कर डाला है, प्रत्येक शास्त्र में कुछ पारिभाषिक शब्द होते हैं जो व्यापक अर्थों को छोड़ कर किसी विशिष्ट नियमित अर्थ में ही प्रयुक्त होते हैं यह बात शास्त्रवेत्ता लोग भली भांति जानते हैं। व्याकरण में प्रत्याहार घि, टि, आगम और आदेश आदि शब्द जिन अर्थों में प्रयुक्त होते हैं वे अर्थान्तर में नहीं बदल सकते इसी प्रकार पुराणों में भी "लिङ्ग" और "भग" शब्द का खास अर्थ किया है। यथाः—

लीनार्थगमकं चिन्हं लिङ्गमित्यभिधीयते ।
भं वृद्धिं गच्छतीत्यर्थो गः प्राप्तिरुच्यते ॥
मुख्योभगस्तु प्रकृतिर्भगवान्शिव उच्यते ॥

(शिवपुराण विद्येश्वरी संहिता १६ । १०६)

अर्थात्— लीन=अव्यक्तावस्थापन्न वस्तु के गमक=जतलाने वाले चिन्ह को (लीन+ग=) लिङ्ग कहते हैं। और भ=बुद्धि को ग=प्राप्त होने वाली वस्तु को (भ+ग=) भग कहते हैं। जो कि प्रकृति नाम से पुकारी जाती है। इस लिये प्रकृति का नाम भग है और भग के अधिष्ठाता शिव का नाम भगवान् है।

आकार निरूपण।

भगवान् शिवलिङ्ग का 0 अण्डाकार स्वरूप देखकर और जलाधारी का उकार के समान लम्बायमान पान जैसा आकार देख कर नास्तिक लोग अपनी भ्रष्ट बुद्धि के अनुसार स्त्री पुरुष के मूत्रेन्द्रिय की अश्लील कल्पना करते हैं, मिस मेयो और उसके पथप्रदर्शक आर्य्यसमाजियों को छोड़ कर अन्य किसी शिवलिङ्ग पूजक आस्तिक हिन्दू के हृदय में ऐसा खोटा भाव कभी भी नहीं आ सकता। किसी छोटे देहाती गांव में जाकर किसी भी अपठित शिव पूजक से पूछिये कि "शिवालय में क्या मूर्ति है?" तो उत्तर में यही कहा जायगा कि- त्रिलोकी पति शिव शंभु भगवान् की प्रतिमा है, मैं उसी की पूजा करता हूँ।

यदि कोई मनुष्य वाह्य आकार के आधार पर मनमाने ढंग से किसी वस्तु में अघटित कल्पना को घटाने का प्रयास करे तो संसार का वह कोई पदार्थ शेष नहीं रहता जो कि अश्लीलता के लांछन से अछूता रह सके, और तो और शिवलिङ्ग का उपहास करने वाले मिस मेयो के चेले दयानन्दियों की संस्कारविधि के यज्ञपात्रों में प्रोक्षणी, पुरोडाशपात्री और श्रुतावदान आदि के वाह्य आकारों में भी स्त्री पुरुषों की मूत्रेन्द्रिय की कल्पना की जासकती है। हम ऐसी कल्पना को हास्यजनक समझते हैं।

ब्रह्मा और विष्णु में विवाद

एक कथा इस प्रकार है कि- "ब्रह्मा और विष्णु के मध्य में सर्वश्रेष्ठ देवता कौन? ऐसा विवाद चला, उस समय दोनों के मध्य में एक महान् ज्योतिर्लिङ्ग अकस्मात् उत्पन्न हुआ और कहा गया कि तुम दोनों में से जो इस लिङ्ग का पार जान सकेगा वही बड़ा माना जायगा तब तो ब्रह्मा और विष्णु उस लिङ्ग का आदि अन्त जानने के लिये एक नीचे की ओर और दूसरे ऊपर की तरफ गये, परन्तु हज़ार प्रयत्न करने पर भी पारावार न पासके। अन्त में लज्जित होकर दानों ने अपने विवाद को त्याग कर ज्योतिर्लिङ्ग को ही सर्वश्रेष्ठ स्वीकार किया— इत्यादि……। इस पर नास्तिक लाग मुख्यतया दो आक्षेप कर सकते हैं, पहिला ब्रह्मा और विष्णु भी साधारण मनुष्यों की भांति लड़ते झगड़ते हैं, फिर वे ईश्वर कैसे? तथा दूसरा आक्षेप लिङ्ग शब्द का अर्थ अपनी मन्दबुद्धि के

अनुसार मूत्रेन्द्रिय समझ कर ब्रह्मादि द्वारा भी उसका आदि अन्त न पाना, असम्भव और अश्लील विषयक है।

उन आक्षेपों का निवारण करने से पूर्व हम यह बात स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि वेदादि शास्त्रों में एक अद्वितीय, परमात्मा की अनेक शक्तियों का वर्णन आता है उन शक्तियों के भिन्न २ नाम और काम हैं जो देवता नाम से स्मरण की जाती हैं। जैसे जल की नियामक शक्ति का नाम वरुणदेव, भौतिक वायु के अधिष्ठाता का नाम वायुदेवता, पृथ्वी की अधिष्ठात्री शक्ति का नाम पृथ्वी देवी इत्यादि इसी प्रकार उत्पादक शक्ति का नाम ब्रह्मा और पालक शक्ति का नाम विष्णु तथा संहारकारक शक्ति का नाम रुद्र है। उक्त तमाम शक्तियें जिस एक परमात्मा में रहती हैं उसी सर्वशक्तिमान् को शिव अथवा ब्रह्म कहते हैं जैसे कि वेद में लिखा है:—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु-रथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदंत्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

(ऋग्वेद १। १६४। ४६)

अर्थात्— इन्द्र, वरुण, मित्र, अग्नि, सुपर्ण, यम और वायु आदि जिसके नाम हैं वह एक अद्वितीय परमात्मा है।

यहां यह समझना चाहिये कि कोई भी एक शक्ति एकत्वरूपेण सर्वशक्तिमान् परमात्मा से महान् नहीं होसकती, इसलिये सृष्टि उत्पत्ति के समय उत्पादकशक्तिरूप ब्रह्मा और पालकशक्तिरूप विष्णु के परस्पर विवाद द्वारा यह निर्णय किया गया है कि यह समस्त शक्तियें जिस एक परमात्मा में स्थित हैं वही शक्तिभण्डार प्रभु सर्वनियन्ता एवं चराचर का अधिष्ठाता है। यही उक्त विवाद का रहस्य है, तथा माया के संयोग से जो ब्रह्म ब्रह्माण्ड रूप में प्रकट हुआ है, उसका आनन्त्य दिखलाने के लिये ही वेद और पुराण दोनों में समान रूप से कहा गया है कि "उस ज्योतिर्लिङ्ग का नीचे, ऊपर, आस पास किसी भी तरफ से अन्त नहीं पाया" वास्तव में किसी भी गोल अण्डाकार वस्तु का आदि व अन्त स्थिर भी नहीं किया जा सकता। क्यों कि उस के हरएक पहलू को केन्द्र (Center) और परिधि (Circumference) दोनों ही कह सकते हैं।

इसके अतिरिक्त लिङ्ग शब्द का अर्थ मूत्रेन्द्रिय मान कर जो अश्लील कल्पना की जाती है इसका विवेचन हम पूर्व कर चुके अब उसे दोहराने की जरूरत नहीं। हां! इतना और कह देना चाहते हैं कि जिस समय लिङ्ग का प्रकट होना लिखा है उस समय देहधारी प्राणियों का तो कहना ही क्या है, स्थूल पञ्च महाभूतों का भी

पूर्णतया विकाश न हो पाया था। वर्तमान ग्रह नक्षत्र तारे सितारे और सियारे भी भविष्य के गर्भ में विलीन थे। अतः ऐसे समय में किसी शरीरधारी पुरुष के गुह्याङ्ग की कल्पना करना सर्वथा मूर्खपन ही समझना चाहिये।

दारुक वन में दिगम्बर शिवजी।

१७ शिवलिङ्ग के सम्बन्ध में एक अतीव रहस्यभरी कथा शिवपुराण (धर्म्म संहिता अ० १०-७१-२३३) में विस्तारपूर्वक तथा स्कन्द, लिङ्ग और देवी भागवत आदि पुराणों में संक्षेप से इस आशय की आती है कि:- "एक बार देवदारु वन में जब ऋषि लोग समिधा लेने के लिये घरों से बाहिर गए हुये थे तो शिव भगवान् दिगम्बर नग्न रूप में ऋषिपत्नियों के समुदाय में पहुँचे।

द्रष्टुं स्त्रीणां च दौःशील्यं साध्वीनां च तथा धृतिम्।
कौतूहलाद्ययौ गौरी देवदारुवनं शनैः॥

(शि० पु० धर्म्म सं० १०। १०६)

अर्थात्— दुष्ट स्त्रियों का दुश्चरित्र और पतिव्रताओं का धैर्य्य जांचने के लिये (शिव भगवान् देवदारु वन में गए) तथा श्री पार्वती जी भी अन्यान्य मातृ शक्तियों सहित भीलनी का रूप धारण करके इस आश्चर्यमयी परीक्षा को देखने के लिये पीछे २ चलीं। ज्यों ही शिव भगवान् ने जाकर भिक्षा याचना की तो उनके दिगम्बर एवं तेजस्वी स्वरूप को देख कर चञ्चल प्रकृति वाली ऋषिपत्नियां अपने २ पतियों की परवाह न करके शिवजी के पास पहुंचीं और ऐसे हाव भाव प्रकट करने लगीं जिनसे योगी शिव मुग्ध होकर स्वयं भी काम चेष्टा में प्रवृत्त होजायँ। परन्तु महा-योगीश्वर शिव भगवान् पर जब ऋषिपत्नियों की दुश्चेष्टाओं का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा तब तो वे निर्लज्जभाव से स्पष्ट शब्दों में कहने लगीं कि— आप हमारे घर में पधारें, हम सब प्रकार से आपकी सेवा करेंगी। आप सुन्दर रूप वाले युवा हो। तुम्हारे जैसे पुरुष को स्त्रियों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। बिना मांगे मिलते हुये भोगों का त्याग करना निरी मूर्खता होती है। तुम आंखें बन्द किये भिक्षा क्यों मांगते हो? एक बार आंख खोल कर हमारे रूप लावण्य को तो निहारिये। इत्यादि अनेक प्रकार के भाव भरे बचनों को अनसुने करके सुमेरु पर्वत के समान अचल धैर्य-धारी अखण्ड ब्रह्मचारी शिव भगवान् बोले:—

यदेतद्दक्षिणं नेत्रं विष्णोराभाति वीर्य्यवान् ।
एष वै गुरुरस्माकं गुरुराह रतेः स्त्रियः ॥१३८॥
चतुर्दशविधस्याथ भूतसर्गस्य दैशिकः ॥१३९॥
दिवाचराणां भूतानामयं पालयिता दिवा ।
निशाचराणां भूतानामयमेव निशागमे ॥१४०॥
पिता पालयिता नित्यं प्रविश्य शशिमण्डलम् ।
जलमात्रं स्वकिरणैः पातालतलमाश्रितः ॥१४१॥
अनेन मे व्रतं दत्तमिदं त्रिदशपूजितम् ।
आवयोरन्तरं नास्ति योऽयं सोऽहमिति श्रुतिः ॥१४२॥
यावदेष स्थितो व्योम्नि तावन्मे भोजनक्रिया ।
विहिता प्राङ्मुखस्यापि मांसक्षारमधूज्झिता ॥१४३॥
अभक्ष्यापेयपानैश्च सर्वदोषविवर्जिता ।
उषितस्य च मे नित्यं ग्रासो वै दीयतां पृथक् ॥१४४॥
आचान्तस्य जलेनाथ द्वितीयो देय इत्यपि ।
घृतक्षीरान्नशाकैश्च फलमूलैश्च निस्सृतम् ॥१४५॥
एका ददाति कवलं केशकीटविवर्जितम् ।
द्वितीया वस्त्रछदनं पानीयमुपसेचनम् ॥१४६॥
अनेन विधिना तृप्तिं करोमि सततं स्त्रियः ।
अयं मे दक्षिणः पाणिर्भोजने पात्रमेव हि ॥१४७॥
संभाषणं मे भगवन्नमोऽस्त्विति कृताञ्जलिः ।
भूमौ जानुद्वयं कृत्वा करोति मम वन्दनम् ॥१४८॥
अनादरैरसन्मानैस्तुष्टिर्मे जायते सदा ।
शयनं जाङ्गले देशे वृक्षकोटरवेश्मसु ॥१४९॥
इयं तपस्विनी मह्यं सुसमिद्धो हुताशनः ।
अस्मिन् विभावसौ वीर्य्यं जुहोमि सृष्टिसिद्धये ॥१५०॥

मया तु सर्वभूतेभ्यो दानं देयं प्रकल्पितम्।
एतस्माद्यस्य यस्य स्यादभिप्रीतिर्यथात्मनः ॥१५१॥
तं वै नयतु स क्षिप्रं येन स्यात्पूर्णमानसः।
निवृत्तः पारतुष्टश्च सुखी पूर्णमनोरथः ॥१५२॥
तच्छ्रुत्वा परितुष्टास्ताः सावहासाःस्त्रियस्तु वै।
तमवष्टभ्य चिक्रीडुर्जजल्पुरिति तापसम् ॥१५३॥
उन्मत्तक! वृथाशास्त्रं स्त्रीणामग्रे ब्रवीषि किम्।
स्त्रियः कामुकमिच्छन्ति कामितं स्त्रीजनैः परैः ॥१५४॥
यदि नः त्वं वृथाशास्त्रः कथं ते शवरी स्थिता।
छायाफलेव सततं स्त्रीरत्नं भुवि दुर्लभम् ॥१५५॥
एको महेश्वरो धन्यो यस्य तुष्टा च पार्वती।
न लोकस्य वृथावादस्त्वं धन्यः सत्यमेव हि ॥१५६॥
यस्येयं शवरी बाला भार्य्या त्रैलोक्यसुन्दरी।
संस्पर्शस्य तवार्थिन्यो वयं तु वदतांवर! ॥१५७॥

(शि० पु० धर्मसंहिताध्यायः १०)

अर्थात्—(शिवजी ने कहा) यह जो विष्णु भगवान् का सूर्यमण्डल रूप दाहिना नेत्र आकाश में तप रहा है यह हमारा गुरु है। इस गुरु ने मुझे आज्ञा दी है कि "स्त्री रति की हैं" अर्थात्—तुम्हारी नहीं ॥ १३८ ॥ यह मेरा गुरु चौदह भुवन के चौदह प्रकार के प्राणियों का स्वामी है ॥ १३९ ॥ यह दिन में विचरने वाले प्राणियों का रक्षक पिता है, तथा रात में विचरने वालों का भी यही त्राता है ॥१४०॥ यह रात के समय स्वयं पाताल लोक में स्थित होकर अपनी किरणों द्वारा जल में प्रवेश करके चन्द्र मण्डल को प्रकाशित करता है और समस्त चराचर का पालन करता है ॥१४१॥ इस सूर्य भगवान् रूप गुरु ने मुझे देवताओं द्वारा सन्मान योग्य दीक्षा दी है कि "तुम मेरी तरह नियमबद्ध पूर्ण ब्रह्मचारी रहो" अतः सूर्य रूप गुरु में और मुझ में कुछ भी भेद नहीं है। जो मैं हूँ सो यह है ऐसा वेद कहता है ॥१४२॥ जब तक हमारे गुरु जी आकाश में दीखते हैं तब तक ही मैं मांस, क्षार और मधु को छोड़ कर शुद्ध भोजन पूर्वाभिमुख होकर खा सकता हूँ ॥१४३॥ भोजन में

अभक्ष्य (न खाने योग्य) अपेय (न पीने योग्य) मद्य आदि अपवित्र वस्तु कदापि ग्रहण नहीं करता। यदि मैं कहीं बैठ जाऊँ तो मुझे दूर से एक ग्रास देना चाहिये ॥१४४॥ और आचमन कर चुकने पर फिर दूसरा ग्रास देना चाहिये। घी, दूध, शाक, फल और मूल आदि से बना हुआ ग्रास–॥१४५॥ जिसमें बाल या मक्खी आदि कीट न पड़ा हो— दूर से ही एक स्त्री मुझे खिलाती है। और दूसरी स्त्री हाथ धोने को जल तथा वस्त्र आदि देती है ॥१४६॥ हे स्त्रियों! इस विधि से मैं अपनी तृप्ति करता हूँ। यह मेरा दाहिना हाथ ही मेरा भोजनपात्र है ॥१४७॥ मेरे साथ सम्भाषण करने की रीति यह है कि भूमि पर दोनों घुटने टिकाकर तथा हाथ जोड़ कर "भगवन्नमोऽस्तु" ऐसा कहे ॥१४८॥ अपना अनादर और अपमान होने पर भी मैं प्रसन्न रहता हूँ। वृक्षों की खोखलों में या सघन जङ्गल में मैं निवास करता हूँ ॥१४९॥ मेरे साथ जो शवरी रूप धारिणी तपस्विनी है यह साक्षात् जाज्वल्यमान अग्नि है, जब मुझे सृष्टि रचना करनी होती है तब उक्त अग्नि में ही मैं प्रकृति का बीज होम करता हूँ ॥ १५० ॥ मैं संसार के समस्त प्राणियों के मनोरथ पूर्ण करता हूँ परन्तु पूर्वोक्त कथन किये हुये अपने व्रत के अनुसार ही जिसकी जो रुचि हो ॥ १५१ ॥ सो मुझसे प्राप्त करे, जिससे संसारी दुःखों से निवृत्त, सन्तुष्ट, सुखी और पूर्ण मनोरथ हो जावे ॥१५२॥ योगी रूपी प्रच्छन्न शिवजी के पूर्वोक्त वचनों को सुनकर वे स्त्रियां प्रसन्न नहीं हुईं और तरह २ की हंसी करती हुईं शिव भगवान् को चारों ओर से घेर कर क्रीड़ा (खेल) करने लगीं तथा बोलीं ॥१५३॥ अरे पागल योगी! तू स्त्रियों के आगे व्यर्थ ही शास्त्र का ढकोसला क्यों लगा रहा है! स्त्रियों का स्वभाव है कि वे दूसरी स्त्रियों द्वारा पसन्द किये हुवे हृष्ट पुष्ट कामी को चाहा करती हैं ॥ १५४ ॥ यदि तेरा यह व्रत नियमादि का लगाया हुवा पेंचड़ा व्यर्थ नहीं है तो बता कि इस सुन्दरी शवरी को क्यों लिये फिरता है? जिस प्रकार सघन छाया और उत्तम फल ये दोनों बातें एक वृक्ष में होना दुर्लभ हैं वैसे ही शीलस्वभाव तथा रूपवती युवती का मिलना भी दुर्लभ है ॥१५५॥ यों तो एक शिव भगवान् ही धन्य हैं जिन पर श्री पार्वती जी सदैव प्रसन्न रहती हैं, तुम भी अवश्य धन्य हो— यह लोगों की चर्चा व्यर्थ थोड़े ही है? ॥१५६॥ जो कि तीन लोक में सुन्दरी इस शवरी को भार्य्या बनाये फिरते हो। हम भी चाहती हैं कि तुम हमारे शरीर को स्पर्श करो। जिससे हमारा मनोरथ पूर्ण हो जाए ॥१५७॥

इस तरह अनेक प्रकारके हावभाव कटाक्ष भरे व्यङ्ग्य वचनों से वे स्त्रियां शिव भगवान् को अपने अनुकूल बनाने की बार बार चेष्टा करने लगीं। परन्तु शिव भगवान्

ने उनकी एक न सुनी और सुमेरु पर्वत के समान अपने ब्रह्मचर्य्य व्रत में अविचल रहे। भगवान् शिव ज्यों २ लापरवाही से उनकी बातों पर कुछ भी ध्यान न देकर पूर्ववत् द्वार द्वार पर भीख मांगते थे त्यों २ वे स्त्रियें कामातुर होकर आपे से बाहिर होने लगीं। और अपने २ घरों को छोड़ कर अनेक तरह की निर्लज्जतापूर्ण बातें बकती हुईं योगी रूप शिवजी के पीछे २ चलीं दारुक वन में खासा हुल्लड़ मच गया, समिधा लेने गये हुवे ऋषि भी इस गलबले को सुनकर वहां आपहुंचे, और अपनी स्त्रियों को नग्न योगी के पीछे २ दौड़ती देखकर अनेक यत्नों से उन्हें बांध २ कर रोकने लगे। तथापि स्त्रियां जबर्दस्ती छुड़ा २ कर और पतियों को धता बताकर तथैव भागने लगीं। अब तो ऋषि लोग किंकर्तव्यविमूढ होकर योगी रूप शिव पर बिगड़ उठे।

ततोऽमर्षवशं प्राप्ता न जानीयुर्महेश्वरम्।
तापसास्तापसं जघ्नुर्गर्हयन्तश्च मोहिताः ॥१६२॥
दण्डैर्द्रुमैश्च पाषाणैः कमण्डलुभिरेव च।
तलेन वह्निना सर्पैः कण्टकैरायुधैस्तथा ॥१६३॥
त्यक्त्वामकण्ठाः पेतुश्च नशेकुश्च विचेष्टितुम्।
श्रान्ता निपेतुर्धरणीं ततस्तेषु यतत्स्वपि ॥१६४॥
चर्मवल्कलवासांसि लाघवादवमुच्य ताः।
नग्नाः प्रवव्रजुर्नार्य्यो वरनारीश्वरं प्रति ॥१६५॥

(शि० पु० धर्म्मसंहिता अध्याय १०)

अर्थात्—ऋषियों ने क्रोधान्ध होकर अपना विवेक सर्वथा खो दिया, उन्हें यह विदित नहीं हुआ कि यह नग्न योगी शिव भगवान् हैं तब तो माया मोहित हुए ऋषि परस्पर नग्न तापस की निन्दा करने लगे और उसे बेतहाशा पीटने लगे ॥ १६२ ॥ लकड़ी, वृक्षों की टहनी, पत्थर, कमण्डलु, तमाचे, आग, सांप, कांटे, तथा अन्यान्य हथियारों से जो जिसके हाथ लगा उसी से योगी शिव को साधारण पुरुष समझकर पीटना आरम्भ किया ॥१६३॥ पिटते समय योगी तनिक भी घबड़ाता नहीं था और न कुछ बोलता ही था, साथ की शवरी आदि स्त्रियां भी शान्तिभाव से तमाशा देखती थीं, पीटने वाले ऋषियों के कण्ठ सूख गये पृथ्वी पर बेहोश हो २ कर गिर पड़े, और इतने थक गये कि हाथ पांव हिलाना भी दुर्भर होगया (परन्तु शिव भगवान् तथैव निश्चल होकर डटे रहे) ॥ १६४ ॥ तब तो विवश होकर ऋषियों ने अपने २

मृगचर्म वल्कलों में स्त्रियों को बांधा तथापि झटपट सब बन्धन छिन्न भिन्न करके स्वयं भी नग्न होकर नंगे साधु के पीछे २ भागने लगीं ॥१६५॥

यहां तक कुलटा स्त्रियों का स्वभाव और क्रोधान्ध मनुष्यों की किंकर्तव्य-विमूढता का दर्शनीय खाका खींचा गया है जिससे जिज्ञासु मनुष्य पर्याप्त शिक्षा ग्रहण कर सकता है अब साध्वी स्त्रियों और विवेकी पुरुषों के चरित्र का भी दिग्दर्शन कीजिये ! इसी अध्याय में आगे चल कर लिखा है कि:—

ततो वसिष्ठस्य मुनेर्गृहद्वारमुपागतः ।
जगाद शनकैर्वाक्यं रुधिरौघपरिप्लुतः ॥१६६॥
हे हे भवति ! भिक्षां मे देहिदेहीति शङ्करः ।
अतिथिस्तव वामोरु ! संप्राप्तोऽहं तु शोभने ! ॥१६७॥
अनर्गलं वने चैव ताडितो मुनिपुङ्गवैः ।
पश्य गात्राणि मे देवि ! मृदूनि ललितं मम ॥१६८॥
रूपं पश्य वरारोहे ! मुनिभिर्जर्जरीकृतम् ।
इतिवक्रोक्तिभिर्दण्डी दक्षकन्यामरुन्धतीम् ॥१६९॥
लोभयन्दर्शयामास गात्राणि च शनैःशनैः ॥१७०॥

(शि० पु० धर्मसंहिताध्यायः १०)

अर्थात्— इस अवसर में जिनके शरीर से खून बह रहा है ऐसे योगी शिव वसिष्ठ मुनि के आश्रम में पहुँचे । और धीरे से कहने लगे ॥१६६॥ "हेभवति ! भिक्षां देहि" अर्थात्— हे श्रीमती जी ! आप भीख दीजिये । हे शोभने ! मैं आपका अतिथि हूँ ॥१६७॥ बड़े बड़े मुनियों ने पीछे बन में मुझे बेरोक टोक खूब पीटा है । हे देवि ! मेरे कोमल अङ्गों को देखिये, ॥१६८॥ मेरे मनोहर रूप को किस भांति पीट पीट कर नष्ट कर दिया है । दण्डी योगी ने इस प्रकार वक्रोक्तियों द्वारा दक्षकन्या अरुन्धती को प्रलोभित करते हुए धीरे धीरे अपने अङ्गों को दिखाना आरम्भ किया ॥१६९॥१७०॥

उपर्युक्त प्रसंग को ध्यान पूर्वक पढ़ने पर यह विदित होता है कि-शिव भगवान् इधर तो यज्ञोपवीत के समय अपनी माता को जो वाक्य कह कर भीख मांगनी लिखी है उस प्रकार बार २ "भवति ! भिक्षां देहि" कहते हुये मातृभाव दिखा रहे हैं तथा अबोध बालक जिस तरह माता के निकट अपने गुह्य अंग तक को भी नहीं छुपाते इसी तरह समस्त अङ्गों की चोट दिखाते हैं, उधर वक्रोक्ति से अङ्गों की

कोमलता तथा रूपलावण्य का वर्णन करते हुये अरुन्धती को प्रलोभित भी करते हैं, अरुन्धती परम पतिव्रता थीं वे ज़रा भी विकार युक्त नहीं हुईं और माता की भांति पेश आयीं। यथाः—

सा च रुद्रस्य गात्राणि शक्तेरिव सुतस्य तु।
प्रक्षाल्य शीतलैस्तोयैः कामधेनूद्भवैर्घृतैः ॥१७१॥

अर्थात्— वह अरुन्धती शिवभगवान् के अङ्गों को अपने पुत्र शक्ति ऋषि की भांति शीतल जल से धोने लगीं और घावों पर कामधेनु गाय का मक्खन लगाने लगीं ॥१७१॥ इसके बाद अनेक प्रकार के उबटन आदि से स्नान कराया तथा चन्दनादि का लेप करके फूलों के हार गले में डाल दिये। फिर सुवर्ण के थाल में उत्तमोत्तम भोजन खिलाये तथा कन्द मूल फलादि से स्वागत करके बार २ प्रणाम किया और कहा 'हे पुत्र! अब आप जिधर चाहो जा सकते हो'।

भगवान् इस अतिथि सेवा और आदर्श पातिव्रत धर्म्म को देखकर प्रसन्न हुए और बोले किः—

देवि! धर्म्मस्त्वया प्रोक्तो वयमर्हाश्च तापसाः।
नग्नक्षपणकास्तुष्टास्त्वं च सौभाग्यमाप्नुहि ॥१८०॥

अर्थात्— हे देवि! तैंने अपने गृहस्थ धर्म्म का खूब पालन किया है हम तपस्वी अतिथि सभी के पूज्य हैं, हम नांगे साधु प्रसन्न होकर तुम्हें वर देते हैं कि "तेरा सौभाग्य बढ़ा रहे" ॥१८०॥

जब इस प्रकार वर देकर चलने लगे, तब वसिष्ठ जी ने भी उचित स्वागत किया। परन्तु उन पूर्व वाली कुलटा स्त्रियों ने बाहिर निकलते ही उन्मत्त हुवे भ्रमरों की भांति फिर चारों तरफ से शिव भगवान् को घेर लिया और उनके पति फिर खिसियाकर मारने पीटने लगे। इसा भांति बारह वर्ष व्यतीत होगये परन्तु शिव भगवान् उन मायामूढ़ ऋषियों के प्रहारों से किंचित् भी व्यथित नहीं हुए। और न कुछ बोले तथा नाहीं बदला लेने का उपाय किया। तब तो उक्त ऋषियों ने खास कर भृगु जी ने शाप दिया किः—

मिथ्या तापस! लिङ्गं ते पतितामत्र भूतले ॥१८७॥

अर्थात्— हे ढोंगी पूपने! तेरा लिङ्ग भूमि पर गिर जाय। इस के अतिरिक्त और भी तरह २ की बकवास की। शाप के बाद तत्काल ही भगवान् शिव का तेजोमय लिङ्ग कई योजनों में गिर पड़ा, और उस वन रूपी सती की देह में वह दिव्य तेज वाला जाज्वल्यमान लिङ्ग समा गया। तबः—

तमोभूतं जगच्चासीन्मुनीनां हृदयानि च ॥१९५॥

अर्थात्— समस्त संसार में घोर अन्धकार छा गया, तथा समस्त ज्ञानी मुनियों के हृदयों में भी अज्ञान-मय अन्धकार फैल गया।

इस विचित्र दशा को देख कर सतीत्व के प्रभाव से देवी अरुन्धती ने यह अनुमान कर लिया और वसिष्ठ जी से कहा कि:—

स्वामिन्! शङ्के महादेवो नग्नच्छद्मकस्तु सः।
यः प्रहारशतैस्तैस्तैस्ताडितोऽपि न विव्यथे ॥१९६॥

अर्थात्— हे स्वामिन्! वह जो नंगा साधु घूमता था जान पड़ता है वह साक्षात् श्री महादेव जी हैं तभी तो वह सैंकड़ों प्रकार की मार पड़ने पर भी तनिक व्यथित (पीड़ित) नहीं हुआ ॥१९६॥ साथ में शवरी रूप वाली मेरी बहिन सती थी तथा अन्य स्त्रियें ब्राह्मी आदि माताएं थीं। इस प्रकार सब भेद जान लिया और ईश्वर से प्रार्थना की कि:—

गृहस्थाश्रममाश्रित्य यदावाभ्यां समर्जितम्।
पुण्यं तेनास्तु भगवानक्षताङ्गस्तु तादृशः ॥१९९॥
अन्धकारमिदं सर्वं त्वत्प्रसादाद् विनश्यतु ॥२००॥

(शि० पु० धर्म्मसंहिताध्यायः १०)

अर्थात्— हे भगवन्! गृहस्थाश्रम में रहते हुए हम दोनों दंपती ने जो कुछ पुण्य संचित किया है उस के प्रताप से शङ्कर भगवान् घाव रहित होजाएं। तथा यह जो चारों ओर घोर अन्धकार छा गया है वह भी आप के तपःप्रभाव से दूर होजाय ॥ २०० ॥

वसिष्ठजी ने भी योगदृष्टि से अरुन्धती के अनुमान को ठीक पाया और उन की भावना का समर्थन किया। तब तो श्री महादेव जी पूर्ववत् नीरोग होगये, शरीर के सब घाव ठीक होगये। तथा वन भूमि में समाया हुआ ज्योतिर्लिङ्ग फिर से वन में विचरने लगा। अन्धकार भी नष्ट होगया। इस अद्भुत घटना के प्रभाव से ऋषियों का क्रोध और ऋषिपत्नियों की उद्दण्डता भी काफूर होगई। तब सब अपनी २ करनी पर पश्चात्ताप करते हुए भगवान् शङ्कर की विविध स्तोत्रों से प्रार्थना करने लगे। उस समय आकाशवाणी हुई कि:—

भो! भो! मुनींद्रा रुद्रस्य युष्माभिः पातितं च यत् ॥२०४॥
लिङ्गं तदर्चतामस्य सर्वसिद्धिप्रदं प्रभोः ॥२०५॥

अर्थात्— हे मुनीश्वरो ! तुम लोगों ने शाप द्वारा जिस लिङ्ग को भूमि पर गिरा दिया था, सब सिद्धि देने वाले उस ज्योतिर्लिङ्ग की पवित्र वेद मन्त्र द्वारा विधि पूर्वक पूजा करो ॥ २०५ ॥

उक्त लीला का परिणाम।

सकामानां मुनीनां तु चापल्यं स्त्रीजनस्य च ॥२१३॥
पतिव्रतानां धैर्य्यं तु गृहस्थाश्रमिणां तथा।
हास्यं नक्तव्रतानां तु दर्शयित्वा महीतले ॥२१४॥
सदारः सगणः पश्चात्तत्रैवान्तर्दधे हरः ॥२१५॥

(शि० पु० ध० अध्यायः १०)

अर्थात्— इस प्रकार शिव भगवान् अपनी पूर्वोक्त लीला द्वारा सकाम मुनिजनों तथा उनकी पत्नियों की चपलता ॥ २१३॥ तथा सद्गृहस्थों और पतिव्रता देवियों की धीरता, एवं पापवृत्ति पुरुषों की हास्यमय करणी दिखाकर ॥ २१४ ॥ मातृगण और सतीसहित अन्तर्धान होगये ॥ २१५॥

पाठकवृन्द ! आप शिवपुराण के शब्दों में उक्त कथा का समस्त प्रसंग आनुपूर्व्य सुन चुके हो, अब इसका रहस्यमय तात्पर्य समझिये ! इस समस्त कथा को बांच डालने पर ऐसा कौन मन्दमति होगा जो कि शिवभगवान् को हम मनुष्यों के सदृश कर्मफलजन्य-स्थूल-शरीरधारी मनुष्य जान कर दारुकवन वाली ऋषिपत्नियों में नग्न होने के दोष पर उनके मूत्रेन्द्रिय को काट डालने का स्वप्न देखेगा ! इस कथा के उपक्रम में स्पष्ट लिख दिया गया है कि (१) जिस समय की यह लीला लिखी जा रही है उस समय शरीरधारी जीवों का तो जिक्र ही क्या है, किन्तु पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, आदि स्थूल जगत् भी उत्पन्न नहीं हुआ था। (२) तथा ऐसा कौन मनुष्य हो सकता है जो कि बार २ अनेक पुरुषों से मार खाता जाए परन्तु टस से मस न हो, और नाहीं बदले में कटुशब्द तक कहे (निर्बल भी अपनी जान बचाने के लिये भरसक चीं चपट किये बिना नहीं रहता !) सैंकड़ों पुरुष एक साथ एकले निहत्थे पर अग्नि, सर्प, पत्थर आदि वर्षायें तो भी उसका बाल बांका न हो, बल्कि इसके विरुद्ध मारने वाले मनुष्य थक कर अचेत होजावें- इत्यादि घटना किसी स्थूल शरीरधारी पुरुष से संबन्ध रखने वाली संभव नहीं होसकती ! (३) इसके अतिरिक्त यदि कोई कामी कामवासना से प्रेरित होकर स्त्रियों में नग्न जाए तो, क्या वह अपने साथ

दूसरी स्त्रियों और पुरुषों की फौज की फौज भी लेजाया करता है ? संसार में प्रत्यक्ष तो यही देखा जाता है कामी पुरुष वस्त्राभूषणों से सज धज कर तथा अकेले ही जाया करते हैं। परन्तु यहां तो इसके सर्वथा विपरीत शिवभगवान् पार्वती जी तथा ब्राह्मी आदि माताओं और प्रमथ आदि पार्षदों को साथ लिये हैं। (४) इसके उपरान्त जब ऋषियों के शाप से लिङ्ग गिर पड़ा तो उससे ब्रह्माण्ड भर में अन्धकार क्यों छागया ? क्या किसी शरीरधारी पुरुष की मूत्रेन्द्रिय काट डालने पर संसार भर में सूर्य चन्द्र अग्नि आदि पदार्थ लुप्त होजाया करते हैं ? और ज्ञानी ध्यानी ऋषियों के हृदय भी अज्ञानान्धकार से आच्छादित होजाया करते हैं ? वहां स्पष्ट लिखा है कि यह ज्योतिर्लिङ्ग तीनों लोकों को भस्म करने लगा तथा कालानल के समान घूमने लगा, क्या यह बातें भी एक निर्जीव मांस के खण्ड में घटित हो सकती हैं ? लिङ्ग के गिर जाने पर भी शिवभगवान् पूर्ववत् प्रसन्नचित्त बने रहे यदि वास्तव में यहां मूत्रेन्द्रिय अभिप्रेत है तो क्या शंकावादी महाशय की मूत्रेन्द्रिय काट डालने पर वह पूर्वोक्त करिश्मे दिखा सकेंगे ? इत्यादि बातों पर ध्यान पूर्वक विचार कर लेने के के बाद कोई भी समझदार यह कहने का साहस नहीं कर सकता कि शिवभगवान् मादृश शरीरधारी मनुष्य थे और उनकी मूत्रेन्द्रिय काट डाली गई थी। 'दुर्जन तोषन्याय' से यदि फिर भी एक क्षण के लिये कुतर्की नास्तिकों का कथन ठीक मान लिया जाय तो यह भी तो बिचार करना चाहिये कि ऐसी वीभत्स एवं अश्लील बात का माहात्म्य वर्णन करने के लिये श्री वेदव्यास जी जैसे प्रौढ पण्डित लाखों श्लोक व्यर्थ ही क्यों घड़ डालते ? ऐसा निरर्थक कार्य तो कोई निरा निठल्ला भी नहीं कर सकता ? कदाचित् कुतर्कियों के कथनानुसार शिव, स्कन्द, और लिङ्ग आदि महापुराण– जो कि उक्त कथाओं के प्रतिपादक हैं– स्वार्थी पुरुषों की घड़न्त भी मान लिये जायें तो भी इस प्रकार के श्रुति कटु एवं अश्लील प्रसङ्ग से किसी का क्या स्वार्थ सिद्ध हो सकता था ?

पुराण ग्रन्थ प्रौढ़ संस्कृत कविता में निबद्ध हैं, उनका निर्माता संस्कृत साहित्य का अद्वितीय विद्वान् अवश्य था इस नग्न सत्य को कोई भी नास्तिक अन्यथा नहीं कर सकता ! तब क्या ऐसे विद्वान् को संसार में दूसरा काम शेष नहीं रहा था। जो निरर्थक माथापच्ची करता ?

इस लिये उपर्युक्त समस्त कथानक पर विचार करने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि इसमें कुछ न कुछ रहस्य अवश्य भरा है जिसे ढूंढ निकालना प्रत्येक जिज्ञासु का काम है।

आध्यात्मिक अर्थ।

आध्यात्मिक पक्ष में इस कथा का यह अर्थ होता है कि जिस समय 'ऋषि' अर्थात्=प्राण, 'दारुकवन' में=ब्रह्मरन्ध्र में जाते हैं उस समय 'नग्नरूप' में—मल विक्षेप और आवरण रूपी आच्छादनरहित=आत्मज्ञान रूपी शिव भगवान्, हृदय में प्रकट होते हैं, जो वाह्य वृत्तियें हैं वे ही प्राण रूपी ऋषियों की पत्नियें समझनी चाहियें। समाधिस्थ पुरुष की वाह्यवृत्तियें—जो कि समाधि से पूर्व बाहिर फैली रहा करती थीं—वे एकत्र होकर नग्न शिव अर्थात्—निर्विकल्प आत्मज्ञान को चारों ओर से घेर लेती हैं, परन्तु बाह्यवृत्तियें सकाम होती हैं यही भाव प्रकट करने के लिये सकाम ऋषिपत्नियों का कामातुर होना यहां लिखा गया है। 'वुद्धि' रूप=सती भी ऋद्धि, सिद्धि रूप ब्राह्मी आदि सात माताओं को साथ लिये, तथा मोद, प्रमोद, वैराग्य आदि आत्मज्ञान के साधनों और सहायकों को प्रमथ आदि गणों के रूप में साथ लगाये शिव के पीछे २ जाती है। तात्पर्य यह हुआ कि—सकाम बाह्यवृत्तियें आत्मज्ञान को अनेक छल कपटों से विचलित करना चाहती हैं परन्तु वह तनिक भी विचलित नहीं होता। 'नग्न' कहने का तात्पर्य यह है कि मल विक्षेप और आवरण रूपी तीन प्रकार का पड़दा— जो कि साधारण ज्ञान को ढांपे रहता है—वह समाधि दशा में सर्वथा दूर हो जाता है। उसी समय प्राण रूपी ऋषि कुम्भक, तथा रेचक गति से ब्रह्मरन्ध्र से हृदय तक के चक्रों में घूमते हुये थक कर वापिस आजाते हैं, परन्तु अपनी प्यारी बाह्यवृत्तियों को आत्मज्ञान के पीछे भागती देखकर घबड़ा उठते हैं, प्राणायाम करने वाले पुरुषों को अनुभव द्वारा यह भली भांति विदित है कि प्राणायाम के समय श्वासगति रुक जाने से किस प्रकार बेचैनी उत्पन्न हो जाया करती है यही बेचैनी प्रकट करने के लिये उक्त कथा में ऋषियों की घबराहट, अपनी पत्नियों को बार २ रोकने की चेष्टा करना, तथा शिव भगवान् पर अनेक प्रकार के प्रहार करना आदि लिखा गया है। उक्त समस्त कथानक का रहस्यमय भाव, एवं इस दशा का तुलनात्मक विवेचन वही पुरुष कर सकता है जिसने कि कभी समाधिजन्य सुख का अनुभव किया हो, अन्यथा शब्दों द्वारा इसका कहना और सुनना सर्वथा असम्भव है, क्योंकि यह इन्द्रियों का तो विषय ही नहीं। समाधिस्थ ज्ञानी भी इसका स्वयं अनुभवमात्र ही कर सकता है दूसरे के पास बताना तो 'गूंगे के गुड़' की भांति उसके लिए भी सर्वथा असम्भव है। परन्तु श्री वेदव्यास जी महाराज की बलिहारी! जो अनिर्वचनीय, एवं अनुभवैकवेद्य दशा का भी खूबी के साथ शाब्दिक चित्र खींच सकते हैं!! अस्तु।

'वशिष्ठ' शब्द का अक्षरार्थ है कि जो=अपने आप को वश में रख सके, यह भाव समाधि दशा में— परिपक्व धारणासिद्ध=प्राण में घटित होता है अर्थात्— निरन्तर अभ्यास से प्राणायाम के समय न घबड़ाने वाला सधा हुवा प्राण ही वशिष्ठ है, और अन्तर्मुखी वृत्ति ही अरुन्धती है, जहां बाह्यवृत्तियें शिव रूप आत्मज्ञान को परेशान किये देती थीं वहां अन्तर्मुखवृत्ति ने उनको प्रश्रय दिया तथा सब प्रकार से अपनाया, तात्पर्य्य यह है कि जिस समय पुरुष के हृदय में अन्तर्मुखीवृत्ति प्रकट होजाती है उस समय स्त्री पुरुष के शरीर का मायाकल्पित भेद सर्वथा दूर होजाता है। तथा "नंगा या ढका हुआ" आदि जो लोक मर्यादायें हैं वे बन्धन भी टूट जाते हैं। अर्थात् अन्तर्मुखीवृत्ति वाले, ज्ञानी-पुरुष की दृष्टि में पांव से मस्तक पर्यन्त समस्त शरीर मल मूत्र घटित-पञ्चभूत का बना हुआ एक अविशेष पिण्डमात्र दीख पड़ता है उसे किसी अङ्गविशेष के देखने से काम आदि विकार उत्पन्न नहीं होते। अन्तर्मुखीवृत्ति ही निर्विकल्प आत्मज्ञान का अधिकारिणी है।

जब बाह्यवृत्तियों के पति=अनभ्यस्तप्राण, विचलित हो उठते हैं और मनः रूप भृगु क्रोधान्ध होकर शाप दे बैठता है तब आत्मज्ञान रूप शिव का 'लिङ्ग'= (अर्थात्— जड़ और चेतन का अज्ञानजन्य बन्धन) टूट जाता है। ज्ञानी और अज्ञानी में इतना ही भेद है कि जो जड़ और चेतन तथा सत् और असत् का विभेद नहीं पहिचानता तथा शरीर, मनः और इन्द्रिय, आदि में आत्मबुद्धि रखता है वह अज्ञानी है और जो इसके विपरीत इन्द्रिय मनः बुद्धि आदि के साक्षी नित्य शुद्ध नित्य बुद्ध एवं कूटस्थ में आत्मबुद्धि रखता है वह ज्ञानी है। जिस समय समाधिजन्य ज्ञान के प्रभाव से जड़ चेतन की संकीर्णता दूर होकर तुरीयावस्था उत्पन्न होजाती है उसी को इस कथा में शिव लिङ्ग के टूट पड़ने पर अन्धकार छा जाना बताया गया है। क्यों कि जागृत, स्वप्न, और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में भासने वाले पदार्थों का वर्णन पुरुष कर सकता है परन्तु तुरीयावस्था=समाधि दशा का वर्णन जिह्वा से नहीं किया जा सकता। तथा इस अवस्था में बाह्य पदार्थों का भान भी नहीं रहता, इस लिये उक्त कथा में इस गम्भीर भाव से तुरीयावस्था को अन्धकार रूप में निरूपित किया गया है।

जड़ चेतन का विभेद रूप='ज्ञान', बुद्धि रूप=सती के आश्रय पर स्थित होता है, यही भाव-टूटे हुये शिव लिङ्ग को पार्वती द्वारा धारण किये जाने का है। उस समय 'आकाशवाणी'=समाधिस्थ योगी की अन्तरात्मा यह पुकार उठती है कि ऐ अनभ्यस्त प्राणायामियों! इस जड़ चेतन के विभेद रूप="लिङ्ग"=आत्मज्ञान की उपासना करो! इसी से मुक्ति प्राप्त होगी। यही इस कथा का अध्यात्मिक भाव है।

उक्त कथा पर कई परप्रत्ययनेय-बुद्धि, पण्डितम्मन्य यह आक्षेप करने पर उतारू होसकते हैं कि आपके इस कपोल कल्पित रूपक का आधार क्या है? तथा ऋषि आदि शब्दों के अर्थ— प्राण आदि किस प्रकार होसकते हैं? इत्यादि प्रश्नों के समाधान के लिये यहां कुछ प्रमाण बता देना आवश्यक समझते हैं। जो हमारे रूपक को पुष्ट करते हैं यथाः—

(क) प्राणा ऋषयः।

(शतपथ ७।२।३।५)

(ख) स इममेव आत्मानं द्वेधा अपातयत्।

(वृहदारण्यक १।४।३)

अर्थात्— (क) प्राणों को ऋषि कहते हैं। (ख) वह (ब्रह्म) अपने आपको दो भागों में गिराता हुआ।

इसी प्रकार अन्य शब्दों के पूर्वोक्त अर्थों में भी वेद प्रमाण विद्यमान हैं जिनका 'स्थालीपुलाक' न्याय से अनुमान किया जा सकता है।

आधिभौतिक अर्थ।

पीछे स्पष्ट किया जा चुका है शिवलिङ्ग की कथा का सम्बन्ध आधिभौतिक पक्ष में आदि सृष्टि उत्पत्ति से है। उस समय भी शरीरधारी जीवों का निर्माण नहीं हो पाया था, केवल गोल अण्डाकार-अग्निमय-वाष्प का बना हुआ एक बेडौल एवं विलक्षण पिण्डमात्र उत्पन्न हुआ था जिसे 'शिव'=ब्रह्म का, 'लिङ्ग'=व्यक्त करने वाला चिन्ह कहा गया है। इस पक्ष में 'ऋषि' शब्द का अर्थ— वायु, कारण-जल और चन्द्रमा होगा। इन्हीं के समुदाय को 'भृगु' नाम से स्मरण किया गया है। यथाः—

वायुरापश्चन्द्रमा इत्येते भृगवः।

(गोपथ पूर्व० २।८)

अर्थात्— वायु, कारण-जल और चन्द्रमा=(सृष्टि का वह आदि तत्व जो शीत रूपेण प्रकट हुआ,) उक्त त्रिपुटी को भृगु कहते हैं।

'ऋषिपत्नी' शब्द का अर्थ— आकर्षण और विकर्षण शक्ति होता है।

कुछ अनियमित काल के अनन्तर वह ब्रह्माण्डरूप शिवलिङ्ग आकर्षण विकर्षण शक्तियों के तारतम्य से दो भागों (द्यावाभूमि) में विभक्त होगया। जैसा कि मनुजी ने भी लिखा हैः—

तदण्डमभवद्द्विधा

(मनुः १।१२)

अर्थात्— वह अण्ड दो हिस्सों में टूट गया। तथाः—

तन्माता पृथिवी तत्पिता द्यौः।

(शतपथ १३।१।६।१)

अर्थात्— ब्रह्माण्ड के जो दो भाग हुए उन में एक भाग 'पृथ्वी' है जो स्त्री-शक्तिरूपेण चराचर की माता है और दूसरा भाग 'द्यौ' हुवा जो पुरुषशक्तिरूपेण चराचर का पिता है।

वह आग्नेय वाष्प लिङ्ग के टूटते समय तीन लोक को भस्म करने लगी, और सर्वत्र फैल गई इसका अभिप्राय यह है कि वर्तमान समय में सूर्य्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्रादिक जो दीख पड़ते हैं वे सभी सृष्टि के पूर्वकाल में सम्मिलित हुवे एकले गोल अण्ड में समाये हुवे थे। परन्तु उसके फूट जाने पर जिस प्रकार आतिशबाजी का गोला फूटने पर बीच से अनेक रंग बिरंगी ज्वालाएं निकला करती हैं, इसी प्रकार ब्रह्माण्ड रूप शिवलिङ्ग के द्यावा भूमि रूप दो भागों में विभक्त होते हुये ये सब ग्रह नक्षत्रादिक पतङ्गों की भांति चारों ओर फैल गए यही इसका अधिभौतिक अर्थ है।

आधिदैविक अर्थ।

आधिदैविक पक्ष में कैलाश का स्वामी दिव्य शरीरधारी परमात्मा ही 'शिव' है, जिसका हमारी भान्ति कर्म्मफलजन्य स्थूल शरीर नहीं है। यथाः—

यस्य पृथिवी शरीरम्। यस्यापः शरीरम्। यस्याग्निः शरीरम्।
यस्य वायुः शरीरम्। यस्याकाशः शरीरम्॥

(शतपथ १४।६।७।६)

अर्थात्— जिस परमात्मा का पृथ्वी शरीर है, जल शरीर है, अग्नि शरीर है, वायु शरीर है और आकाश शरीर है।

यही बात वेदान्तदर्शन में कार्य्यकारण पूर्वक समझाई गई है, यथाः—

अभिमानिनि व्यपदेशस्तु,

अर्थात्— तत् तत् पदार्थों की अधिष्ठात्री शक्ति का नाम देवता है, जैसे जल के अधिष्ठाता का नाम 'वरुण' मेघों की अधिष्ठात्री शक्ति का नाम 'इन्द्र' इसी प्रकार ब्रह्माण्डाभिमानी महा अधिष्ठाता का नाम 'शिव भगवान्' है। संसार में जो कुछ देखा सुना जाता है वह सब उक्त देवाधिदेव के अङ्गप्रत्यङ्गों के रूप में वर्णित किया

गया है। शुक्ल यजुर्वेद के ३१ वें अध्याय में कहा गया है कि भूमि चरण है, द्यौः मस्तक है, सूर्य चन्द्र और अग्नि तीनों नेत्र हैं- इसी लिए शिवजी को 'त्र्यम्बक' कहा गया है। वही ब्रह्माण्डाभिमानी शिव अनेक प्रकार के स्वरूप धारण करके समय २ पर भक्तों को ज्ञान देने वाली लीलायें रचता है, उसी की सहचरी माया सती या पार्वती कही जाती है।

पुरुष दृष्टि से-

अब हम 'दुर्जनतोष' न्याय से नास्तिकों के कथनानुसार शिव भगवान् को पुरुष दृष्टि से सामने रखते हुए उक्त कथा पर विचार करना चाहते हैं। शिवपुराण के शब्दों में श्री शिव भगवान्, ऋषि जनों, और उनकी पत्नियों की चपलता दिखाने के लिये तथा निष्काम ज्ञानी ऋषियों की और पतिव्रता स्त्रियों की धैर्य वृत्ति की परीक्षा करने के लिये दारुकवन में नग्न होकर गए थे-ऐसा लिखा है। अब भी सैंकड़ों ऊंची वृत्ति वाले परमहंस सन्यासी सदैव नग्न रहते हैं। परमज्ञानी की परीक्षा ही यह है कि किसी भी सांसारिक पदार्थ को देखने पर उसे राग द्वेष न हो, तब तमाम लोक मर्यादायें उसके लिये अनावश्यक होजाती हैं। कल्पना कीजिये कि कोई नग्न परमहंस भिक्षा के लिये गृहस्थियों के घरों में आ पहुंचे। गृहस्थ लोग योरुप के वातावरण में आज तक जीवन बिताते रहे हों, वे इस बात से सर्वथा अपरिचित हों कि यह वेष परमहंस रखते हैं और उक्त साधु कोई पहुंचे हुये महात्मा हैं। तब तो वे उसे नग्न देखकर अवश्य बिगड़ उठेंगे। परन्तु जो उक्त रहस्य से परिचित होंगे वे विवेकी पुरुष उक्त महात्मा का अत्यधिक सन्मान करेंगे। शिव पुराण की उक्त कथा का एक २ अक्षर पढ़ जाइये, परन्तु खूब छानबीन करने पर भी ऐसा एक अक्षर नहीं मिलेगा, जिससे कि शिव भगवान् का विकारयुक्त होना पाया जावे! अथवा अपनी जिह्वा से उन्होंने कोई अश्लील शब्द कहा हो!! हम तो इसके विरुद्ध यह देखते हैं कि उक्त लीला में पद पद पर शिव भगवान् का परम वैराग्य, अनुपम शान्ति, आदर्श धैर्य एवं सहनशीलता की पराकाष्ठा हो रही है।

भृगु आदि ऋषियों ने जो शिव भगवान् को भर पेट पीटा है वे भी भ्रमवश इन्हें शिव नहीं समझते थे। किन्तु कोई पाखण्डी पूपना ही जानते थे, अन्त में जब आकाश वाणी द्वारा और वशिष्ठ जी के बतलाने पर यह मालूम हुआ कि यह तो देवाधिदेव शंकर भगवान् हैं तब तो बड़े लज्जित हुये और अनेक प्रकार की स्तुति करके क्षमा मांगने लगे। कदाचित् पहले ही उन्हें यह विदित होजाता कि "यह दिगम्बर मूर्ति तो शिव महाराज हैं" तब तो ऋषियों से स्वप्न में भी ऐसी भूल न

होती! इसी प्रकार ऋषिपत्नियों को भी यही भ्रम था, वे केवल वाह्य सौन्दर्य पर लट्टू थीं। उन्हें यह कहां विदित था कि ये तो कामदेव को भस्मीभूत कर देने वाले शङ्कर भगवान् हैं। इसी लिये वे स्त्रियां शिवजी के सदुपदेश को सुनकर उत्तर में बोल उठीं कि वस! व्यर्थ वकवास न कीजिये! तुम जो अपने ब्रह्मचर्य की डींग हांकते हो सो सब झूठी हैं, यह बातें तो एकले शिव भगवान् में ही पाई जाती हैं वे ही निर्विकार शान्त और कामदेव के जीतने वाले हैं—अन्य नहीं।

उक्त कथा से शिक्षायें।

(१) शान्तात्मा, निर्विकार और मानापमान में तुल्य-पुरुष ही 'ज्ञानी' पद का अधिकारी है। जिस प्रकार ऋषिपत्नियों के हज़ारों प्रयत्न करने पर भी शिव भगवान् विचलित नहीं हुये। तथा सैंकड़ों ऋषियों से अपमानित होकर भी बदला लेने की चेष्टा नहीं की।

(२) जो स्त्री परपुरुष के रूप लावण्य पर मुग्ध होजाती है फिर चाहे वह किसी बड़े से बड़े ऋषि की पत्नी भी क्यों न हो वह पतिव्रता नहीं कही जा सकती।

(३) किसी प्रसंग को साद्यन्त समझे बिना सहसा कुछ का कुछ कर बैठना उमर भर पछताने का द्वार है। निरपराध को दण्ड देना, और अपराधी को अपना निकट सम्बन्धी होने के कारण छोड़ देना महा अन्याय है—यह बातें दारुकवन-निवासी ऋषियों के व्यवहार से स्पष्ट होजाती हैं।

(४) पूर्ण पतिव्रता वह है जो कि अपने कुरूप किं वा, वृद्ध पति को सर्वस्व समझती हो। उसके अतिरिक्त संसार के समस्त रूप लावण्य युक्त, युवक उसे पुत्र ही दीख पड़ते हों यह भाव अरुन्धती के व्यवहार से झलकते हैं।

(५) अतिथि सेवा का यह आदर्श है कि अपने द्वार पर आए हुए पुरुष का फिर चाहे वह किसी भी वेश में क्यों न हो— 'ना जाने किस रूप में नारायण मिल जायं' के अनुसार ईश्वर समझ कर यथायोग्य सत्कार करना चाहिये। यह शिक्षा अरुन्धती और वशिष्ठ जी के व्यवहार से प्राप्त होती है।

अन्यान्य भी सैंकड़ों शिक्षायें उक्त कथा से प्राप्त होती हैं। *

* शिवलिंग के सम्बन्ध में हमने 'ओंकार और शिवलिंग' नामक एक स्वतन्त्र पुस्तक प्रकाशित की है जिसके पढने पर उक्त विषय में कोई शङ्का शेष नहीं रहती, प्रत्येक पाठक को उसके एक बार पढ़ने का हम अवश्य परामर्श देंगे।

महानन्दा वेश्या से सम्भोग।

कई छिद्रान्वेषी महाशय वैश्यनाथ अवतार से सम्बन्ध रखने वाली कथा पर आक्षेप करते हुवे, कहा करते हैं कि "शिवजी ने महानन्दा वेश्या को रत्न जड़ित, सुवर्ण-कङ्कण देकर तीन रात तक उसके साथ व्यभिचार किया था;" यद्यपि मूल कथा का उपक्रम और उपसंहार पढने मात्र से ही उपर्युक्त आक्षेप का सर्वथा निराकरण होजाता है तथापि हम क्रमागत शैली के अनुसार इस आख्यान पर भी विचार करना आवश्यक समझते हैं। मूल कथा इस प्रकार है—

पौराणिक-स्वरूप

शृणु तात ! प्रवक्ष्यामि शिवस्य परमात्मनः।
अवतारं परानन्दं वैश्यनाथाह्वयं मुने ! ॥१॥
नन्दिग्रामे पुरा काचिन्महानन्देति विश्रुता।
बभूव वारवनिता शिवभक्ता सुसुन्दरी ॥२॥
शिवनामजपासक्ता भस्मरुद्राक्षभूषणा ॥५॥
शिवं सम्पूज्य सा नित्यं सेवन्ती जगदीश्वरम् ॥६॥
शिवभक्तिं प्रकुर्वन्त्या वेश्याया मुनिसत्तम!।
बहुकालो व्यतीयाय तस्याः परमसौख्यतः ॥१२॥
एकदा च गृहे तस्या वैश्यो भूत्वा शिवस्स्वयम् ॥
परीक्षितुं च तद्भावमाजगाम शुभो व्रती ॥१३॥
तमागतं सुसम्पूज्य सा वेश्या परया मुदा।
स्वस्थाने सादरं वैश्यं सुन्दरी हि न्यवेशयत् ॥१६॥
तत्प्रकोष्ठे वरं वीक्ष्य कंकणं सुमनोहरम् ॥
तस्मिञ्जातस्पृहा सा च तं प्रोवाच सुविस्मिता ॥१७॥
महारत्नमयश्चायं कङ्कणस्त्वत्करे स्थितः ॥
मनो हरति मे सद्यो दिव्यस्त्रीभूषणोचितः ॥१८॥

वैश्यनाथ उवाच ।

अस्मिन् रत्नवरे दिव्ये सस्पृहं यदि ते मनः ।
त्वमेवाधत्स्व सुप्रीत्या मौल्यमस्य ददासि किम् ॥२०॥

वेश्योवाच ।

यद्येतदखिलं चित्तं गृह्णाति करभूषणम् ॥
दिनत्रयमहोरात्रं पत्नी तव भवाम्यहम् ॥२२॥

वैश्य उवाच

तथाऽस्तु यदि ते सत्यं, वचनं वीरवल्लभे ! ॥२३॥
एतस्मिन्व्यवहारे तु प्रमाणं शशिभास्करौ ॥२४॥
अथ तस्यै स वैश्यस्तु, प्रदत्वा रत्नकङ्कणम् ।
लिङ्गरत्नमयं तस्या हस्ते दत्वेदमब्रवीत् ॥२७॥
इदं रत्नमयं लिङ्गं, शैवं, मत्प्राणवल्लभम् ॥
रक्षणीयं त्वयाकान्ते, गोपनीयं प्रयत्नतः ॥२८॥
एवमस्त्विति सा प्रोच्य, लिङ्गमादाय रत्नजम् ॥
नाट्यमण्डपिकामध्ये, निधाय प्राविशद् गृहम् ॥२९॥
सा तेन संगता रात्रौ, वैश्येन विटधर्म्मिणा ।
सुखं सुष्वाप पर्य्यङ्के मृदुतल्पोपशोभिते ॥३०॥
ततो निशीथसमये मुने ! वैश्यपतीच्छया ॥३१॥
महाप्रज्वलितो वह्निः सुसमीरसहायवान् ॥३२॥
स्तम्भेन सह निर्दग्धं तल्लिङ्गं शकलीकृतम् ॥३५॥
दृष्ट्वा ह्यात्मसमं लिङ्गं दग्धं वैश्यपतिस्तदा ॥
ज्ञातुं तद्भावमन्तस्थं मरणाय मतिन्दधे ॥३६॥
चितां कारय मे भद्रे ! स्वभृत्यैस्त्वं वरं लघु ॥३९॥
तमेवं दृढनिर्बन्धं सा विज्ञाय सुदुःखिता ॥
स्वभृत्यैः कारयामास, चितां स्वभवनाद्बहिः ॥४१॥

अथ सा दुःखिता वेश्या स्मृत्वा धर्म्मं सुनिर्मलम् ॥४४॥
सर्वस्वं द्विजमुख्येभ्यो दत्वा ध्यात्वा सदाशिवम् ॥
तमग्निं त्रिःपरिक्रम्य प्रवेशाभिमुखी ह्यभूत् ॥५०॥
वारयामास विश्वात्मा प्रादुर्भूतः सदाशिवः ॥५१॥
सा तं विलोक्याखिलदेवदेवं,
त्रिलोचनं चन्द्रकलावतंसम् ॥
शशाङ्कसूर्य्यानलकोटिभासं,
स्तब्धेव भीतेव तथैव तस्थुः ॥५२॥

शिव उवाच

सत्यं धर्म्मं च धैर्य्यं च भक्तिं च मयि निश्चलाम् ।
परीक्षितुं त्वत्सकाशं वैश्यो भूत्वाहमागतः ॥५४॥

(शिव पुराण-शतरुद्रसंहिता २६)

अर्थात्— [नन्दीश्वर बोले कि-] हे पुत्र ! अब मैं परम आनन्द देने वाले परमात्मा शिव के 'वैश्यनाथ' नामक अवतार का वर्णन करता हूँ ॥ १ ॥ पूर्व काल में नन्दी ग्राम में— शिवकी भक्ति करने वाली अतीव सुन्दरी महानन्दा नाम से प्रसिद्ध वेश्या रहती थी ॥ २ ॥ वह निरन्तर शिवनाम का जाप करती और भस्म रुद्राक्ष आदि को धारण करती थी ॥ ५ ॥ नित्य प्रति शिवजी का पूजन करती हुई जगन्नियन्ता की सेवा किया करती थी ॥ ६ ॥ हे मुनिश्रेष्ठ ! इस प्रकार शिवजी की भक्ति करते हुवे उस वेश्या की बहुत सी आयुः सुखपूर्वक व्यतीत होगई ॥ १२ ॥ एक समय शुभ व्रत के धारण करने वाले शिव भगवान् उक्त वेश्या के भक्ति भाव को परखने के लिये स्वयं वैश्य रूप बना कर उसके घर पहुंचे ॥१३॥ सुन्दरी महानन्दा ने वैश्यरूपधारी शिव भगवान् को-उचित स्वागत करके आदरपूर्वक अपने स्थान में ठहराया ॥१६॥ उसके हाथ में पहिने हुवे अतिमनोहर सुन्दर कंकण को देखकर-उस में लोभित हुई- वह वेश्या विस्मित होकर वैश्य से बोली ॥ १७ ॥ [कि-] आप के हाथ में पहिना हुवा यह रत्न जड़ित कंगन मेरे मन को बहुत लुभा रहा है, यह तो सुन्दरी स्त्रियों के हाथ की शोभा बढ़ाने के लायक है ॥१८॥ वैश्यनाथ बोले—यदि इस

दिव्य एवं उत्तम कंगन को आप पसन्द करती हैं खुशी से आप ही पहिनिये, मगर इस का मूल्य क्या दोगी ? ॥२०॥ वेश्या ने कहा—चूंकि यह भूषण मुझे बहुत ही पसन्द आगया है अतः इस के मिलने पर तीन दिन रात आप की स्त्री बन कर रहूँगी ॥२२॥ वैश्य बोले–तथाऽस्तु यदि तेरा यह वचन सत्य है तो ॥२३॥ मेरे तेरे इस व्यवहार में चांद और सूरज प्रमाण हैं ॥२४॥ यह कह वैश्य ने अपना रत्न जड़ित कंगन उसे देदिया। इसके अनन्तर रत्नों से जड़ा हुवा अपना शिवलिङ्ग भी वेश्या के सुपुर्द करते हुवे सचेत किया ॥२७॥ [कि] यह रत्न जड़ित शिवलिङ्ग मुझे प्राणों से भी प्यारा है, इस लिये तुम्हें इसे संभालकर और यत्न पूर्वक छुपा कर रखना चाहिये ॥२८॥ वेश्या ने 'बहुत अच्छा' कह कर–उस रत्नमयलिङ्ग को नाट्य शाला में रख दिया और स्वयं शयनागार में आगई ॥२९॥ तब वह वेश्या उस विटधर्म्मी वैश्य के साथ रात्रि में मिलकर कोमल तकिये गद्दों से शोभायमान फेन से पलंग पर सुखपूर्वक सोई ॥३०॥ हे मुने ! तब आधी रात के समय वैश्यपति [शिव भगवान्] की इच्छा से ॥ ३१ ॥ [उस नाच घर में एक दम] बड़ी भारी आग जल उठी और तीव्र वायु के झोंकों से चारों ओर फैलगई ॥३२॥ खंभों के सहित वह (सुरक्षित शिव–) लिङ्ग जलकर टुकड़े टुकड़े होगया ॥३५॥ उस वैश्यपति ने अपने समान शिवलिङ्ग को जला हुवा देखकर उस वेश्या के चित्त के भाव जानने के निमित्त मरण की इच्छा की ॥३६॥ [और वेश्या से बोले कि–] हे भद्रे ! अपने नौकरों से बहुत शीघ्र उत्तम चिता तैयार करवाइये ॥३९॥ वेश्या उस वैश्यपति के प्राण त्यागने की दृढ़ प्रतिज्ञा जानकर अत्यन्त दुःखित हुई और अपने मकान से बाहिर नौकरों से चिता बनवाती हुई ॥४१॥ [जब वह वैश्य उक्त चिता में बैठ कर जलने लगा] तब महानन्दा वेश्या ने अत्यन्त दुःखित होकर [तीन दिन रात इस वैश्य की पत्नी बन कर रहने की अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार] अपने विशुद्ध धर्म्म को सोचा ॥४४॥ अपनी सारी सम्पत्ति ब्राह्मणों को दान कर डाली, और भगवान् सदाशिव का ध्यान करके धधकती हुई चिता की तीन प्रदक्षिणा कर चुकने के बाद स्वयं भी चिता पर चढ़ने के लिये उद्यत हुई ॥ ५० ॥ तब तत्काल विश्वात्मा शिव भगवान् प्रकट हुवे और उस वेश्या को जलने से रोका ॥५१॥ वह वेश्या सब देवताओं के अधिपति, तीन नेत्रों वाले, चन्द्रकला से शोभित, करोड़हों चान्द सूरज और अग्नि के समान तेज वाले, उन शिव भगवान् को देख कर निश्चेष्ट एवं भीत सी खड़ी रहगई ॥ ५२ ॥ शिव बोले— तेरे–सत्य, धर्म्म, धैर्य्य, तथा मुझ में अटल भक्ति की परीक्षा करने के लिये ही मैं वैश्य बनकर तुम्हारे पास आया था ॥५४॥

ब्रह्म दृष्टि से

यदि उक्त आख्यान को ब्रह्म दृष्टि से परखा जाए तो इसके किसी भी अंश पर आक्षेप कर सकने का अवसर नहीं रहता क्यों कि मूलकथा के उपक्रम और उपसंहार में भी स्पष्ट लिख दिया गया है कि केवल महानन्दा की ईश्वर-भक्ति जांचने के लिये ही शिवजी ने यह लीला रची थी अतः इस एक ही बात पर विचार करने से शङ्कावादी महाशयों के व्यभिचारविषयक आक्षेप का सर्वथा निराकरण होजाता है; जब कि शिव भगवान्-शिवपुराण के शब्दों में— 'परीक्षितुं च तद्भावम्'—'परीक्षितुं त्वत्सकाशम्' के अनुसार महानन्दा के सत्य, धर्म्म, धैर्य्य, और ईश्वर प्रेम की परीक्षा के लिये ही वैश्य रूप धार कर उसके घर गये थे— तब ऐसे पवित्र चरित्र में मूलग्रन्थ के आशय के सर्वथा विपरीत व्यभिचार के स्वप्न देखना— कलि-कल्मष-कलुषित-हृदय-धारी पुरुषों का ही काम है ! श्री वेदव्यास जी ने ऐसे ही पर-प्रत्ययनेयबुद्धि-पुरुषों के सन्देह को दूर करने के लिये उक्त आख्यान (शि० पु० शतरुद्र सं० २६। १३) में शिव भगवान् के विशुद्ध भाव को सहसा प्रकट करने के निमित्त "शुभो व्रती" ऐसा विशेषण दिया है। जिस से यह व्यञ्जित होजाता है कि यद्यपि शिव भगवान् ने परीक्षा के लिये वैश्य रूप स्वीकार किया है तथापि वे स्वयं— 'शुभ'=कल्याणकारी एवं 'व्रती'=[कामदेव को एक नज़र से भस्मीभूत कर डालना रूप]— संयम वाले तथैव बने रहे, अर्थात्— इस समग्र लीला में अशुभ=पापाचार=व्रतभङ्ग की यत्किञ्चित् भी गन्ध नहीं है— इत्यादि अनेक ध्वनियें ' शुभो व्रती' विशेषण द्वारा निकलती हैं।

कदाचित् शङ्कावादी महाशय—'सा तेन संगता रात्रौ'—(शि०पु०शत० २६। ३०) इत्यादि श्लोक का मन माना अर्थ घड़ कर 'पर्य्यङ्के' 'विटधर्म्मिणा' 'संगता'— आदि शब्दों का ऐसा अभिप्राय निकालें कि— 'वह वेश्या शिव के साथ एक पलंग पर, संगत=पशु धर्म्म में प्रवृत्त हुई',—तब तो हम उसे पञ्चम-अन्यथासिद्ध ही समझेंगे, क्योंकि व्याकरण, कोश एवं अलङ्कार आदि किसी भी अर्थ विधायक शास्त्र की पद्धति से शब्दों का ऐसा अभिप्राय नहीं बन सकता, श्री पं० कालूराम जी शास्त्री ने अपने 'पुराण-वर्म्म' में 'पर्य्यङ्के' इस पद को जातिवाचक सिद्ध किया है, तदनुसार 'जाति-त्वादेकवचनम्' इस नियम से 'पर्य्यङ्के' यह एक वचन होता हुवा भी एकाधिक पलंगों का व्यावर्तक नहीं होसकता, अर्थात्— महानन्दा और वैश्यनाथ एक ही पलंग पर लेटे थे यह बात उक्त एकवचन से सिद्ध नहीं की जा सकती,।

इस श्लोक में वेदव्यास जी ने अपनी शब्द विन्यासचातुरी से श्री वैश्यनाथ जी को सब प्रकार के आक्षेपों से अछूता रखने के लिये उन्हें 'विटधर्म्मी' नाम से

स्मरण किया है, । अर्थात्— व्यास जी को यदि श्री वैश्यनाथ भगवान् को साक्षात् 'विट'=धूर्त=किं वा वेश्यागामी कहना अभीष्ट होता तो वे सीधे शब्दों में उन्हें केवल 'विट' नाम से ही याद करते ! परन्तु मूल पाठ में 'विट' न कहकर 'विटधर्म्मी' कहने का यही अभिप्राय होसकता है कि वे शिव भगवान् को 'विट' नहीं बल्कि विट का स्वांग मात्र भर कर इस प्रकार की लीला का अभिनेता मानते हैं ।

इसी प्रकार 'संगता' शब्द का अर्थ भी मैथुन, याभ या पशु-धर्म्म में प्रवृत्त होना नहीं होसकता क्योंकि किसी कोशकार या किसी भी ग्रन्थकार ने समुपसर्ग पूर्वक 'गम्लृ' धातु का अर्थ मैथुन करना नहीं लिखा, बल्कि भली प्रकार मिलना=ताज़ीम से पेश आना ही इसका अभिप्राय होसकता है । इस लिये मूल शब्दों पर निष्पक्षता पूर्वक विचारमात्र करने से अनायास व्यभिचाराभास का समूल नाश हो जाता है ।

यदि 'दुर्जन-तोष' न्याय से शङ्कावादी महाशयों के आग्रहानुसार शिव भगवान् का वेश्या के साथ एक चारपाई पर लेट जाना भी क्षण मात्र के लिये स्वीकार कर लिया जाए तब भी उक्त लीला से शिव भगवान् के पवित्र चरित्र पर कुछ भी दोषारोपण नहीं हो सकता ! क्योंकि जो शिव भगवान् विषधर सर्पों को अपने अङ्गों में निरन्तर लिपटा सकता है ! तथा प्रलयान्तकारी हलाहल को भी अपने कण्ठ का भूषण बना सकता है- ऐसे निर्विकार एवं सजातीय-विजातीय-स्वगत भेद शून्य, द्वन्द्वातीत महापुरुष के लिए किसी अबला विशेष का आनुषंगिक अङ्ग छू जाना भी दोषावह नहीं होसकता, इस तरह शिवपुराणानुसार शिव भगवान् के ब्रह्म मान लेने पर उक्त आख्यान के किसी भी अंश पर कुछ आक्षेप शेष नहीं रहता ।

पुरुष दृष्टि से-

कदाचित् कोई मूसलचन्द शिव भगवान् के ब्रह्मत्व को भुलाकर वैश्यनाथ अवतार धारी शिव महाराज को भी अपनी तरह भौतिक शरीर धारण करने वाला साधारण पुरुष मान बैठे, और पुरुष दृष्टि को सामने रखता हुवा उक्त चरित्र पर आक्षेप करने का साहस करे तो उसे केवल एक बात पर गंभीरता पूर्वक अवश्य विचार करना चाहिये । कल्पना कीजिये कि शङ्कावादी के कथनानुसार वैश्यनाथ जी महानन्दा के साथ एक पलंग पर न केवल लेटे ही बल्कि इससे आगे बढ़ कर भी जो कुछ शङ्कावादी कह सकता है वह सब कुछ भी हुवा ! और यह भी मान ही लीजिये कि इस प्रकार के आचरण से वैश्यनाथ भगवान् अवश्य ही वेश्यागमन के पाप से भी विलिप्त होगए !!— परन्तु सोचना तो यह है कि धर्म्मशास्त्र में उक्त पाप का कुछ

प्रायश्चित्त भी लिखा है या नहीं ? प्रसिद्ध हिन्दू धर्म्मशास्त्र 'याज्ञवल्क्यस्मृति' [व्यवहाराध्याय-स्त्री संग्रह प्रकरण में-'अवरुद्धासु' आदि २९० के श्लोक की मिताक्षरा टीका] में लिखा है कि—

पशुवेश्याभिगमने प्राजापत्यं विधीयते ।

(स्मृत्यन्तरवचन)

अर्थात्—पशु और वेश्या से मैथुन करने वाला पुरुष 'प्राजापत्य' नामक प्रायश्चित्त करने से शुद्ध होजाता है ।

सो धर्म्मशास्त्र की रीति से तो साधारण उपवास एवं हवन, जाप आदि करने मात्र से ही वेश्या-गमन-पाप का प्रायश्चित्त होजाना लिखा है, परन्तु वैश्यनाथ चरित्र में तो श्री वैश्यनाथ भगवान् शिवलिङ्ग जल जाने के बहाने से स्वयं भी धधकती चिता में जल जाते हैं,— अर्थात्— अपने जिस मायामय, वैश्य-कलेवर द्वारा यह लीला सम्पादन की थी उस शरीर को ही अग्नि की भेंट कर डालते हैं, फिर भी उक्त आख्यान में पापाचार का अनहोना कलङ्क लगाना महापामरता है ।

यदि प्रतिवादी महाशय शिव-पुराण के मूल शब्दों के अनुसार शिव भगवान् को निर्लेप एवं निरंजन ब्रह्म स्वीकार करलें तब तो उक्त चरित्र के किसी अंश पर भी कुछ आक्षेप आ ही नहीं सकता, । वास्तव में वैश्यनाथ जी ने न महानन्दा के साथ एक पलंग पर शयन किया है और नाहीं उसका स्पर्श किया है केवल भक्ति परीक्षा के लिये उसके मकान में चन्द घण्टे विश्राम अवश्य किया है, इतने पर भी यदि दुराग्रह वश- 'वेश्यागमन' की दुहाई दीजाए तो हम स्पष्ट कहेंगे कि वैश्यनाथजी ने अपने उस मायामय कलेवर को भी तो आग में जला डाला है सो जो महाशय वेश्यागमन का अनुकरण करना चाहें उन्हें आग में कूद कर जल मरने के लिये भी तो तैय्यार हो जाना चाहिये, अन्यथा 'मीठा मीठा गप्प और कड़वा कड़वा थू' करने का यहां अवसर नहीं ! इस लिये किसी भी दृष्टि से परखिये उक्त चरित्र पर कुछ आक्षेप नहीं आसकता ।

मोहिनी को देख कर वीर्य्यपात

१९ श्रीमद्भागवत (८ । १२ । १-४७) में लिखा है कि— 'विष्णु भगवान् के मोहिनी रूप को देख कर शिवजी मुग्ध होगए और उसे पकड़ने के लिये वे तहाशा भागते फिरे । इस दौड़ धूप में जब कुछ भी हाथ न लगा तो बंभोले जी का वीर्य्य स्खलित होगया; जहां जहां वह वीर्य्य गिरा उसी उस स्थान में सोने चांदी आदि धातुओं की खानें बन गईं'— इत्यादि कथा पर भी

दयानन्दी लोग खूब कहकहे लगाया करते हैं, और अश्लीलता तथा असम्भवता की दुहाई देकर आसमान को सर पर उठाया करते हैं। इस लिये हम इस आख्यान पर क्रमागत शैली के अनुसार कुछ विशेष विचार करना चाहते हैं। तद्यथा—

वैदिक--स्वरूप

(क) (प्रजापतिः) अप्सरोरूपं कृत्वा पुरस्तात्प्रत्युदैत्।

(कौषीतकी ६।१)

(ख) तदस्य (विष्णोः) एतस्या ँ रम्यागां तन्वां देवा अरमन्त तस्माद्वि रम्य ँ हिरण्य ँ ह वै तद् हिरण्यमित्याचक्षते परोक्षम्।

(शतपथ ७।४।१।१६)

(ग) अग्निर्ह वाऽअपोऽभिदध्यौ मिथुनान्याभिः स्यामिति ताः सम्बभूव तासु रेतः प्रासिञ्चत् तद्धिरण्यमभवत्

(शतपथ २।१।१।५)

(घ) तस्य रेतः परापतत्। तद्धिरण्यमभवत्।

(तैत्तिरीय १।१।३।८)

(ङ) त्रेधा जातं जन्मनेदं हिरण्य-
मग्निरेकं प्रियतमं बभूव।
सोमस्यैकं हिंसितस्य परापतत्,
अपामेकं वेधसां रेत आहुः॥

(अथर्व ५।२८।६)

(च) अग्ने रेतो हिरण्यम्।

(शतपथ २।२।३।२८)

(छ) सोमस्य वा अभिषूयमाणस्य प्रियातनूरुदक्रामत् तत्सुवर्ण ँ हिरण्यमभवत्।

(तैतिरीय १।४।७।४-५)

अर्थात्— (क) प्रजा के पालक विष्णु भगवान् अप्सरा का रूप बनाकर [शिवजी के] आगे प्रकट हुवे। (ख) इस विष्णु के रमणीय शरीर में देवताओं ने रमण किया इस लिये 'हि-रम्य' शब्द से 'हिरण्य' शब्द की प्रवृत्ति हुई, अर्थात्— हि-रम्य को ही परोक्षरीति से 'हिरण्य' ऐसा कहते हैं। (ग) अग्नि ने जलों का ध्यान किया कि 'मैं इनसे मिथुनीभाव को प्राप्त हूँ', वे प्रकट हुवे, अग्नि ने उन में वीर्य्य सेचन किया, वह हिरण्य = सोना बन गया। (घ) उस [शिवजी] का रेतः = वीर्य्य गिर पड़ा, वह सोना बन गया। (ङ) इस हिरण्य = सुवर्ण का तीन प्रकार से जन्म हुवा है, पहिला— अग्नि का प्यारा हुवा, दूसरा— सोम के मारने से गिरा, तीसरा— सृष्टि-विधायक जलों का रेतः=वीर्य्य कहा जाता है। (च) अग्नि का रेतः= वीर्य्य ही हिरण्य=सुवर्ण है। (छ) सम्पादन करते हुवे सोम का प्यारा शरीर (वीर्य्य) निकल पड़ा वह सुवर्ण=हिरण्य बन गया।

पौराणिक-स्वरूप

कौतूहलाय दैत्यानां, योषिद्वेषो मया कृतः ॥१५॥
तत्तेहं दर्शयिष्यामि, दिदृक्षोः सुरसत्तम ! ॥१६॥
इतिब्रुवाणो भगवांस्तत्रैवान्तरधीयत ॥१७॥
एवं तां रुचिरापांगीं, दर्शनीयां मनोरमाम् ॥
दृष्ट्वा तस्यां मनश्चक्रे विषज्जन्त्यां भवः किल ॥२४॥
तस्यानुधावतो रेतश्चस्कन्दामोघरेतसः ॥३२॥
तानि रूप्यस्य हेम्नश्च, क्षेत्राण्यासन्महीपते ! ॥३३॥

(श्रीमद्भागवत ८ । १२ । १५-३३)

अर्थात्— [शिवजी की प्रार्थना सुन कर विष्णु भगवान् ने कहा कि—] हे देवाधिदेव महादेव ! दैत्यों को चकित करने के लिये मैंने जो स्त्रीरूप धारण किया था मैं वही आपको भी दिखलाऊंगा ॥ १५-१६ ॥ इस तरह कहते हुवे विष्णु भगवान् वहीं अन्तर्धान होगए ॥१७॥ [अनन्तर मोहिनी रूप में प्रकट होने के बाद] शिवजी- दर्शनीय, रूप लावण्य से युक्त एवं सुन्दर कटाक्ष वाली उस स्त्री को देख कर मुग्ध होगये ॥२४॥ उस समय मोहिनी के पीछे भागते हुए, अमोघवीर्य्य, भगवान् शङ्कर का वीर्य्य गिर पड़ा ॥३२॥ [जहां जहां वह वीर्य्य गिरा] वे सब क्षेत्र सोने और चांदी की खानें बन गए ॥३३॥

विज्ञ पाठक, उपर्युक्त वैदिक और पौराणिक दोनों स्वरूपों की तुलना करने के बाद अवश्य इसी परिणाम पर पहुँचेंगे कि वेदों में तो पुराणों से भी अधिक खुले शब्दों में वीर्य्य का गिरना, और उससे सुवर्णादि धातुओं का बनना लिखा है। इस में यदि कुछ भेद है तो यह है कि पुराणों में जहां मोहिनी रूप के पीछे भागने मात्र से वीर्य्य का गिरजाना लिखा है और सभ्यता की रक्षा के लिये दूर दूर की दौड़ धूप तक की चेष्टा का ही उल्लेख किया है, वहां वेदों में स्पष्टतया— 'रम्यायां तन्वां देवा अरमन्त' 'मिथुनान्याभिः स्याम्' आदि शब्दों द्वारा समस्त देवताओं का मोहिनी से रमण करना-तथा मिथुनी भाव को प्राप्त होना;- तक भी खुले बन्दों लिख डाला है। इस तरह शङ्कावादी जो आक्षेप पुराणों पर करना चाहता था उस से भी अधिक वह दोष वेदों पर आ पड़ता है। सो जो समाधान प्रतिवादी के मत में वैदिक स्वरूप का होगा वही हमारे पौराणिक-स्वरूप का भी समझ लेना चाहिये।

वास्तविक--भाव

उक्त आख्यान अत्यन्त गूढ़ एवं लोकोत्तर विज्ञान से परिपूर्ण है, आज कल साइन्स युग माना जाता है, पाश्चत्य शिक्षा दीक्षा सम्पन्न, समालोचक- वर्तमान, साइन्स का बड़ा भारी घमण्ड रखते हैं, इनके विचार में पदार्थ-विज्ञान के सम्बन्ध में जो कुछ खोज इस युग में हुई है वह मानो अभूतपूर्व है! आजसे पहिले—इस प्रकार की बातें शायद हिन्दुओं के पूर्वज जानते तक न थे !!।-इस प्रकार की निर्मूलधारणा न केवल अहिन्दू समाज में ही बल्कि उनकी देखादेखी संस्कृत साहित्य से अपरिचित अदूरदर्शी हिन्दुओं में भी एक हद तक परिपक्कसी होगई है परन्तु भला हो वेद व्यास जी का! जो कि वेदों के गूढ़ तत्वों का खुलासा पुराणों के रूप में हमारे लिये छोड़ गए हैं, हम श्रीमद्भागवत पुराण की उपर्युक्त एक ही कथा के बल पर संसार भर के विज्ञान वेत्ताओं (Scientists) को खुला चैलेञ्ज देते हैं कि कोई माई का लाल बतलाए कि— सोना चान्दी आदि धातुवें किस मादे से और किस प्रकार बनी हैं? उक्त धातुवों के परमाणुपुञ्ज किन २ तत्वों (Elements) के घनीभाव का परिणाम है? एवं ये सब धातुवें पृथ्वी के अमुक भाग में ही आधिक्य से क्यों निकलती हैं? सर्वत्र समान-रूप से उपलब्ध क्यों नहीं होतीं? इत्यादि-। शंकाशूर-समाजी, नमाजी, और पुराण-निन्दक पाजी इन प्रश्नों को सुनकर शीतलावाहन के सींगों की तरह तत्काल रफूचक्कर होजायेंगे!

वास्तव में श्रीमद्भागवत के इस आख्यान में आलंकारिक पद्धति से सोने चान्दी की उत्पत्ति का ही वैज्ञानिक-विवेचन किया है। वैदिक स्वरूप में बतलाया गया है कि--'अग्नि', 'सोम' और 'आप' इन तीन मूल तत्वों के संघात से सोना उत्पन्न हुवा है। पुराणों में इन्हीं तीनों पदार्थों का तारतम्य प्रकट करके-कौन पदार्थ किस रूप में परिवर्तित हुवा—इस गूढ विज्ञान को सर्वसाधारणोपयोगी एवं अतीव सरल बनाने के लिये विष्णु, मोहिनी और शिव नाम से स्मरण किया है। सो यहां वेद में जिस सोम को सुवर्ण का अन्यतम उत्पादक प्रकट किया है वही इस आख्यायिका में-पुराण का अभिमत शिव किं वा महादेव है, चन्द्रमा रात्रिचर भूतों का अधिपति है, कर्पूर के समान गौर है, हिमांशु होने के नाते हिमालय का अधिष्ठाता है, यही सब विशेषण हमारे शिवजी के साथ भी तथैव संबद्ध हैं उसे कोई 'भूतेशोभूतभावनः' कोई—'कर्पूरगौरं करुणावतारम्' और कोई 'हरः शेते हिमगिरौ' कह कर याद करते हैं। वेद में जिस शक्ति को अग्नि नाम से प्रकट किया है वही इस आख्यायिका में श्रीमद्भागवत पुराण का अभिमत विष्णु है। अग्नि-देदीप्यमान, भास्वर-शुक्ल-स्वरूप-सम्पन्न, एवं 'अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टः'-के अनुसार व्यापनशील तत्व है, विष्णु भी व्यापकत्व-धर्म्मावच्छिन्न शक्ति को ही कहते हैं तथा उसे भी 'शुक्लाम्बरधरं-विष्णुं शशिवर्णम्'-आदि प्रार्थनाओं में भास्वर-शुक्ल-रूपवाला कहा जाता है।

यदि हम उक्त आख्यायिका को वैज्ञानिक शब्दों में प्रकट करना चाहें तो इस प्रकार कह सकते हैं—

आदि-सृष्टि-रचना के समय जब कि ब्रह्माण्ड में प्राणियों का उद्भव न हो पाया था, और हमारी इस पृथ्वी की भी कोई सत्ता विद्यमान न थी उस समय केवल आग्नेय वाष्प ही सर्वत्र फैला हुवा था, समय पाकर वह आग्नेय वाष्प क्रमशः घनीभूत होने लगा, और एक मुहूत के बाद वह हमारी इस पृथ्वी का आदिमपिण्ड बन गया, कहना न होगा कि आग्नेय-वाष्प के घनीभूत होने में चन्द्रपिण्ड का पूरा सहयोग था अर्थात्-चन्द्रमा की स्वाभाविक शीतता के संयोग से ही निकटवर्ती आग्नेय-वाष्प घनत्व को प्राप्त हुई थी। श्री वेदव्यास जी महाराज ने इसी गम्भीर तत्व को सरल बनाने के लिये रूपकशैली का आश्रय लिया है, सो पौराणिक शब्दों में—चन्द्रमा रूप=शिव भगवान् के आग्रह करने पर विष्णु रूप=आग्नेय-वाष्प ने घनीभाव को प्राप्त होकर पृथ्वी पिण्ड रूप=मोहनीस्वरूप धारण किया, अस्तु- पृथ्वी पिण्ड के सुस्थिर होजाने पर और अन्यान्य ग्रहों के आकर्षण विकर्षण के तार-तम्य से पृथ्वी की भी

स्वतन्त्र कक्षा नियत होजाने पर चन्द्रपिण्ड पृथ्वी के चारों ओर घूमने लगा। मानो! शिव भगवान् मोहिनी रूप=पृथ्वी के रूप लावण्य को देख कर उस पर लट्टू होगये-यही महादेव का मोहिनी के पीछे भागने का अभिप्राय है चांद ने भरपेट दौड़ धूप की, अपने कर=किरण किं वा हाथ फैलाए परन्तु कुछ भी पल्ले न पड़ सका, अर्थात्—वह चन्द्रपिण्ड पृथ्वी पिण्ड को आत्मसात् न कर सका, यही मोहिनी के हाथ न आने का तात्पर्य्य है।

वर्तमान विज्ञान-वेत्ता (Scientists) भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि आरम्भ में यह पृथ्वी तपे हुवे सोने की बराबर— जाज्वल्यमान एवं दमकते हुवे पिण्ड के समान थी, सो ज्योंही चान्द पृथ्वी पिण्ड की अपरिमित ऊष्मा से संश्लिष्ट हुवा तो उसका बहुतसा 'भास्वर हिम' पिंघल पिंघल कर बहने लगा, गर्मी के संयोग से बर्फ का वह जाना विज्ञानसिद्ध बात है। सो यही शिव के वीर्य्यपात का आशय है।

चन्द्रमा से गिरा हुवा वह करोड़ों मन 'भास्वर-हिम' आकाशस्थ आग्नेय-वाष्प के संमिश्रण से देदीप्यमान कलल की सूरत में पृथ्वी के अमुक २ भागों में समा गया, जिस अंश में— आग्नेय-वाष्प का अधिक भाग मिल गया वह सोना बन गया, और जिस में हिम का अधिक भाग रहा वह चान्दी बन गई। इसी तरह अन्यान्य तत्वों के न्यूनाधिक विमिश्रण के तारतम्य से तत्तद् धातुओं की उत्पत्ति हुई। यही इस आख्यायिका का वास्तविक भाव है।

यदि सूक्ष्म दृष्टि से सोने के संघीभूत परमाणु का विश्लेषण किया जाए तो उपर्य्युक्त विज्ञान के अनुसार सोने में वस्तुतः अग्नि चान्द और जल के गुणों का ही विमिश्रण पाया जाता है। न्याय-शास्त्र में सोने को तैजस पदार्थ माना है, यह अग्नि के ताप से पिंघल कर द्रवीभूत होजाता है, इसका स्वाभाविक स्पर्श अनुष्णाशीत है और तैजस-पदार्थ होने के कारण इसमें भास्वर-शुक्लता का समावेश स्वीकार किया जाता है, सो-सोने में—'द्रवत्व' जल तत्व का विकार है, 'घनीभाव-' चन्द्रमा के दिव्य हिम का प्रतिफल है और 'देदीप्यमान-भास्वरता' अग्नि तत्व का गुण है। यद्यपि इसमें न्यूनाधिक उपर्य्युक्त तीनों गुणों का समावेश पाया जाता है तथापि हमारे पूर्वकथनानुसार इसमें अधिक भाग आग्नेय-वाष्प का ही मिला है अतएव 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इस नियम के अनुसार पूर्वाचार्य्यों ने इसे तैजस पदार्थों में ही परिगणित किया है। श्री वेदव्यास जी ने 'महाभारत' में स्पष्टतया इसे अग्नि का विकार स्वीकार किया है यथा—

अग्नेरपत्यमेतद्वै सुवर्णमिति धारणा।

(महाभारत-अनुशासन ८५। १४७)

अर्थात्—सुवर्ण अग्नि से उत्पन्न हुवा पदार्थ है ऐसी धारणा है।

कदाचित् कोई सज्जन हमारे इस वैज्ञानिक भाव को कोरी कल्पना ही न समझ बैठें! एवं किसी के हृदय में-उक्त आख्यायिका के प्रधान पात्र-शिव, विष्णु, और मोहिनी आदिका अभिप्राय क्रमशः (सोम=) चन्द्रमा, (अग्नि=) आग्नेय-वाष्प, और पृथ्वी का आदिम पिण्ड किन प्रमाणों के आधार पर अवलंबित है—ऐसी आशंका न बनी रहे!! एतदर्थ हम वैदिक साहित्य से ही ऐसे प्रमाण उद्धृत करते हैं कि जो हमारी रूपककल्पना का समर्थन करते हुवे इस आख्यान के मध्यवर्ती शिव विष्णु शब्दों के हमारे प्रकट किये अर्थों का भी सोलहों आने अनुमोदन करते हों, तद्यथा—

(क) यद् रुद्रश्चन्द्रमास्तेन।

(कौषीतकी ६। ७)

(ख) (प्रजापतिः) तं (रुद्रं) अब्रवीन्महादेवोऽसीति।
तद्यदस्य तन्नामाकरोच्चन्द्रमास्तद्रूपमभवत्।

(शतपथ ६। १। ३। १६)

(ग) आग्नेयी पृथिवी।

(ताण्ड्य १५। ४। ८)

(घ) इयं (पृथिवी) वै देव्यदितिर्विश्वरूपी।

(तैत्तिरीय १। ७। ६। ७)

(ङ) सा (पृथिवी) अग्निं गर्भे बिभर्तु।

(शतपथ ६। ५। १। ११)

अर्थात्—(क) जिस कारण से वह रुद्र चन्द्रमा [कहा जाता] है। (ख) प्रजापति ने उस रुद्र को कहा कि तू महादेव है, क्योंकि उसका महादेव = महान्दीप्तिवाला नाम रक्खा, सो वही [रूपसम्पन्न] चन्द्रमा रूप बन गया। (ग) यह पृथिवी आग्नेयी=अग्निवाष्पमयी थी। (घ) यह पृथिवी ही विश्वरूपी (=विश्व-विमोहक-रूपसम्पन्न) अखण्डनीय देवी है। (ङ) उस पृथिवी ने अग्नि को गर्भ में धारण किया।

इत्यादि अनेक प्रमाणों द्वारा शिव=रुद्र भगवान् का चन्द्रमा होना, और पृथिवी का आरम्भ में आग्नेय-वाष्पमय होना सुस्पष्ट है, तथा इन्ही पदार्थों के विशेष

योगायोग से सुवर्ण आदि धातुओं का बनना भी विज्ञानसिद्ध है जैसा कि हम पूर्व लिख चुके हैं। यही इस कथा का वास्तविक भाव है!

स्थानान्तर में यही कथा आध्यात्मिक किं वा आधिदैविक अर्थों के प्राधान्य से भी व्याख्यात की जा सकती है सो वहां— माया रहित विशुद्ध ब्रह्म को विष्णु, और उसकी अनन्यछाया माया को मोहिनी, तथा माया-संवलित, ब्रह्म (=ईश्वर) को शिव समझना चाहिये, एवं उसी ईश्वर के वीर्य्य (=सत्ताभाव) से धातुवों (चराचर के धारणशील पञ्चमहाभूतों) की उत्पत्ति माननी चाहिये।

त्रिदेव और अनसूया

२० कुछ महाशय 'भविष्य-पुराण' (प्रतिसर्ग, खण्ड ४ अध्याय १७) के आधार पर ब्रह्मा, विष्णु और महेश इन तीनों देवताओं के ऊपर यह भी मिथ्या कलंक लगाया करते हैं कि 'उक्त देवत्रय ने अत्रि ऋषि की धर्म्मपत्नी अनसूया के साथ व्याभिचार किया, हम इस आक्षेप की असलियत प्रकट करने के लिये पाठकों के सामने सर्व प्रथम पौराणिक स्वरूप रखते हैं, जिससे मूल शब्दों के पढ़ने मात्र से ही बहुत कुछ सन्देह काफूर होजाएगा,

पौराणिक-स्वरूप

कदाचिद् भगवानत्रिर्गङ्गाकूलेऽनसूयया।
सार्धं तपो महत्कुर्वन्ब्रह्म-ध्यानपरोऽभवत् ॥६७॥
तदा ब्रह्मा हरिश्शम्भुः स्वस्ववाहनमास्थिताः।
वरं ब्रूहीति वचनं तमाहुस्ते सनातनाः ॥६८॥
इतिश्रुत्वा वचस्तेषां स्वयम्भूतनयो मुनिः।
नैव किञ्चिद् वचः प्राह संस्थितः परमात्मनि ॥६९॥
तस्यभावं समालोक्य त्रयोदेवाः सनातनाः।
अनसूयां तस्य पत्नीं समागम्य वचोऽब्रुवन् ॥७०॥
लिङ्गहस्तः स्वयं रुद्रो विष्णुस्तद्रसवर्द्धनः।
ब्रह्मा कामब्रह्मलोपः स्थितस्तस्या वशंगतः॥
रतिं देहि मदाघूर्णे! नो चेत्प्राणांस्त्यजाम्यहम् ॥७१॥

पतिव्रताऽनसूया च श्रुत्वा तेषां वचोऽशुभम् ।
नैव किंचिद्वचः प्राह कोपभीता सुरान्प्रति ॥७१॥
मोहितास्तेऽत्र ते देवा गृहीत्वा तां बलात्तदा ।
मैथुनाय समुद्योगं चक्रुर्मायाविमोहिताः ॥७३॥
तदा क्रुद्धा सती सा वै ताञ्छशाप मुनिप्रिया ।
मम पुत्रा भविष्यन्ति यूयं कामविमोहिताः ॥७४॥
महादेवस्य वै लिङ्गं ब्रह्मणोऽस्य महाशिरः ।
चरणौ वासुदेवस्य पूजनीया नरैः सदा ॥
भविष्यन्ति सुरश्रेष्ठा ! उपहासोऽयमुत्तमः ॥७५॥
इति श्रुत्वा वचो घोरं नमस्कृत्य मुनिप्रियाम् ।
तुष्टुवु र्भक्तिनम्राश्च वेदपाठैश्च ऋङ्मयैः ॥७६॥
अनसूया तदा प्राह भवन्तो मम पुत्रकाः !
भूत्वा शापं मदीयञ्च त्यक्त्वा तृप्तिमवाप्स्यथ ॥७७॥
इत्युक्ते वचने ब्रह्मा चन्द्रमाश्च तदाह्यभूत् ।
दत्तात्रेयो हरिः साक्षाद् दुर्वासा भगवान्हरः ॥७८॥

(भविष्य-पुराण, प्रतिसर्ग खण्ड ४ अ० १७)

अर्थात्— किसी समय महर्षि अत्रि अनसूया सहित गङ्गा के तट पर तप करते हुवे ईश्वर के ध्यान में तत्पर हुवे ॥६७॥ उस समय ब्रह्मा विष्णु और महादेव ये तीनों ही अपने२ वाहनों पर सवार होकर अत्रि के पास आये और बोले कि 'वरं ब्रूहि' अर्थात्-वर मांगो ॥६८॥ स्वयम्भू-पुत्र, अत्रि मुनि उनके इस प्रकार के वचन को सुनकर कुछ भी न बोले और तथैव परमात्मा में स्थित रहे ॥ ६९ ॥ तीनों सनातन देव अत्रि के पवित्र भाव को जान कर अत्रि की धर्म्मपत्नी अनसूया के पास पहुंचे और बोले ॥७०॥ 'लिङ्ग-हस्त' रुद्र, 'रस-वर्द्धन' विष्णु, और 'ब्रह्म-काम-लोप' ब्रह्मा तीनों ही उसके वशीभूत से बनकर खड़े होगए, ब्रह्मा ने कहा—हे मदाघूर्णित-लोचने ! मुझे रति दे नहीं तो मैं प्राणों को त्याग दूंगा ॥७१॥ उनकी इस अशुभ वाणी को सुन कर पतिव्रता अनसूया [उनके] क्रोध से भयभीत हुई कुछ भी न बोली ॥७२॥ तब माया से विमोहित हुवे इन तानों देवताओं ने चाहा कि हम मानो इसको जबर्दस्ती से—पकड़लें—इस

प्रकार मैथुन करने का उद्योग प्रकट करने लगे ॥ ७३ ॥ उस समय सती अनुसूया ने क्रुद्ध होकर तीनों देवताओं को शाप दिया कि 'जाओ तुम सब मेरे पुत्र बनोगे'-॥७४॥ महादेव का लिङ्ग, ब्रह्मा का बड़ा भारी शिर और विष्णु के चरण ही मनुष्य पूजा करेंगे, हे देवश्रेष्ठो ! यही तुम्हारा उत्तम उपहास है ॥७५॥ त्रिदेव इस घोर वचन को सुनकर मुनिप्रिया अनसूया को नमस्कार करने लगे और भक्ति से विनम्र होकर वेद ऋचाओं द्वारा उसकी स्तुति करते हुवे प्रसन्न करने लगे ॥७६॥ उस समय अनसूया ने कहा कि तुम मेरे पुत्र बनो, और फिर मेरे शाप को त्यागकर खुश होगे ॥७७॥ यह कहने पर ब्रह्मा उसी समय चन्द्रमा होगया, विष्णु दत्तात्रेय और रुद्रदेव दुर्वासा रूप में अवतरित हुवे ॥७८॥

वास्तविक-भाव

उपर्युक्त कथा के साद्यन्त पढ़ने से यह भली भांति विदित होजाता है कि ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र ये तीनों देवता अत्रि और अनसूया की परीक्षा के लिये ही इकट्ठे होकर आए थे। अत्रि का 'निष्काम भाव' और अनसूया का 'पातिव्रत'—खूब ठोक बजा कर जांचना ही उक्त लीला का उद्देश्य था। शङ्कावादी महाशयों के कथनानुसार यदि उक्त तीनों देवताओं में से किसी एक के भी हृदय में अपवित्र विचार होता तो वह घोर-अन्धकार में अत्रि की आंख बचाकर दबे पांओं अकेला ही कभी अनसूया के पास पहुंचता, जैसा कि प्रायः व्यभिचारी मनुष्य जाया करते हैं, परन्तु उक्त कथा में तो यह साफ लिखा है कि ये तीनों इकट्ठे होकर और अपने २ वाहनों पर सवार होकर पहिले अत्रि के पास पहुंचे फिर अनसूया के निकट गये—क्या—व्यभिचारी लोग व्यभिचार के लिये काफला बान्ध कर कहीं इकट्ठे भी जाया करते हैं क्या ? और वे जिस स्त्री से व्यभिचार-करने का इरादा रखते हों उसी के घर वाले को भी अपने आप इस तरह सूचना दे दिया करते हैं क्या ? जो लोग इस कथा के मूल शब्दों पर विचार न करके व्यर्थ ही व्यभिचार और पापाचार के स्वप्न देखते हैं—जानो उन्होंने अपनी बुद्धि को बेच खाया है। अस्तु त्रिदेव अत्रि के पास पहुँचे और उसे यथेच्छ वर मांगने के लिये कहा परन्तु अत्रि ऋषि तो निष्काम कर्म्मयोगी महात्मा थे, उन्हें अपने तप के प्रतिफल में किसी भी कर्म्मफल की स्पृहा न थी अतः वे टस से मस न हुवे—तथैव दृढ चट्टान की भांति 'संस्थितः परमात्मनि' बने रहे— निष्काम कर्म्मयोग की परीक्षा में उत्तीर्ण हुवे। द्वार पर खड़े हुवे ब्रह्मा-विष्णु-महेश-'वरं ब्रूहि' कह कर सब कुछ-दे डालना चाहते हैं परन्तु निष्काम कर्म्मयोग का पुजारी न आंखें खोलता है-न कुछ मुंह से बोलता है—मानो वह अपनी वृत्ति को—

'कर्म्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'—

—कि तराजू पर 'बावन तोले पाव रत्ती' तोलता है। इससे अधिक कर्म्म-फल-त्याग का आदर्श और क्या हो सकता है?

इस तरह अत्रि की परीक्षा ले चुकने के बाद त्रिदेव ने अनसूया का 'पातिव्रत-धर्म्म' जांचना चाहा,—यह सभी जानते हैं कि पातिव्रत-धर्म्म की परीक्षा के लिये—अनुचित छेड़छाड़ एवं व्यभिचारियों जैसे वाक्य कहना अनिवार्य्य है। सब कहने सुनने पर भी यदि कोई स्त्री अपने धर्म्म से भ्रष्ट न हो तो वही साध्वी वास्तव में 'पतिव्रता' कही जा सकती है,। व्यभिचारियों जैसा स्वांग भरे बिना पातिव्रत-धर्म्म की परीक्षा ली ही नहीं जा सकती। यदि अब भी किसी भलेमानस को किसी देवी का पातिव्रत-धर्म्म जांचने के लिये नियुक्त किया जाय तो वह भी अगत्या उसके निकट ऐसी ही चेष्टाएं करेगा कि जिनसे कामोद्दीपन की सम्भावना हो। सो उक्त तीनों देवताओं के भी हृदय में तो विशुद्ध भाव था परन्तु ऊपर से ऐसे भाव व्यक्त करते थे कि जिनसे अनसूया का हृदय क्षुब्ध होजाए— अनसूया पर इन चेष्टाओं का कुछ भी प्रभाव न पड़ा, वह कुछ देर तक तो इन देवताओं के कोप से भयभीत हुई चुप सी रह गई, परन्तु जब त्रिदेव ने मैथुनक्रिया जैसा उद्योग प्रकट किया तो पतिव्रता को क्रोध आगया, और वह धैर्य्यरहित होकर त्रिदेव को शाप दे बैठी। कदाचित् अनसूया जिस प्रकार कामचेष्टाओं से व्यग्र न होकर पातिव्रत की परीक्षा में सफल रही थी इसी प्रकार क्रोध के आवेश को भी पी जाती तो वह न केवल—पतिव्रतों की शिरोमणि ही कही जाती बल्कि योगियों की भी वन्दनीया बन जाती, जैसे कि गीता में लिखा है—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥

(भगवद्गीता ५। २३)

अर्थात्— जो मनुष्य शरीर त्याग से पूर्व इस लोक में काम और क्रोध के वेग को सहन कर सकता है वह योगी है और वही सुखी है।

अस्तु, अनसूया ने अनेक कामोद्दीपक चेष्टाओं से दूषित हुवे वायु मण्डल में भी अपने पातिव्रत को सर्वथा अक्षुण्ण बनाए रक्खा, अतः ऐसी आदर्श-पतिव्रता का उग्र शाप त्रिदेव को भी सहर्ष स्वीकार करना पड़ा। शाप क्या था! मानो, अत्रि और अनसूया की घोर तपश्चर्या का प्रतिफल— मूर्तिमान् वरदान था, रामायण और

श्रीमद्भागवत में— वर्णन आता है कि मनु और शतरूपा, एवं सुतपा और पृश्नि ने बड़ा भारी तपः करने के बाद विष्णु भगवान् को सन्तुष्ट करके 'याञ्चाभङ्गभयात्' डरते कांपते तुतलाई- ज़बान से यह वरदान मांगा था कि 'मेरे घर में आपके समान पुत्र उत्पन्न हो',— जिसके उत्तर में श्री विष्णु भगवान् ने बड़े ही नाज़ो नखरे के साथ—

आप सरिस खोजौं कहँ जाई।
नृप तव तनय होब मैं आई॥

—कहते हुवे जैसे तैसे इस की स्वीकृति दी थी जिसकी सत्यता के लिये त्रेता में राम और द्वापर में कृष्ण रूप में अवतरित हुवे थे, परन्तु अत्रि सरीखे कर्म्मयोगी और अनसूया सदृश पतिव्रता-गिड़गिड़ा कर और मिन्नत खुशामद से कुछ मांगने वाले भीखमंगों में से न थे, उन्हें तो अपने तपोबल पर पूरा भरोसा था। अतः त्रिदेव के 'वरंब्रूहि' कहने पर तो अपने मौन—भाव से कर्म्म-फल-त्याग की चरमा सीमा दिखा डाली, परन्तु पीछे मौक़ा पड़ने पर दूरदर्शिनी अनसूया ने शाप के बहाने तीनों को अपना पुत्र बनने के लिये विवश कर डाला, मानो अपनी तपश्चर्य्या और अनन्य-भक्ति की कीमत में तीनों देवताओं को खरीद लिया,।

कल्पना कीजिये कि त्रिदेव के 'वरंब्रूहि' कहने पर उक्त दम्पती यही वर मांग बैठते कि 'भवन्तो मम पुत्रा भवत' अर्थात्— आप तीनों मेरे पुत्र होजाओ— तब भी तो त्रिदेव को 'तथास्तु' ही कहना पड़ता, अतः इस विवेक दृष्टि से उक्त लीला के परखने पर तो यह बात स्पष्ट होजाती है कि हम अपने दृष्टि कोण (View) से तो भले ही इसे 'शाप' नाम से स्मरण करें परन्तु त्रिदेव और अनसूया के निकट तो यह सब लीला भगवान् और भक्त की अनोखी भावना की ही परिचायक है जब कि तीनों देवता अनसूया के पातिव्रत की जांच के लिये उसकी कठिन से कठिन परीक्षा ले सकते हैं और वह देवी इस अग्नि परीक्षा में पड़ कर दमकते हुवे सोने की भांति तथैव उज्ज्वल बनी रहती है, तब अपने धर्म्म-बल के बूते पर साध्वी अनसूया को भी तो त्रिदेव से परीक्षोत्तीर्णता का उचित मुआवज़ा तलब करने का पूरा पूरा हक हासिल था, सो त्रिदेव ने खूब ठोक बजा कर उसके पातिव्रत-धर्म्म की कठिन परीक्षा ली, और अनसूया ने उत्तीर्ण होकर उन्हें अपने पुत्र बना लिया।

आध्यात्मिक-भाव।

'अत्रि' (न त्रयो गुणा वर्तन्ते यस्मिन् स अत्रिः) गुणातीत ज्ञानी का नाम है और 'अनसूया' (न विद्यते असूया निन्दा यस्या सा अनसूया) ज्ञानी की अनिन्दित

वृत्ति का नाम है। उक्त वृत्ति पतिव्रता स्त्री की तरह ज्ञानी की अनन्य दासी बन कर सर्वदा निकट रहती हैं। अतएव इसे 'पत्नी' कहा गया है। ब्रह्मादि तीनों देवता अर्थात् रजः, सत्व, तमः– तीनों गुणों की अधिष्ठातृशक्तियां अनिन्दित वृत्तिके वशीभूत हैं।

जिस समय यह वृत्ति परिपक्व दशा को पहुंच जाती है, तब 'लिङ्ग-हस्त'= ब्रह्माण्ड भर का दारोमदार जिसके हाथ में है वे रुद्र भगवान् और 'रसवर्द्धन'=भक्तिरूप रस को बढ़ाने वाले विष्णु भगवान् तथा 'काम–ब्रह्म–लोप'=कामनामय मनः को शान्त करने वाले ब्रह्माजी उस वृत्ति का सर्वतोभावेन आलिङ्गन करना चाहते हैं तथा मुग्ध होकर बल–पूर्वक 'मैथुन'=एकीभाव के लिये उद्योग करते हैं! अन्त में यह वृत्ति उक्त तीनों गुणों की अधिष्ठातृ–शक्तियों को अपना पुत्रवत् आज्ञाकारी बनाकर छोड़ती है यही इस कथा का आध्यात्मिक–तत्व है।

इस प्रकार हम उपर्य्युक्त कथा का आधिदैविक–तात्पर्य्य–प्रधान, वास्तविकभाव और आध्यात्मिक–भाव प्रकट करने के बाद विज्ञ पाठकों से ही पूछना चाहते हैं कि इस आख्यान में वह कौन ऐसा शब्द है कि जिससे त्रिदेव का अनसूया के साथ व्यभिचार करना सिद्ध होता हो? मूल कथा में तो 'मैथुनाय समुद्योगं चक्रुः' केवल इतनामात्र लिखा है, यह तो इस सारे प्रसङ्ग में कहीं भी नहीं लिखा कि 'मैथुनं चक्रुः'। इसके अतिरिक्त उक्त सब कुचेष्टाओं के नकली प्रदर्शन का अभिप्राय भी अनसूया के पातिव्रत की परीक्षामात्र करना ही साफ लिखा है, अतएव उपसंहार में–त्रिदेव ने भक्ति–नम्र होकर वेद मन्त्रों द्वारा इस देवी की स्तुति की ऐसा प्रकट किया है, इन सब कारणों से स्पष्ट है कि न इस लीला में व्यभिचार है और न व्यभिचाराभास है किन्तु भक्त की भक्ति और भगवान् की भावना का उज्ज्वल प्रकाश है।

त्रिदेव को शाप

२१ पद्म–पुराण (षष्ठ उत्तर खण्ड अध्याय १११) के आधार पर कई महाशय यह भी आक्षेप किया करते हैं कि ब्रह्मा की–धर्म्मपत्नी स्वरा ने समस्त देवताओं को 'जड़' होजाने का शाप दिया था, जिसके फलस्वरूप त्रिदेव को नदी बनना पड़ा, यह आख्यान ब्रह्मादि देवताओं की असमर्थता प्रकट करता है, जो कि उनके ईश्वरत्व–धर्म्म के सर्वथा प्रतिकूल है। –हम पहिले इस प्रसङ्ग को यहां उद्धृत करते हैं तत्पश्चात् उस पर उचित विचार किया जाएगा।

पौराणिक-स्वरूप

एक बार सह्य पर्वत की चोटी पर समस्त देवताओं ने मिल कर बड़ा भारी यज्ञ रचा, जब मुहूर्त का समय आया तो ब्रह्मा जी की ज्येष्ठ पत्नी 'स्वरा' तब तक यज्ञशाला में न आसकी। विष्णु के प्रस्ताव और शिव आदि देवताओं के अनुमोदन करने पर मुहूर्त टल जाने के भय से ब्रह्मा के दक्षिण भाग में गायत्री नामक दूसरी धर्म्मपत्नी को बिठला कर यज्ञ दीक्षा आरम्भ की गई। इतने में स्वरा भी आगई, और गायत्री को पत्नी के आसन पर बैठी देख कर कुपित हो कहने लगी कि—

ममासने कनिष्ठेयं भवद्भिः सन्निवेशिता ॥
तस्मात्सर्वे जडीभूता नानारूपा भविष्यथ ॥१५॥
ततस्तच्छापमाकर्ण्य गायत्री कम्पिता तदा ॥
समुत्थायाशपद्देवैर्वार्य्यमाणापि तां स्वराम् ॥१७॥
तव भर्ता यथा ब्रह्मा ममाप्येवं तथा खलु ॥
वृथाशपस्त्वं यस्मान्मां भव त्वमपि निम्नगा ॥१८॥
ततो हाहाकृताः सर्वे शिवविष्णुमुखाः सुराः ॥
प्रणम्य दण्डवद् भूमौ स्वरां तत्र व्यजीज्ञपन् ॥१९॥
तदा लोकत्रयं ह्येतद् विनाशं यास्यति ध्रुवम् ॥
अविवेकः कृतस्तस्माच्छापोयं विनिवर्त्यताम् ॥२१॥
इति तद्वचनं श्रुत्वा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ॥
जडीभूताभवन्नद्यः स्वांशैरेव तदा नृप ! ॥२५॥
तत्र विष्णुरभूत् कृष्णा वेणी देवो महेश्वरः ॥
ब्रह्मा ककुद्मिनी गङ्गा पृथगेवाभवत्तदा ॥२६॥
देवाः स्वानपि तानंशान् जडीकृत्वाविचक्षणाः ॥
सह्याद्रिशिखरेभ्यस्ताः पृथगासन् सुनिम्नगाः ॥२७॥
गायत्री च स्वरा चैव पश्चिमाभिमुखे तदा ॥२८॥

(पद्म-पुराण, षष्ठ उत्तर खण्ड अध्याय १११)

अर्थात्— [स्वरा ने कहा] हे देवताओ ! क्योंकि तुम लोगों ने मेरे आसन पर इस छोटी सौतिन गायत्री को बिठलाया है इस लिये तुम सब जड और नाना-रूप वाले होजाओ ॥१५॥ इस तरह स्वरा के शाप को सुनकर [क्रोध से] कंपित हुई गायत्री उठी और देवताओं के रोकने पर भी स्वरा को शाप देने लगी ॥१७॥ बोली— ब्रह्मा जी जैसे तुम्हारे पति हैं वैसे ही वे हमारे भी स्वामी हैं, तुमने वृथा शाप दिया इस से तुम भी नदी हो ॥१८॥ तब शिव विष्णु आदि सब देवताओं ने हाहाकार करते हुवे पृथ्वी पर दण्डवत् पड़कर स्वरा को प्रणाम की और कहा कि- ॥१९॥ [सब देवताओं के जड होजाने पर] यह सब चराचर तीनों लोक निश्चय ही विनष्ट होजायंगे तुमने शाप देते हुवे कुछ भी विचार नहीं किया इस लिये अपने शाप को वापिस करो ॥२१॥ [स्वरा ने कहा कि यज्ञ के आरम्भ में तुमने गणेशपूजन नहीं किया था अतः यह विघ्न पड़ा सो मेरे वचन तो झूठे न होंगे, किन्तु सब देवता अपने अंशों से नदी रूप होकर बहने से यह शाप चरितार्थ होजाएगा] स्वरा के ऐसे वचन को सुन कर ब्रह्मा विष्णु और महेश तीनों देव अपने २ अंशों से जडभूत नदी बन कर बहने लगे ॥२५॥ विष्णु कृष्णा नाम की नदी बने, महेश्वर वेणी, और ब्रह्मा जी ककुभिनी गङ्गा के रूप में पृथक् २ बहने लगे ॥२६॥ इसी प्रकार अन्यान्य देवता भी अपने अंशों से जड़ीभूत होकर सह्य पर्वत के शिखरों से नदी रूप में बहने लगे ॥ २७ ॥ गायत्री और स्वरा दोनों पश्चिम वाहिना नदियें बन कर अवतीर्ण हुईं ॥२८॥

वैदिक-स्वरूप

(क) देवा यज्ञमतन्वत ।

(यजुः ३१ ।)

(ख) ब्रह्मा वा ऋत्विजामनिरुक्तः ।

(ताण्ड्य १८ । १ । २३)

(ग) अयज्ञो वा एषः । यो अपत्नीकः ।

(तैत्तिरीय २ । २ । २ । ६)

(घ) अभिद्वितीयां जायामश्नुते ।

(तैत्तिरीय १ । ३ । १० । ३)

(ङ) तस्मात्पुमान् दक्षिणतो योषामुपशेते ।

(जैमिनीय उपनिषद् १ । ५३ । ३)

(च) स्वर एव स्वं तस्मादार्त्विज्यं करिष्यन् वाचि स्वरमिच्छेत तया वाचा स्वरसम्पन्नयार्त्विज्यं कुर्य्यात्। तस्माद्यज्ञे स्वरवन्तं दिदृक्षन्त एव।

(शतपथ १४। ४। १। २७)

(छ) गायत्र्या वै देवाः पाप्मानं शमलमपाघ्नत।

(ऐतरेय २। १७)

(ज) आपो वै प्रजापतिः।

(शतपथ ८। २। ३। १३)

(झ) आपस्सावित्री।

(जैमिनीय उपनिषद् ४। २७। ३)

(ञ) स (विष्णुः) अनया त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत्।

(शतपथ ६। १। १। १०)

(ट) स (महादेवः) आपोऽभवत्।

(शतपथ ११। १। ६। १६)

(ठ) आपो वै सर्वा देवताः।

(कौषीतकी ११। ४)

अर्थात्— (क) देवताओं ने यज्ञ रचा (ख) ऋत्विजों में ब्रह्मा सम्मिलित नहीं होसके। (ग) यह यज्ञ करने का अधिकारी नहीं जो स्त्रीरहित है (घ) वह दूसरी स्त्री को प्राप्त होगया (ङ) जिससे पुरुष [यज्ञादि कार्य्य में] स्त्री को दांई तरफ बिठलाता है (च) 'स्वर' ही सर्वस्व है, इसी लिये यज्ञ में दीक्षित होते समय वाणी में 'स्वर' को चाहे। उसी [स्वरा] स्वरसम्पन्न वाणी से यज्ञानुष्ठान करे। अतएव यज्ञ में वेद का सस्वर पाठ कर सकने वाले विद्वान् को देखते हैं (छ) गायत्री से देवताओं ने शाप को दूर किया। (ज) ब्रह्मा जल होगए। (झ) सावित्री जल हुई। (ञ) वह विष्णु भी वेद विद्या सहित जलों में प्रविष्ट हुवे। (ट) वह महादेव भी जल बन गया। (ठ) सभी देवता आप (जल) हुवे।

वास्तविक-भाव

ऊपर इस आख्यान का वैदिक-और पौराणिक-स्वरूप प्रकट कर दिया गया है, साधारण संस्कृत वेत्ता भी उक्त दोनों स्वरूपों की तुलना करने पर इस की वैदिकता

का परिचय पा सकता है, परन्तु इसका वास्तविक तात्पर्य्य क्या है–यह प्रकट करना भी यहां अनावश्यक न होगा एतदर्थ चन्द पंक्तियें लिखी जाती हैं।

सृष्टि की रचना ही यहां समस्त देवताओं का सम्मिलित–यज्ञ है [जिसका विस्तृत वर्णन यजुर्वेद के ३१ वें अध्याय में अङ्कित है] जिसमें ब्रह्मा, विष्णु और महेश, अर्थात्—रजोगुण, सत्वगुण और तमोगुण–ये तीनों गुण ही स्वसमवेतशक्तियों सहित उक्त सृष्टि–यज्ञ के मुख्य सम्पादक हैं, यद्यपि सृष्टि का सम्बन्ध पूर्वोक्त तीनों गुणों से है तथापि रचना कार्य्य का दारोमदार रजोगुण के अधिष्ठाता श्री ब्रह्मा जी मात्र पर ही अवलम्बित है क्योंकि सर्वत्र ब्रह्मा को रचयिता, विष्णु को पालयिता और रुद्र को संहारकर्ता माना जाता है। इस आख्यान में सृष्टि की रचना का ही निर्देश करना श्री वेदव्यास जी को अभीष्ट था, अतः सत्व और तमः गुणों के अधिष्ठाता श्री विष्णु और महेश का विशेष वर्णन छोड़ कर ब्रह्मा और उनकी दोनों धर्म्मपत्नियों को ही इस अनोखे नाटक के नायक और नायिकायें निश्चित किया। तदनुसार जब रजोगुण कार्य्योन्मुख हुवा तो उसकी प्रधान दो शक्तियें भी यथा योग्य सहयोग में प्रवृत्त हुईं, वेदादि शास्त्रों में इन दोनों शक्तियों को 'परा' और 'अपरा' नाम से स्मरण किया है, यही यहां ब्रह्मा जी की दो धर्म्मपत्नियें हैं। पंच–महाभूत, मनः बुद्धि और अहंकार इस अष्टक को=अपरा प्रकृति के नाम से याद किया जाता है और जीवभूत प्रकृति को=परा कहते हैं सो पुराण के उक्त रूपक में जड़त्व–प्राधान्य–युक्त=अपरा को 'स्वरा' नाम से और चैतन्य–प्राधान्य–युक्त=परा को गायत्री या सावित्री के नाम से पेश किया है। परा और अपरा के पारस्परिक संघर्ष से ही इस जड़ चेतनात्मक विश्वप्रपञ्च की उत्पत्ति हुई है, यही भाव व्यक्त करने के लिये श्रीवेदव्यास जी ने इन दोनों को सपत्नी (=सौतिन–) के रूप में पेश करते हुवे इनके के झगड़े का उल्लेख किया है। 'ब्रह्मब्रह्माभवत्स्वयम्' श्रुति के अनुसार रजोगुण–माया–संबलित–ब्रह्मभूत, श्री ब्रह्मा जी महाराज और उनकी अर्धाङ्गिनी भूत,—परा एवं अपरा नामक अभिन्नछाया द्विविध माया का इस रूपक में जो पति पत्नी सम्बन्ध, तथा परा और अपरा का सौतिन सम्बन्ध प्रकट किया है वह इतना रहस्य पूर्ण है कि जिसका गांभीर्य्य वेही विद्वान् जान सकते हैं कि जिन्हें सांख्य, वेदान्त और न्याय दर्शन के अवगाहन का पर्य्याप्त समय मिल चुका हो। सृष्टि–विधान में उक्त तत्वों का कौन स्थान है—यह रहस्य जानने के लिये उक्त रूपक से बढ़कर दूसरा कोई मुंह बोलता चित्र खिंच ही नहीं सकता!। अस्तु 'ब्रह्म'–रूप ब्रह्मा ने ज्योंही 'परा'– रूप गायत्री के सहयोग से सृष्टि–यज्ञ का सम्पादन आरंभ किया त्योंही 'अपरा–' रूप स्वरा बिगड़ उठी, अर्थात्—पञ्च

महाभूत, मनः, बुद्धि, और अहंकार—इस अष्टक में भी क्षोभ=प्रगति=हर्कत=किं वा मोशन (Motion) पैदा होगई। अष्टधा—प्रकृति—भूत अपरा का क्षोभ इतना बढ़ा कि जिससे रजोगुण के अधिष्ठाता ब्रह्मदेव, सत्वगुण के अधिष्ठाता विष्णुदेव, तमोगुण के अधिष्ठाता रुद्रदेव तथा तत्तत् शक्तियों के अधिष्ठाता अन्यान्य देव अपने २ अंशों से 'आपः' रूप में परिणत होगये, अन्त में 'जीवभूत' परा—प्रकृति में भी तादृश क्षोभ की लहर पैदा हुई और इससे अष्टधा प्रकृति रूपस्वरा या परा भी 'आपः' रूपको प्राप्त होगई, कहने का तात्पर्य्य यह है कि परा और अपरा के पारस्परिक संघर्ष से—रजः, सत्व, तमः तीनों गुणों के अधिष्ठाता स्वसमवेत तत्तच्छक्तियों सहित—'आपः' रूप में परिणत होगए-यही स्वरा के शाप से त्रिदेव के नदी रूप में परिणत होजाने का अभिप्राय है। नदी 'आपः' का उपलक्षण है, वेदादि सभी शास्त्रों में—विधर्म्मियों के मान्य ग्रन्थों तक में भी—सृष्टि के आदि में सर्व प्रथम 'आपः' या जल का बनना ही लिखा है यथा—

आ एव ससर्जादौ

(मनुः १ । ८)

अर्थात्—सृष्टि के आरम्भ में सर्व प्रथम 'आपः' उत्पन्न हुवा।

यही उपर्य्युक्त आख्यान का वास्तविक भाव है, जो वेदव्यास जी ने अपनी कविता चातुरी से अनेक शिक्षाओं से सम्मिलित करके बड़े ही सरल शब्दों में निबद्ध किया है। पुराणों की यही एक सर्वोपरि विशेषता है कि उनमें किसी एक रहस्य का प्रतिपादन करते करते आनुषङ्गिक अनेक शिक्षायें पाठकों को दी जाती हैं, उक्त आख्यान से जहां सृष्टि रचना से सम्बन्ध रखने वाले बहुत से पदार्थों का तात्विक—परिज्ञान अभिव्यक्त होता है, वहां अनेक उपयोगी धर्म्म नियमों का भी बोध होता है। विज्ञ पाठकों के लाभार्थ हम यहां ऐसे कतिपय धर्म्म-नियमों का उल्लेख करना चाहते हैं जो कि इस आख्यान के पढ़ने मात्र से हमें उपलब्ध होते हैं, तद्यथा—

(१) पत्नी पुरुष का अर्धाङ्ग है, यज्ञादि कर्म्मों में उसका सहयोग परमावश्यक है।

(२) एक से अधिक स्त्री रखने वाला पुरुष चाहे साक्षात् ब्रह्मा हो क्यों न हो—आखीर गृहकलह से क्लेश ही पाएगा।

(३) स्वरा=स्वर-सम्पन्न-वेद-वाणी ही ब्रह्मा=ऋत्विक् की सर्वश्रेष्ठा सहधर्म्मिणी है उसी के सान्निध्य से विधिवत् यज्ञ सम्पन्न होसकता है।

(४) स्वरा=स्वर-सम्पन्न-वेद-वाणी की उपेक्षा करने से—ब्रह्मादि देवताओं को भी जब शाप लगता है तब सर्वसाधारण को तो बड़ी ही सावधानी के साथ

स्वर ज्ञान पूर्वक वेदों का स्वाध्याय करना चाहिये, अन्यथा 'स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति' के अनुसार अत्यय व्यत्यय किया हुवा वेद-पाठ अवश्य ही प्रत्यवाय का कारण बनता है।

इत्यादि अनेक धर्म्म शिक्षाएं उपर्युक्त सन्दर्भ से प्रतिध्वनित होती हैं जो जो विस्तार के भय से नहीं लिखी जा सकतीं। जो महाशय ऐसे विज्ञानपूर्ण एवं शिक्षाओं के भण्डार भूत आख्यान में त्रिदेव की असमर्थता, तथा ईश्वरत्व-धर्म्म की प्रतिकूलता का आभास देख पाते हैं निःसन्देह वे अपनी आदत से ही मज़बूर समझे जाने चाहियें।

बेटी, मा, और बहिन से विवाह (?)

शास्त्रार्थों के समय दयानन्दी समाज की ओर से एक यह भी आक्षेप किया जाया करता है कि "भविष्य—पुराण' में— ब्रह्मा का अपनी पुत्री से, विष्णु का अपनी माता से और महादेव का अपनी बहिन से विवाह करवाना लिखा है जैसे—

स्वकीयां च सुतां ब्रह्मा, विष्णुदेवः स्वमातरम्।
भगिनीं भगवाञ्छम्भु र्गृहीत्वा श्रेष्ठतामगात्॥

अर्थात्—ब्रह्मा अपनी लड़की को विष्णु वदे अपनी माता को और भगवान् शम्भु अपनी बहिन को ग्रहण करके श्रेष्ठता को प्राप्त हुवे।

त्रिदेव का यह चरित्र अत्यन्त धर्म्मविरुद्ध एवं निन्दनीय है"— हम उक्त आक्षेप की निःस्सारता दिखाने के लिये क्रमागत शैली के अनुसार सर्व प्रथम उक्त आख्यान का वैदिक स्वरूप प्रकट करते हैं।

वैदिक-स्वरूप

(क) पिता दुहितुर्गर्भमाधात्।

(अथर्व ६। १०। १२)

(ख) मातुर्दिधिषुमब्रवं स्वसुर्जारः शृणोतु नः।
भातेन्द्रस्य सखामम।

(ऋग्वेद् ६। ५५। ५)

(ग) प्रजापतिः स्वां दुहितरमभिदध्यौ।

(शतपथ १। ७। ४। १)

अर्थात्— (क) पिता ने बेटी में गर्भ धारण किया (ख) मैं माता के पति [=मां के खसम] को कहता हूँ वह बहिन का जार हमारी इस प्रार्थना को सुनो, जो कि इन्द्र का भ्राता (= अर्थात्—उपेन्द्र=विष्णु) है, और मेरा मित्र है। (ग) ब्रह्मा ने अपनी बेटी को चाहा।

पौराणिक-स्वरूप

चतुर्धा प्रकृतिर्देवी गुणभिन्ना गुणैकिका।
एका सा प्रकृतिर्माता गुणसाम्यात्सनातनी ॥२३॥
सत्वभूता च भगिनी रजोभूता च गेहिनी।
तमोभूता च सा कन्या तस्यै देव्यै नमोनमः ॥२४॥
बहवः पुरुषा ये वै निर्गुणाश्चैकरूपिणः ॥
चैतन्याऽज्ञानवन्तश्च लोके प्रकृतिसम्भवाः ॥२५॥
अलोके पापजाः सर्वे देवब्रह्मसमुद्भवाः।
या तु ज्ञानमयी नारी वृणेद्यं पुरुषं शुभम् ॥
कोऽपि पुत्रः पिता भ्राता सच तस्याः पतिर्भवेत् ॥२६॥
स्वकीयां च सुतां ब्रह्मा विष्णुदेवः स्वमातरम् ॥
भगिनींभगवान्छम्भुर्गृहीत्वा श्रेष्ठतामगात् ॥२७॥

(भविष्य—पुराण प्रतिसर्ग खं० ४ अ० १८)

अर्थात्—प्रकृति देवी चार प्रकार की है, पहिले उसमें दो भेद हैं, प्रथम वह प्रकृति है कि जिसमें रजः-सत्व-तमः इन तीनों गुणों के पृथक् २ भेद दीख पड़ते हों। इसे 'गुण-भिन्ना प्रकृति' कहते हैं ॥ प्रकृति का दूसरा भेद वह है कि जिसमें उक्त तीनों गुण समान रूप से रहते हों—उसे 'गुणैकिका प्रकृति' कहते हैं। सो रजः सत्व तमः इन तीनों गुणों की साम्यावस्था से सम्पन्न, सनातनी प्रकृति का नाम ही 'माता' है ॥२३॥ सत्व प्रधान प्रकृति को 'बहिन' कहते हैं। रजोगुणप्रधान प्रकृति का नाम 'भार्य्या' है। और तमोगुण प्रधान प्रकृति को 'कन्या' माना जाता है—ऐसी चतुर्विध-रूपसंयुक्त प्रकृति-देवी को नमस्कार हो ॥२४॥ पूर्वोक्त चतुर्विध प्रकृतिसे चार-प्रकार के ही जीव उत्पन्न हुवे, जैसे-बहुत से जीव तो निर्गुण एवं एक-रूपी (=निर्विकार) हैं [यह दशा उद्भिज्जों में लक्षित होती है] जो साम्यावस्थापन्न 'गुणैकिका' प्रकृति

से प्रादुर्भूत हुवे हैं ॥ दूसरे जीव- चैतन्य हैं [यथा- देवता आदि] ये सत्वप्रधाना 'गुणभिन्ना' प्रकृति से उत्पन्न हुवे हैं ॥ तीसरे जीव अज्ञान वाले हैं [यथा-मनुष्य] जो रजः प्रधाना 'गुणभिन्ना' प्रकृति से बने हैं ॥ २५ ॥ चौथे जीव पापज कहे जाते हैं [जैसे पशु पक्षी कृमि कीट आदि] जो तमःप्रधाना 'गुणभिन्ना' प्रकृति से रचे गये हैं इस तरह ये सब चार प्रकार के जीव ब्रह्मदेव ने— 'अलोक'=भुवनत्रय की रचना व्यवस्था से पूर्व काल में बनाए ॥ जो ज्ञानमयी नारी=प्रकृति देवी है वह [ब्रह्मा विष्णु महेश तीनों में से] जिस पुरुष को वरणा चाहे, वह कोई भी—बेटा, बाप और भाई क्यों न हो वही उसका पति होजाता है ॥२६॥ [तदनुसार] ब्रह्मा जी ने अपनी सुता [=तमःप्रधाना 'गुणभिन्ना' प्रकृति] को=विष्णु देव ने अपनी माता [=साम्यावस्थापन्न 'गुणैकिका' प्रकृति] को और भगवान् शंभु ने अपनी—भगिनी [=सत्वगुण प्रधाना 'गुणभिन्ना' प्रकृति] को— भार्य्या= [रजोगुणप्राधान्येन कार्य्यकारणपुरस्सरप्रपञ्चरचनाक्षमतायुक्त] बनाकर श्रेष्ठ पद को प्राप्त किया ॥२७॥

वास्तविक--भाव ।

उपर्युक्त आख्यान के वैदिक और पौराणिक दोनों स्वरूपों की शाब्दिक तुलना करने पर प्रत्येक साक्षर इसी परिणाम पर पहुंचेगा कि वेद में— जहां उपक्रम और उपसंहार के विना सम्राट् की तरह निधड़क होकर ब्रह्मा का अपनी पुत्री को न सिर्फ ग्रहण करना ही बल्कि उसमें बेरोक टोक गर्भाधान कर डालना,— तथा परमात्मा का— 'मातुर्दिधिषु' के अनुसार न केवल अपनी माता को प्राप्त होनामात्र ही बल्कि उसका 'दिधिषु'=धगड़ा=खसम बन जाना—एवं 'स्वसुर्जार' के अनुसार अपनी बहिन का 'जार'=यार=आशिक बन जाना लिखा है, वहां पुराण में—उक्त सब शब्दों की व्याख्या करके वेदों पर होने वाले आक्षेपों का परिमार्जन करते हुवे वह निष्कलङ्क रूपक दर्शाया है कि जिसका मनन करने से श्रीवेदव्यास जी के नाम की अन्वर्थता अपने आप मुंह बोल-उठती है। यदि दयानन्दी समाज उमर भर भी मगज पच्ची करता तब भी उसकी कच्ची एवं बच्ची बुद्धि इस सच्ची वैज्ञानिकता की छाया तक न पहुंच पाती। अस्तु इस पर हमें विशेष टीका टिप्पणी करने की चन्द जरूरत नहीं क्योंकि पौराणिक-स्वरूप के मूल शब्दों में ही उक्त रूपक का बहुत कुछ रहस्य स्पष्ट कर दिया गया है, जिसका सार यह है कि पुरुष और प्रकृति ये दो तत्व ही चराचर के उत्पादक हैं। मायारहित पुरुष को ब्रह्म कहते हैं और रजः सत्व तमः तीनों गुणों की साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं। जब वह प्रकृति अपने इस स्वाभा-

विक स्वरूप में अवस्थित होती है तब वेदादि शास्त्रों में उसका पारिभाषिक नाम 'माता' कहा जाता है। और इस साम्यावस्थापन्न प्रकृति से संवलित पुरुष को 'विष्णु' कहा जाता है, इसी तरह सत्वप्रधाना की 'भगिनी' संज्ञा है, और तत्संवलित पुरुष को 'महादेव' कहते हैं, तथा तमःप्रधाना को 'कन्या' कहा जाता है, और तत्संवलित पुरुष का नाम ब्रह्मा है। तात्पर्य्य यह हुवा कि जैसे लोक में एक ही मनुष्य तत्तत्सम्बन्ध भेद से अपेक्षाकृत पिता, भ्राता, पुत्र आदि नामों को धारण करता है इसी प्रकार एक ही परमात्मा-विशुद्धावस्था में 'ब्रह्म' और सत्वादि गुणों के योगायोग से विष्णु ब्रह्मा शिव आदि नामों द्वारा पुकारा जाता है। इसी प्रकार 'अजामेकां' श्रुति के के अनुसार एकत्वधर्म्मावच्छिन्न माया भी गुणत्रय के तारतम्य से चतुर्विध वर्णन की जाती है, सो गुणैकिका, सत्व प्रधाना, रजः प्रधाना, और तमः प्रधाना ये उसके चार नाम हैं।

समाजी चालाकी से इस आख्यान के उपक्रम और उपसंहारात्मक श्लोकों को छोड़ कर सिर्फ 'स्वकीयां च सुतां ब्रह्मा' आदि श्लोक को आगे रख कर जान बूझ कर जनता की आंखों में धूल झोंकना चाहा करते हैं। परन्तु जब उनके सामने 'पिता दुहितुर्गर्भमाधात्' आदि पूर्वोक्त वेद प्रमाण रख कर इनका भाषार्थ जनता को सुना देने की बात कह दी जाया करती है तो वे सब 'आँय बाँय' भूल कर इस आक्षेप को ही त्याग बैठा करते, क्यों कि वेदों के ऐसे अटपटे- किन्तु रहस्यपूर्ण मन्त्रों को समझने की उन में रत्तीभर भी क्षमता नहीं होती। इसके अतिरिक्त यदि आक्षेप कर्ताओं से यह तो पूछ लिया जावे— कि "महाशय जी! बतलाइये, ब्रह्माजी ने अपनी जिस पुत्री से विवाह किया था, वह पुत्री ब्रह्मा को किस स्त्री के गर्भ से पैदा हुई थी? ज़रा उसका कुछ नाम धाम पता भी तो बतलाइये? तथा विष्णु के बाप का क्या नाम था? जिसकी धर्म्मपत्नी बेटे विष्णु ने छीनली बताते हो? एवं महादेव की उस बहिन की भी तनिक वल्दियत और सकूनत फ़रमा दीजिये? ताकि बक्त ज़रूरत इं साहिबान् से मुलाक़ात करके दो दो बातें की जा सकें।— बस फिर तो बेचारों को लेने के देने पड़ जाया करते हैं, इस लिये इस आख्यान का न किसी कर्म्म-फल-जन्य-स्थूल-शरीरधारी व्यक्ति से सम्बन्ध है और नाहीं इस में किसी देवता का वस्तुतः अपनी बेटी, मा, या- बहिन के साथ शादी=खानाए-आबादी- करने का ज़िक्र है। किन्तु यह प्रसङ्ग तो पुरुष और प्रकृति के गूढतर रहस्य का निदर्शक है,। प्रकृति का वेदादि सभी शास्त्रों में- कहीं माता रूप से, कहीं बहिन रूप से और कहीं बेटी रूप से प्रतिपादन किया है जैसा कि आर्य्यसमाज के वेदज्ञ- श्रीपाद दामोदर

सातवलेकर ने भी अपने ग्रन्थ 'वेदामृत' (पृष्ठ ४०७) में लिखा है "प्रकृति बहन है और जीवात्मा उसका भाई है,··· अन्य स्थानों पर पति पत्नी का सम्बन्ध भी वर्णन किया है।···अन्य स्थान में माता पुत्र का सम्बन्ध भी लिखा है। इत्यादि (टिप्पणी)" अतः इस वैज्ञानिक रूपक में धर्म्मविरुद्धता का स्वप्न देखना व्यर्थ है।

त्रिदेव का वृक्षों में आवास

कई महाशय 'पद्म-पुराण' (षष्ठ उत्तर खण्ड १५८। २-३) के आधार पर यह भी आक्षेप किया करते हैं कि 'उक्त पुराण में ब्रह्मादि देवों का दानवों से डर कर वृक्षों में प्रवेश कर जाना लिखा है—यह कार्य्य निःसन्देह त्रिदेव की असमर्थता का द्योतक होने से ईश्वर के सर्व-शक्तिमत्व-रूप धर्म्म के सर्वथा विरुद्ध है"—हम क्रमागत शैली के अनुसार पहिले उक्त आख्यान का वैदिक और पौराणिक स्वरूप प्रकट करेंगे तत्पश्चात् इसका वास्तविक भाव बतलाएंगे।

वैदिक--स्वरूप

(क) अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता।

(यजुः १२। ७६)

(ख) अश्वत्थो देवसदनः।

(अथर्व ६। ६५। १)

(ग) प्रजापतिर्देवेभ्यो निलायत···सोऽश्वत्थे संवत्सरमतिष्ठत्।

(तैत्तिरीय ३। ८। १२। २)

(घ) मांसेभ्य एवास्य (प्रजापतेः) पलाशः समभवत्।

(शतपथ १३। ४। ४। १०)

(ङ) ब्रह्म वै पलाशः।

(शतपथ ५। २। ४। १८)

अर्थात्—(क) हे देवताओ! पीपल वृक्ष में आप का निवास है, आप सब ने उसके पत्तों में स्थान बना रक्खा है। (ख) अश्वत्थ=पीपल में सब देवताओं का आवास है। (ग) प्रजापति सब देवताओं से छुपगया, वह संवत्सर पर्य्यन्त पीपल में ठहरा। (घ) प्रजापति के मांस से ही पलाश=ढाक की उत्पत्ति हुई है। (ङ) ढाक साक्षात् ब्रह्म है।

पौराणिक स्वरूप

(क) पुरा कोलाहले युद्धे दानवैर्निर्जिताः सुराः ।
वृक्षेषु विविशुस्तत्र सूक्ष्माः प्राणपरीप्सया ॥२॥
तत्र विल्वे स्थितः शम्भुरश्वत्थे हरिरव्ययः ।
शिरीषेभूत्सहस्राक्षो निम्बे देवः प्रभाकरः ॥३॥

(पद्म, षष्ठ उत्तर० १५८)

(ख) अश्वत्थरूपी भगवान् विष्णुरेव न संशयः ।
रुद्ररूपी वटस्तद्वत् पलाशो ब्रह्मरूपधृक् ॥२२॥

(पद्म ष० ड० ११५)

अर्थात्— (क) पूर्व समय में कोलाहल युद्ध के वक्त दानवों ने समस्त देवताओं को जीत लिया, तब वे देवता प्राण बचाने की इच्छा से सूक्ष्म रूप से वृक्षों में छुप गए ॥२॥ वहां महादेव बेल में, अविनाशी- विष्णु भगवान् पीपल में सहस्राक्ष इन्द्र सिरस में और सूर्य्यनारायण नींब के पेड़ में स्थित हुवे ॥३॥ (ख) पीपल का पेड़ साक्षात् विष्णु है इस में कुछ भी सन्देह नहीं। बट वृक्ष रुद्र है और ढाक ब्रह्मा का रूप है ॥२२॥

वास्तविक-भाव

साधारणतया सब वनस्पति और खास कर बड़, पीपल, नींब, बेल, ढाक, और सिरस आदि दिव्य वृक्ष— तथा इन सब में भी खास उस खास- पीपल का पेड़ प्राणिमात्र के स्वास्थ्य को बढ़ाने के लिये कितना उपयोगी सिद्ध हुवा है— यह बात इसी ग्रन्थ के विगत अध्याय में हम विस्तारपूर्वक लिख चुके हैं अतः यहां पुनः पिष्टपेषण करने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु यह बता देना अनुचित न होगा कि उपरिलिखित वैदिक और पौराणिक दोनों स्वरूपों में जो समान रूप से ही समस्त देवताओं का वृक्षों में- खासकर पीपल के पेड़ में निवास बताया है वह कम रहस्य से परिपूर्ण नहीं है !।

साक्षर समुदाय भली भांति जानता है कि हम सब प्राणियों के शरीर विराट् भगवान् के अङ्गभूत, ग्रह नक्षत्रादि तत्तत् पदार्थों के अंशों द्वारा ही निर्मित हुवे हैं। यजुर्वेद के इकत्तीसवें अध्याय क अनुसार जो पदार्थ विराट् के जिस अङ्ग से बना है

हमारे उस अङ्ग का दारोमदार उसी पदार्थ पर अवलम्बित है यथा—सूर्य्य=ज्योतिः विराट् का नेत्र है तो सब प्राणियों के नेत्र भी इसी ज्योतिः से ही देखने लायक बनते हैं, अन्यथा अन्धकार में चर्म्ममात्र रह जाते हैं, इसी तरह चन्द्रमा, वायु, अग्नि, भूमि, आदि पदार्थ विराट् के मनः श्रोत्र मुख और पांव से उत्पन्न हुवे हैं अतएव प्राणियों के ये २ अङ्ग भी उक्त पदार्थों के आश्रित हैं, । पीपल में सब देवताओं का निवास है अर्थात्—वह जीवों की सर्वांगीण स्वस्थता का हेतु है—यही गूढ भाव प्रकट करने के लिये यहां यह रूपक बांधा है। सो बीमारी के कीटाणुरूप असुरों से जान बचाकर देवतारूप स्वास्थ्यवर्द्धक-समस्त, दिव्य गुण उपर्य्युक्त वृक्षों में समाए हुवे हैं। यही इस आख्यान का आशय है, । इस लिये उक्त लेख से त्रिदेव पर कुछ भी आक्षेप करना सरासर मूर्खता है।

इन्द्र और अहल्या

शंकावादी कहते हैं कि "देवराज इन्द्र ने गोत्तम की धर्म्मपत्नी अहल्या के साथ छुपकर सम्भोग किया, इस दुराचार के देखने पर गोत्तम ने इन्द्र को 'सहस्र भग' हो जाने का और अहल्या को पाषाणभूत होजाने का शाप दिया, यह कथा अत्यन्त अश्लील एवं देवराज के दुराचार से परिपूर्ण है—" इत्यादि—हम सर्वप्रथम इसका वैदिक—स्वरूप प्रकट करते हैं।

वैदिक-स्वरूप

(क) इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।

(ऋग्वेद ६। ४७। १८)

(ख) अहल्यायां ह, मैत्रेय्याः (इन्द्रः) जार आस।

(षड्विंश १। १)

(ग) अहल्यायै जारेति।

(शतपथ ३। ३। ४। १८)

(घ) सहस्राक्षमतिपश्यं पुरस्तात्।

(अथर्व ११। २। १७)

(ङ) अहल्यायै जारेति।

(षड्विंश १। १)

(च) अहल्यायै जारेति ।

(लाट्यायन श्रौत सूत्र १ । ३ । १)

(छ) (इन्द्र !) अहल्यायै जारेति ।

(तैत्तिरीयारण्यक १ । १२ । ४)

अर्थात्— (क) इन्द्र माया से अनेक रूप बनाकर चलता है । (ख) इन्द्र मैत्रेयी अहल्या का जार था । (ग) अहल्या का जार । (घ) [गोत्तम के शापानुग्रह करने पर] पूर्व दिशा का स्वामी इन्द्र सहस्राक्ष होजाने के कारण अतिपश्य=क्रान्तदर्शी हुवा (ङ, च, छ,) इन्द्र अहल्या का जार ।

पौराणिक-स्वरूप

(क) सहस्रभगसम्प्राप्तिर्दुःखं चैव शचीपतेः ।
स्वर्गाद् भ्रंशस्तथावासः कमले मानसे सरे ॥

(देवीभागवत १ । ५ । ४६)

(ख) एकदा गोत्तमः शीघ्रं जगाम शंकरालयम् ।
शक्रो गोत्तमरूपेण तां संभोगं चकार सः ॥
नग्नामहल्यां रहसि पीनश्रेष्ठपयोधराम् ।
मुनिः शशाप शक्रं वै भगाङ्कस्त्वं भवेति च ॥
कोपाच्छशापपत्नीं च सुदतीं भयविह्वलाम् ।
त्वं वै पाषाणरूपा च महारण्ये भवेति च ॥

(ब्रह्मवैवर्त्त कृ० ज० खण्ड ६१ । ४४—४६)

अर्थात्— (क) शचीपति इन्द्र को सहस्र भग प्राप्ति का दुःख-प्रद शाप लगा । और [ब्रह्महत्या के कारण] स्वर्ग से पतन हुवा तथा मानसरोवर में—कमल के नाल में छुपने का कष्ट उठाना पड़ा । (ख) एक बार महर्षि गोत्तम शीघ्रही कैलास को गए, तब गोत्तम का रूप बनाकर इन्द्र ने अहल्या से सम्भोग किया [ऋषि ने लौटने पर] एकान्त में सुन्दर एवं पुष्ट स्तनों वाली अहल्या को नंगी देखकर इन्द्र को शाप दिया कि 'तेरे अङ्ग में सहस्र भग हों' । पश्चात् क्रुद्ध होकर-भयभीत हुई अपनी सुन्दरी पत्नी को भी शाप दिया कि 'तू इस महारण्य में पत्थर बनकर पड़ी रहो' ॥

वास्तविक-भाव

श्री कुमारिल भट्ट ने अपने 'तन्त्र वार्तिक' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में उक्त ऐतिहासिक वेद-गाथा का सूर्य्य-रात्रि-परक, रूपकप्रायः अर्थ किया है, तदनुसार-चन्द्रमा ही (उत्तमा गावो रश्मयो यस्य सः) गोत्तम है, रात्रि ही उसकी पत्नी (अहर्लीयते यस्यां सा) अहल्या है। सूर्य्य ही (य एष (सूर्य्य) स्तपति, एष उ एव इन्द्रः—शतपथ ४।५। ६।४ के अनुसार) परमैश्वर्य्य सम्पन्न होने के कारण इन्द्र है। वह सूर्य्य रात को जीर्ण करने वाला है अतएव वही 'जार' कहा जाता है, उक्त रूपक के समर्थन में नीचे लिखे प्रमाण द्रष्टव्य हैं—

(क) सुषुम्णः सूर्य्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्व इत्यपि निगमो भवति सोऽपि गौरुच्यते। ··· सर्वेऽपि रश्मयो गाव उच्यन्ते।

(निरुक्त २।२।२)

(ख) आदित्योऽत्र जार उच्यते रात्रेर्जरयिता।

(निरुक्त ३।३।४)

अर्थात्— (क) सूर्य्य की सुषुम्ण नामक रश्मि चन्द्रमा को रूप सम्पन्न बनाती है— यह वैदिक सिद्धान्त है, सो उस रश्मि को 'गौ' कहते हैं, अथवा सभी रश्मियों का नाम 'गौ' है। (ख) वेद में आदित्य (सूर्य्य) को ही 'जार' कहते हैं क्योंकि वह रात को जीर्ण=परिसमाप्त=खत्म करने वाला है।

आर्य्य-समाज प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी उक्त रूपक का समर्थन किया है यथा—

इन्द्रः सूर्य्यो य एष तपति, भूमिस्थान्पदार्थांश्च प्रकाशयति। अस्येन्द्रेतिनाम, परमैश्वर्य्यप्राप्तेर्हेतुत्वात्। स अहल्यायाः जारोऽस्ति। सा सोमस्य स्त्री तस्य गोत्तमेतिनाम। गच्छतीतिगौरतिशयेन गौरिति गोत्तमश्चन्द्रः। तयोः स्त्रीपुरुषवत् सम्बन्धोस्ति। ····· अत्र स सूर्य्य इन्द्रो रात्रेरहल्यायाः गोत्तमस्य चन्द्रस्य स्त्रिया जार उच्यते। कुतः। अयं रात्रेर्जरयिता। जॄष् वयोहानावितिधात्वर्थोऽभिप्रेतोऽस्ति। रात्रेरायुषो विनाशक इन्द्रः सूर्य्य एवेतिमन्तव्यम्॥

(ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृष्ठ ३००)

अर्थात्— [दयानन्दीय भाषार्थ] सूर्य्य का नाम इन्द्र, रात्रि का अहल्या तथा चन्द्रमा का गोत्तम है। यहां रात्रि और चन्द्रमा का स्त्री पुरुष के समान- रूपकालङ्कार है।..... इस रात्रि का जार आदित्य है, अर्थात्— जिसके उदय होने से रात्रि अन्तर्धान होजाती है और जार अर्थात् यह सूर्य्य ही रात्रि के वर्तमान रूप शृङ्गार को बिगाड़ने वाला है। ..... जैसे स्त्री पुरुष मिल कर रहते हैं वैसे ही चन्द्रमा और रात्रि भी साथ २ रहते हैं। चन्द्रमा का नाम गोत्तम इस लिये है कि वह अत्यन्त वेग से चलता है और रात्रि को अहल्या इस लिये कहते हैं कि उस में दिन लय होजाता है तथा सूर्य्य रात्रि को निवृत्त कर देता है, इस लिये वह उसका जार कहाता है (इत्यादि)

(ऋग्वेदादि० भू० पृष्ठ ३०१)

उपर्युक्त प्रमाणों और सम्मतियों के अनुसार इस वैदिक आख्यायिका का सूर्य्य रात्रि परक आधि-भौतिक अर्थ लगाने पर कुछ भी आक्षेप अवशिष्ट नहीं रहता क्यों कि वेद के मूल शब्दों में भी इस रूपक का कथानक (Plot) प्रायः वैसा ही है जैसा कि पुराणों में निर्दिष्ट हुवा है, हर दो जगह इन्द्र का माया से रूप बदलना, और अहल्या के साथ जार कर्म्म करना स्पष्ट है।

ऐतिहासिक-समन्वय

हम शैली वर्णनाध्याय में पुराण शैली की विशेषता का प्रतिपादन करते हुवे १८२ वें पृष्ठ पर यह लिख आए हैं कि "पुराणों में बहुत से ऐसे प्रसङ्ग विद्यमान हैं जो कि रूपक-प्रायः होते हुवे भी मानव इतिहास के साथ आंशिक सम्बन्ध रखते हैं। जब तक ऐसे विमिश्रित आख्यानों का तात्विक विश्लेषण न कर लिया जाए तब तक विशुद्ध मानव इतिहास की तथ्य सीमा का पता नहीं लग सकता" —तदनुसार यह आख्यान जहां आधिभौतिक वाद में सूर्य्य और रात्रि का पारस्परिक संबन्ध प्रकट करता है वहां इसका ऐतिहासिक व्यक्तियों से भी पूरा २ सम्बन्ध है यथा—प्रसिद्ध महर्षि गोत्तम और उनकी धर्म्मपत्नी अहल्या, मानव—दम्पती थे, जिनसे राजा जनक के पुरोहित मुनि शतानन्द जी उत्पन्न हुवे थे। भगवान् रामचन्द्र जी ने शिलाभूत अहल्या का उद्धार किया था इत्यादि सब प्रसङ्ग बाल्मीकीय रामायण (बालकाण्ड सर्ग ४८) में विस्तार पूर्वक आता है। उक्त आख्यान को रूपकमात्र मान लेने से उपर्य्युक्त ऐतिहासिक तथ्यों पर पानी फिर जाता है, अतएव ऐतिहासिक पक्ष वाले सदा से इसको मानव इतिहास से सम्बद्ध मानते आए हैं। कहना न होगा कि जिस प्रकार वर्तमान पाश्चात्य गवेषक एवं उनका अनुसरण करने वाले भारतीय इतिहासकार वेदों को आर्य्य-जाति का पुरातन इतिवृत्त मानते हैं, इसी प्रकार अनादि काल

ाहासिक पक्ष वाले महर्षिजन भी वेदों की तत्तत् आख्यायिकाओं को वैयक्तिक स की निदर्शक समझते रहे हैं। इसी लिये वेदों के विशेष मर्मज्ञ-यास्काचार्य्य ने परम प्रसिद्ध 'निरुक्त' ग्रन्थ में स्थान स्थान पर—'इति ऐतिहासिकाः' 'अत्रेतिचक्षते' इत्यादि स्पष्ट लिख कर ऐतिहासिक—पक्ष को भी उचित सम्मान । अस्तु, उपर्य्युक्त आख्यायिका का वैयक्तिक इतिहास से सम्बन्ध है-यह एक द बात है।

कदाचित् कोई महाशय ऐसी आशङ्का करें कि रूपक-प्रायः इस आख्यायिका ...नव-इतिहास के साथ सम्बद्ध करने वाले ऐतिहासिकों के पास वे कौन प्रमाण-तथा क्या युक्तियें हैं कि जिनके आधार पर इस प्रसङ्ग का तत्तत् व्यक्तियों से सम्बन्ध माना जा सके ?— तो इसके उत्तर में यही कहना पर्य्याप्त होगा कि इस आख्यान के मूल शब्द ही इसके ऐतिहासिक होने की स्पष्ट सूचना देते हैं,। जैसे कि पूर्वोक्त वैदिक-स्वरूप में दिये गये [ख] भाग निर्दिष्ट— 'अहल्यायै ह मैत्रेय्याः (इन्द्रः) जार आस' (षड्विंश १। १) आदि प्रमाण में अहल्या का विशेषण 'मैत्रेयी' दिया है। व्याकरण के 'स्त्रीभ्योढक्' (४। १। १२०) सूत्र के अनुसार 'मित्रा' नामक स्त्री की अपत्यभूत कन्या को ही 'मैत्रेयी' कहा जा सकता है— कदाचित् वेद में उपर्य्युक्त आख्यान को रूपकमात्र बतलाना अभीष्ट होता तो 'मैत्रेयी' विशेषण द्वारा अहल्या को 'अमुक की अपत्य' कहने की कुछ भी आवश्यकता न थी,- इस लिये 'मैत्रेयी' विशेषण ही इस तथ्य का पर्य्याप्त निदर्शक है कि 'उक्त कथानक का वैयक्तिक इतिहास से भी सम्बन्ध है'। सम्भवतः अहल्या महर्षि याज्ञवल्क्य की अन्यतम धर्म्मपत्नी मैत्रेयी की ही बहिन लगती होगी समान नाम और समकालीनता इस अनुमान के पोषक हैं।

इसके अतिरिक्त [घ] भाग निर्दिष्ट— 'सहस्राक्षमतिपश्यं पुरस्तात्' (अथर्व ११। २। १७) आदि प्रमाण में इन्द्र का 'सहस्राक्ष' होना सुस्पष्ट है, अन्यान्य सभी आर्य्यग्रन्थों में भी सहस्राक्ष शब्द, इन्द्र का अन्यतम पर्य्याय माना जाता है, परन्तु वह देवराज 'सहस्राक्ष' [=हजार नेत्रों वाला] कब ? कैसे ? और क्यों ? हुवा— इस स्वाभाविक जिज्ञासा को पूर्ति के लिये रूपकवादियों के पास क्या उत्तर विद्यमान है— यह भी तो एक कठिन समस्या है,। इस लिये मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने ज्योंही यौगिक 'सहस्राक्ष' शब्द का कार्य्य-कारण-पुरस्सर मनन आरम्भ किया त्योंही उन्हें उसमें इतिहास की झलक दीख पड़ी— जिसका निरूपण वेदव्यास जी ने पुराण ग्रन्थन के समय उपर्य्युक्त रीति से किया। कहने का तात्पर्य्य यह हुवा कि अहल्या के प्रसङ्ग से इन्द्र को गोत्तम जी ने 'सहस्रभग' होजाने का शाप दिया, परन्तु पीछे

मिन्नत-खुशामद करने के बाद शापानुग्रह करते हुवे- सहस्र-भगों के बजाए 'स नेत्र' होजाने का आशीर्वाद दिया.— पुराणों में इन्द्र के 'सहस्राक्ष' होने के सम में जो यह विवेचना की है वह यौगिक 'सहस्राक्ष' शब्द की समाधिगम्य कार्य्य-का कल्पना ही समझनी चाहिये। इस लिये वेदोक्त 'सहस्राक्ष' शब्द भी इस आख्यान ऐतिहासिक घटना का प्रबल निदर्शक है।

इस तरह 'वैदिक—स्वरूप' के मूल शब्दों से ही जब इस आख्यान की ऐ सिकता सिद्ध है, फिर किसी भी वेदाभिमानी को 'गजनिमीलिका' न्याय से 'पौ णिक-स्वरूप' पर आक्षेप करने का क्या अधिकार है ?

यदि वैदिक और पौराणिक, दोनों स्वरूपों पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार किय जाए तो एक हद तक मानव समाज में वैदिक—स्वरूप की बदौलत ही दुराचार क अभिवृद्धि की आशङ्का हो सकती है, क्योंकि वहां इन्द्र को स्पष्ट शब्दों में अहल्या क जार कहते हुवे भी उसके लिये 'हविः' प्रदान करने का उल्लेख किया है,। कोई भी बालिश इसका यह अर्थ लगा सकता है कि "जब वेद में एक व्यक्ति को 'जार' मानते और कहते हुवे भी विधिवत् पूजा जाता है तब इस प्रकार का दुराचार करने पर मैं ही अपूज्य क्यों हूँगा"—परन्तु पौराणिक—स्वरूप को साद्यन्त पढ़ कर या सुन कर एक मूर्ख से मूर्ख भी ऐसे दुराचार में प्रवृत्त होने का साहस न कर सकेगा, क्योंकि इसके पढ़ने से तो पाठकवर्ग के हृदय पर यही प्रभाव पड़ेगा कि जब देवराज इन्द्र को भी इस तरह की चेष्टा करने पर दण्डभागी होना पड़ा तब मैं तो किस खेत की मूली हूँ ? अतः इस अकार्य्य से भरसक बचना चाहिये।

कहने का तात्पर्य्य यह हुवा कि जहां वेद इन्द्र को 'जार' बताते हुवे भी दोषी को पहलू में छिपाए रखने की सी नीति को वर्तता हुवा दीख पड़ता है वहां पुराण मानव-मर्य्यादा की रक्षा के लिये दोषी व्यक्ति को-पदाधिकार की लिहाज़ छोड़कर उचित दण्ड दिलाने का हामी जान पड़ता है। इस लिये इस आख्यान से पुराणों पर जितना दोषारोपण किया जा सकता है उससे कहीं अधिक वेदों पर भी आपड़ेगा! वैदिकता का स्वांग भरने वाले समाजी भाइयों को खूब सोच समझ ऐसे आक्षेप करने चाहियें।

कदाचित् जिज्ञासा भाव से कोई सज्जन यह पूछना चाहे कि-निस्सन्देह दयानन्दी-समाज को केवल पुराणों पर कुछ भी आक्षेप करने का अधिकार नहीं है क्योंकि वेदों और पुराणों दोनों में ही यह कथा समान रूप से वर्णित है। तथापि ऐतिहासिक दृष्टि से देवराज इन्द्र का यह अकार्य्य निन्दनीय अवश्य है,—इसका क्या उत्तर है ? हम अपने जिज्ञासु महोदय को बतलाऐंगे कि सुनिये !

प्रथम तो इन्द्र, देवयोनि का महापुरुष है, वेदादि शास्त्रों में देवयोनि को 'भोग-योनि' माना है, जैसा कि हम 'वेद-पुराण-समन्वयाध्याय' के देवतावाद प्रघट्ट में सप्रमाण एवं सयौक्तिक सिद्ध कर आए हैं। तदनुसार धर्म्म-शास्त्र सम्बन्धी 'परस्त्री-गमन' रूप निषेध मनुष्य जाति तक ही सीमित रहेगा, भोगयोनि होने की हैसियत से इन्द्रादि देव इन नियमों में आबद्ध नहीं होसकेंगे। इसके अतिरिक्त इन्द्र ने केवल कामवासना की पूर्ति के लिये यह अकार्य्य नहीं किया है बल्कि गोत्तम की उग्र तपश्चर्य्या से समस्त देव भयभीत थे, यह खड़तल महर्षि अपने उग्र-स्वभाव के कारण प्रख्यात होचुका था, उस दिन जनस्थान के रहने वाले अतिथि भूत कुछ एक मुनियों से बिगड़ कर आपने हरे भरे 'दण्डकारण्य' नामक बन को अनावृष्टि का शाप र उजाड़ बना दिया था,—यह परम प्रसिद्ध कथा प्रत्येक रामायणपाठी को प्रायः देत है अतः यहां तूल तवील करने की आवश्यकता नहीं। सो जब समस्त देवता-ने गोत्तम जी को घोर तपश्चर्य्या करते देखा तो सहसा उन्हें खयाल हुवा कि—

'विद्याविवादाय धनं मदाय शक्तिः परेषां परिपीडनाय'

के अनुसार कदाचित् अब भी गोत्तम जी इस तपोबल के दुरुपयोग से संसार में ई न कोई नया अप्रिय-काण्ड खड़ा करेंगे! अतः समस्त संसार के कल्याण के ये समय से पूर्व ही किसी भांति इनके तपोबल का अपव्यय करादेना चाहिये जिस 'न होगा बांस न बजेगी बांसुरी'— वाली कहावत के मुताबिक तपोबल के न ने से यह किसी का कुछ भी न बिगाड़ सकेंगे!

देव समाज का यह विचार गोत्तम जी के हक़ में चाहे अच्छा न हो परन्तु डक जैसे लहलहीलतिकाभिलक्षित, शस्य-श्यामल प्रदेश को आनकी आन में बिया-बान बनादेने वाले बेपीर व्यक्ति के हाथ में तपोबलरूप दुधारी तेग़ आती देखकर—किस सर्व-हित-चिन्तक महानुभाव के हृदयमें भावी अनर्थ की संभावना से व्यथा न होगी—यह भी तो एक विचारणीय पहलू है, आस्तां तावत्। देव वृन्द ने गोत्तम जी के तपः को भङ्ग करने की ठानली, परन्तु यह काम सहल न था, 'बिल्ली के म्याऊं का ठौर' पकड़ने के बराबर कठिन समस्या थी। अप्सरायें जवाब दे बैठीं—कहा कि- जब गो-त्तम जी के घर में हम से भी अधिक सुन्दर पतिव्रता धर्म्म-पत्नी विद्यमान है तब वे हमारे हाव भावों के फन्दे में कब फंसने लगे! कामदेव ने भी कान छूकर 'शान्तंपापम्' कहते हुवे कोरा जवाब दिया कि वहां तो "आई जनाब" की भी दाल गलनी मुश्किल जान पड़ती है। देव सभा में सन्नाटा छागया, गौत्तम के उग्र स्वभाव का ध्यान करते हुवे कोई भी देवता उनके तपोभङ्ग कर सकने की हिम्मत न दिखा सका, विवश होकर

स्वयं देवराज को यह काम अपने हाथ में लेना पड़ा। सोचा कि—तपोभङ्ग के हेतु भूत—काम, क्रोध, लोभ, मोह-आदि दुर्व्यसनों में से—क्रोध को छोड़ कर और कोई दूसरा शस्त्र गोत्तम जी पर अचूक निशाना न लगा सकेगा, अतः येन के न-प्रकारेण गोत्तम जी को क्रुद्ध कर देना चाहिये! बस फिर काम फतह है!

मनोविज्ञान के वेत्ता खूब जानते हैं कि मनुष्य के हृदय में अन्य कई प्रकार के कारणों से भी क्रोध का आवेश हो सकता है, परन्तु जितना जल्दी और जितना भयङ्कर क्रोध अपनी स्त्री के धर्षण को प्रत्यक्ष देख कर तत्काल एवं दूध के उफान की भांति आपे से बाहिर कर देने वाला— देखने में आता है उतना अन्य किसी कारण से सम्भव नहीं, यही जान कर इन्द्र ने क्रोधोत्पादन के अचूक उपाय, स्त्री-धर्षण को ही अपना अमोघ अस्त्र बनाया।

अवसर पाकर गौत्तम के घर पहुंचे, ऋषि की अनुपस्थिति में— किन्तु जब कि उन का घर पहुँचने का समय करीब था,- अहल्या के धर्षण का अभिनय रचा, ऋषि तत्काल आपहुंचे, 'आकारैरिङ्गितैर्गत्या'- इस दुराचार-पूर्ण काण्ड को देखते ही आग बगूला होगए, इन्द्र को 'सहस्र-भग' होजाने का, और अहल्या को पत्थर की शिला बन जाने का शाप दे डाला। इन्द्र अपने कर्तव्य-पालन में कृतकार्य्य हुवे, गोया गोत्तम ऋषि का चिरसञ्चित तपोबल— जिससे कि देव समाज भयभीत होरहा था— इस शाप के बहाने नष्टभ्रष्ट कर डाला, दूसरे शब्दों में- एक खतरनाक व्यक्ति के हाथ में थामे हुवे सर्वान्तकारी खड्ग को— एक सर्व-हित-चिन्तक, परोपकारी ने धैर्य्यपूर्वक अपने सिर पर गिरवाकर उसे सदा के लिये कुण्ठित बना डाला। इस तरह गोत्तम के तपोबल से त्रस्त हुवे अनेक देवताओं का त्राण हुवा, यही इन्द्रकृत अहल्याधर्षण का अभिप्राय है।

'इन्द्र ने विषय-भोग की लालसा से नहीं बल्कि गौत्तम जी की तपश्चर्य्या से भयभीत हुवे देववृन्द की संरक्षा के लिये ही अहल्या-धर्षण का अभिनय किया था'— हमारे उपर्युक्त अभिप्राय को डङ्के की चोट घोषित करने वाले नीचे लिखे प्रमाण दर्शनीय हैं, यथा—

(क) अफलस्तु ततः शक्रो देवानग्निपुरोगमान्।
अब्रवीत्त्रस्तनयनः सिद्धगन्धर्वचारणान् ॥१॥
कुर्वता तपसो विघ्नं गौत्तमस्य महात्मनः।
क्रोधमुत्पाद्य हि मया सुरकार्य्यमिदं कृतम् ॥२॥

अफलोऽस्मि कृतस्तेन क्रोधात्सा च निराकृता ।
शापमोक्षेण महता तपोस्यापहृतं मया ॥३॥
तन्मां सुरवरास्सर्वे सर्षिसंघाः सचारणाः ।
सुरकार्य्य-करं यूयं सफलं कर्तुमर्हथ ॥४॥
शतक्रतोर्वचः श्रुत्वा देवाः साग्निपुरोगमाः ।
पितृदेवानुपेत्याहुः सर्वे सह मरुद्गणैः ॥५॥
अयं मेषः सवृषणः शक्रोऽवृषणः कृतः ।
मेषस्य वृषणौ गृह्य शक्रायाशु प्रयच्छत ॥६॥
अग्नेस्तु वचनं श्रुत्वा पितृदेवाः समागताः ।
उत्पाट्यमेष-वृषणौ सहस्राक्षेन्यवेशयन् ॥८॥
इन्द्रस्तुमेष-वृषणस्तदाप्रभृति राघव ! ।
गौत्तमस्य प्रभावेण तपसा च महात्मनः ॥१०॥

(बाल्मीकीय रामायण बालसर्ग ४९)

(ख) तदा गौत्तम-शापेन भगाङ्कश्च बभूव सः ॥८॥
रवेर्वरेण शक्रः स सहस्राक्षो बभूव ह ॥१०॥

(ब्रह्मवैवर्त, कृ० ज० खं० अध्याय ६१

अर्थात्—(क) [गोत्तम के शाप से] वृषण * रहित हुवे इन्द्र ने अग्नि आदि सब देवताओं को और सिद्ध गन्धर्व चारणों को भय विह्वल होकर कहा ॥ १ । [कि-] महात्मा गौत्तम के तप को भङ्ग करते हुवे मैंने उसके हृदय में क्रोध को जगा कर समस्त देवताओं का काम बना दिया है ॥ २ ॥ क्रुद्ध होकर गौत्तम जी ने मुझे वृषण रहित बना दिया, और अपनी स्त्री को भी [पाषाण शिला बना कर] निराकृत किया । पश्चात् बड़ा भारी शापानुग्रह करवा कर भी मैंने [दोनों प्रकार से] उन के तपोबल का अपहरण किया है ॥ ३ ॥ इस लिये अब आप सब देव,- ऋषि चारण आदि महानुभाव, देव-कार्य्य करने वाले मुझको किसी प्रकार पुनः वृषण सहित

* टिप्पणी— पुराणों में सहस्रभग होजाने का उल्लेख और 'बाल्मीकि-रामायण में वृषण रहित होजाना लिखा है 'अध्यात्म-रामायण' (बाल० सर्ग ४ टिप्पणी में इस विरोध का कल्पान्तर व्यवस्था से परिहार किया है ।

बनावें ॥ ४ ॥ तब शतक्रतु इन्द्र के ऐसे वचन सुन कर अग्नि आदि देवता मरुद्गण सहित पितृदेवताओं के पास जाकर कहने लगे [कि] ॥ ५ ॥ देवराज इन्द्र वृषण रहित होगए, परन्तु यह मेष (मेंढा) वृषण वाला है, इस लिये आप इस मेंढे के वृषण लेकर शीघ्र ही इन्द्र के अङ्ग में जोड़ दीजिये ॥६॥ अग्निदेव की आज्ञा को सुन कर पितृदेवताओं ने इकट्ठे होकर मेंढ़े के अण्ड कोश निकाल कर इन्द्र के देह में जोड़ दिये ॥८॥ [विश्वामित्र जी कहते हैं कि] हे राम ! उस दिन से महात्मा गौत्तम जी के प्रभाव एवं तपोबल से इन्द्र देव मेंढे के वृषणों वाले होगये ॥१०॥ (ख) गौत्तम के शाप से इन्द्र के शरीर में सहस्रों भग होगई थीं। परन्तु पश्चात् सूर्य्य भगवान् के वरदान से वे भग चिन्ह नेत्रों के रूप में परिवर्तित होगये—अतः इन्द्र को 'सहस्राक्ष' कहते हैं ॥१०॥

उपर्युक्त प्रमाणों द्वारा स्पष्ट है कि इन्द्र ने देवकार्य्य सम्पादनार्थ ही अहल्या का धर्षण किया था, इसी लिये पीछे सब देवताओं ने इन्द्र को सवृषण बनाने में, किं बा कल्पान्तर में सहस्र भग-धारी के बजाय 'सहस्राक्ष' करने में जी तोड़कर प्रयत्न किया था। अन्यथा देवताओं की भरी पञ्चायत में बार २—'सुर-कार्य्यं मया कृतम्' 'सुर-कार्य्य-करं' इत्यादि इन्द्र देव के निहोरे क्या माने रखते थे ? —सो सुरम्य-दण्डक वन को उजाड़ बना देने वाले गोत्तम जी के राष्ट्र-विघातक तपोबल को अपहरण करने के लिये—समस्त देवताओं की सलाह से किया हुवा अहल्या-धर्षणरूप अकार्य्य-राष्ट्रभक्तों की दृष्टि में किसी प्रकार भी अपराध नहीं हो सकता, क्योंकि इससे जहां एक स्त्री के धर्षण का पाप- [जो कि अहल्या को ब्रह्मा की मानसी पुत्री और इन्द्र को दिव्य देहधारी मानने की दशा में 'अमैथुनी सृष्टि विषयक' होने के कारण शास्त्र दृष्टि से भी पाप नहीं ठहरता]- होता होगा, वहां अनन्त प्राणियों की आशङ्कित आपत्ति का परिहार होजाने के कारण महान् पुण्य भी तो अवश्य ही होता होगा ! अतः 'अनेकान्त—वाद' सिद्धान्त के अनुसार इन्द्र का यह कर्त्तव्य किसी प्रकार भी दोषास्पद नहीं माना जा सकता, जैसा कि भगवद्गीता में भगवान् ने आदेश किया है—

स्वल्पमप्यस्य धर्म्मस्य त्रायते महतो भयात् ।

(भगवद्गीता २ । ४०)

अर्थात्—निष्काम दृष्टि से किया हुवा थोड़ा सा भी कर्म्म बड़े भारी भय से बचा देता है। सो इन्द्र देव ने भी यह सब कार्य्य समस्त देवताओं की आज्ञा से अपना कर्त्तव्य समझ कर किया था। इसमें उनका निजी कुछ भी स्वार्थ न था बल्कि सब की आफत अपने ऊपर उठाकर उपकार करना उनका ध्येय था।

विश्वरूप वध से ब्रह्महत्या

इन्द्रदेव के ऊपर दूसरा आक्षेप यह किया जाया करता है कि उन्होंने विश्वरूप नामक एक ब्राह्मण को जब कि वह यज्ञ में पुरोहित का काम कर रहा था–मार डाला, अतः वे ब्रह्म-हत्यारे हुवे, इन्द्रदेव का यह कर्म्म अत्यन्त धर्म्म विरुद्ध है, इसके अतिरिक्त पुराणों में जिस विश्वरूप का इस तरह मारा जाना दर्ज़ है, उसका रूप भी बड़ा ही विचित्र लिखा है यथा–उसके तीन मुख थे, एक से वह सुरा (शराब) पीता था दूसरे से सोम (याज्ञिक रस) पीया करता था, एवं तीसरे से अन्न खाया करता था,—इस तरह यह आख्यान धर्म्म-विरुद्धता एवं असंभवता से परिपूर्ण है। —हम क्रमागत शैली के अनुसार सर्वप्रथम इस का वैदिक-स्वरूप प्रकट करते हैं।

वैदिक-स्वरूप

(क) त्वष्टुर्हवै पुत्रः। त्रिशीर्षा षडक्ष आस। तस्य त्रीण्येव मुखान्यासुस्तद्यदेव ँ रूप आस तस्माद् विश्वरूपो नाम। तस्य सोमपान मेवैकं मुखमास। सुरापाणमेकमन्यस्माऽशनायैकं तमिन्द्रो दिद्वेष तस्य तानि शीर्षाणि प्रचिच्छेद यत्सोमपानमास। ततः कपिञ्जलः समभवत् अथ यत्सुरापाणमास। ततः कलविङ्कः समभवत् अथ यदन्यस्माऽअशनायास। ततस्तित्तिरिः समभवत्।

(शतपथ १।६।३।२—५)

(ख) स (इन्द्रः) यत्र त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रं विश्वरूपं जघान।

(शतपथ १।२।३।२)

(ग) इन्द्रो वै त्रिशिरसं त्वाष्ट्रमहन्।

(ताण्ड्य १७।५।१)

अर्थात्— (क) त्वष्टा का पुत्र तीन सिर, और छः आंखों वाला था, उसके मुख भी तीन ही थे। क्योंकि वह इस प्रकार के अद्भुत रूप वाला था इसी लिये उसका [अन्वर्थ] 'विश्वरूप' ऐसा नाम पड़गया था। उसका एक मुख सोम (=याज्ञिकरस)

पीने के लिये, दूसरा सुरा (=शराब) पीने के लिये और तीसरा अन्न खाने के लिये काम आता था। उस विश्वरूप से इन्द्र द्वेष रखता था। अतः इन्द्र ने उसके वह तीनों शिर काट डाले। जो सोम पीने वाला मुख था वह 'कपिञ्जल' नामक पक्षी हुवा। जो सुरा पीने वाला था वह 'कलविङ्क' नाम पक्षी हुवा और जो अन्न खाने वाला था वह 'तित्तर' होगया। (ख) उस इन्द्र ने त्वष्टा के बेटे तीन शिर वाले विश्वरूप को मार डाला (ग) इन्द्र ने तीन शिर वाले त्वष्टा पुत्र को मार डाला।

पौराणिक-स्वरूप

(क) त्वष्टुर्दैत्यानुजाभार्य्यां रचना नाम कन्यका ॥
सन्निवेशस्तयोर्जज्ञे विश्वरूपश्च वीर्य्यवान् ॥४४॥
तं वव्रिरे सुरगणा दौहित्रं द्विषतामपि ॥४५॥

(श्रीमद्भागवत ६ । ६)

(ख) तस्यासन्त्रिश्वरूपस्य शिरांसि त्रीणि भारत !
सोमपीथं सुरापीथमन्नादमिति शुश्रुमः ॥१॥
सवै बर्हिषि देवेभ्यो भागं प्रत्यक्षमुचकैः ॥
अददद्यस्य पितरो देवाः सप्रश्रयं नृप ! ॥२॥
स एव हि ददौ भागं परोक्षमसुरान्प्रति ॥
यजमानोऽवहद्भागं मातृस्नेहवशानुगः ॥३॥
तद्देवहेलनं तस्य धर्म्मालीकं सुरेश्वरः ॥
आलक्ष्य तरसाभीतस्तच्छीर्षाण्यच्छिनद्रुषा ॥४॥
सोमपीथं तु यत्तस्य शिर आसीत्कपिञ्जलः ॥
कलविङ्कः सुरापीथमन्नादं यत्सतित्तिरिः ॥५॥
ब्रह्महत्यामञ्जलिना जग्राह यदपीश्वरः ॥
संवत्सरान्ते तदघं भूतानां स विशुद्धये ॥६॥
भूम्यम्बुद्रुमयोषिद्भ्यश्चतुर्धाव्यभजद्धरिः ॥७॥

(श्रीमद्भागवत ६ । ६)

अर्थात् (क) दैत्यों की बहिन रचना नामक कन्या त्वष्टा की स्त्री हुई। उन दोनों से सन्निवेश और विश्वरूप नामक वीर्यवान् पुत्र पैदा हुवे ॥४४॥ यद्यपि विश्वरूप शत्रुभूत असुरों का दौहित्र था तथापि देवताओं ने उसको [अपने यज्ञ में आचार्य्य रूप से] वरण किया ॥ ४५ ॥ (ख) हे राजन्! उस विश्वरूप के तीन शिर थे, एक सोम पीने वाला, दूसरा सुरा पीने वाला और तीसरा अन्न खाने वाला—ऐसा हमने सुना है ॥ १ ॥ यज्ञ के समय इस विश्वरूप ने उन वर्हिषद् देवताओं को खूब ऊंचे स्वर से बोलकर प्रत्यक्ष रूप से भाग दिया—जिनके कि आश्रय में पितृदेव रहते हैं ॥ २ ॥ परन्तु यज्ञ करते समय विश्वरूप छुपकर असुरों को भी भाग देने लगा। क्योंकि माता के स्नेह से अपने मातृकुल का भी इसे पक्ष रहा ॥ ३ ॥ इन्द्र इसकी इस देवघातिनी धर्म्म-विरुद्ध चेष्टा को देखकर अत्यन्त क्रुद्ध हुवा और [भावि अनर्थ की संभावना से] भयभीत होकर तत्काल इसके तीनों मस्तक काट डाले ॥ ४ ॥ उसका जो सोम पीने वाला मुख था वह कपिञ्जल बना, सुरा पीने वाला कलविङ्क, और अन्न खाने वाला तित्तर हुवा ॥ ५ ॥ यद्यपि इन्द्र में [ब्रह्महत्या को न मानने का] सामर्थ्य था तथापि उन्होंने अञ्जलि बान्धकर स्वेच्छा से ब्रह्महत्या को स्वीकार किया एक वर्ष व्यतीत होजाने पर वह पाप भूतशुद्धि के लिये ॥ ६ ॥ पृथ्वी, जल, वृक्षों और स्त्रियों में चार विभाग करके बांट दिया ॥७॥

विवेचन-

ऊपर उक्त आख्यान के वैदिक और पौराणिक दोनों स्वरूप प्रकट कर दिये गये हैं, संस्कृत की साधारण सी योग्यता रखने वाला पुरुष भी इन दोनों स्वरूपों की तुलना करने पर सहज में ही इस परिणाम पर पहुंचेगा कि यह आख्यान वेदों और पुराणों दोनों में ही अक्षरशः समानरूपेण वर्णित है। हर दो जगह विश्वरूप और उसके पिता का नाम तीन सिरों का होना, अमुक २ मुख से सोम-सुरा-अन्न को ग्रहण करना एवं सिर कटजाने के बाद अमुक २ सिर से तत्तत् पक्षियों का उत्पन्न होना—समान शब्दों में ही वर्णित है।

उक्त दोनों स्वरूपों में यदि कुछ अन्तर है तो केवल यह है कि जहां वेद में किसी कारण विशेष को प्रकट किये बिना ही-'तमिन्द्रो द्विषेष' अर्थात्-इन्द्र विश्वरूप से द्वेष करता था—ऐसा लिखकर अन्त में- 'विश्वरूपं जघान' कहते हुवे विश्वरूप का मार डालना लिख दिया है, वहां पुराण में कार्य्यकारण-पुरस्सर विश्वरूप के-'चोरी चोरी से दैत्यों को यज्ञ भाग दे डालना' रूप—अक्षम्य अपराध भी बतायेहैं। कहना

न होगा कि वैदिक-स्वरूप को पढकर हर एक समझदार के हृदय में जहां विश्वरूपके अपराध को जानने की उत्कण्ठा बदस्तूर बनी रहती है और उसकी इस अकारण मृत्यु पर प्रत्येक सहृदय के हृदय में समवेदना का भाव उदित होता है वहां पुराणोक्त कारणावलि को पढकर पाठकवर्ग का हृदय सब तरह से सन्तुष्ट हो जाता है, एवं विश्वरूप के विश्वास-घात का हाल पढ़ कर तत्काल आबाल वृद्ध इन्द्र द्वारा दिये गये मृत्युदण्ड की दाद देने लगता है।

जब कि देव समाज ने विश्वरूप को शत्रु पक्ष का रिश्तेदार जानते हुवे भी विश्वास पूर्वक पौरोहित्य जैसे दायित्वपूर्ण पद पर अभिषिक्त कर दिया था, और वे सब उसे देव गुरु मानकर हर तरह से उस पर सर्वस्व न्यौछावर करने को प्रस्तुत थे, तब यज्ञ समय में देवताओं का स्वत्व छीनकर चोरी २ से दैत्यों को दे डालना-महा-विश्वासघात नहीं तो और क्या है ? ऐसी दशा में विश्वास-घात पूर्वक देवसत्ता की जड़ खोखली करने वाले पापिष्ठ पुरुष को मार डालना किस आधार पर अधर्म्म कहा जासकता है ? वेद में स्पष्ट लिखा है कि—

शत्रो मूर्धानं विश्वगभिन्धि ।

(अथर्व ३ । ६ । ६)

अर्थात्—शत्रु के सिरको सब तरह से तोड़ डाल।

इसी प्रकार स्मृतियों में भी 'आततायी' को तत्काल मार डालना लिखा है, सो विश्वरूप, विश्वास-घात पूर्वक देवताओं के जीवन-सर्वस्व हव्य का अपहरण करने वाला होने के कारण आततायी ही कहा जा सकता है। अतः इन्द्र का यह आचरण सर्वथा न्याययुक्त है। यही प्रथम आक्षेप का उत्तर है इतने पर भी जो इन्द्रने स्वेच्छा से 'ब्रह्महत्या' को स्वीकार किया है वह उसकी शिष्टता एवं मानव-मर्य्यादा-रक्षण-दक्षता का आदर्श है जो कि उसके देवराज-पद के सर्वथा अनुकूल है।

इसके अतिरिक्त शङ्कावादी महाशय ने जो इस आख्यान पर तीन सिर आदि के उल्लेख से असम्भवता का दोष लगाया है वह भी व्यर्थ है क्योंकि केवल पुराणों में ही तीन सिरों का उल्लेख नहीं है किन्तु वेद में भी साफ शब्दों में इसे 'त्रिशीर्षा' 'षडक्षः' और 'त्रीणि एव मुखानि आसन्' कहते हुवे तादृश बतलाया है अतः जो समाधान वैदिक-स्वरूप का होगा वही पौराणिक का भी समझ लेना चाहिये।

वास्तव में प्रकृति के नियन्त्रण से समय समय पर न्यूनाधिक अङ्गों वाले बालक सदा से पैदा होते चले आए हैं। प्रतिवर्ष अब भी कहीं न कहीं से ऐसे विलक्षण बच्चों की पैदायश के समाचार आते ही रहते हैं परन्तु अब ऐसे बच्चे प्रायः

अधिक समय तक जीवित नहीं रहते,। वेदों और पुराणों में जिस जमाने में विश्वरूप का होना प्रकट किया है उसे गुजरे अन्यून दो अर्ब वर्ष बीत चुके हैं, अतः क्या आश्चर्य्य है कि तब त्रिशिरा बालक विश्वरूप जीवित रह गया हो।

वृत्र-वध से ब्रह्म-हत्या

२६ पुराणों में दूसरी कथा इन्द्र द्वारा वृत्रासुर के मारे जाने से सम्बन्ध रखने वाली आती है, यार लोग इस को भी ब्रह्महत्या-पूर्ण होने के के कारण धर्म्मविरुद्ध बताया करते हैं, साथ ही वृत्रासुर का भूमि से [द्यौः] आकाशपर्य्यन्त समस्त अन्तरिक्ष में अभिव्याप्त होकर लम्बा चौड़ा पहाड़ जैसा रूप बनाना एवं मूर्तिमती ब्रह्महत्या का इन्द्र से चिपटना भी असम्भव कहा करते हैं। एतदर्थ हम यहां दोनों स्वरूपों को प्रकट करके पश्चात् उसका विवेचन करेंगे।

वैदिक-स्वरूप

(क) अहन्वृत्रं वृत्रतरं व्यंसमिन्द्रो वज्रेण महता वधेन ॥
स्कन्धांसीव कुलिशेनाविवृक्णाहिः शयत उपपृक् पृथिव्याः ॥५॥
(ऋग्वेद १ । ३२ । ५)

(ख) वृत्रो ह वा इद ँ सर्वं वृत्वा शिश्ये। यदिदमन्तरेण द्यावा-पृथिवी स यदिद ँ सर्वं वृत्वा शिश्ये तस्माद् वृत्रो नाम।
(शतपथ १ । १ । ३ । ४)

(ग) तस्य (वृत्रस्य) एतच्छरीरं यद्गिरयो यदश्मानः।
(शतपथ ३ । ४ । ३ । १३)

(घ) इन्द्र ह यत्र वृत्राय वज्रं प्रजहार।
(शतपथ १ । २ । ४ । १)

(ङ) अथ (त्वष्टा) यदब्रवीदिन्द्रशत्रुर्वर्द्धस्वेति तस्मादुहैनमिन्द्र एव जघानाथ। यद्ध शश्वदधक्ष्यदिन्द्रस्य शत्रुर्वर्द्धस्वेति शश्वदुह स एवेन्द्रमहनिष्यत्।
(शतपथ १ । ६ । ३ । १०)

(च) एष ह वै साक्षान्मृत्यु र्यद् ब्रह्महत्या ।

(शतपथ १३ । ३ । ५ । ३)

(छ) अष्टापदी चतुरक्षी चतुःश्रोत्रा चतुर्हनुः ।
दुव्यास्या द्विजिह्वा भूत्वा सा राष्ट्रमवधूनुते ब्रह्मज्यस्य ॥

(अथर्व ५ । १९ । ७)

(ज) तरति सर्वं पाप्मानं, तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते ।

(शतपथ १३ । ३ । १ । १)

(झ) इन्द्रो दधीचो अस्थिभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुत जघान नवतीर्नव ।

(अथर्व २० । ४१ । १)

अर्थात्— (क) इन्द्र ने मृत्यु के महान् साधनभूत वज्र से अत्यन्त प्रवृद्ध वृत्रासुर को मार कर कन्धों से रहित कर दिया, वज्र से कटे हुवे वृत्रासुर के अङ्ग वृक्षों के टहनों की भान्ति [गिरे] [इस तरह] अहि=पावों के कट जाने पर वह असुर, ज़मीन पर [सदा के लिये] सोगया। (ख) वृत्रासुर इस समस्त भूमण्डल को घेर कर सोगया, चूंकि उसने द्यौ से पृथ्वी तक का सब प्रदेश ढक दिया था इस लिये उसे 'वृत्र' कहते हैं। (ग) यह जो पर्वत और पत्थर हैं, ये सब वृत्र का शरीर हैं (घ) इन्द्र ने वृत्र पर वज्र का प्रहार किया (ङ) [वृत्र के पिता] त्वष्टा ने जो बार बार 'इन्द्र शत्रुर्वर्द्धस्व' ऐसा [आद्युदात्त] बोला तो [स्वरव्यत्यय के पाप से] इन्द्र ने ही वृत्र को मार डाला। यदि 'इन्द्रस्य शत्रुर्वर्द्धस्व'— ऐसा [अन्तोदात्त] निरन्तर कहा जाता तो वह वृत्र ही इन्द्र को मार डालता। (च) ब्रह्महत्या साक्षात् मृत्यु है। (छ) [वह ब्रह्महत्या] आठ पांव, चार आंखें, चार कान, चार ठोड़ी, दो मुख और दो जीभ वाला रूप बना कर ब्रह्मज्य=ब्रह्म हत्यारे के राष्ट्र को विनष्ट कर डालती है। (ज) वह सब पापों से छूट जाता है, और ब्रह्म हत्या से भी उन्मुक्त होजाता है जो कि अश्वमेध यज्ञ द्वारा यजन करता है। (झ) इन्द्र ने दधीचि ऋषि की हड्डियों से [वज्र बना कर] नव्यानवें वृत्रासुरों को मार डाला।

पौराणिक-स्वरूप

(क) येनावृता इमे लोकास्तमसा त्वाष्ट्रमूर्तिना ।
स वै वृत्र इति प्रोक्तः पापः परमदारुणः ॥

(श्रीमद्भागवत ६ । ९ । १८)

(ख) चिच्छेद युगपद्देवो वज्रेण शतपर्वणा ।
दोर्भ्यामुत्कृत्य मूलाभ्यां बभौ रक्तस्रवोऽसुरः ॥२६॥
कृत्वाऽधरां हनुं भूमौ दैत्यो दिव्युत्तरां हनुम् ।
नभोगभीरवक्त्रेण लेलिहोल्बणजिह्वया ॥२७॥
भित्त्वा वज्रेण तत्कुक्षिं निष्क्रम्य बलभिद् विभुः ।
उच्चकर्त शिरः शत्रोर्गिरिशृङ्गमिवौजसा ॥३२॥

(श्रीमद्भागवत ६ । १२)

(ग) ब्रह्महत्या हते तस्मिन्नाससाद वृषाकपिम् ॥१०॥
तां ददर्शानुधावन्तीं चाण्डालीमिव रूपिणीम् ।
जरया वेपमानाङ्गीं यक्ष्मग्रस्तामसृक्पटाम् ॥१२॥
अश्वमेधे महेन्द्रेण वितते ब्रह्मवादिभिः ॥१६॥
स वै त्वाष्ट्रवधो भूयानपि पापचयो नृप ! ।
नीतस्तेनैव शून्याय नीहार इव भानुना ॥२०॥

(श्रीमद्भागवत ६ । १३)

अर्थात्— (क) जिस अन्धार मूर्ति त्वष्टा के पुत्र ने इन सब लोकों को ढांप लिया था वही परम दारुण पापी वृत्र नाम वाला असुर था । (ख) इन्द्र ने शतपर्व वाले वज्र से वृत्र की दोनों भुजाएं एक दम काट डालीं, उस समय भुजाओं के कट जाने पर रुधिर से लथ पथ हुवा वृत्र अद्भुत दीख पड़ता था ॥२६॥ तब उसने नीचे के जबड़े को भूमि पर रख कर ऊपर के जबड़े को आकाश तक फैला लिया, और अपनी भीषण जीभ के साथ आकाश के समान गहरे मुख में सब कुछ निगलने लगा ॥२७॥ इन्द्र वज्र के साथ उसकी कोख फाड़ कर बाहिर निकल आया, तथा बलपूर्वक शत्रु के मस्तक को काट कर पर्वत के शिखर की तरह भूमि पर गिरा दिया ॥३२॥ (ग) वृत्र के मरने पर ब्रह्महत्या इन्द्र के निकट पहुंची ॥१०॥ इन्द्र ने देखा कि वह जराजीर्ण कलेवर वाली, तपेदिक के मरीज़ की तरह अस्थिपञ्जरावशिष्ट एवं रुधिर भरे वस्त्र ओढे, चाण्डाली की भांति पीछे पीछे दौड़ती आरही है ॥१२॥ अनन्तर ब्रह्मवादियों द्वारा इन्द्र ने अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया ॥१६॥ जिसके पुण्यसे त्वष्टा के पुत्र वृत्रासुर के वध का महान् पाप विनष्ट होगया जैसे कि सूर्य्य से धुन्ध के बादल छांई मांई होजाया करते हैं ॥२०॥

वैज्ञानिक और ऐतिहासिक विवेचन

ऊपर 'इन्द्र वृत्रासुर' आख्यायिका के वैदिक और पौराणिक दोनों स्वरूप प्रकट कर दिये गये हैं। सहृदयवर्ग सहज में ही उक्त दोनों स्वरूपों की तुलना करने पर अनुमान कर सकेगा कि श्री वेदव्यास जी ने कितनी उत्तमता के साथ वेद मन्त्रों का लौकिक अनुवाद करके वैदिक ज्ञान के भण्डार को सर्वसाधारणोपयोगी बना डाला है। उक्त कथा के 'वैदिक स्वरूप' में-वृत्रासुर का विस्तृत शरीर, इन्द्र के साथ लोमहर्षण युद्ध, त्वष्टा का शत्रुञ्जय यज्ञ करना, दधीचि की अस्थि से निर्माण किये वज्र द्वारा वृत्र का मरना, मूर्तिमती ब्रह्महत्या का इन्द्र को आघेरना- एवं अन्त में अश्वमेध यज्ञ के प्रभाव से विशुद्ध होना, आदि आदि समस्त भाव किस खूबी के साथ अङ्कित किये हैं वे देखते ही बनते हैं।

यास्क की सम्मति।

'यह वृत्रासुर कौन है?'— इस प्रश्न को लेकर वेदों के मर्मज्ञ श्री यास्काचार्य्य ने अपने प्रसिद्ध 'निरुक्त' ग्रन्थ में इस प्रकार लिखा है—

> तत्को वृत्रः? मेघ इति नैरुक्ताः। त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः। अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्म्मणो वर्षकर्म्म जायते तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णना।

(निरुक्त २।५।२)

अर्थात्— (प्रश्न-) [वेद में जिसका वर्णन आता है] वह वृत्र कौन है? (उत्तर) निरुक्त पक्ष वाले 'मेघ' को वृत्र मानते हैं, और ऐतिहासिक लोग त्वष्टा के बेटे 'एक असुर' को वृत्र कहते हैं। जलों और [वैद्युत] ज्योतिः के विमिश्रण से वृष्टि होती है, इसी को रूपकालङ्कार द्वारा इन्द्र और वृत्रासुर का युद्ध वर्णन किया जाता है।

दयानन्द का वाक्छल।

आर्य्य-समाज प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपनी बनाई ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में वेदादि शास्त्रों का अपलाप करते हुवे उक्त आख्यायिका को केवल रूपक मान कर ऐतिहासिक पक्ष को सर्वथा उड़ाने की चेष्टा की है, परन्तु जब स्वयं वेद में ही वृत्र का पूरा २ वृत्तान्त देते हुवे उसको स्पष्ट शब्दों में ऐतिहासिक व्यक्ति

प्रकट किया है और यास्काचार्य्य जैसे विज्ञानवादी ने भी वैज्ञानिक अर्थ के साथ २ ऐतिहासिक पक्षाभिमत अर्थ को भी बराबर माना है, तब स्वामी दयानन्द को ऐतिहासिक पक्ष के खण्डन करने का क्या अधिकार है ? यह होसकता है कि वह वृत्र को मेघ मानते रहें–परन्तु 'वृत्र नामक कोई ऐतिहासिक व्यक्ति कभी हुवा ही नहीं'—ऐसा कहने का उन्हें कुछ भी अधिकार नहीं है। इस लिये स्वामी साहिब का नीचे लिखा लेख, सच्छास्त्रों का अपलाप, एवं दुराग्रह–जन्य प्रलाप ही समझना चाहिये, आप लिखते हैं कि—

" इन्द्रः कश्चिद्देहधारी देवराज आसीत्तस्य त्वष्टुरपत्येन वृत्रासुरेण सह युद्धमभूत्। वृत्रासुरेणेन्द्रो निगलितोऽतो देवानां महद् भयमभूत्। ते विष्णुशरणं गताः। .....ईदृश्यः प्रमत्तगीतवत् प्रलपिताः कथाः पुराणाभासादिषु नवीनग्रन्थेषु मिथ्यैव सन्तीति भद्रैर्विद्वद्भिर्मन्तव्यम्। कुतः। एतासामप्यलङ्कारवत्त्वात्।

अर्थात्— [दयानन्दकृतभाषानुवाद] त्वष्टा के पुत्र वृत्रासुर ने देवों के राजा इन्द्र को निगल लिया, तब सब देवता लोग बड़े भययुक्त होकर विष्णु के समीप में गये। —यह पागलों की सी बनाई हुई पुराण ग्रन्थों की कथा सब मिथ्या हैं, श्रेष्ठ लोगों को उचित है कि इनको कभी न मानें।

(ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पृष्ठ ३०२)

ऊपर हमने जो विवेचन किया है उसका सार यह है कि इस वेदोक्त कथा का जहां 'वर्षा–विज्ञान' से संबन्ध है वहां वैयक्तिक इतिहास के साथ भी इसका पूरा २ सरोकार है। अनादि काल से मन्त्रद्रष्टा ऋषि लोग इस कथानक की उपर्य्युक्त दोनों प्रकार से व्याख्या करते आए हैं, जो दोनों ही यथार्थ हैं। जिज्ञासु जन अपनी रुचि के अनुसार इनमें से किसी भी एक को पसन्द कर सकता है। परन्तु अन्यतम को झुठलाने का किसी भी समालोचक को कुछ अधिकार नहीं है।

हत्या और प्रायश्चित्त

वृत्रासुर अत्यन्त पापिष्ठ दैत्य था, वह दैवी संपत्ति का अपहरण करके उसको असुरों के उपभोग में लगा रहा था, और संसार में उत्तरोत्तर तामसी जीवों का आधिक्य होता जा रहा था। जब वह त्रिशूल उठाकर लोकत्रय को हड़प करने के लिये उद्यत होगया तो समस्त देवताओं की रक्षा के लिये विष्णु भगवान् की सम्मति से

देवराज इन्द्र ने उसको मार डाला। सो इन्द्रदेव का यह कार्य्य किसी भी दृष्टि से अधर्म्म नहीं कहा जा सकता। यद्यपि 'भोगयोनि' एवं दिव्य शरीरी होने के कारण इन्द्र को किसी प्रकार की भी हत्या का पाप नहीं लग सकता जैसा कि हम विश्वरूप आख्यान के प्रसङ्ग में पीछे लिख आए हैं, तथापि इन्द्रदेव मनुष्यों द्वारा किये जाने वाले समस्त यज्ञों के मुख्य देवता हैं, अतः उन्हें मानव मर्य्यादा की भी भली प्रकार रक्षा करनी अभीष्ट थी इस लिये "यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः"- सिद्धान्त के अनुसार उन्होंने स्वयं भी अश्वमेध यज्ञ द्वारा उक्त हत्या का प्रायश्चित्त किया। धर्म्म-शास्त्र का सिद्धान्त है कि किसी भी पाप का यथावत् प्रायश्चित्त करदेने के बाद प्रायश्चित्ती प्राणी सर्वथा विशुद्ध होजाता है। तदनुसार इन्द्रदेव पर भी किसी प्रकार का आक्षेप शेष नहीं रहता। अतः देवराज इन्द्र का यह कार्य्य सर्वथा धर्म्मसंगत है।

इसके अतिरिक्त मूर्तिमती ब्रह्म-हत्या का उल्लेख भी केवल पुराणों में ही नहीं है वह तो वेदों में भी तथैव अङ्कित है। पुराण में जहां उसे एक बूढी चाण्डालिनी से उपमित किया है, वहां वेदों में तो सर्वथा लोकोत्तर (=आठ पांव, चार आंख आदि २ बताकर) शैतान का चर्खा ही बना छोड़ा है अतः आप जो समाधान वैदिक स्वरूप का कीजियेगा, वही पौराणिक का भी समझ लीजियेगा।

भ्रूण-हत्या का उद्योग

२७ इन्द्र के चरित्र पर एक यह भी आक्षेप किया जाया करता है कि— "उसने दिति के पेट में घुस कर वज्र द्वारा उसके गर्भ को विदीर्ण कर डाला, परन्तु उनञ्चास टुकड़े कर डालने पर भी वह जीवित ही रहा अन्त में दिति से एक के बजाय ४९ जीवित बच्चे पैदा हुवे, जो 'मरुत्' नामक देवता कहे जाते हैं। यह चरित्र गर्भपातन रूप अधर्म्म से परिपूर्ण, एवं सृष्टि-नियम के प्रतिकूल-किसी के पेट में घुस जाना आदि असम्भव बातों का भण्डार है"। हम क्रमागत शैली के अनुसार इसका विवेचन करते हैं।

वैदिक-स्वरूप

(क) इन्द्र उ वै वातापिः स हि वातमाप्त्वा शरीराण्यर्हन्प्रतिप्रैति।

(कौषीतकी २७। ४)

(ख) (इन्द्रः) विश्वरूपं त्वाष्ट्रमभ्यमंस्त, वृत्रमस्तृत यतीन् सालावृकेभ्यः प्रादादमरुन्मुखानवधीत्

(ऐतरेय ७।२८)

(ग) हेन्द्र उवाच दिवि प्रह्लादीयानतृणमहमन्तरिक्षे पौलोमान्, पृथिव्यां कालकाञ्जांस्तस्य मे तत्र न लोम च नामीयत, स यो मां (इन्द्रं) वेद न ह वै तस्य केनचन कर्म्मणा लोको मीयते न स्तेयेन, न भ्रूणहत्यया, न मातृवधेन, नपितृवधेन, नास्य पापं च कृषोमुखान्नीलं वेत्तीति।

(कौषीतकी शं० नं० भाष्य ३।१)

(घ) सप्त सप्त हि मरुतां गणाः।

(शतपथ ६।३।१।२५)

(ङ) मरुतोऽद्भिरग्निमतनयन्। तस्य तान्तस्य हृदयमाच्छिन्दन् साऽशनिरभवत्।

(तैत्तिरीय १।१।३।१२)

(च) अथेष मरुत्स्तोम एतेन वै मरुतोऽपरिमितां पुष्टिमपुष्यन्।

(ताण्ड्य १६।१४।१)

(छ) अथैनं (इन्द्रं) ऊर्ध्वायां दिशि मरुतश्चांगिरसश्च देवा ...अभ्यषिंचन्।

(ऐतरेय ८।१४)

अर्थात्— (क) [तब से] इन्द्र का नाम वातापि पड़ गया, क्योंकि वह वायु में व्याप्त होकर शरीर [दिति के पेट] में प्रविष्ट हुवा (ख) इन्द्र ने त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप को मार डाला, वृत्रासुर को हनन किया, यतियों को सालावृकों के लिये दे डाला, और मरुत्-आदि की [गर्भ में काट कर] हिंसा की। (ग) इन्द्र बोला- मैंने द्युलोक में प्रह्लाद वंशज दैत्यों को, अन्तरिक्ष में पुलोमा के वंशधरों को और पृथ्वी पर कालकाञ्ज नामक असुरों को मार डाला। इस [हिंसा] कार्य्य में [देवसत्तारक्षण-रूप पुण्य कर्म्म के कारण] मेरा रोम भी नहीं उखड़ा, सो जो पुरुष मेरे [इस धर्म्म रक्षार्थ किये गये कर्तव्य-पालन] को जानेगा सो उसका भी किसी प्रकार के कर्म्म से [इस प्रकार के आचरण से] लोक नष्ट न होगा [यह लोक और परलोक न बिगड़ेगा] [अमुक २ परिस्थितियों में देवसत्ता की रक्षा के लिये की गई]

चोरी, भ्रूण-हत्या, मातृ-हत्या और पितृ-हत्या आदि के पाप से उसका मुख काला न होगा। (घ) सात से गुणित सात ७×७=४६ मरुद् गण हैं। (ङ) मरुतों ने जलों से अग्नि को विस्तृत किया और उस विस्तृत हुई अग्नि के हृदय को छेदन कर डाला, वह अशनि=वज्र=बिजुली हुई। (च) यह सूक्त 'मरुत्स्तोम' कहलाता है इसी के प्रताप से [गर्भस्थ] मरुतों ने [बार २ काट डालने पर तथैव जीवित बने रहना रूप] अपरिमित पुष्टि को परिपुष्ट किया। (छ) तब ऊंचे की दिशा में मरुत् और आंगिरस देवताओं ने इन्द्र को अभिषिक्त किया।

पौराणिक-स्वरूप

एकदा सा तु संध्यायामुच्छिष्टा व्रतकर्षिता।
अस्पृष्टवार्घ्यधौतांघ्रिः सुष्वाप विधिमोहिता ॥६०॥
लब्ध्वा तदन्तरं शक्रो निद्रापहृतचेतसः।
दितेः प्रविष्ट उदरं योगेशो योगमायया ॥६१॥
चकर्त सप्तधा गर्भं वज्रेण कनक-प्रभम्।
रुदन्तं सप्तधैकैकं मारोदीरिति तान्पुनः ॥६२॥
ते तमूचुः प्राञ्जलयो नृप! सर्वे प्रताडयमानाः
नो जिघांससि किमिन्द्र! भ्रातरो मरुतस्तव ॥६३॥
माभैष्ट भ्रातरो मह्यं यूयमित्याह कौशिकः।
अनन्यभावान्पार्षदानात्मनो मरुतां गणान् ॥६४॥
सजूरिन्द्रेण पंचाशद्देवास्ते मरुतोऽभवन्।
व्यपोह्य मातृदोषं ते हरिणा सोमपाः कृताः ॥६५॥
दितिरुत्थाय ददृशे कुमाराननलप्रभान्।
इन्द्रेण सहितान्देवी पर्य्यतुष्यदनिन्दिता ॥६८॥
अथेन्द्रमाह तातोऽहमादित्यानां भयावहम्।
अपत्यमिच्छन्त्यचरं व्रतमेतत्सुदुष्करम् ॥६९॥
एकः संकल्पितः पुत्रः सप्त सप्ताभवन्कथम्?
यदि ते विदितं पुत्र! सत्यं कथय मा मृषा ॥७०॥

इन्द्र उवाच—

अम्ब तेहं व्यवसितमुपधार्य्यागतोऽन्तिकम् ।
लब्धान्तरोऽच्छिदं गर्भमर्थबुद्धिर्न धर्म्मवित् ॥७१॥
कृत्तो मे सप्तधा गर्भ आसन्सप्त कुमारकाः ।
तेऽपि चैकैकशो वृक्णा सप्तधा नापि मन्निरे ॥७२॥
तदिदं मम दौर्जन्यं बालिशस्य महीयसि ।
क्षन्तुमर्हसि मातस्त्वं दिष्ट्या गर्भोमृनोत्थितः ॥७६॥
इन्द्रस्तयाभ्यनुज्ञातः शुद्धभावेन तुष्टया ।
मरुद्भिस्सह तां नत्वा जगाम त्रिदिवं प्रभुः ॥७७॥

(श्रीमद्भागवत ६ । १८ । —)

अर्थात्—एक दिन वह [दिति] पुंसवन व्रत से दुबली होते हुवे भी भावी की प्रबलता से सांझ के समय झूठे मुख पांवों को न धोकर सोगई ॥ ६० ॥ योगेश इन्द्र इस तरह व्रतभंग से अवसर पाकर सोती हुई दिति के पेट में योग माया द्वारा प्रविष्ट होगये ॥६१॥ सोने की तरह दमकते हुवे गर्भ को वज्र से काट कर इन्द्र ने सात टुकड़े कर डाले। रोते हुवे उन सातों खण्डों को 'मारोदीः' ऐसे कहते हुवे फिर एक २ के सात खण्ड कर दिये ॥ ६२ ॥ तब वे कटे हुवे खण्ड-अञ्जलि बांधकर इन्द्र से कहने लगे कि आप हमें क्यों मारते हैं हम तो आपके 'भाई' हैं ॥ ६३॥ तब इन्द्र ने अपने अनन्य सेवक मरुद् गण से कहा कि अच्छा भ्राताओ ! अब तुम मुझ से भीत मत हुजिये ॥ ६४ ॥ वे सब इन्द्र सहित पचास मरुद् देवता हुवे, जो भगवान् ने असुरभूत दिति माता के दोष को दूर कर के अमृत पीने वाले देवताओं में मिला लिये ॥ ६७ ॥ जब दिति जगी तो वह अग्नि के समान तेजस्वी ४९ कुमारों को और इन्द्र को देखकर प्रसन्न हुई ॥ ६८ ॥ और इन्द्र से बोली कि हे पुत्र ! मैंने अदिति पुत्रों को भयभीत कर सकने वाला बेटा उत्पन्न करने के लिये यह कठिन पुंसवन-व्रत किया था ॥ ६९ ॥ परन्तु मेरा तो एक पुत्रको उत्पन्न करने का संकल्प था ये ४९ कैसे होगये ? हे तात ! यदि आप को यह बात विदित हो तो सत्य बतला दीजिये ! झूठ की आवश्यकता नहीं ॥ ७० ॥ इन्द्र ने कहा—हे मात ! मैं तेरी [देव शत्रु पुत्र उत्पन्न करने की] अभिलाषा जानकर तुम्हारे निकट आया था [व्रतभंग का] अवसर पाकर मैंने ध
से नहीं बल्कि— स्वार्थ बुद्धि से प्रेरित होकर तुम्हारा वह गर्भ छेद डाला ।

मैंने गर्भ के सात टुकड़े किये तो वे सातों बालक होगए फिर मैंने उन सात में से प्रत्येक के सात २ टुकड़े कर डाले, तथापि वे न मरे ॥ ७२ ॥ सो हे मात ! आप जैसी पूज्या-को मुझ मूर्ख का किया हुवा यह अपराध क्षमा कर देना चाहिये क्यों कि प्रारब्ध से वह मारा हुवा गर्भ तथैव जीवित रहा है ॥ ७६ ॥ इस तरह इन्द्र के शुद्ध भाव से दिति सन्तुष्ट हुई और वह इन्द्र भी मरुद् देवताओं सहित आज्ञा पाकर दिति को प्रणाम करके स्वर्ग को चला गया ॥ ७७ ॥

वास्तविक--भाव

वेद और पुराण दोनों में ही उक्त आख्यान समान रूप से वर्णित है, हर दो जगह इन्द्र का गर्भ छेदना सुस्पष्ट है, इसमें यदि कुछ अन्तर है तो केवल यह है कि पुराणकार ने जहां अन्त में इन्द्र द्वारा अपराध क्षमा याचना पूर्वक इस कार्य्य को दोषता से उन्मुक्त करने का आदर्श प्रकट किया है, वहां वेद (ग) में इन्द्र के मुख से अनेक व्यक्तियों के मार डालने की आत्म प्रशंसा प्रकट करवा कर अन्त में अन्यान्य वेदानुयायियों को भी इन्द्र की तरह वैसा आचरण करने के लिये उकसाया गया है, एवं स्पष्ट शब्दों में—चोरी, भ्रूण-हत्या और मातृ-पितृ-वध जैसे घोरतम पाप के कर डालने पर भी- 'लोम च नामीयत' कहाते हुवे अपने रोम [संभवतः लोक प्रसिद्ध अश्लील महावरे के अनुसार गुह्य स्थानस्थ केश] के न उखड़ सकने की शेखी भंगारी गई है। ऐसी दशा में विज्ञ पाठक स्वयं सोच सकते हैं कि उक्त आख्यान के केवल 'पौराणिक-स्वरूप' पर आक्षेप करने वाले महाशय कितने अंधेरे में हैं। यद्यपि इस आख्यान के समाधान का उत्तरदायित्व हमसे अधिक, वैदिकता का मिथ्या दम भरने वाले शङ्कावादी महाशयों पर ही है तथापि अन्यान्य विधर्म्मियों की जिज्ञासा पूर्ण करने के लिये इस पर भी दो शब्द लिखना अनावश्यक न होगा।

वास्तव में इस आख्यान में वर्षाकारक (Monsoon) वायु की वैज्ञानिक उत्पत्ति का उल्लेख किया है, तद्यथा— जिसके खण्ड (टुकड़े टुकड़े) न किये जासकें- एवंभूत अन्तरिक्ष कक्षा ही ' अदिति ' है, उससे उत्पन्न होने वाले अन्तरिक्षस्थानीय वायु को ही ' इन्द्र ' कहते हैं। स्थूल परमाणुपुञ्जमय होने के कारण, खण्डन की जा सकने लायक पृथ्वी को ही ' दिति ' कहते हैं। सृष्टि के उत्पत्तिकाल में यह पृथ्वी जाज्वल्यमान अग्निपिण्ड के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं थी, उस समय इस पर उष्णता के कारण किसी भी प्राणी का जीवित रह सकना सर्वथा असम्भव न्तु पृथ्वी की वह उष्णता जब धीरे २ शान्त होने लगी, तब कभी एक मुद्दत

के बाद यह पृथ्वी प्राणियों के निवास के लायक बन सकी। श्री वेदव्यास जी ने पृथ्वी के इस परिवर्तन को 'पुंसवन-व्रत' के नाम से याद किया है। अर्थात्— 'पुं=' पुरुषों [उपलक्षण से प्राणिमात्र] के 'सवन'= प्रसव किम्वा उत्पत्ति को ही 'पुंसवन' कहते हैं, नियमपूर्वक प्राणयुत्पादन की क्षमता को प्राप्त करना ही 'व्रत' है तदनुसार जब यह पृथ्वीरूप=दिति, प्राण-सम्पन्न सृष्टि के निवास योग्य बन जाना रूप= 'पुंसवन-व्रत' को कर रही थी उस समय इसके गर्भ में अपरिमित अग्निपुञ्ज विद्यमान था। जिसे पुराण में 'कनकप्रभम्' (६२) और 'अनलप्रभान्' (६८) आदि विशेषणों द्वारा अभिव्यक्त किया है। अस्तु, वह दिति 'विधिमोहिता'= विधिविधान के तारतम्य से,— संध्या=युगारम्भ के अवसर में सोगई— अत्यन्त नीरव दशा में अचेत सी होगई। उस समय पृथ्वी पर जल का नामोनिशान तक न था, अतएव पुराण में उसे 'अस्पृष्टवार्य्यधौतांघ्रिः' (६०)। दिति के गर्भ में जो अपरिमित-अग्नि-पुञ्ज छुपा हुवा था— कदाचित् वह ज्वालामुखी के रूप में युगपदेव प्रस्फुटित होजाता तो उससे एक बारगी तो आकाशस्थ सभी ग्रह नक्षत्रादि देदीप्यमान देवगण विचलित होजाते यही 'आदित्यानां भयावहम्' (६६) विशेषण का तात्पर्य्य है। अन्तरिक्षस्थानीय वायु रूप=इन्द्र ने असंश्लिष्ट-आग्नेय-परमाणु-पुञ्ज-भूत, पृथ्वी के गर्भ में प्रवेश करके तदन्तर्गत ऊष्मा को छिन्न भिन्न कर डाला, परन्तु वह ऊष्मा वायव्य परमाणुवों से ऐसी तन्मय हुई कि उसका विश्लेषण करना सर्वथा असम्भव होगया। यही खण्डशः किये गए मरुतों का इन्द्र के गुट में मिल जाने का तात्पर्य्य है। वेद और पुराण में जिस पार्थिव ऊष्मा का वायु से संश्लिष्ट होना प्रकट किया है वही मरुद् विज्ञान-वादियों के निश्चयानुसार वर्षाकारक मानसून (Monsoon) वायु है। यद्यपि वर्तमान विज्ञान-वादी भी पार्थिव-ऊष्मा-संश्लिष्ट, मानसून नामक खास तरह की वायु को ही वृष्टिकारक मानते हैं तथापि 'वह वायु कितने प्रकार का है'— इस बारीकी तक मौजूदा साइन्स अभी तक नहीं पहुंच पाई है— यह रहस्य तो कार्य्यकारण पुरस्सर वैदिक साहित्य में ही उपलब्ध होसकता है, आस्तां तावत्।

पहिले यह समझ लेना चाहिये कि पृथ्वी में सात प्रकार के तैजस पदार्थ पाये जाते हैं, जैसे- सोना, रूपा, ताम्बा, रांग, सीसा, जस्त और लोहा। लौकिक परिभाषा में इन्हें 'धातु' कहते हैं। "यदण्डे तदेव पिण्डे" के अनुसार मानव शरीरों में भी रक्त, मज्जा, रस, मांस, त्वक्, अस्थि, और शुक्र ये सात धातुवें पाई जाती हैं इस तरह पृथिव्याश्रित तैजस पदार्थों की संख्या सात है, सृष्टि के आरंभ में-उक्त सातों पदार्थ पार्थक्यसीमा तक न पहुंच कर अविशेष तेजोमात्र कलल के रूप में

लक्षित होते थे यही दिति रूप पृथ्वी के गर्भ में एकत्वसंख्यावच्छिन्न बालक के होने का तात्पर्य्य है। पश्चात् अन्तरिक्षस्थ वायु के संयोग से वह तैजस परमाणुवों का संघात अन्यान्य तत्वों के न्यूनाधिक्य के तारतम्य से तत्तद् धातुवों के रूप में परिणत होगया। चूंकि मूल धातुवें सात हैं, यही अभिप्राय एक गर्भ के सात टुकड़े कर डालने का है।

वर्तमान वैज्ञानिक भी भली भान्ति जानते हैं कि सूर्य की सप्तविध रश्मियें हैं। अतएव धूप में कांच की गोली के संयोग से किम्वा जल प्रपातों की उच्छाल से सात तरह के विभिन्न रंग दीख पड़ा करते हैं। वेदादि शास्त्रों में भी सूर्य्य को 'सप्तरश्मि' नाम से याद किया है। सो सूर्य्य की वे सप्तविध रश्मियें भी पार्थिव ऊष्मा के आदान-प्रत्यादान में अन्तरिक्षस्थ वायु का पूरा २ साथ देती हैं, अर्थात् पूर्वोक्त सप्तविध धातुवों में से प्रत्येक के साथ इन सातों सूर्य्य रश्मियों का संघर्ष होता है। इस तरह वह पार्थिव ऊष्मा संश्लिष्ट वायु प्रत्येक धातु और तत्संबद्ध प्रत्येक रश्मि के भेद से (७×७=४९) उनंचास भेद वाला ठहरता है। यही गर्भ के सात खण्डों में से प्रत्येक के सात सात टुकड़े बना देने का रहस्य है। इस प्रकार यह सपरिकर उनंचास प्रकार के मरुत् (Monsoon) अन्तरिक्षस्थ वायु रूप इन्द्र के साथ मिलकर वृष्टि करते हैं। यही इस आख्यानका वास्तविक भाव है। न यहां इन्द्रका कुछ विश्वासघात है न गर्भपातकी कोई बात है किन्तु वैज्ञानिक रहस्य न समझ सकने वाले महाशयों की कोरी खुराफात है।

ऐतिहासिक-समन्वय

इन्द्र के इस कृत्य पर यदि ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया जावे तब भी कुछ उचित आक्षेप होसकने की संभावना नहीं, क्योंकि दिति ने एक वर्ष पर्य्यन्त कठिन तपश्चर्य्या करके देववृन्द को जड़ से उखाड़ फैंकने वाला भयङ्कर पुत्र उत्पन्न करने की अभिलाषा की थी जैसा कि श्रीमद्भागवत (६। १८। -) में लिखा है—

मन्युना शोकदीप्तेन ज्वलन्ती पर्य्यचिन्तयत् ॥२३॥
कदा नु भ्रातृहन्तारमिन्द्रियारामसुल्वणम् ॥
अक्लिन्नहृदयं पापं घातयित्वा शये सुखम् ॥२४॥

अर्थात्— [दिति] शोक से प्रदीप्त हुवे क्रोध में जलती हुई की तरह सोचने लगी कि वह दिन कब होगा जब कि मैं भाई का वध करने वाले पापी इन्द्र को-जो कि मुझे हलाहल विष के समान दुर्जन दीख पड़ता है-एवं इस समय फूला नहीं समाता—मरवा कर आराम से सोऊंगी।

यही क्यों ? जब कश्यप जी ने प्रसन्न होकर दिति से कहा कि—'वरं वरय वामोरु !'— तब भी वह अपने इस नापाक़ इरादे से न टली और कड़क कर बोली कि— 'पुत्रमिन्द्रहणं वृणे' अर्थात्— मैं इन्द्र को मारने वाला पुत्र मांगती हूँ। विज्ञ पाठक ही स्वयं सोच सकते हैं कि ऐसी दशा में आत्मरक्षा के लिये इन्द्र का क्या कर्तव्य होसकता है ? कोई भी बुद्धिमान् दिति की पूर्वोक्त विघातक-भावना की विद्यमानता में इन्द्र के इस अकार्य्य की निन्दा नहीं कर सकता ! वर्तमान क़ानून भी आत्मरक्षा के लिये किये गए किसी अपराध को उतना क़ाबिले सज़ा क़रार नहीं देता ! अतः नैतिक दृष्टि से भी यहां कोई आक्षेप नहीं किया जा सकता।

रहा दिति के पेट में घुस जाने की असंभवता का प्रश्न—सो तो मूल में ही इन्द्र को 'योगेशो योगमायया' कहते हुवे साफ कर दिया है, जब कि योगशास्त्रानुसार एक साधारण योगी भी 'परकाय-प्रवेश' कर सकता है। तब देवराज इन्द्र के विषय में आशङ्का का क्या काम ? इसी तरह गर्भ के ४९ टुकड़े किये जाने पर भी जीवित रहने की आशङ्का 'अमोघ-वीर्य्य' होने के विवेक से अपने आप समाहित होजाती है। आगे इस सम्बन्ध में विस्तार पूर्वक लिखा जाएगा। यहां इन्हीं शब्दों के साथ यह आख्यान समाप्त है।

चन्द्रमा और तारा

२८

श्रीमद्भागवत (९। १४। -) में और देवी भागवत (१। ११। ६-१०) में लिखा है कि "चन्द्रमा ने अपने गुरु बृहस्पति की धर्म्मपत्नी तारा को हठात् छीन लिया। जब हजार बार मांगने पर भी नहीं दी तो इससे देव-दानव-युद्ध आरम्भ होगया, अन्त में श्री ब्रह्मा जी ने बीच बचाव कर के किसी तरह तारा वापिस दिलवाई। इसी अर्से में तारा से बुध नामक एक पुत्र भी उत्पन्न हुवा था, जो चन्द्रमा का अपत्य जानकर उसे ही दिया गया"—अश्लीलता की ऐनक लगाकर पुराण पढने वाले महाशयों को इस—आख्यान में भी अश्लीलता एवं धर्म्मविरुद्धता का उमड़ा हुवा तोफ़ान दीख पड़ा करता है, एतदर्थ इस पर भी विचार करना आवश्यक होगा।

वैदिक-स्वरूप

(क) सोमो राजा प्रथमो ब्रह्मजायां पुनः प्रायच्छदहृणीयमानः।

(अथर्व ५। १७। २)

(ख) यामाहुस्तारकैषा विकेशीति ।

(अथर्व ५ । १७ । ४)

(ग) तेन जायामन्वविन्दद् बृहस्पतिः सोमेन नीताम् ।

(अथर्व ५ । १७ । ५)

(घ) सौमायनो (=सोमपुत्रः) बुधः ।

(ताण्ड्य २४ । १८ । ६)

अर्थात्— (क) सोम पहिला राजा हुवा, जिसने ब्राह्मण [=बृहस्पति] की धर्म्मपत्नी को [घरमें रखकर] निर्लज्जतापूर्वक पुनः वापिस दी । (ख) जिस स्त्री को विवृद्ध केशों वाली 'तारका' ऐसा कहा जाता था (ग) उस सोम द्वारा हठात् छीनी गई अपनी स्त्री को बृहस्पति ने प्राप्त किया (घ) सोम=चन्द्रमा का पुत्र बुध हुवा ।

पौराणिक-स्वरूप

उक्त आख्यान का 'पौराणिक-स्वरूप' तथा 'आधिभौतिक अर्थ' इस ग्रन्थ में पृष्ठ १८६ से पृष्ठ १८९ तक लिखा जा चुका है, पाठकों को वहां देखना चाहिये, यहां पिष्टपेषण करने की आवश्यकता नहीं ।

उपर्य्युक्त मन्त्र ऋग्वेद (८ । ६ । ७ । -) में इसी प्रकार आए हैं वहां सायणाचार्य्य ने अपने भाष्य में इनको इतिहासपरक ही व्याख्या की है । इन मन्त्रों में कितनी स्पष्टता के साथ यह आख्यान वर्णित है—यह कहने की आवश्यकता नहीं ।

आध्यात्मिक-अर्थ ।

श्री पं० कालूराम जी शास्त्री ने उक्त आख्यायिका का निम्नलिखित आध्यात्मिक-भाव प्रकट किया है—

"यहां पर गुरु को बृहस्पति के नाम से याद किया गया है, और आल्हाद युक्त शिष्य को चन्द्रमा कहा है । गुरु विद्या में रमण करता है इस कारण विद्या को गुरुपत्नी लिखा है, वह साधारण नहीं है तारा है 'तारयति संसारसागरात् या सा तारा-विद्या'-संसार सागर से जो पार उतारती है उस विद्या का नाम तारा है शिष्य गुरु की विद्या को ग्रहण कर लेता है उस विद्या से शिष्य के अन्तःकरण में ज्ञान पैदा होता है उस ज्ञान को यहां पर 'बुध' लिखा है । जब शिष्य को ज्ञान पैदा हो जाता है तब उसको विद्या की आवश्यकता नहीं रहती, अत एव वह विद्या फिर गुरु के पास चली जाती है । यह चन्द्र तारा की कथा का आध्यात्मिक भाव है । "

ऐतिहासिक-समन्वय

हम शैलीवर्णनाध्याय (पृष्ठ १८२) में पुराण शैली की विशेषता का वर्णन करते हुवे यह कह आये हैं कि पुराणों में बहुत से ऐसे संदर्भ पाये जाते हैं कि जिन में ऐतिहासिक सामग्री के साथ साथ अनेक आध्यात्मिक एवं वैज्ञानिक तत्वों को ऐसा विमिश्रित कर डाला है कि जिनका पृथक्करण किये बिना विशुद्ध-ऐतिहासिक तथ्यों को ढूंढ निकालना सर्व साधारण का काम नहीं है, तदनुसार यह-आख्यान भी एक सीमा तक मानव-इतिहास से सम्बन्ध रखता है, परन्तु श्रीमद्भागवत निर्दिष्ट इस आख्यान के उपसंहारात्मक शब्दों पर गंभीर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि तारा अपहरण वाली घटना तो खगोल विषयक 'बुध ग्रह' से ही संबन्ध रखती हैं-अर्थात्-इस घटना का मानव-इतिहास से कुछ भी संबन्ध नहीं है जैसा कि—

समरस्तारकामयः

(श्रीमद्भागवत ९ । १४ । ७)

आदि शब्दों से व्यक्त होता है। इसमें ऐतिहासिक तथ्य तो केवल एतावन्मात्र जान पड़ता है कि ब्रह्मा के पौत्र चन्द्रदेव का बेटा 'बुध' हुवा था जो कि वर्तमान चन्द्र-वंशी क्षत्रियों का आदिम पुरुष कहा जा सकता है। हमारे विचार में उक्त आख्यान का इससे अधिक ऐतिहासिक मूल्य नहीं आंका जासकता !

बृहस्पति और ममता

२१ पुराणों पर एक यह भी आक्षेप किया जाया करता है कि उनमें बृहस्पति का ममता से बलात्कार करना लिखा है, कहा जाता है कि बृहस्पति ने अपने बड़े भाई उतथ्य की धर्म्मपत्नी ममता से सगर्भावस्था में ही बार बार हटाने पर भी हठात् मैथुन किया, जब गर्भस्थ बालक ने बृहस्पति का वीर्य्य अन्दर न जाने दिया तो उसके बाहिर गिरते ही उससे 'भरद्वाज' मुनि की उत्पत्ति हुई एवं बृहस्पति ने क्रुद्ध होकर गर्भस्थ बालक को जन्मान्ध हो जाने का शाप दिया, जिससे दीर्घतमा ऋषि उत्पन्न हुवे। यह कथा अत्यन्त अश्लील, धर्म्म-विरुद्ध, एवं असंभव है—हम क्रमागत शैली के अनुसार इस पर भी विचार करते हैं।

वैदिक-स्वरूप

(क) यदस्यै वाचो बृहत्यै पतिस्तस्माद् बृहस्पतिः।

(जैमिनि उपनिषद् २।२।५)

(ख) बृहस्पतिरिव बुद्धया।

(मन्त्र ब्राह्मण २।४।१४)

(ग) द्वितीयां जायामश्नुते।

(तैत्तिरीय १।३।१०।३)

(घ) तामन्तर्हिता ॐ रेतःसिग्भ्यामुपदधाति।

(शतपथ ७।४२।२४)

(ङ) यद् वै रेतसो योनिमतिरिच्यतेऽमुया तद् भवति।

(शतपथ ६।३।३।२६)

(च) भारद्वाजं वै बृहत्।

(ऐतरेय ८।३)

(छ) दीर्घतमा मामतेयो जुजुर्वान् दशमे युगे।

(ऋग्वेद अष्टक २ अनु० ३ व० १)

अर्थात्— (क) इस श्रेष्ठ वाणी के पति को बृहस्पति कहते हैं (ख) बृहस्पति की तरह बुद्धि से [संगत होता है] (ग) दूसरी स्त्री को प्राप्त होता है (घ) उस अन्तर्हिता=सगर्भा [ममता] को वीर्य्य सेचन के लिये उपधान करता है (ङ) जो वीर्य्य योनि से अतिरिक्त=बाहिर पड़ता है वह उस [सगर्भा ममता] के कारण होता है। (च) बृहत् ही भारद्वाज है (छ) दशमयुग=सृष्टि के आरंभ से दो चतुर्युगी व्यतीत होकर आने वाले त्रेता में—ममता का बेटा दीर्घतमा नामक ऋषि मन्त्र-द्रष्टा हुवा।

पौराणिक-स्वरूप

अन्तर्वत्न्यां भ्रातृपत्न्यां मैथुनाय बृहस्पतिः।
प्रवृत्तो वारितो गर्भं शप्त्वा वीर्य्यमवासृजत् ॥३६॥
तं त्यक्तुकामां ममतां भर्तृत्यागविशङ्कितां।
नामनिर्वचनं तस्य श्लोकमेनं सुरा जगुः ॥३७॥

मूढे ! भरद्वाजमिमं भरद्वाजं बृहस्पते ! ।
या तौ यदुक्त्वा पितरौ भरद्वाजस्ततस्त्वयम् ॥३८॥
चोद्यमाना सुरैरेवं मत्वा वितथमात्मजम् ।
व्यसृजन्मरुतो विभ्रन्दत्तोऽयं वितथेऽन्वये ॥३९॥

(श्रीमद्भागवत ९ । २० ।-)

अर्थात्—गर्भवती भाई की स्त्री के साथ बृहस्पति मैथुन करने के लिये प्रवृत्त हुवा, [गर्भस्थ बालक ने] निषेध किया [अतः उसको अन्ध होजाने का] शाप देकर [बाहिर ही] वीर्य्य छोड़ दिया ॥३६॥ पति के त्याग देने के भयसे ममता ने उस [प्रस्खलित वीर्य्य द्वारा उत्पन्न हुवे बालक] को छोड़ना चाहा, तब देवताओं ने ममता के प्रति उस [सद्योजात शिशु] के नाम का निर्वचन भूत यह श्लोक पढा ॥३७॥ हे मूर्खे ! दो से उत्पन्न होने वाले इस बालक का तू पालन कर ! हे बृहस्पते ! तू भी इस 'द्वाज'=दूसरे के क्षेत्राश्रय से अन्य वीर्य्य जात—बालक का पोषण कर इस तरह परस्पर कहते हुवे ममता और बृहस्पति दोनों ही उस बालक को छोड़ कर खिसक गये इस लिये इसका नाम 'भरद्वाज' ऐसा प्रसिद्ध हुवा ॥३८॥ देवताओं के कहने पर भी ममता ने इस बालक को वितथ=व्यर्थप्रायः=अनावश्यक=निरर्थक एवं व्यभिचार-जात जानकर छोड़ दिया, [तब इस अनाथ को] मरुत् नामक देवताओं ने प्राप्त कर के भरत के वंश में देदिया ॥३९॥

वास्तविक--भाव

उपर्य्युक्त दोनों स्वरूपों की तुलना करने पर प्रत्येक साक्षर इस आख्यान की वैदिकता का अच्छी तरह अनुमान कर सकता है। कई क्षुद्रबुद्धि जन इस कथा से नियोग भी सिद्ध करना चाहा करते हैं परन्तु उन्हें यह विदित नहीं कि इससे तो आपके माने हुये नियोग की उल्टी धज्जियें उड़जाती हैं। क्योंकि आपके यहां नियोग का लक्षण यही तो है कि "संतान के लिये पति की आज्ञा से या उसके मरने पर किसी पर पुरुष से इच्छापूर्वक भोग करना"- उक्त कथा में इन तीनों बातों का सर्वथा अभाव है। क्योंकि संतान तो पूर्व ही ममताके गर्भ में विद्यमान थी। पति आज्ञा का इसमें लेशमात्र भी नहीं और ममता अन्त तक इस कार्य्य के सर्वथा प्रति-कूल ही रही है। अतः इसे खुला व्यभिचार या बलात्कार ही कह सकते हैं। अगर आप की सम्मति में नियोग भी इसी का नाम है तब तो आपके इस धार्मिक कृत्य पर सौ २ बार बलिहारी ! आशा है कि प्रतिवादी अब इससे नियोग सिद्ध करने का

साहस नहीं दिखायेंगे। रहा इसकी वास्तविकता का विचार सो हम वैदिक शब्दों में ही प्रगट करते हैं। वेदों में लिखा है कि—

वाग्वै बृहती

(शतपथ १४।४।१।२२)

अर्थात्—यह वाक् ही बृहत् कही जाती है।

पतिः पालयिता

(निरुक्त अ० १० खं० २१)

अर्थात्—पति रक्षक को कहते हैं सो पुरुष का मन ही बृहस्पति कहलाता है क्योंकि 'यन्मनसाऽनुमनुते तद् वाचा वदति' इस श्रुतिके अनुसार पहिले मनमें जो भाव उदित होता है वही पश्चात् वाणी से बोला जाता है अतः मनः ही वाणी का पति कहला सकता है इसका ज्येष्ठ भ्राता जीवात्मा ही उतथ्य है, 'तथ्य' शब्द का अर्थ सत्य है और 'उ' शब्द वितर्क द्योतक है। अर्थात् जिसकी सत्यता में वितर्क हो वह 'उतथ्य' कहा जाता है। अतः यह जीव—जीवरूपेण सत्य है किं वा—'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' के अनुसार ब्रह्मरूपेण सत्य है? ऐसा विचार जीवात्मा के विषय में निरन्तर बना रहता है। द्वैत-अद्वैत-विशिष्टाद्वैत-आदि सिद्धान्त इसी एक 'उ' की करामात है। 'ममता' शब्द की विशेष व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि प्रचलित भाषा में भी किसी वस्तु में विशेष आसक्त होना या उसमें रागाधिक्य-रखना, ममत्व-ममता किंवा-मामता कही जाती है, जो कि माया का ही विशद स्वरूप है 'दीर्घतमा'-का अर्थ घोर अन्धकार है जिसे दूसरे शब्दों में अज्ञान या मोह कहा जा सकता है। इसी प्रकार 'वीर्य्य' शब्द भी पराक्रम का-पर्य्याय है। अतः आध्यात्मिक पक्ष में इसका सीधा अर्थ यही होगा कि जीवात्मा रूप उतथ्य की स्त्री=ममता='ममत्व' युक्त-तादृश वृत्ति के गर्भ में मोहरूप दीर्घ तमा थे। बृहस्पति रूप मन ने इस वृत्ति में आने वीर्य=सामर्थ्य का संचार करना चाहा परन्तु जब तक ममता के गर्भमें मोह घुसा बैठा हो तब तक मानसी शक्ति का संचार होना सर्वथा कठिन है वेद में इसी भाव को इस प्रकार प्रगट किया है—

अन्धंतमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।

(यजुः ४०।१२)

अर्थात्—जो मनुष्य अविद्या के चंगुल में फंस जाते हैं वह घोर अन्धकार को प्राप्त होते हैं। -अतः मन के हजार बार प्रयत्न करने पर भी ममतागर्भस्थ-मोह मानसिक बल का प्रवेश नहीं होने देता। कदाचित् वह मनः=रूप बृहस्पति यथा

तथा अपने वीर्य्य=सामर्थ्य को ममतावृत्ति के सन्निधान में भी प्रस्खलित करदे—फैलादे, तो उससे आत्मज्ञान रूप 'भरद्वाज' उत्पन्न होता है। क्योंकि 'आत्मज्ञान' मनः और वृत्ति इन दोनों के पारस्परिक संघर्ष का परिणाम है अतः यह 'द्वाज' कहा जाता है, उत्पन्न हुवे आत्मज्ञान का यमनियमादि साधनों द्वारा ही परिपोषण होता है अतः यही भरद्वाज का देवताओं द्वारा रक्षित होने का अभिप्राय है यही इस कथा का आध्यात्मिक भाव है। इतिहास पक्ष में वेद पुराण समन्वयाध्याय के देवतावाद प्रघट्ट-वर्णित दिव्य चरित्रों का मनन करने से सब शंकाऐं काफूर हो जायेंगी क्योंकि मनुष्य-योनि कर्मयोनि है अर्थात् इसमें किये गये शुभाशुभ कर्म भोगने पड़ते हैं और पशु पक्षी आदि तथा देव गन्धर्व आदि भोग योनियें हैं इनमें पूर्वजन्मकृत अशुभ और शुभ कर्मों को केवल भोगना पड़ता है अतः सूक्ष्म इच्छामय दिव्य शरीरधारी देवताओं के चरित्र—स्थूल विकारी पांच भौतिक शरीरधारी मनुष्यों के लिये अनुकरणीय नहीं होते,। इसके अतिरिक्त जहां यह कथा आती है वहां कहीं भी इसे धर्मसंगत नहीं कहा है। ऐतिहासिक ग्रन्थों में बुरी भली सभी प्रकार की घटनायें लिखी रहती हैं परन्तु इससे सर्वसाधारण तादृश अनुकरण करने के लिये बाध्य हों सो बात नहीं है। हमारे विचार में यह कथा एक रूपकप्राय आख्यायिका है परन्तु वेदव्यास जी ने पुराणों की विशिष्ट शैली के अनुसार इसमें ऐतिहासिक अंश को भी विमिश्रित किया है सो विश्लेषण करने पर इतना ही तथ्य जान पड़ता है कि विनष्ट हुवे भरतकुल का उत्तराधिकारी 'भरद्वाज' हुवा है।

भाई बहिन का विवाह ?

कहा जाता है कि-'प्रसिद्ध राजा वेन के पुत्र पृथु ने अपनी बहिन अर्चि से विवाह किया था'-हम इस आख्यान की वास्तविकता प्रकट करते हैं।

पौराणिक-स्वरूप

अथ तस्य पुनर्विप्रैरपुत्रस्य महीपतेः।
बाहुभ्यां मथ्यमानाभ्यां मिथुनं समपद्यत ॥१॥
तद्दृष्ट्वा मिथुनं जातमृषयो ब्रह्मवादिनः।
ऊचुः परमसन्तुष्टा विदित्वा भगवत्कलाम् ॥२॥

एष विष्णोर्भगवतः कला भुवनपालिनी ।
इयं च लक्ष्म्याः संभूतिः पुरुषस्यानपायिनी ॥३॥
पृथुर्नाम महाराजो भविष्यति पृथुश्रवाः ॥४॥
अर्चिर्नाम वरारोहा पृथुमेवाऽवरुन्धती ॥५॥
(श्रीमद्भागवत ४ । १५ । —)

अर्थात्— [वेन के मरजाने पर उसके शरीर के मथने से जब निषाद उत्पन्न होचुका] इसके पश्चात् पुत्र हीन राजा वेन के शरीर को ऋषियों ने फिर मथा तब उसकी भुजाओं से एक जोड़ा पैदा हुवा ॥१॥ ब्रह्मवादी ऋषि उत्पन्न हुवे उस मिथुन को भगवान् की कला जान कर प्रसन्न होकर बोले ॥२॥ इनमें जो पुरुष है यह भुवन की रक्षा करने वाली विष्णु कला है, और जो स्त्री है यह विष्णु भगवान् की अनन्य प्रिया लक्ष्मी की कला है ॥३॥ सो यह पुरुष महान् यशस्वी 'पृथु' राजा होगा ॥४॥ और यह सुन्दरी कन्या पृथु की अर्धाङ्गिनी 'अर्चि' नाम से विख्यात होगी ॥५॥

उपर्युक्त पौराणिक स्वरूप के मूल शब्दों से ही उक्त दोनों व्यक्तियों का भाई बहिन होना सिद्ध नहीं होता, किन्तु विष्णु और लक्ष्मी के कलावतार होने के कारण दोनों का पति पत्नी होना ही सिद्ध होता है। कदाचित् शङ्कावादी महाशय वेन के शरीर से उत्पन्न होने के कारण इन दोनों को भाई बहिन बताने का प्रयत्न करेगा तो उसे स्वयं भी इस आक्षेप का पात्र बनना पड़ेगा क्योंकि महाशय जी और उनकी श्रीमती जी--दोनों भी तो एक निराकार से ही सृष्टि के आरंभ में टपक पड़े थे। अतः यही मानना पड़ेगा कि अयोनिजसृष्टि में तादृश सम्बन्ध नहीं माना जाता किन्तु योनिज में ही एक दूसरे का वह वह संबन्ध युक्ति संगत है। हम 'ब्रह्मा दुहिता प्रसङ्ग' में यह विस्तार पूर्वक लिख चुके हैं यहां दुहराने की आवश्यकता नहीं।

यज्ञ का दक्षिणा से विवाह

२१ कहा जाता है कि— 'यज्ञ ने अपनी सहोदरा भगिनी दक्षिणा के साथ विवाह किया था'--यह आख्यान इस प्रकार है—

पौराणिक-स्वरूप

प्रजापतिः स भगवान् रुचिस्तस्यामजीजनत् ।
मिथुनं ब्रह्म-वर्चस्वी परमेण समाधिना ॥३॥

यस्तयोः पुरुषः साक्षाद् विष्णुर्यज्ञस्वरूपधृक् ।
या स्त्री सा दक्षिणा भूतेरंशभूताऽनपायिनी ॥४॥
तां कामयानां भगवानुवाह यजुषां पतिः ।
तुष्टायां तोषमापन्नोऽजनयद् द्वादशात्मजान् ॥६॥

(श्रीमद्भागवत ४ । १ । -)

अर्थात्—भगवान् प्रजापति रुचि द्वारा [मनु की आकूति नामक] उस कन्या में परम समाधि से ब्रह्मतेजोमय एक जोड़ा उत्पन्न हुवा ॥३॥ उन दोनों में जो पुरुष था वह यज्ञावतारधारी साक्षात् विष्णु भगवान् थे और जो दक्षिणानामक स्त्री थी वह अनपायिनी लक्ष्मी की अंशभूत थी ॥४॥ यजुर्वेद के अधिष्ठाता भगवान् यज्ञ देव ने इस इच्छित फलदायिनी दक्षिणा के साथ विवाह किया, और संतुष्ट दक्षिणा में प्रसन्न हुवे यज्ञ से 'तोष-प्रतोष' आदि बारह पुत्र उत्पन्न हुवे ॥६॥

वैदिक--स्वरूप

(क) यो वै विष्णुः स यज्ञः ।

(शतपथ ५ । २ । ३ । ६)

(ख) पुरुषो वै यज्ञस्तस्य शिर एव हविर्धाने मुखमाहवनीय उदरं सदो ।

(कौषीतकी १७ । ७)

(ग) एषा ह वै यज्ञस्य पुरोगवी यद्दक्षिणा ।

(गोपथ ३०६ । १४)

(घ) यज्ञोऽदक्षिणो रिष्यति तस्मादाहुर्दातव्यैव यज्ञे दक्षिणा भवत्यल्पिकापि ।

(ऐतरेय ६ । ३५)

अर्थात्— (क) जो विष्णु है वही यज्ञ है (ख) यज्ञ ही पुरुष है, 'हविर्धान' उसका शिर है, 'आवहनीय' उसका मुख है, 'सद्' उसका उदर है (ग) यह जो दक्षिणा है सो यज्ञ की 'पुरोगवी'=अग्रगण्य है (घ) दक्षिणारहित यज्ञ विनष्ट हो जाता है, इसी लिये कहा जाता है कि यज्ञ में अवश्य ही थोड़ी बहुत दक्षिणा देनी चाहिये ।

विवेचन

उपर्य्युक्त आख्यान में पुराणों की विशिष्ट शैली के अनुसार श्री वेदव्यास जी ने ऐतिहासिक अंश को याज्ञिक तत्व के साथ विमिश्रित करके प्रकट किया है, तदनुसार यहां यह दिखलाया गया है कि जिस प्रकार संसार में स्त्री, पुरुषकी अर्धाङ्गिनी मानी जाती है, और उक्त दम्पती का अनिवार्य्य ऐक्य ही सन्तान-उत्पादन का कारण होता है, ठीक इसी प्रकार वैदिक विधान में दक्षिणादान यज्ञ का एक आवश्यक अङ्ग है फलतः सदक्षिण-यज्ञ ही स्वर्गादि फलों का आधायक होता है। इस लिये प्रायः समस्त शास्त्रों में 'हतं यज्ञमदक्षिणम्' का सर्वतन्त्र सिद्धान्त अविशेष रूप से अङ्कित है। सो यहां यज्ञ प्रक्रिया के आदिम अभिभावक प्रजापति रुचि और उसके यज्ञानुष्ठान-विधान का आलंकारिक रीति से पितापुत्ररूपेण वर्णन किया है, यज्ञ के साथ दक्षिणादान-मर्य्यादा की संस्थापना भी उक्त क्रियाशील प्रजापति ने ही पहिले पहिल की थी इस लिये दक्षिणा को भी उसकी पुत्री बताया गया है। चूंकि यज्ञ और दक्षिणा का जोड़ा अनिवार्य्य है अतएव 'पौराणिक-स्वरूप' में इस भाव को 'मिथुन-मजीजनत्' शब्दों द्वारा प्रकट किया है। सो यहां न वास्तव में कोई कन्या है और न उसका अपने किसी वास्तविक सहोदर भाई के साथ विवाह हुवा है किन्तु यहां तो यज्ञानुष्ठान और दक्षिणादान प्रथा के आदिम संस्थापक का—तथा इन दोनों धर्म्म-क्रियाओं की इतिकर्तव्यता का निरूपण किया है।

कदाचित् कोई निरा निठल्ला यह कहने का कष्ट करे कि 'पुराणकार ने इस प्रकार का भ्रामक रूपक क्यों बान्धा है? जिससे कि बहिन भाई के विवाहका तात्पर्य्य निकलता है'— इसका उत्तर यह है कि जब वेद (ख) में भी यज्ञ को न सिर्फ आलंकारिक रीति से पुरुष मात्र ही कहा है बल्कि उसके अमुक २ विधानों को-शिर-मुख-उदर रूपसे प्रकट किया है, इससे इस आख्यान की रूपकता सुस्पष्ट ही है। तब पुराणों में इसका पुरुषरूपेण वर्णन करना आक्षेप योग्य कैसे होसकता है।

सुद्युम्न का स्त्री होजाना

२१ श्रीमद्भागवत (९।१।१३-४२) में तथा पद्मपुराण (सृ० खं० ५। अ० ८) में वर्णन आता है कि सुद्युम्न नामक युवक राजकुमार-पुरुष से स्त्री बन गया और उसके पेट से पुरूरवा नामक प्रसिद्ध चन्द्रवंशी राजा की उत्पत्ति हुई— इत्यादि शंकावादियों का कहना है कि यह आख्यान अत्यन्त असम्भव एवं सृष्टिनियम के सर्वथा विरुद्ध है। हम इस पर भी विचार करते हैं।

पौराणिक-स्वरूप

अप्रजस्य मनोः पूर्वं वसिष्ठो भगवान्किल ।
मित्रावरुणयोरिष्टिं प्रजार्थमकरोत्प्रभुः ॥१३॥
तत्र श्रद्धा मनोः पत्नी होतारं समयाचत ।
दुहित्रर्थमुपागम्य प्रणिपत्य पयोव्रता ॥१४॥
होतुस्तद्व्यभिचारेण कन्येला नाम साभवत् ।
तां विलोक्य मनुः प्राह नातिहृष्टमना गुरुम् ॥१६॥
अस्तौषीदादिपुरुषमिलायाः पुंस्त्वकाम्यया ॥२१॥
तस्मै कामवरं तुष्टो भगवान्हरिरीश्वरः ।
ददाविलाभवत्तेन सुद्युम्नः पुरुषर्षभः ॥२२॥
स एकदा महाराज ! विचरन्मृगयां वने ॥२३॥
यत्रास्ते भगवाञ्शर्वो रममाणः सहोमया ॥२५॥
अपश्यत्स्त्रियमात्मानमश्वं च वडवां नृप ! ॥२६॥
स्त्रीभिः परिवृतां वीक्ष्य चकमे भगवान्बुधः ॥३४॥
स तस्यां जनयामास पुरूरवसमात्मजम् ॥३५॥
एवं स्त्रीत्वमनुप्राप्तः सुद्युम्नो मानवो नृपः ।
सस्मार स्वकुलाचार्य्यं वसिष्ठमितिशुश्रुमः ॥३६॥
स तस्य तां दशां दृष्ट्वा कृपया भृशपीडितः ।
सुद्युम्नस्याशन्पुंस्त्वमुपाधावत शङ्करम् ॥३७॥
तुष्टस्तस्मै स भगवानृषये प्रियमावहन् ॥३८॥
मासं पुमान्स भविता मासं स्त्री तव गोत्रजः ॥३९॥

(श्रीमद्भागवत ९ । १ । -)

अर्थात्—पुराने जमाने में महर्षि वसिष्ठ ने सन्तानरहित मनु राजा की वंश वृद्धि के लिए 'मित्रावरुण' का यज्ञ रचा ॥१३॥ मनु की धर्म्मपत्नी श्रद्धा ने [एकान्त में] होता=यज्ञाचार्य्य से कन्या उत्पन्न होने की प्रार्थना की ॥१४॥ अतः होता की

तादृश भावना से उक्त रानी से पुत्र के बजाय 'इला' नाम वाली कन्या उत्पन्न हुई। जिसे देखकर विमनस्क हुवे मनुने वसिष्ठ जी से शिकायत की ॥१६॥ [वसिष्ठ जी ने रानी और होता की विपरीत भावना से कन्या की पैदाइश बताकर] इला के पुरुष बन जाने की इच्छा से आदि पुरुष परमात्मा की स्तुति की ॥२१॥ जिससे प्रसन्न होकर भगवान् ने इसे इच्छित वर दिया, जिसके प्रताप से इला स्त्रीत्व को छोड़ कर सुद्युम्न नामक राजकुमार बनगई ॥ २२ ॥ एक बार राजकुमार सुद्युम्न शिकार खेलते हुवे ॥ २३ ॥ उस स्थान में जा पहुंचे—जहां कि भगवान् शङ्कर पार्वतीरहित रमण करते थे ॥२५॥ [इस स्थान के तादृश प्रभाव से] सुद्युम्न ने देखा कि वह स्वयं स्त्री बना हुवा है और उसका घोड़ा भी घोड़ी बन गया है ॥२६॥ इस तरह अपने साथियों सहित स्त्रीभावापन्न सुद्युम्न को बन में घूमता अथवा घूमती हुई देखकर बुध ने उसको चाहा ॥३४॥ इस तरह बुध के संयोग से उक्त इला में पुरूरवा नामक पुत्र उत्पन्न हुवा ॥३५॥ इस तरह एक मुद्दत तक स्त्रीजीवन बिताते हुवे मनुपुत्र सुद्युम्न ने अपने कुल पुरोहित वसिष्ठ जी को स्मरण किया—ऐसा सुना जाता है ॥३६॥ वसिष्ठ जी [समाधि द्वारा] सुद्युम्न की दुर्दशा देखकर अतीव दुःखित हुवे तथा फिर से उसको पुरुष बनाने के लिये श्री शङ्कर भगवान् के पास पहुंचे ॥३७॥ सो शिवजी ने प्रसन्न होकर वसिष्ठ की अभिलाषा पूर्ण करने के लिये [कहा कि–] ॥३८॥ आपका गोत्रज सुद्युम्न एक मास पुरुष और एक मास स्त्री रहा करेगा ॥३९॥

समाधान

उपर्युक्त आख्यान को पढ़ कर जो महाशय शङ्कापङ्कनिमग्न होजाते हैं उन्हें न केवल प्रकृति वैलक्षण्य से ही बल्कि सामयिक घटनाओं से भी सर्वथा अपरिचित ही समझना चाहिये, क्योंकि उन्हें यह विदित नहीं कि भला ! इस कथा में तो–जिस यज्ञ द्वारा सन्तानोत्पादन किया जा रहा था उसमें रानी के कहने से 'होता' ने कन्योत्पादक मन्त्रों को पढ़ कर तादृश मन्त्रशक्ति के बल से 'हविष्य' में कन्या सन्तति के उत्पादन की योग्यता का आधान कर दिया था अतः वसिष्ठ जी के तपोबल से ही वह कन्या पुंस्त्व को प्राप्त होसकी थी, और फिर जगन्नियन्ता श्री महादेव जी के प्रताप से हिमालय के खास प्रदेश में तादृश वातावरण के तारतम्य से वह स्त्रीभावापन्न होगई थी, तथा पश्चात् 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं प्रभुः' महेश्वर के अनुग्रह से ही एक एक महीने बारी बारी से स्त्री पुरुष बनकर जीवन बिताने का वर मिला था—ऐसा लिखा है जो 'मन्त्र-शक्ति' 'तपोबल' एवं 'दैव-सामर्थ्य' रूप कारणों का मनन करने से

प्रत्येक आस्तिक के हृदय को समाहित कर सकता है परन्तु हम तो आज के जमाने में भी यदृच्छा से ही इस प्रकार की घटनाओं का घटना देखते हैं अर्थात् अब भी गत वर्षों में कई 'स्त्रियों का पुरुष बन जाना और पुरुषों का स्त्री बन जाना' समाचारपत्रों में पढ़ चुके हैं अतः शङ्कावादी महाशय इस प्रत्यक्ष का अपलाप किस प्रकार कर सकते हैं ?

इस आख्यान के 'पौराणिक स्वरूप' के मूल शब्दों में ही यह स्पष्ट कर दिया गया है कि—होता ने मन्त्र-बल से, वसिष्ठजी ने तपोबल से तथा श्री शङ्कर भगवान् ने अपनी देव-सामर्थ्य से उक्त राजकुमार की गिरगट की तरह काया पलट की थी सो मन्त्र तपः और देव-सामर्थ्य के अलौकिक चमत्कारों को वेदादि सभी शास्त्र सहस्रमुखेण स्वीकार करते हैं यथा—

यद्दुस्तरं यद्दुरापं, यद्दुर्गं यच्च दुष्करम् ।
सर्वं तु तपसा साध्यं, तपो हि दुरतिक्रमम् ॥

(मनुस्मृति ११ । २३८)

अर्थात्—जिसका पार न मिल सकता हो, जो वस्तु अप्राप्य हो, जहां पहुंच न हो पाती हो एवं जो किया न जासकता हो—वह सब तपोबल के प्रभाव से सिद्ध हो सकता है, क्योंकि तपः से बढ़कर अन्य कोई वस्तु नहीं ।

'योगदर्शन' के विभूति पाद में योग-बल से होने वाले उन २ चमत्कारों का साङ्गोपाङ्ग विस्तृत विवेचन किया है कि जिनके पढ़ लेने मात्र से शङ्कावादियों की आंखें खुलजाती हैं, हम विस्तारभय से यहां वह सब प्रकरण उद्धृत नहीं कर सकते । स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी अपने वेदभाष्य में ऐसे अनेक लोकोत्तर चमत्कारों का उल्लेख किया है प्रमाणार्थ इसी ग्रन्थ के पृष्ठ १३०, १३१, २३३, २३४, २३५, २४७ और २४८ का पारायण करना चाहिये ।

यहां तो-मन्त्र तपः और देवसामर्थ्य के प्रभाव से काया पलट का उल्लेख है परन्तु अब तो बड़े २ पाश्चात्य डाक्टर साधारणतया भी यह बात मानते ही नहीं-बल्कि शारीरिक विज्ञान द्वारा सिद्ध करते हैं कि अमुक साधनों से पुरुष को स्त्री और स्त्री को पुरुष बनाया जासकता है । उनका कहना है कि स्त्री और पुरुष की जननेन्द्रिय में थोड़ा ही अन्तर है यदि स्त्री प्रजनन की आभ्यन्तरिक बलियों को वैज्ञानिक नियमानुसार बाहिर निकाल लिया जाये तो वह 'पुंव्यंजन' का सा आकार बन जायेगा, इसी प्रकार पुरुष चिन्ह को विधिवत् अन्दर बलित कर देने

पर स्त्री चिन्ह बन जाएगा,। कहना न होगा कि यह पंक्तियें सर्वसाधारण को चाहे होली का मज़ाक ही क्यों न जँचे परन्तु वर्तमान विज्ञान इसे सम्भवता की सीमा में अवश्य परिगणित करता है।

यदि अघटितघटनापटीयसी प्रकृति देवी स्वयं ही शङ्कावादी महाशय जी को अपटूडेट श्रीमती के रूप में परिवर्तित करना चाहे तब तो महाशय जी के पुरुषोचित अङ्ग अतीव मन्थरगति से स्त्रीत्व दशा में परिणत होने लगेंगे, अन्त में गर्भाशय और स्तन्याशय भी स्त्रियों के समान ही बन जाएंगे पाठकों के सन्तोषार्थ हम ऐसी एक दो ताज़ा घटनाओं का यहां उल्लेख करते हैं—

दो लड़कियों का बाप औरत होगया—

"उर्दू 'प्रताप' के गुरुदासपुर के सम्वाददाता ने लिखा है कि तीन साल का अर्सा गुजरा कि 'भागलपुर जिला कटक' में 'हरिकृष्ण' नामक आदमी (जिसके दो लड़कियां भी पैदा होचुकी थीं) जब ३५ वर्ष का हुवा तो उसके पुंस्त्व के चिन्ह मिटने लगे और वह कई मास में स्त्री होगया तो उसका नाम हरिदेवी रक्खा गया और इसकी रिपोर्ट डिप्टी कमिश्नर के पास गई तो उन्होंने कहा योरोप में ऐसी कई घटनाएं होगुजरीं।"

[जौलाई सन् १९२५ के 'धीमान् ब्राह्मण' (मुजफ्फरनगर) से—] इसी तरह की एक घटना टर्की में हुई थी वहां स्त्री पुरुष बन गई थी जिसके साथ वहां के राजघराने तक की कन्यायें भी विवाह करने के लिये लालायित थीं। क्या अब भी शङ्कावादी इस कथा पर आक्षेप करने का साहस करेगा ?

युवनाश्व की कोख से मांधाता

पुराणों में लिखा है कि प्रसिद्ध सम्राट् मान्धाता का जन्म महाराजा युवनाश्व के पेट से हुवा था— यह कथा अत्यन्त असम्भव है, पुरुष के पेट में न गर्भाशय होता है और नाहीं उसमें किसी बालक को धारण कर सकने की गुञ्जाइस होती है। अतः पुराणों का यह लेख कोरा 'राल का गोला' ही समझना चाहिये।— हम सर्वप्रथम इस आख्यान का 'पौराणिक-स्वरूप' प्रकट करते हैं—

पौराणिक-स्वरूप

भार्य्याशतेन निर्विण्ण ऋषयोऽस्य कृपालवः ।
इष्टिं स्म वर्तयांचक्रुरैन्द्रीं ते सुसमाहिताः ॥२६॥
राजा तद्यज्ञसदनं प्रविष्टो निशि तर्षितः ।
दृष्ट्वा शयानान्विप्रांस्तान्पपौ मन्त्रजलं स्वयम् ॥२७॥
ततः काल उपावृत्ते कुक्षिं निर्भिद्य दक्षिणम् ।
युवनाश्वस्य तनयश्चक्रवर्ती जजान ह ॥३०॥
कं धास्यति कुमारोऽयं स्तन्यं रोरूयते भृशम् ।
मान्धाता वत्समारोदीरितीन्द्रोदेशिनीमदात् ॥३१॥

(श्रीमद्भागवत ६ । ६ । —)

अर्थात्— [महाराजा युवनाश्व निःसन्तान होने के कारण] सौ स्त्रियों से दुःखित होगया, तब कृपालु ऋषियों ने बड़ी ही तत्परता के साथ [सन्तान प्राप्ति के लिये] इन्द्र का यज्ञ रचा ॥ २६ ॥ रात के समय प्यास से अत्यन्त पीड़ित हुवा राजा यज्ञशाला में पहुँचा सब ऋत्विजों को सोते देखकर स्वयं ही मन्त्रों से अभिमन्त्रित किया हुवा यज्ञ-कलश का जल पीगया ॥२७॥ [क्योंकि यह जल पुंसवन मन्त्रों से अभिमन्त्रित होने के कारण पुत्रोत्पादन की अचूक सामर्थ्य से परिपूरित था अतः] कुछ समय व्यतीत होजाने के बाद युवनाश्व की दाईं कोख को फाड़ कर एक चक्रवर्ती लक्षणोपेत बालक का प्रादुर्भाव हुवा ॥ ३० ॥ 'यह बालक किस की दूधी पीयेगा ? यह तो दूध के लिये बार २ रो रहा है ?'— ऋषियों की ऐसी उक्ति सुन कर इन्द्र ने कहा कि हे पुत्र ! तू मत रो ! और मुझे पान कर— ऐसा कहते हुवे उसके मुंह में इन्द्र ने अपनी अंगुलि डालदी ॥ ३१ ॥ [इन्द्र के ' मां-धाता ' कहने से ही इसका वैसा नाम पड़ गया] ।

समाधान

उपर्युक्त कथा में भी वेदमन्त्रों की अचूक शक्ति के प्रताप से ही युवनाश्व की कोख से मान्धाता का उत्पन्न होना प्रकट किया है सो वेद मन्त्रों की अमोघ शक्ति का दिग्दर्शन हम पूर्व कर आये हैं, अतः यहां पिष्टपेषण करने की सुतरां आवश्यकता नहीं है, परन्तु हमारे दयानन्दी भाई वेदानुयायी होने का स्वांग भरते हुवे भी हृदय से वैदिक चमत्कारों के विश्वासी नहीं होते यह बात हमने कई बार समाजी पण्डितों

की बातचीत के दौरान में नोट की है। अतः हम प्रत्यक्षवादी महाशयों को प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा भी सन्तुष्ट करना आवश्यक समझते हैं।

पुरुष के पेट से दो बच्चे

" बलगेड-सरबिया के अस्पताल में एक किसान अपनी गर्भिणी स्त्री को भरती कराने के लिये लेगया, जब डाक्टर से भेंट हुई तो उन्होंने— कहा कि इस किसान के पेट में एक बहुत बड़ा फोड़ा है कि जिसके कारण इसे महान् कष्ट है— ओपरेशन किया गया तो पेट के ऊपरी भाग से दो बच्चे निकले। एक लम्बाई में ६ इञ्च आधा पौण्ड का था, इसके सिर पर लम्बे बाल और मुंह में कई दांत थे। शरीर की समस्त रचना पूर्ण थी। दूसरा बच्चा अधूरा और अपूर्ण था, उसका शिर और पेट बन चुका था।"

[ता० २६ जून सन् १९२५ के ' हिन्दू सर्वस्व ' (हरिद्वार) से—]

सम्भवतः अब महाशयों को कुछ चीं चपट करने का अवसर न रहेगा, क्यों कि अब तो हमने बीसवीं सदी के वेद भूत— स्वतः प्रमाण ' न्यूज़ पेपर ' का सबूत ऊपर दर्ज कर दिया है।

मनु की नाक से इक्ष्वाकु

३४ ' विष्णु-पुराण ' में लिखा है कि मनु राजा के छींकते हुवे घ्राण से प्रसिद्ध इक्ष्वाकु पुत्र पैदा हुवा। यथा—

क्षुवतश्च मनोरिक्ष्वाकुर्घ्राणतः पुत्रो जज्ञे।

(विष्णु पुराण अंश ४ अ० २ श्लो० १६-१८३)

यह बात चण्डूखाने की गप्प के बराबर है।

समाधान

वेदादि शास्त्रों का यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है सृष्टि दो प्रकार की होती है (१) मैथुनी और (२) अमैथुनी, अर्थात्— माता पिता के संयोग से उत्पन्न होने वाली और अनिर्वचनीय प्रकृति के नियन्त्रण से अपने आप इच्छा मात्र से उत्पन्न होने वाली। वैदिक साहित्य में उक्त दोनों तरह की सृष्टियों का खुला वर्णन आता है, मैथुनी सृष्टि

की उत्पत्ति हम रात दिन देखते हैं अतः हमें इसमें कुछ भी आश्चर्य्य नहीं होता। परन्तु अमैथुनी सृष्टि के मनुष्य अतीत काल के गर्भ में विलीन होचुके हैं अतः अब उनकी पैदायश हमें कुतूहल जनक जान पड़ती है। यदि अन्तर्मुख होकर विचार किया जाए तो मैथुनी सृष्टि का प्रादुर्भाव भी कम आश्चर्य्य का विषय नहीं है, क्यों कि, माता के उदर की जिस जाठराग्नि में माता के भक्षण किये हुवे कैड़े से कैड़े पदार्थ भी—यहां तक कि मांसाहारी जाति की स्त्रियों की जाठराग्नि में तो मांस खण्ड तक भी कुछ घण्टे में ही भस्मसात् होजाते हैं उसी जाठराग्नि के धधकते हुवे कुण्ड के एक कोणे में पिता का सेचन किया हुवा अकिञ्चित्कर वीर्य्य कण तथैव सुरक्षित रहता हुवा दशवें महीने में सर्वाङ्ग सुन्दर बालक के रूप में प्रादुर्भूत होता है,— क्या यह कुछ कम अचम्भे की बात है ?। परन्तु निरन्तर देखने के कारण हमें इस में कुछ भी कौतुक नहीं दीख पड़ता ! यह तो हुई मैथुनी सृष्टि की बात, अब अमैथुनी का भी रहस्य सुनिये।

जिस प्रकार मैथुनी सृष्टि का मूलकारण विशुद्ध रजः और वीर्य्य का गर्भाशय में विमिश्रित होजाना है, इसी प्रकार अमैथुनी सृष्टि का मूलकारण—सत्य सङ्कल्प मनुष्य का अपनी आत्मशक्ति को किसी एक अङ्ग में केन्द्रीभूत करना मात्र है। सो सत्य संकल्प मनुष्य की आत्मशक्ति जिस भी अङ्ग में केन्द्रीभूत होजाएगी उसके उसी अङ्ग से इच्छित सन्तान की प्राप्ति होजाएगी। शास्त्र कहता है कि—

(क) यं कामं कामयते सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठति।

(छान्दोग्य ८। २। १०)

अर्थात्— [सत्य संकल्प मनुष्य] जिस काम को चाहता है वह काम उसे संकल्पमात्र से ही प्राप्त होजाता है।

सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न होने वाले हमारे शतशः पूर्वज संकल्पमात्र से ही उत्पन्न हुवे थे। यह बात हिन्दू इतिहास के पढ़ने से भली प्रकार विदित होजाती है। मुसलमान और ईसाई मत में भी अमैथुनी सृष्टिका होना स्वीकार किया है तदनुसार 'आदम' की बांई पसली से 'हव्वा' का पैदा होना एवं बकौल 'बाइबिल' स्वयं ईसामसीह का पुरुष संयोग के विना ही क्वारी 'मरियम' के गर्भ में आजाना—अमैथुनी सृष्टि के अस्तित्व की ही सूचना देते हैं। अतः वे लोग इक्ष्वाकु की उत्पत्ति पर कुछ भी आक्षेप नहीं कर सकते।

आर्य्य समाज के स्वयम्भू आचार्य्य, प्रो० रामदेव ने अपने 'पुराणमत-पर्य्यालोचन' ग्रन्थ के ५२३ वें पृष्ठ पर उपर्य्युक्त आख्यान का व्यर्थ मज़ाक उड़ाते हुवे

फरमाया है कि— "खूब गप्प घड़ी, क्या कहों थूकने छींकने भी पुत्र हुये हैं।"— हमें प्रोफेसर साहिब की पर्वतायमान अक्ल पर तरस आता है कि आपको 'विष्णु-पुराण' के इस पद्य में तो "गप्प" पन की व्यर्थ बू आगई, परन्तु अपने दादागुरु के 'सत्यार्थ-प्रकाश' (पृष्ठ २३७) का वह लेख नहीं सूझा कि जिस में स्वामी जी ने तिब्बत की पहाड़ियों पर युवा युवतियों के जोड़ों का धड़ाधड़ वर्ष जाना लिखा है,। ईं हज़रत! पुराण में तो भला साकार मूर्तिमान् मनु राजा की नाक से, साकार बच्चे का उत्पन्न होजाना ही लिखा है जो कि किसी हद तक एक नास्तिक की भी समझ में आसकता है परन्तु आपके दादागुरु जी तो 'अकायमव्रणम्' कहे जाने वाले निराकार से ही साकार जोड़ों की टपकन लगाते हुये नहीं अघाते! कुछ इस 'महागप्प' का भी ध्यान है?

मृत वेन को मथने से पुत्र

पुराणों में वर्णन आता है कि पापिष्ठ राजा वेन के मर जाने पर ऋषियों ने उसकी जांघ को मथ कर उससे 'निषाद' नामक पुत्र उत्पन्न किया और उसकी भुजाओं को मथ कर उन से प्रसिद्ध सम्राट् 'पृथु' और 'अर्चि' को पैदा किया— यह कथा सर्वथा असम्भव है।

पौराणिक-स्वरूप

(क) ममन्थुरूरुं तरसा तन्नाऽऽदु बाहुको नरः॥

(श्रीमद्भागवत ४। १४। ४३)

(ख) बाहुभ्यां मथ्यमानाभ्यां मिथुनं समपद्यत।

(श्रीमद्भागवत ४। १५। १)

अर्थात्— (क) उसकी जंघा को मथने से नाटे क़द का मनुष्य पैदा हुवा। (ख) [और] भुजाओं को मथने से एक जोड़ा उत्पन्न हुवा।

समाधान

इस आख्यान के प्रसङ्ग में यह ज़िक्र आता है कि वेन के मर जाने पर ऋषियों ने सोचा कि निस्सन्तान वेन को राजगद्दी का उत्तराधिकारी किसे बनाया जाए? तब यह रहस्य ध्यान में आया कि—

अमोघवीर्य्या हि नृपा वंशेऽस्मिन्केशवाश्रयाः।

(श्रीमद्भागवत ४। १४। ४२)

अर्थात्— इस वंश में केशव भगवान् के भक्त, राजा लोग प्रायः 'अमोघ वीर्य्य' (=जिन का वीर्य्य किसी भी दशा में निष्फल न जाए तादृश) होते हैं।

सो इस सद्योमृत राजा के शरीरस्थ, अमोघ वीर्य्य को ऋषियों ने वैज्ञानिक ढंग से मथन कर उससे सन्तान को प्राप्त किया। तात्पर्य्य यह है कि वर्तमान अनुसन्धायकों ने अनेक यन्त्रों के प्रयोग से इस बात का पता लगाया है कि 'वीर्य्य के प्रत्येक कण में अगणित कीटाणु होते हैं जो बढ़िया खुर्दबीन से देखे भी जासकते हैं' परन्तु वे कीटाणु इतने मृदु=लतीफ होते हैं कि जो प्राणिशरीर से वीर्य्य के च्युत होते ही बाह्य वातावरण के प्रभाव से प्रायः तत्काल ही मरजाते हैं, यही दशा रजोगत कीटाणुवों की समझनी चाहिये।

गर्भाधान के समय रजोवीर्य्य के कीटाणु एक दूसरे को खाना आरम्भ कर देते हैं और इस तरह आनकी आन में अन्त में केवल एक कीट शेष रह जाता है, यदि वीर्य्य अधिक प्रबल होता है तो अन्त में वीर्य्याधिक्य के कारण पुरुषत्व प्रधान कीट बचता है जो दशवें महीने पुत्र सन्तान के रूप में परिणत होकर उत्पन्न होता है, इसी तरह, रजः के प्राबल्य से कन्या की उत्पत्ति, और दोनों के समान होजाने पर नपुंसक का प्रादुर्भाव समझना चाहिये, सो गर्भाशयादि के दुष्ट होने की दशा में उक्त कीटाणु उसके विषैले वातावरण में तत्काल मरजाते हैं अत एव गर्भस्थिति नहीं हुवा करती, यह तो हुई साधारण रजोवीर्य्य की बात! अब 'अमोघ वीर्य्य' का भी रहस्य समझिये।

सृष्टि के आरम्भ काल में स्वभावतः और फिर आगे चल कर अमुक अमुक साधनों द्वारा नियमित आहार विहार पूर्वक जीवन बिताने की दशा में— पुरुष का वीर्य्य 'अमोघ=सफल=अचूक किं बा बाह्यवातावरण की शीतोष्णता को बरसक बरदाश्त कर सकने की क्षमता वाला होजाया करता है, अर्थात्— अमोघ वीर्य्य के कीटाणु साधारण वीर्य्यगत कीटाणुवों की तरह मृदु=लतीफ नहीं रहते जो कि हवा के एक झोंके से मर जाएं बल्कि वे इसके विपरीत नियमानुकूल आहार मिलने की दशा में गर्भस्थ बालक की भांति परिपुष्ट होते होते सर्वाङ्ग पूर्ण मनुष्य बन सकने की शक्ति रक्खा करते हैं। जिस तरह आम के फल को पेड़ पर लगे रहने की हालत में तो प्रकृति देवी उसे स्वयं नियमानुकूल पका कर रसीला बनाती है, परन्तु मनुष्य उसे कच्चा ही तोड़ कर घास फूंस की पाल में दबा कर बनावटी उष्णता से भी पका

लेते हैं, अथवा मुर्गी के अंडे को बिजली के यन्त्र में रख कर नकली ताप से भी उसे आजकल सेलिया जाता है ठीक इसी तरह हमारे पूर्वज अमोघ वीर्य्य के कीटाणु को गर्भाशय की भांति किसी खास स्थान में सुरक्षित रख कर और उसे पुष्ट करने के लिये उचित उपचार करते हुवे पूरा मनुष्य बना सकने की योग्यता रखते थे।

तदनुसार ऋषियों ने प्रथम सद्योमृत वेन के जघनार्ध भाग का औपरेशन किया जिस में से एक जीवित वीर्य्य-कीटाणु प्राप्त हुवा, परन्तु वह वेन के दुराचारों के प्रभाव से दूषित प्राय था अतः उससे उसी प्रकार की पाप प्रधान सन्तति के होने का ऋषियों ने अनुमान किया। पश्चात् उसकी भुजाओं के मथने=किं बा=पर्य्यन्वेषण करने से, उस में से दो कीटाणु उपलब्ध हुवे, जो तीनों ही ऋषियों की वैज्ञानिक रीति से परिपुष्ट किये जाने पर क्रमशः निषाद, पृथु और अर्चिः नाम से विख्यात हुवे। यही इस आख्यान का मूल रहस्य है, हमारे महाशयों की इतने ऊंचे विज्ञान तक पहुंच कहां है, वे तो सिर्फ 'चेमें गोइयां' करना ही जानते हैं।

कदाचित् शङ्कावादी सज्जनों को इतने पर भी सन्तोष न हो तो उन्हें जिले करनाल के किसी बूढे ज़मीदार के पास जाकर अपनी तसल्ली करनी चाहिये। क्योंकि इस इलाके में— भैंस के तूजाने या फिर जाने पर अर्थात्— गर्भस्राव होजाने की हालत में ज़मीदार लोग भैंस का बन्धा तोड़ने के लिये, उसे भैंसे से संयुक्त होजाने के बाद योनि में हाथ डाल कर अन्दर से सबका सब वीर्य्य चुल्लू भर २ कर निकाल लेते हैं और उसे सरसों के तेल भरे बर्तन में रख छोड़ते हैं पश्चात् उसके नाक में वह सबका सब वीर्य्य डाल कर थूथड़ी को खास तरह से घुमाते हैं जिससे वह वीर्य्य पुनः गर्भाशय में पहुंच जाता है, और भैंस समय पर व्याती है। उनका यह सतत अनुभूत अनुभव है कि यदि भैंस की नासिका के बांए छिद्र में वीर्य्य डाला जाएगा तो अवश्य कटड़ी पैदा होगी, इसी तरह दाईं नाक में डालने पर कटड़ा पैदा होगा। नाक में वीर्य्य डालते समय यदि भैंस के आगे सफेद चद्दर तान दी जाए तो उससे 'भूरी कटड़ी' पैदा होने की सम्भावना की जाती है। यह सब क्रिया हमने भी कई बार अपनी आंखों देखी है यदि अन्य किसी को देखनी हो तो वह भी बखूबी देख सकता है।

अब विचार करना चाहिये कि जब इस गए गुजरे ज़माने में भी भारत के अपठित किसान-योनिमार्ग से सेचन किये हुवे पशु वीर्य्यगत कीटाणुवों को तेल के पात्र में सुरक्षित रख कर पुनः नाक छिद्र द्वारा गर्भाशय में पहुंचा देने की योग्यता रखते हैं, तब हमारे पूर्वज त्रिकालज्ञ महर्षि अमोघ वीर्य्य के कीटाणुवों को परिपुष्ट

करके, सर्वाङ्गपूर्ण मनुष्य बना सकने की योग्यता नहीं रखते थे— इस प्रकार का मनहूस खयाल भी करना हम तो कोरी मूर्खता समझते हैं। इस लिये राजा वेन के शरीर से सन्तान उत्पन्न करना न असम्भव है न प्रकृति के प्रतिकूल है किन्तु यह तो शङ्कावादी महाशय चिम्मनलाल बनिये की योग्यता सूचक (?) भूल है।

अरणी काष्ठ से शुक जन्म

कहा जाता है कि- यज्ञार्थ अग्निमन्थन करते हुवे व्यास जी का वीर्य्य घृताची अप्सरा को देख कर अरणी नामक लकड़ी में गिर गया जिस से शुकदेव जी का जन्म हुवा,— यह कथा कोरी गप्प है।

पौराणिक-स्वरूप

(क) मेरुशृङ्गे महारम्ये व्यासः सत्यवतीसुतः।
तपश्चचार सोत्युग्रं पुत्रार्थं कृतनिश्चयः ॥४॥
गत्वा ऋषिममीपं तु तमुवाच जगद्गुरुः।
उत्तिष्ठ वासवीपुत्र! पुत्रस्ते भविता शुभः ॥१६॥
शूलपाणिं नमस्कृत्य जगामाश्रममात्मनः ॥२२॥
अरणीसहितं गुह्यं ममन्थाग्निं चिकीर्षया।
मन्थनं कुर्वतस्तस्य चित्ते चिंताभवत्तदा ॥२३॥
पावकस्य यथा तद्वत्कथं मे स्यात्सुतोद्भवः।
पुत्रारणीतु याख्याता सा ममाद्य न विद्यते ॥२५॥
एवं चिन्तयतस्तस्य घृताची दीव्यरूपिणी ॥२६॥
प्राप्ता दृष्टिपथं तत्र समीपे गगने स्थिता ॥३०॥
पंचबाणपरीताङ्गस्तूर्णमासीद्धृतव्रतः ॥३१॥

(देवी भागवत १। १०।—)

(ख) सा कृत्वाथ शुकीरूपं निर्गता भयविह्वला ॥३॥
अरण्यामेव सहसा तस्य शुक्रमथापतत् ॥७॥
तस्माच्छुकः समुद्भूतो व्यासाकृतिमनोहरः ॥८॥
(देवी भागवत १। १४। —)

अर्थात्— (क) मेरु पर्वत की रमणीय चोटी पर सत्यवती के पुत्र व्यास जी ने पुत्र प्राप्ति के लिये कठिन तपश्चर्य्या आरंभ की ॥ ४ ॥ [तपः से प्रसन्न होकर] जगद्गुरु महादेव जी ने व्यास के निकट जाकर कहा कि हे पुत्र ! उठ, तेरे कल्याणकारी पुत्र उत्पन्न होगा ॥१६॥ व्यास जी महादेव को नमस्कार करके अपने आश्रम में आगये ॥२२॥ और अग्नि को प्रकट करने के लिये अरणियों=जांड़ी की दो लकड़ियों को मथने लगे तब मन्थन करते हुवे व्यास जी के हृदय में चिन्ता उत्पन्न हुई कि ॥२३॥ [इन दोनों काष्ठों के परस्पर संघर्ष से] अग्नि की तरह मेरे कैसे पुत्र उत्पन्न होगा क्योंकि पुत्र को उत्पन्न करने वाली अरणी रूप स्त्री मेरे घर में नहीं है ॥ २५ ॥ ऋषि इस प्रकार विचार कर ही रहे थे कि सामने आकाश मार्ग से जाती हुई परम सुन्दरी घृताची नाम वाली अप्सरा दीख पड़ी ॥ २६ ॥ ३० ॥ वे व्रतधारी व्यास जी उसे देख कर तत्काल ही कामाक्रान्त होगये ॥ ३१ ॥ (ख) घृताची ऋषि के भय से शुकी का रूप बनाकर वहां से गुजर गई ॥ ३ ॥ तब व्यास जी का शुक्र सहसा मन्थरारणी में ही गिर गया ॥ ७ ॥ जिससे व्यास जी के समान मनोहर रूप वाले शुकदेव जी प्रादुर्भूत हुवे ॥ ८ ॥

समाधान

उक्त कथा में भी व्यास जी के अमोघवीर्य्य की ही महिमा लक्षित होती है। जब कि तपः प्रभाव से रजोवीर्य्य के विना भी मानसी सन्तान का उत्पन्न होजाना वेदादि शास्त्रों में लिखा है तब स्थूल शरीर की कारण सामग्री से परिपूरित अमोघ वीर्य के द्वारा तो पुत्र का उत्पन्न होजाना किसी प्रकार भी असम्भव नहीं कहा जासकता ! मानसी किंवा तापसी सृष्टि का वर्णन वेदों में डंके की चोट किया है, यथा—

(क) मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
(अथर्व १९। ५२। १)

(ख) श्रद्धाया दुहिता तपसोधिजाता स्वसा ऋषीणां भूतकृतां बभूव।
(अथर्व ६। १३३। ४)

अर्थात्— (क) सृष्टि के आरम्भ में 'मनसोरेतः'=मानसिक वीर्य्य ही था (ख) श्रद्धा की पुत्री तप से उत्पन्न हुई थी, जो कि सृष्टि के सूत्रधार ऋषियों की बहिन लगती थी।

इस लिये व्यास जी ने अपने अमोघवीर्य्य गत एक विशिष्ट कीटाणु को पूर्व-प्रदर्शित पद्धति के अनुसार परिपुष्ट करके पुत्ररूप में परिणत कर लिया तो इसमें आश्चर्य्य की क्या बात हुई ?

घड़े से अगस्त्य और वसिष्ठ

कहा जाता है कि मित्रावरुण उर्वशी अप्सरा को देख कर क्षुब्ध होगये, और अपना वीर्य्य यज्ञ कलश में डाल दिया जिससे अगस्त्य और वसिष्ठ ऋषि उत्पन्न हुवे—यह कथा न केवल असम्भव है बल्कि अश्लील भी है।

वैदिक--स्वरूप

उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्यां ब्रह्मन्मनसोऽधिजातः।
द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विश्वेदेवाः पुष्करे त्वा ददन्त ॥११॥
अप्सरसः परिजज्ञे वसिष्ठः ॥१२॥
सत्रे जाता विषिता नमोभिः कुम्भे रेतः सिषिचतुः समानम्।
ततोहमान उदियाय मध्यात्ततो जातमृषिमाहुर्वसिष्ठम् ॥१३॥
(ऋग्वेद ७। ३३। —)

अर्थात्— हे वसिष्ठ ! आप मित्रावरुण के पुत्र हो, हे ब्रह्मन् ! उर्वशी को देख कर उक्त देवताओं का मानसिक द्रप्स=(वीर्य्य) स्कन्न=(च्युत) होगया था जिससे तुम उत्पन्न हुवे हो, इस लिये समस्त देवताओं ने दिव्य वेद-राशि सहित आपको पुष्कर में धारण किया था ॥ ११ ॥ वसिष्ठ अप्सरा से उत्पन्न हुवे थे ॥ १२ ॥ यज्ञ में दीक्षित हुवे मित्र और वरुण ने दूसरों द्वारा प्रणमित होने के बाद एक साथ ही कुम्भ=(घड़े) में रेतः=(वीर्य्य) को सींचा था, तब उस घट में से शमीप्रमाण अगस्त्य का प्रादुर्भाव हुवा था और उससे ही वसिष्ठ का जन्म हुवा था ॥१३॥

सायण-भाष्योद्धृत-इतिहास

चतुर्वेद भाष्यकार सायणाचार्य्य ने ऋग्वेद के उपर्युक्त मन्त्रों की व्याख्या करते हुवे नीचे लिखा इतिहास भी उद्धृत किया है जिससे इन दोनों महर्षियों की पुराण-प्रदर्शित उत्पत्ति पर पर्य्याप्त प्रकाश पड़ता है—

तयोरादित्ययोः सत्रे दृष्ट्वाप्सरसमुर्वशीम्।
रेतश्चस्कन्द तत्कुम्भे न्यपतद् वासतीवरे ॥१॥
तेनैव तु मुहूर्तेन वीर्य्यवन्तौ तपस्विनौ।
अगस्त्यश्च वसिष्ठश्च तत्रर्षी संबभूवतुः ॥२॥

तात्पर्य्य प्रायः वही है जो कि वेद मन्त्रार्थ में व्यक्त किया जा चुका है आगम प्रमाण की विद्यमानता में हम स्वयं कुछ भी लिखना अनावश्यक समझते हैं, हां! इतना इशारा करना अनुचित न होगा कि देवसामर्थ्य की अचिन्त्य महिमा है तदनुसार वीर्य्यगत कीटाणुवों का तत्काल प्रवृद्ध होजाना कुछ दुःसाध्य नहीं है। यदि इतने पर भी महाशयों को सन्तोष न हो तो उन्हें व्याख्यानभूत पुराण ग्रन्थों का पीछा छोड़ कर वास्तविक मुज़रिम वेदों- अथवा उनके बनाने वाले निराकार बाबा की ही नालिस करनी चाहिये जो कि खुले बन्दों उक्त दोनों महर्षियों की अप्राकृतिक उत्पत्ति का ढिंढोरा पीट कर विचारे दयानन्दियों की दक़ियानूसी का पर्दाफास करते हैं।

सगर के साठ हज़ार बेटे

'ब्रह्माण्ड-पुराण' में लिखा है कि सगर की रानी सुमति के गर्भ से एक मांस का बेडौल लोथड़ा पैदा हुवा, राजा उसे बाहिर फैंकने को तैयार था कि महर्षि और्व ने उसे समझाया कि इस मांसपिण्ड में बहुत से जीवित बीज विद्यमान हैं अतः आप यत्नपूर्वक इन की रक्षा कीजिये जो समय पाकर आपके पुत्र कहलाएंगे, ऋषि की आज्ञानुसार घी के बर्तनों में उस मांस-पिण्ड के विभिन्न साठ हज़ार खण्ड यत्नपूर्वक रक्खे गए, तथा उनकी रक्षा के निमित्त प्रत्येक वर्तन पर एक २ धाय नियत करदी गई इस तरह बहुत काल बीत जाने पर महातेजस्वी साठ हज़ार कुमार उन वर्तनों में से प्रादुर्भूत हुवे यथा—

एवं क्रमेण सञ्जातास्तनयास्ते महीपतेः।
बबृधुः संघशो राजन्षष्टिसाहस्रसंख्यया॥

(ब्रह्माण्ड-पुराण, उपोद्घातपाद ५१। ४७)

वैदिक-स्वरूप

षष्टिं सहस्रा नवतिं च कौरम आरुशमेषु दद्महे।

(अथर्व २०। १२७। १)

अर्थात्— साठ हज़ार और नब्बे मांसपेशियों को आधान पात्रों में प्रदान किया।

जान पड़ता है कि महाराजा सगर के वीर्य्याधान करने पर किसी खास कारण-वश रानी के गर्भाशय में वीर्य्यगत कीटाणुपुञ्ज मक्खियों के छत्ते की भान्ति पृथक्२ ही जरायु कोश में संश्लिष्ट रहे। गर्भाशय के स्वल्पावकाश के कारण और प्रत्येक कीट को उचित परिपोषक रस के न मिल सकने के कारण भी वे सब कीट परिपुष्ट होकर हाथ पांव आदि अङ्गों का विकाश न पासके, परन्तु अमोघ वीर्य्य होने के कारण वे विनष्ट भी नहीं हुवे। आज कल भी प्रकृति के वैलक्षण्य से कभी २ स्त्रियों के पेट से दो चार तक बच्चे पैदा होते देखे जाते हैं तथा कभी २ मांस पेशियों की दशों थैलियें उत्पन्न होती देखी गई हैं। यह घटना वीर्य्यगत कीटाणुवों के एक से अधिक संख्या में बने रहने पर ही घटित हो सकती है, सो इससे महारानी सुमति के उदर में भी प्रकृति के नियन्त्रण से बहुत से कीटाणुवों का बने रहना अनुमान सिद्ध है,।

जिज्ञासा होसकती है कि पुराणों में तो सगरपुत्रों की संख्या साठ हजार लिखी है परन्तु वेद में इसके विपरीत साठ हजार और नब्बे बताई गई है— इस विरोध का क्या कारण है? हमारी समझ में आरंभ में तो घी के वर्त्तनों में साठ हजार और नब्बे ही कीटाणु डाले गये होंगे जैसा कि वेद के उपर्य्युक्त प्रमाण से सिद्ध होता है, परन्तु उनमें से पूरे नब्बे उपचार निगरानी की शिथिलता के कारण विनष्ट होकर अन्तिम दिन साठ हजार ही शेष रहे होंगे, सो वेद प्रमाणमें आरम्भिक संख्या का उल्लेख है और पुराणों में अन्तिम संख्या बत लाई गई है। यही इस द्विविधवर्णन का अभिप्राय है।

हम पीछे लिख आये हैं कि वीर्य्य के एक विन्दु में अगणित कीटाणु होते हैं सो अमोघरेताः सगर के आधान किये हुवे गर्भ में साठ हजार कीटाणुवों का होजाना

कुछ भी आश्चर्य्य की बात नहीं है। आशा है हमारे लालनीय लाला चिम्मनलाल जी अब इन साठ हजार लल्लाओं की लत में पड़कर अपनी तबियत को व्यर्थ ही अलील न करेंगे ?

सौ कौरव

धृतराष्ट्र के सौ पुत्रों का वर्णन प्रायः सभी को विदित है। कहा जाता है कि गान्धारी को व्यास जी ने सौ पुत्र होने का वर दिया था तदनुसार यह सगर्भा हुई। उसी समय पाण्डवों की माता कुन्ती भी सगर्भा थी, दशवें महीने कुन्ती के पेट से युधिष्ठिर जी का जन्म हुवा परन्तु गान्धारी पूरे दो वर्ष तक तथैव सगर्भा बनी रही,। अपनी देवरानी के बालक की डाह से दग्ध होकर गान्धारी ने अपने पेट को खूब पीटा जिससे वह गर्भ गिरगया, व्यास जी ने अपना वर सत्य करने के अभिप्राय से उस पतित हुवे मांसपिण्ड के एक सौ एक खण्डों को तथैव घृत कुम्भों में बहिफाजत रक्खा जिससे समय पाकर दुर्य्योधनादि सौ पुत्र और दुःशला नाम की एक कन्या प्रादुर्भूत हुई।

उपर्य्युक्त कथा का समाधान भी पूर्वोक्त सगर पुत्रों की कथा के अनुसार ही समझ लेना चाहिये अतः दुहराना व्यर्थ है।

बुढापे के बदले जवानी

श्रीमद्भागवत में वर्णन आता है कि महाराजा ययाति को भृगु जी ने कारणवश बूढा हो जाने का शाप दिया था, परन्तु पीछे से ययाति के विनय करने पर किसी दूसरे को अपना बुढापा देकर उससे यौवन ले लेने का शापानुग्रह भी कर दिया था, तदनुसार ययाति ने अपने अन्यतम बेटे पूरु से जरा के परिवर्तन में यौवन लेकर बहुत दिन तक विषयोपभोग किया था, यथा—

इति प्रमुदितः पूरुः प्रत्यगृह्णाज्जरां पितुः।
सोऽपि तद्वयसा कामान् यथावज्जुजुषे नृप !

(श्रीमद्भागवत ९। १८। ४५)

[अभिप्राय ऊपर आचुका है]— यह लौट बदले का छूमन्तर बुद्धिग्राह्य नहीं।

समाधान

हम इसी ग्रन्थ के पृष्ठ २३३-२३४ पर वेद-प्रमाण-पूर्वक लिख आये हैं कि अश्विनीकुमारों ने अतीव जीर्ण शीर्ण बूढ़े च्यवन को षोडश वर्ष वयस्क के समान बना दिया था, सो जब कि अमुक अमुक उपचारों द्वारा वार्धक्य को सर्वथा निर्मूल ही किया जा सकता है तो फिर उसकी लौट बदल में क्या आश्चर्य्य होसकता है? योगदर्शन के विभूतिपाद में अमुक साधनों द्वारा तथा आयुर्वेद में तत्तत् औषधों द्वारा 'काया पलट' हो जाने का स्पष्ट उल्लेख विद्यमान है, अब भी पाश्चात्य देशों के डाक्टर वानर आदि की गिलटियों को जराजीर्ण मनुष्यों के शरीर में बदल कर उसे यौवन प्रदान करने की चेष्टा में संलग्न हैं, इस उपचार में एक सीमा तक उन्हें सफलता भी मिली है। सम्भव है आगे चल कर यह उद्योग बूढापन दूर करने का अचूक उपचार सिद्ध होसके।

इसके अतिरिक्त विशुद्ध मन से तादृश दृढ संकल्प करने की दशा में एक दूसरे का सुख दुःख बंटा भी सकता है, इसके लिये बहुत सी लौकिक घटनाएं प्रत्यक्ष प्रमाण हैं जैसे प्रायः सभी जानते हैं कि एक बार मुगल सम्राट् बाबर का हुमायूं नामक शाहजादा अतीव रुग्णावस्था में था, जब वैद्य और हकीमों ने उसके जीवन से निराशा प्रकट की तो सम्राट् ने पुत्रवात्सल्य से प्रेरित होकर दृढ संकल्प पूर्वक ईश्वर की प्रार्थना की, कि "मेरे पुत्र का समस्त रोग मुझ में आजाये और यह सर्वथा नीरोग होजाए" बस, ज्योंही इस प्रकार की सच्ची भावना से बादशाह ने अपने पुत्र की चारपाई की तीन प्रदक्षिणा कीं त्योंही पुत्र का रोग पिता के शरीर में संक्रमण कर गया और आन की आन में बादशाह बीमार होकर कुछ दिन के बाद मर गया, तथा पुत्र स्वस्थ मनुष्य की तरह सब कार्य्य करने के लायक बन गया।

दूर क्यों जाते हो, चतुर्मास में उत्पन्न होने वाला भ्रमरी (भंभीरी) नामक कीट, दूसरी जाति के कीड़ों को तत्परता से सेता हुवा अपने समान बना लेता है—यह बात प्रायः सभी जानते हैं। जब कीट पतङ्गों में भी मनो विज्ञान के प्रभाव से काया पलट कर डालने की योग्यता विद्यमान है तब-'मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति' (निरुक्त) निर्वचन के अनुसार मानसिक व्यापार के ठेकेदार 'मनुष्य' कहलाने वाले प्राणियों का तादृश चमत्कार असम्भव क्यों जंचता है? यह पहेली हमारी समझ में नहीं आती! इस लिये बूढे ययाति का बदले में जवानी लेलेना मनोविज्ञान का ही एक करश्मा है।

धृष्टद्युम्न और द्रौपदी

४१ इसी प्रकार राजा द्रुपद के पुत्रेष्टि यज्ञ में गर्भाधायक हविष्य के तैयार होजाने पर द्रुपद पत्नी का ऋतुमती होजाने के कारण यज्ञशाला से बाहिर चले जाना और मुहूर्त टल जाने के खयाल से किया धरा सब यज्ञ व्यर्थ जाता देख कर ऋत्विजों द्वारा उस हविष्य का अग्निकुण्ड में ही स्वाहा कर देना, एवं उस अग्निकुण्ड में से धृष्टद्युम्न नामक कुमार और द्रौपदी नामक कन्या का प्रादुर्भूत होना वेदमन्त्रों की अलौकिक शक्ति का चमत्कार ही समझना चाहिये।

मत्स्यगन्धा और मत्स्यराज

४२ उपरिचर राजा द्वारा अपनी ऋतुस्नाता पत्नी के पास सधाये हुवे पत्नी की मार्फत वीर्य्य भेजने पर मार्ग में अन्य पक्षियों के झमेले में वीर्य्य का दोना गिरजाना और वीर्य्य का शापवश मछली बनी हुई अद्रिका नामक अप्सरा के अन्दर चले जाना जिससे मत्स्य नामक कुमार और मत्स्यगन्धा नामक कन्या का प्रादुर्भूत होना भी अमोघवीर्य्य की महिमा का ही अन्यतम उदाहरण समझना चाहिये।

हम मन्त्रमहिमा और अमोघवीर्य्य का रहस्य पीछे लिख आए हैं अतः यहां पुनः चर्वितचर्वण करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

गोकर्ण जन्म

४३ पद्म-पुराणान्तर्गत-श्रीमद्भागवत माहात्म्य में वर्णन आता है कि आत्माराम नामक निःसन्तान ब्राह्मण को एक महात्मा ने गर्भाधायक फल देकर उसके विधिपूर्वक खाने की व्यवस्था की। परन्तु पंडिताइन जी अजीब ढङ्ग की औरत थीं, अतः उसने वह फल स्वयं न खाकर अपनी गाय को खिला दिया, जिससे यथा समय गाय के पेट से मनुष्याकृति किन्तु गाय के सदृश कानों वाला एक बच्चा पैदा हुवा। जो अपनी अवस्था में जाकर अत्यन्त विद्वान् एवं धार्मिक मनुष्य साबित हुवा-यथा—

धेन्वा बालः प्रसूतस्तु देवरूपीति कौतुकम् ॥६४॥
गोकर्णं तं सुतं दृष्ट्वा गोकर्णं नाम चाकरोत् ॥६५॥
गोकर्णः पण्डितो ज्ञानी ॥६६॥

(श्रीमद् भा० माहात्म्य ४।-)

[अभिप्राय ऊपर आचुका है] कहा जाता है कि—यह कथा सृष्टि नियम के विरुद्ध है।

समाधान

अचिन्त्य प्रकृति के वैलक्षण्य से कई बार अघटित सी जंचने वाली घटनाएं भी घटित होजाया करती हैं, हमारे अपने जीवन के छोटे से काल में भी ऐसे एक दो अद्भुत प्रसव दृष्टि में आये हैं। जब कि मानव स्त्रियों से पशु पक्षियों जैसे अमुक २ अङ्गों वाले विचित्र आकार के बालक, तथा गायों और भैंसों से न्यूनाधिक विलक्षण अवयवों वाले बच्चे पैदा होगए हों, यद्यपि ऐसे बच्चे अधिक काल तक प्रायः जीवित नहीं रहा करते हैं तथापि कभी २ कुछ विलक्षण बालक सरकसों और प्रदर्शनियों में भी देखने को मिलते हैं, अफ्रीका में पर्य्यटन करते हुवे हमने युगंडा प्रान्त के घने जंगलों में एक ऐसे ही अद्भुत बालक को पाया था जिसके कि कमर के पास से बराबर दो धड़ जुड़ कर दोनों ओर ही पूरे दो शिर थे, चार भुजाएं थीं, और कोखों में तीन पूरी टांगें, तथा एक अधूरी सी टांग विद्यमान थी, हमारे पास अभी तक इस अद्भुत बालक का फोटो मौजूद है जो सज्जन चाहें देख सकते हैं।

इसी तरह सामयिक समाचार पत्रों में भी विलक्षण बालकों के प्रसव के लेख बहुधा छपते रहते हैं प्रमाणार्थ हम यहां एक दो उद्धरण देते हैं यथा—

चौपाया बच्चा

"भङ्गलौर में एक प्रोफेसर की पत्नी ने चार पांव का बालक प्रसव किया है। इसके मुंह पर मूछें और शरीर घूंघर वाले बालों से ढका हुवा है। प्रशंसनीय बात यह है कि इसकी नाक लम्बी और शिर मनुष्य कासा है।"

[ता० ३१-८-२५ के 'हिन्दू सर्वस्व'-हरिद्वार से-]

तीन टांग का अर्धनारीश्वर

"देहली में आठ वर्ष की आयु का एक ऐसा बालक है कि जिसके तीन टांगें हैं। इसका आधा शरीर पुरुष और आधा स्त्री का है!"

[ता० २६-६-१९२५ के 'हिन्दूसर्वस्व' से—]

रीछ और गधे का मिक्स

"लाहोर १८ जून। लाहोर ज़िले के एक बढई की स्त्री ने एक लड़की को जन्म दिया है जिसका भालू जैसा चेहरा और गधे जैसे कान हैं। उसकी जीभ गर्दन से सटी हुई है। लड़की जन्म लेने के कुछ घण्टों पीछे मर गई।"

[ता० २१-६-१९२६ के 'हिन्दू संसार' देहली से-]

जब कि मानव स्त्रियों के पेट से पशुओं के आकार प्रकार के अद्भुत बच्चे अब भी पैदा होते हैं तब अतीत काल में गाय के पेट से मनुष्याकृति बच्चे का पैदा होजाना किस न्याय से सृष्टि नियम के विरुद्ध जंचता है यह दुरंगी हमारी समझ में नहीं आती! कदाचित् महाशयों को गोकर्ण का पूर्ण पण्डित होकर मनुष्यायु भोगना अखरता हो तो उन्हें महात्मा प्रदत्त उस फल का भी तो ध्यान करना चाहिये जो कि योगविद्या के चमत्कारों से परिपूर्ण होने के कारण अमुक २ गुण सम्पन्न दीर्घायुः सन्तान के प्रदान करने की सामर्थ्य रखता था, इस लिये योगशक्ति के प्रभाव का तथा प्रकृति देवी के वैलक्षण्य का विचार करते हुवे उक्तकथा का मनन करना चाहिये। जो बात हमारी तुच्छ बुद्धि में न समा सके उसके लिये 'सृष्टिनियमविरुद्ध' होने का फ़तवा देदेना तो निरी अज्ञता है।

ब्रह्मा के कानों से दिशाओं की उत्पत्ति

महाशय चिम्मनलाल 'पुराण-तत्व-प्रकाश' में फर्माते हैं कि—"वाराह-पुराण' अध्याय २९ में लिखा है कि जब ब्रह्मा को चिन्ता हुई तब ब्रह्मा के कानों से दश दिशा उत्पन्न हुई।

प्रादुर्बभूव श्रोत्रेभ्यो दश कन्या महाप्रभाः।
पूर्वा च दक्षिणा चैव प्रतीची चोत्तरा तथा ॥३॥"

[लाला जी के खयालेशरीफ में यह लेख भी पुराणों की असम्भवता का एक नमूना है शायद आप का कभी नीचे लिखे वेद मन्त्र से वास्ता नहीं पड़ा—

(क) पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथालोकां २॥ अकल्पयन्।

(यजुः ३१। १३)

(ख) दिशो में श्रोत्रे श्रिताः।

(तैत्तिरीय ३। १०। ८। ६)

(ग) अथ यत्तच्छोत्रमासीत्ता इमा दिशोऽभवन् ।

(जैमिनीयोपनिषद् २ । २ । ४)

(घ) यत्तच्छोत्रं दिश एव तत् ।

(शतपथ १० । २ । ३ । ७)

अर्थात्—(क) विराट् भगवान् के पार्श्वों से भूमि और श्रोत्र से दिशाओं की उत्पत्ति हुई, इसी प्रकार अन्यान्य अङ्गों से लोकान्तर की रचना हुई (ख) दिशायें मेरे श्रोत्रेन्द्रिय के आश्रित हैं (ग-घ) विराट् भगवान् के श्रोत्र ही दिशायें हैं ।

कहिये भद्रगुप्त जी ! आप को तो कानों से दिशाओं का उत्पन्न होना ही असम्भव जंचता था परन्तु यजुर्वेद के इकत्तीसवें अध्याय में तो निराकार बाबा के अमुक २ अङ्गों से-गाय, घोड़ा, गधा, भेड़, बकरी और आकाश-पाताल समस्त चराचर का उत्पन्न होना दर्ज है । कदाचित् आपको निराकार के वचनभूत उपर्य्युक्त वेद मन्त्रों पर शक करने की गुजांइश हो तो हम एक प्रत्यक्ष घटना द्वारा भी आप को शङ्कापङ्क से निकालने का प्रयत्न करेंगे जरा आंख उघाड़ कर पढ़िये ।

सात महीने की लड़की के शिर से बच्चा पैदा हुवा ।

"जलालपुर—जट्टां (पंजाब) का समाचार है कि एक सात महीने की लड़की के सिर में 'रसौली' की तरह कई पौण्ड वजन का फालतू मांस बढ़ा हुवा था, लड़की के संरक्षकों ने कई डाक्टरों से उसे कटा देने का प्रयत्न किया परन्तु किसी भी डाक्टर को औपरेशन करने की हिम्मत न हुई, आखीर डाक्टर बोधराज साहिब ने उसका औपरेशन किया तो उस कटे हुवे मांस पिण्ड में से एक बच्चा निकला जिस के सब अङ्ग मुकम्मल बनचुके थे, हड्डियें भी बराबर थीं-जिस लड़की का औपरेशन किया गया था वह अभी जीवित है, लोग दूर दूर से देखने आते हैं"

[ता० २२-५-३३ अखबार 'तालीम' (लाहौर)] से

शिल्प निन्दा का आक्षेप

४६ महाशय कर्म्मानन्दसरस्वती समाजी ने पुराणों पर कुछ आक्षेप किये थे हम उन पर भी विचार करना आवश्यक समझते हैं इस सिलसिले में पहिले उनका आक्षेप और फिर अपना समाधान रक्खा गया है, पाठक मनन करें—

शिव पुराण वायुसंहिता अध्याय ३१ श्लोक ३६ में लिखा है—

शिल्पिनः कारवो वैद्या हेमकारा नृपध्वजाः ।
भृतकाः कूटसंयुक्ताः सर्वे ते नारकाः स्मृताः ॥

अर्थात्— कारीगर, शिल्पी, वैद्य, सुनार, राजा की ध्वजा उठाने वाले नौकर और मक्कार ये सब नरकगामी हैं अर्थात् दोजखी हैं।

जब से इन पुराणों ने इस प्रकार की शिक्षा देनी आरम्भ की, तभी से भारतवर्ष का सुख नष्ट होगया और अन्यों से पादाक्रान्त होकर यह आज अनेक प्रकार के असह्य कष्ट भोग रहा है। क्या आप इसको वेदानुकूल सिद्ध कर सकते हैं?

समाधान

इस श्लोक का अर्थ आपने खाक भी नहीं समझा। किसी सनातनधर्मी विद्वान् के चरणों में बैठकर कुछ दिन साहित्य शास्त्र का अध्ययन कीजिये तब विशेष्य, विशेषणों की अन्वय शैली का बोध होगा। सुनिये इस श्लोक में 'कूट-संयुक्ताः' जो पद है वह शिल्पी आदि हर एक विशेष्य (Noun) का विशेषण (Adjective) है, और इस का अर्थ 'धोखेबाज' है। सो कदाचित् हथियार आदि बनाने वाले कारीगर, जीवन के रखवाले वैद्य, सोने वगैरा की खानों के इञ्चार्ज, और सेना के अग्रभाग में झण्डा उठा कर आगे पीछे बढ़ने का इशारा करने वाले आफिसर मालिक को धोखा देने वाले हों तो वे नरकगामी होते हैं यही इसका भाव है।

थोड़ी सी समझ रखने वाला मनुष्य भी समझ सकता है कि इस श्लोक में जिन चार पदाधिकारियों का ज़िक्र किया गया है वे अत्यन्त विश्वासपात्र तथा ईमानदार होने चाहियें। यदि भूल से धोखेबाज मनुष्यों को इन पदों पर कायम कर दिया जाय तो वे राष्ट्र का सर्वनाश कर सकते हैं।

हथियार बनाने वाले कारीगर शत्रु से मिल कर कच्चे लोहे के ऐसे हथियार बना सकते हैं जो कि सेना को ऐन मौक़े पर नाक़ामयाब करदें। विश्वासघाती वैद्य औषधि के स्थान में बिना किसी रुकावट के ज़हर मिला सकता है। खानों के इञ्चार्ज गुप्त रीति से शत्रु को आर्थिक मदद दे सकते हैं। झण्डा उठाने वाला ग़लत इशारा देकर अपनी ही सेना को शत्रु की तैयार की हुई खन्दक में गिरा सकता है।

पुराणों की उपर्युक्त शिक्षा कितनी धर्मसंगत, एवं राष्ट्र को मुमकिन ख़तरों से सावधान करने वाली है यह कोई भी समझदार फौरन से पेश्तर समझ सकता है। जब से भारतीय पुरुषों ने आर्य्यसमाज सदृश अदूरदर्शी लोगों के देशनाशक प्रोपगंडे के जाल में फंसकर पुराणों की ऐसी अनुपम शिक्षाओं पर ध्यान देना छोड़ा है तभी

से भारतवर्ष का सर्व सुख नष्ट होगया और अन्यों से पादाक्रान्त होकर आज अनेक प्रकार के असह्य कष्ट भोग रहा है। शिवपुराण की उपर्युक्त शिक्षा वेद के—

'नेज्जिह्मायन्त्यो नरकं पताम:, ।

(निरुक्त १।३।६)

आदि मन्त्रों के सर्वथा अनुकूल है। मनुस्मृति (६-२५८-२६१) में भी इसका स्पष्टतया प्रतिपादन किया गया है।

मद्यमाँस से देवी का पूजन

भविष्यपुराण उत्तरपर्व अध्याय ६१ श्लोक ५१-५२

कुमारी सुभगा देवी सिंहस्यन्दनगामिनी।
ध्वजाज्ञानाविधान् कृत्वा पुरस्तस्याश्च पूजयेत्॥
मालती-कुसुमैर्दीपैर्गन्धधूपविलेपनैः।
बलिभिः पशुभिर्मेध्यैः सुरामांसासृगम्बरैः॥

अर्थात् इसमें स्पष्ट रूप से देवी को मांस, शराब और पशुओं के चढ़ाने का विधान है। क्या वेदों में कहीं इस प्रकार की पूजा की आज्ञा है।

समाधान

वेद पुराण आदि हिन्दू धर्म ग्रन्थों में जहां सत्वगुणी और रजोगुणी पुरुषों को धर्मनिष्ठ रहने की आज्ञा दी है वहां तमोगुणी मनुष्यों को भी आस्तिक बनाए रखने की व्यवस्था की है। सनातनधर्म के विशाल दायरे में संसार भर के भले और बुरे सभी प्रकार के मनुष्य, समा सकते हैं यही आलमगीर धर्म बड़े से बड़े दुराचारी को भी क्रमशः सदाचारी बनाने की शक्ति रखता है। अत एव गीता में—

'न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्'

—ऐसी आज्ञा दी गई है।

प्रत्यक्ष में भी देखा जाता है कि शराबी एवं कबाबी मनुष्यों को एक दम इस चिराभ्यस्त दुराचार से हटाने की चेष्टा कीजाए तो सफलता नहीं मिलती। इसी लिये गीता के "शनैःशनैरुपरमेत्" आदेश के अनुसार तरीके से ही धीरे २ बुराइयों को दूर किया जा सकता है।

तमोगुणी पुरुषों का सर्वथा बहिष्कार कर दिया जाय, यह भी सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि—'प्रवृत्तिरेषा भूतानाम्' इस मनूक्ति के अनुसार संसार में तमोगुणी मनुष्यों की संख्या अत्यधिक है वे बहिष्कृत किये जाने पर और भी उद्दण्ड एवं उच्छृङ्खल हो जायेंगे और देश में ऐसी अशान्ति फैलेगी कि सदाचारी समुदाय को जीवन निर्वाह करना भी महाकठिन हो जायगा, अतः ईश्वर ने तमोगुणी मनुष्यों को भी धर्मसूत्र में बांध कर आस्तिक बनाये रखने का आदेश किया है और मनुष्य समाज में उनका विशिष्ट स्थान रख दिया है। वे लोग पूजन सामग्री तो अपने आचार के अनुसार ही वर्ताव में लायेंगे, परन्तु किसी न किसी तरह ईश्वर उपासक एवं आस्तिक अवश्य बने रहेंगे। इसी लिये ऋषियों ने—

'यदन्नः पुरुषो लोके तदन्नास्तस्य देवताः"

(वाल्मीकीय रामा० अयोध्या० २०३-३०)

अर्थात्—(मनुष्य स्वयं जैसा भोजन खाने वाला हो वह अपने देवताओं को भी वैसा ही प्रदान करता है) ऐसा सिद्धान्त स्थिर किया है।

सो भविष्य पुराण का 'कुमारी सुभगा देवी' आदि विधान भी केवल तामसी मनुष्यों से ही सम्बन्ध रखता है। वे उक्त रीति से पूजन कर सकते हैं। शेष वैष्णवी उपासना वाले सदाचारी पुरुष तो विशुद्ध पत्रपुष्पादि से ही पूजन करते हैं यह प्रत्यक्ष में भी देखा जाता है। तमोगुणी अधिकारियों के लिये वेद में भी ऐसी तामसी उपासना का उल्लेख मिलता है यथा—

यन्मांसं निपृणामि ते।

(अथर्व १८।४।४२)

अन्नमु पशोर्मांसम्।

(शतपथ ७।५।२।४२)

इत्यादि प्रमाण दर्शनीय हैं।

महाशय जी! आप को यह प्रश्न करते हुये आर्यसमाज की उस मांस पार्टी का ध्यान नहीं रहा जो कि नित्य प्रति मांस द्वारा ही निराकार बाबा का पूजन करती है और अपने इस कार्य्य का न केवल वाचिक बल्कि—२०० पृष्ठ की लम्बी चौड़ी 'मांसभोजनविचार' नामक पुस्तक छपाकर वेद मन्त्रों द्वारा खुला समर्थन करती है उदाहरणार्थ इस पुस्तक से एक आध उद्धरण नीचे देते हैं।

'जल और घी से पकाया हुआ बकरा सर्वोत्तम खाना है। इससे मुखप्रकाश और ज्ञानादियुक्त धर्मलोक प्राप्त होते हैं।" (पृष्ठ ८६)

बकरे के जघन के मांस से सिद्ध भात को पश्चिम दिशा में धरो, दूसरे भागके पकाये भात को……कुक्षिस्थ मांस से पकाए भात को……बकरे के बकरी वाले स्थान से सिद्ध भात को……मध्य भाग के पकाये भातको पूर्वादि दिशाओं में धरो" (पृष्ठ६७)

यह पुस्तक जोधपुर (मारवाड़) राजधानी के समाजियों ने छपाई है। महात्मा हंसराज और प्रोफेसर दीवानचन्द आदि प्रसिद्ध दयानन्दी नेता डंके की चोट इसके समर्थक हैं। जरा आंख खोलकर देख लीजिये कि निराकार बाबा को भोग लगाने के लिये किस प्रकार पूर्वादि दिशाओं में विभिन्न भागों (यहां तक कि गुह्य इन्द्रिय) के मांस की बलि दी जारही है। शायद आप इसको एक पार्टी की राय बताकर स्वा० दयानन्द और अपनी पार्टी की वरियत पेश करना चाहें, परन्तु ध्यान रहे स्वामी दयानन्द भी अपने यजुर्वेद भाष्य में मांस के हवन द्वारा निराकार की पूजा करना और बचा हुआ स्वयं खाना समाजियों के लिये स्पष्ट लिख गये हैं, यथा—

'जो, इस संसार में बहुत पशु वाला होम करके हुतशेष का भोक्ता, वेदवित्, और सत्य क्रिया का कर्ता मनुष्य होवे सो प्रशंसा को प्राप्त होता है" (यजुर्वेदीय दयानन्द भाष्य १६। २०)

जुआ खेलने की आज्ञा

कुर्यान्महोत्सवं राजा दिनानि नव सप्त वा।
वेश्याङ्गना नरैर्हृष्टैर्द्यूतक्रीडामहोत्सवैः॥

(भविष्यपुराण उत्तरपर्व ४ अध्याय १३६)

श्लोक २४ से २६ तक, तथा पद्मपुराण उत्तरखण्ड अ० १२२ श्लोक २५-२६ में-

प्रातर्गोवर्धनः पूज्यो द्यूतं रात्रौ समाचरेत्।

में स्पष्ट रूप से जुआ खेलने का विधान है।

समाधान

जुआ दो प्रकार का होता है, एक पासे, कौड़ियें, सलाई, आदि वस्तुओं की संख्या पर दाव लगाना, दूसरा, अन्नादि वस्तुओं के भावी भाव कल्पना करना, तथा मल्लों की शारीरिक गठन के आधारपर हार जीतका अनुमान करना, और घुड़दौड़ में घोड़े की चपलता द्वारा नेज़ दौड़ का अन्दाज़ा लगाना इत्यादि। मनुस्मृति (६। २२३) में

तथा नारद स्मृति में पहिले भेद को 'जिह्मकारित' (ठग्गी) के नाम से और दूसरे भेद को 'समाह्वय' (चुनौती) के नाम से याद किया है।

इन में से वेदादि शास्त्रों ने पहिले प्रकार के जूए को ही निन्दित कहा है, क्यों कि पासे, कौड़ियें आदि जड़ वस्तुवों की परतन्त्रता में पड़ कर खेलने वाला अपनी बुद्धि या पौरुष का इस में कुछ भी उपयोग नहीं कर सकता सर्वथा पराधीन रहता है तथा इससे किसी मानसी शक्ति का भी विकाश नहीं होता। इसी लिये वेद में स्पष्टतया—

अक्षैर्मा दीव्य०

(ऋग्वेद १०। ३४। १३)

अर्थात्— (पाशे मत खेल) ऐसी आज्ञा दी है।

परन्तु दूसरे प्रकार का जुआ शास्त्रों में पाप नहीं समझा गया, क्यों कि इस से कल्पना शक्ति बढ़ती है, तथा साहस का भी उत्थान होता है। अत एव याज्ञवल्क्य स्मृति (व्यवहाराध्याय द्यूत प्रकरण २०२) में इस बात का स्पष्टीकरण किया गया है कि 'जो द्यूतनिषेधक वचन हैं वे सब 'कूटाक्षदेवन' (धोखे से पाशों द्वारा ठगना) विषयक हैं।

प्रत्यक्ष में भी संसार भर की समस्त सभ्य गवर्नमेन्टों के कानून में 'जिह्म' (पहिले प्रकार के जुए) को ही अपराध समझा जाता है,। बदनी के सौदे, घुड़दौड़ या बरसात के सट्टे, तथा लाटरी, प्रत्येक शहर में बड़े से बड़े सभ्य सेठ साहूकार—यहां तक कि राजा और सम्राट भी आये दिन लगाते हैं। यद्यपि यह भी एक प्रकार का जुआ ही है और खतरे से भी खाली नहीं, तथापि प्रवृत्ति मार्ग वाले लोगों के लिये यह एक अंश तक लाभकारी तथा मनोरञ्जन का साधन है अतः शास्त्र और लोकव्यवहार में इसे अपराध नहीं समझा जाता।

पुराणों के जिन प्रमाणों को उद्धृत करके महाशय जी प्रश्न कर रहे हैं इनमें भी 'समाह्वय' का ही विधान किया गया है 'जिह्म' का नहीं। जैसे 'कुर्य्यान्महोत्सवं राजा' में कहा गया है कि राजा को दीवाली के मौके पर ७ या ९ दिन का एक महोत्सव मनाना चाहिये, जिसमें अनेक गाने बजाने वाले अपनी २ कला दिखायें तथा द्यूत= (घुड़दौड़, मल्लयुद्ध, बदनी के सौदे, और लाटरी आदि) का भी प्रबन्ध किया जाय।

आज भी जर्मनी, जापान, अमेरिका और इङ्गलैण्ड जैसे स्वाधीन देश युवकवर्ग को साहसी बनाने के लिये ऐसे ऐसे मनोरञ्जन कारक महोत्सव मनाते हैं। इसी

लिये वे मुट्ठी भर आदमी संसार के अर्बों मनुष्यों पर शासन कर रहे हैं। परन्तु हमारे कूपमण्डूक कर्मानन्द जी को इस राष्ट्रीय उत्थान के जमाने में भी युवकवृन्द के साहस को प्रोत्साहन देने वाले ऐसे २ आर्ष विधान वेदप्रतिकूल जंचते हैं इसे दिमागी गुलामी के सिवा और क्या कहा जासकता है ?

वेश्याओं की मुक्ति का अपूर्व उपाय

भविष्य पुराण उत्तर पर्व ४ अध्याय १११ श्लोक ४१ से अध्याय-समाप्ति पर्यन्त।

यथेष्टाहारभुक्तं च तमेव द्विजसत्तमम्।
रत्यर्थं कामदेवोऽयमिति चित्तेऽवधार्य च ॥४४॥
यद्यदिच्छति विप्रेन्द्रस्तत्तद् कुर्याद्विलासिनी।
सर्वभावेन चात्मानमर्पयेत् स्मितभाषिणी ॥४५॥
ततः प्रभृति योऽन्योपि रत्यर्थं गृहमागतः।
स सम्यक् सूर्यवारेण समं पूज्यो यथेच्छया ॥५५॥
एवमेकं द्विजं शान्तं पुराणज्ञं विचक्षणम्।
तमर्चयेच्च सदा अपरं वा तदाज्ञया ॥ ५६ ॥
करोति याशेषमखण्डमेतत् कल्याणिनी माधवलोकसंस्था।
सा पूजिता देवगणैरशेषैरानन्दकृत् स्थानमुपैति विष्णोः ॥६४

इत्यादि श्लोकों में वेश्याओं को आदित्यवार के दिन ब्राह्मणों की भोगेच्छा आदि सब इच्छायें पूर्ण करना तथा ऐसा करने से विष्णु लोक की संप्राप्ति किस वेद की आज्ञा के अनुकूल है ?

समाधान

दयानन्दियों को अपनी विकृत बुद्धि के अनुसार चारों ओर नियोग भोग का प्रयोग ही दीख पड़ता है, इस मोतियाबिन्द का इलाज हमारे पास क्या होसकता है ? अफसोस तो यह है कि यही महाशय लोग उधर तो "चान्द" आदि पत्रों में वेश्याओं के सुधार का मनमाने ढंग पर आन्दोलन खड़ा करते हैं और इसकी आवश्यकता के गीत गाते हुये थकते नहीं, इधर जब वेदव्यास जी के शब्दों में भगवान्

कृष्ण जी की बताई हुई वास्तविक सुधार की स्कीम सामने आती है तो इन्हें चौथ-इय्या बुखार चढ़ जाता है।

बात यह है कि महाराजा धर्म्मपुत्र युधिष्ठिर जी ने एक बार श्रीकृष्ण भगवान् से वेश्याओं के सुधार का उपाय पूछा और भगवान् ने बड़ी ही सारगर्भित रीति से इसका उत्तर दिया। यह एक लम्बा प्रसंग है जिसे साद्यन्त पढ लेने पर बड़ा ही आनन्द आता है, तथा जीवन्मृत इन पतित बहिनों की करुणामयी दशा पर चार २ आसुओं रोने वाले दयार्द्र हृदय मनुष्यों को, वेश्यासुधार की कठिन समस्या को हल करने के लिये क्या कुछ करना चाहिये इसका भी स्पष्टीकरण होजाता है। महाशय जी यदि इसे शुरू से आखीर तक लिख देते तो सारी कलई खुल जाती परन्तु चूहे के चेले दयानन्दियों की बीच २ से प्रमाण कतर डालने की आदत कब छूटने लगी यहां भी 'मीठा मीठा गप्प और कडुवा कडुवा थू' को चरितार्थ किया गया है।

भगवान् ने इस प्रसंग में जो कुछ फर्माया है उसका सार यह है कि कोई भी ऐब एक दम छोड़ डालना महाकठिन है अतः बुद्धिमान् उसे शनैः शनैः छुड़ाया करते हैं सो यदि अगणित पुरुषों से व्यभिचार करने वाली वेश्यायें दो बातों का नियम बांधलें तो उनका बहुत कुछ सुधार होसकता है, पहिली बात—(१) यदि कोई द्विज दासी या ब्याहिशा के रूप में भोजन आच्छादन मात्र पर अपनी शरण में रखलें तो उसी एक को अपना सर्वस्व समझकर आत्मसमर्पण करदें, तथा उसकी आज्ञाकारिणी बनकर सभ्य महिलाओं की भांति अपना शेष जीवन बितायें। इससे अनेक पुरुषों से व्यभिचार करने की पतित वृत्ति भी छूट जायेगी और योग क्षेम का प्रश्न भी हल होजायगा। दूसरी बात (२) प्रत्येक रविवार को उपवास करके किसी 'शान्त' (विषयवासनानिर्मुक्त एवं रागद्वेषरहित) वेद पुराणों के ज्ञाता विचक्षण ब्राह्मण से कथा वार्ता आदि सुने और उसका यथोचित सत्कार करे। ऐसा करने से 'विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः' इस गीता के सिद्धान्तानुसार वह उत्तरोत्तर विषयों से क्लान्त होकर समस्त देवताओं से भी पूजित होजायगी, और अन्त में अखण्ड आनन्दमय मुक्तिपद को पाएगी। इस प्रकार यह प्रसंग समाप्त होता है।

महाशय जी ने बहुत कुछ कतर व्योंत करने के बाद बीच २ से काट छांटकर भी जो प्रमाण प्रश्न में उपस्थित किये हैं उनमें भी कई ऐसे शब्द आगये हैं जो महाशय जी के किये आक्षेप पर पानी फेरते हैं यथा—श्लोक ५६ में 'शान्तं' क्या विषय क्लान्त और पढ़े लिखे मनुष्य ही काम कला में अधिक प्रवीण होते हैं ? महाशय जी के भावानुसार तो यहां '.....पुष्टं कोकशास्त्रविचक्षणम्' होना चाहिये था। हम

नहीं समझते कि कर्मानन्द जी ने 'भोगेच्छा' अर्थ किस श्लोक के किस पदका कर डाला है, मूल में तो इसकी गन्ध भी नहीं है, संभवतः यह आप की ही खोपड़ी की उपज है। क्योंकि आर्यसमाज में संन्यासियों की खोपड़ी में भी ऐसा माल मसाला पर्याप्त मात्रा में भरा रहता है, यह रहस्य 'सत्यार्थ-प्रकाश' के चौथे समुल्लास की 'पतिमेकादशं कृधि' और 'नाक से नाक' वाली कोकशास्त्रीय शिक्षाओं के देखने पर स्पष्ट हो जाता है।

क्यों कर्मानन्द जी! भला भविष्य पुराण में तो वेश्याओं की व्यभिचार वृत्ति छुड़ाने के लिये एक पुरुष के घर बैठ जाना भी आप को बेतरह अखरता है, परन्तु स्वामी दयानन्द का—संसार भर की पतिव्रता स्त्रियों को बिना रोक टोक ११, २१ और अगणित पुरुषों से व्यभिचार करने का हुक्म आप को सूझता भी नहीं। यही क्यों—(१) क्वारी कन्याओं का विवाह से पूर्व ही 'गुप्त व्यवहार' में ट्रैण्ड हो जाना (स० प्र० ६३) (२) विवाह संस्कार के पूर्व 'इमन्ते उपस्थं' मन्त्र द्वारा वर के मूत्रेन्द्रिय पर शहद, शराब या जल डालना (सं० वि० पृ० १२६)। (३) पति की लाश घर में पड़ी रहते ही किसी महाशय से 'आर्यसमाज' कराना (स० प्र० ११८) (४) सगर्भा होते हुये भी दूसरा गर्भ ठूंसवाने की चेष्टा करना (स० प्र० १२३) आदि २ दयानन्दीय शिक्षाओं पर भी कभी ध्यान दिया है।

अस्तु, आप की तो आप जानें। परन्तु हमारे भविष्य पुराण की उपर्युक्त व्यवस्था वेद के—

'दुरितानि परासुव'

(यजु० ३०। ३)

तथा गीता के—"अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव समन्तव्यः" ॥ (अर्थात्—महादुराचारी भी यदि अनन्य भाव से मेरी भक्ति में तत्पर होजाये तो उसे श्रेष्ठ ही समझना चाहिये) के सर्वथा अनुकूल है।

पुराणों में शास्त्रों का खण्डन

पद्म पुराण उत्तरखण्ड अध्याय २३६ श्लोक १ से २७ तक, में जो पुराणों को तथा दर्शनों को और स्मृतियों को तामसादि बतलाया है वह किस आधार पर है? क्योंकि दर्शनादि वेद के उपांग हैं, तथा स्मृतिकारों ने पुराणपाठकों की निन्दा की है यथा अत्रि स्मृति श्लोक ३८५-८६ में

पुराण पढ़ने वाले ब्राह्मण को जो यज्ञ, दान, और श्राद्ध में बुलाता है उसके पितर नरक में चले जाते हैं। दान निष्फल होता है और यज्ञ का फल नष्ट हो जाता है फिर भी न जाने आप लोग इनको किस प्रकार वेदानुकूल कहते हैं ?

समाधान

पद्म पुराणादि में जो पुराण, दर्शन और स्मृति ग्रंथों के सात्विक, राजस और तामस तीन विभाग किये हैं वे वेद के 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्' आदि प्रमाणों के आधार पर त्रिगुणी माया के कार्यजात को सामने रखकर किये हैं महाशय जी को इतनी भी खबर नहीं कि तामसादि भेद न केवल पुराणादि ग्रन्थों के ही हैं, बल्कि स्वयं वेद का भी १/३ रा, भाग तामस है, जिसका उल्लेख जगन्मान्य गीता ग्रन्थ में श्रीकृष्ण भगवान् ने—

'त्रैगुण्य-विषया वेदाः'

(गीता)

(अर्थात्— वेद, रज, सत्व, और तम, तीनों गुणों के विधायक हैं)— आदि श्लोकों में डंके की चोट किया है।

किसी ग्रन्थ का तामस होना दूषण नहीं होता बल्कि गुणत्रय-प्रतिपादक होने के कारण 'सर्वतोमुखता' का परिचायक होता है। यदि आपकी कम समझी के अनुसार हिन्दू-ग्रन्थों में तामस नामक विभाग न होता तो दूसरे मतमतान्तरों की तरह हिन्दू-धर्म भी अपूर्ण एवं अधूरा ही रह जाता! महाशय जी की उलटी सूझ में न जाने गुण भी अवगुणरूपेण क्यों जंचता है ? शायद यरकान के बीमार की तरह चान्दी, चान्द, शंख और दूध जैसे स्वच्छ एवं सफेद पदार्थ भी पीले, मटीले, धुँधले दीखने लगे हैं! अत्रि स्मृति श्लोक ३८५-८६ में पुराणपाठकों की निन्दा का तो नामोनिशान भी नहीं है। हां, कपटी, दुराचारी तथा मोलखरीदी स्त्री की सन्तान की निन्दा अवश्य लिखी है। शायद, महाशय कर्मानन्द जी भी दयानन्द की तरह भंग पीकर प्रश्न लिखने बैठे हैं! इसी लिये पुस्तक निकाल कर प्रमाण देख लेने की भी होश नहीं रही। कदाचित् श्लोक ३८१-८२ के 'कीराः पौराणपाठकाः' पद को देख कर पुराणों की निन्दा का भ्रम होगया है परन्तु अर्थ-समन्वय का थोड़ा सा बोध भी होता तो 'कीराः' शब्द पर अवश्य ध्यान पहुंचता! जनाब! यह 'कीराः' शब्द 'पौराणपाठकाः'— का विशेषण है, जिसका तात्पर्य 'तोते की तरह शब्दमात्र का रट्टू होते हुवे भी पुराणज्ञान का दम भरने वाला मनुष्य है'— इस में निन्दा की

कौन बात हुई ? वेद भी 'स्थाणुरयं भारहारः किलाभूत्' आदि मन्त्रों में शब्दमात्र के ज्ञाता की कड़े शब्दों में आलोचना करते हैं, और अर्थज्ञ की प्रशंसा करते हैं। (निरुक्त १।६।२-३) में यह सब प्रसङ्ग विस्तारपूर्वक आता है। यही भाव यहां दिखाया गया है। ऐसे अर्थज्ञान शून्य पुरुषों को दान, यज्ञ, श्राद्ध आदि में सम्मानित करना अवश्यवर्जित है, यह तो हमारा सनातन सिद्धान्त है। हमारे यहां दयानन्दी समाज की तरह— 'विश्वानि देव सवितः !' के स्थान में—

वीस वानिदे सरबत दूरीतानपरासवा,

—बोलने वाले पञ्चम अन्यथासिद्धों को 'वेदालङ्कार' की उपाधि नहीं दी जा सकती ?

पुराण शास्त्रों में किसी भी सद्ग्रन्थ की, तथा स्मृत्यादि में किसी ग्रन्थ विशेष के पाठकों की कहीं भी निन्दा नहीं की गई। विश्व भर की निन्दा का ठेका तो एकले दयानन्द जी और उनके चेले चांटों के नाम सदा के लिये 'रिजर्व' होचुका है। यह करतूत सत्यार्थ प्रकाश आदि ग्रन्थों से, और सत्यवक्ता महात्मा गान्धी के शब्दों में— दूसरे मज़हबों की निन्दा करने वाले 'झगड़ालू' समाजियों के व्यवहार से- काफ़ी विख्यात होचुकी है।

आयुर्निर्णय—

कई महाशय कहते हैं कि पुराणों में तथा रामायण महाभारत आदि इतिहास ग्रन्थों में अनेक ऋषियों मुनियों का सहस्रों वर्ष तक तपश्चर्य्या करना एवं अनेक राजाओं का हजारों वर्षपर्य्यन्त राज्य करना लिखा है—जिससे तत्कालीन पुरुषों का इतनी बड़ी आयु वाला होना पाया जाता है, परन्तु वेद में 'शतायुर्वै पुरुषः' इत्यादि प्रमाणों के अनुसार मनुष्य की पूर्णायुः केवल सौ वर्ष ही लिखी है, और प्रत्यक्ष में भी अधिक से अधिक इतनी ही आयुः देखी जाती है। इस लिये पुराण प्रतिपादित मनुष्यायुः अवश्य ही अतिशयोक्ति से परिपूर्ण है—हम इस विषय का कुछ विस्तार पूर्वक विवेचन करना आवश्यक समझते हैं जिससे कि सर्व साधारण को आयुष्यविज्ञान का पूरा २ बोध होजाए।

वेदादि शास्त्रों के आयुष्य विषयक समस्त वर्णनों की एकवाक्यता कीजाए तो हमें चार प्रकार की जीवनसीमा उपलब्ध होती है यथा—

(१) **अमर**—कुछ ऐसे प्रमाण और उदाहरण मिलते हैं कि जिनसे बहुत से जीवनधारियों का अमर होना पाया जाता है, जो कि जरापलित आदि से उन्मुक्त रहते हुवे दिव्य आयुः का उपभोग करते हैं। जैसे- देवता, दिव्य-पितर और देहाध्यासरहित योगीश्वर आदि।

(२) **चिरंजीवी**—दूसरे कुछ ऐसे भी प्राणधारी हैं जो कि अमर पद के अधिकारी तो न होसके परन्तु अपेक्षाकृत उनकी आयुः अतीव दीर्घ होती है। जिस से वे एक लम्बी-किन्तु अनिश्चित-अवधि तक यथेच्छ विचरते रहते हैं। जैसे अश्वत्थामा, वली, व्यास और हनुमान् आदि।

(३) **स्वच्छन्द मृत्यु**—तीसरे वे प्राणी हैं जिन्होंने कि स्वयं ब्रह्मचर्य्यादि को धारण करके अथवा योगाभ्यासपूर्वक जीवन बिताकर मृत्यु के ऊपर अपना अधिकार कर लिया हो-तदनुसार वे जब चाहें तब अपने जराजीर्ण शरीर का परित्याग करें, जैसे-भीष्म पितामह, युधिष्ठिरादि पाण्डव और आद्यशङ्कराचार्य्य आदि।

(४) **सर्वसाधारण**— जो किसी प्रकार की विशेष योग्यता नहीं रखते वे जिस हद्द तक संयत जीवन बितायेंगे उतनी ही अधिक आयु को प्राप्त होंगे, और जितने उत्पथ-गामी होंगे उतनी ही जल्दी मरेंगे, जैसे-सदाचारी और दुराचारी।

वेदोक्त आयुष्यवाद

ऊपर जो आयुष्य के चार भेद प्रकट किये गये हैं अब उनका वेद प्रमाणों से समर्थन किया जाता है, यथा--

(क) **प्रजापतेरावृतो ब्रह्मणा धर्म्मणाहं कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च।**
जरदष्टिः कृतवीर्य्यो विहायाः सहस्रायुः सुकृतश्चरेयम्॥

(अथर्व १७। १। २७)

(ख) **आयुर्वै सहस्रम्।**

(तैत्तिरीय ३। ८। १५। ३)

(ग) **य एव शतं वर्षाणि यो वा भूयाꣳसि जीवति सहैवैतदमृतमाप्नोति।**

(शतपथ १०। २। ६। ८)

(घ) **शतायु वै पुरुषः शतवीर्य्यः शतेन्द्रियः।**

(ऐतरेय २। १७)

(ङ) **अपिहि भूयाꣳसि शताद्वर्षेभ्यः पुरुषो जीवति।**

(शतपथ १। ६। ३। १६)

(च) ऋतेन गुप्त ऋतुभिश्च सर्वैर्भूतेन गुप्तो भव्येन चाहम्।
मा मा प्रापत् पाप्मा मोतमृत्युरन्तर्दधेहं सलिलेन वाचः॥

(अथर्व १७। १। ३०)

(छ) इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषांमुगादपरो अर्थमेतम्।
शतं जीवन्तु शरदः पुरूची रन्तर्मृत्युं दधतां पर्वतेन॥

(ऋग्वेद १०। १८। ४)

(ज) विवस्वान् नो अमृतत्वे दधातु परैतु मृत्युरमृतं न एतु।

(अथर्व १६। ३। ६२)

(झ) मा पुरा जरसो मृथा।

(अथर्व ५। ३०। १७)

(ञ) जीवेम शरदः शतं···भूयश्च शरदः शतात्।

(वा० यजुर्वेद ३६। २४)

(ट) स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छति।

(कठोपनिषद् १। १। २२)

अर्थात्—(क) [सायणभाष्यानुसारी भाषार्थ-] (प्रजापतिः) सूर्य्य के (ब्रह्मणा) तेजोमय (धर्म्मणा= [सायणाभिमत पाठे] वर्म्मणा) कवचरूप अङ्ग रक्षक स्वरूप से (आवृतः) सुरक्षित हुवा (अहम्) मैं [तथा] (कश्यपस्य) चराचर के द्रष्टा तेजोमय भगवान् के (ज्योतिषा=वर्चसा च) अन्धकारविनाशक और हृदयप्रकाशक प्रकाशद्वारा [परिवेष्टित हुवा मैं] (जरदष्टिः) रोगरहित दृढाङ्ग होते हुवे अनेक भोगों को भोगता हुवा (कृतवीर्य्यः= [सायणीयपाठे] शतवीर्य्यः) अनेक प्रकार की सामर्थ्य, किंवा सैंकड़ों सन्तान उत्पन्न करने की शक्तिवाला (विहायाः) सब तरह से अप्रतिरुद्धगति सम्पन्न [एवं] (सुकृतः) पुण्य कर्म्म करता हुवा, अथवा भली प्रकार बना ठना (सहस्रायुः) अपरिमित आयु वाला होकर (चरेयम्) यथेच्छ विचरूं। (ख) आयु का प्रमाण सहस्र है। (ग) जो भी सौ वर्ष-या इससे भी अधिक वर्ष तक जीवित रहता है वही निश्चय से अमृतपन को प्राप्त हो जाता है। (घ) पुरुष के जीवन की मर्य्यादा (Limit of Life) सौ वर्ष है उसका पराक्रम और इन्द्रियें भी सौ वर्ष तक बने रहते हैं। (ङ) निश्चित ही पुरुष सौ वर्ष से बहुत अधिक वर्षों तक जीवित रहता है (च) मैं सत्य द्वारा सुरक्षित, तथा वसन्तादि सब ऋतुवों से सुरक्षित एवं पूर्व उत्पन्न हुवे पदार्थों से तथा भविष्य में पैदा होने

वाली वस्तुओं से पालित हूँ। नरक में डालने वाला कोई भी पाप मेरे पास न आये, तथा मौत भी मेरे निकट न फटके! मैं इस अभिमन्त्रित जल से अपने आप को सब ओर से छुपाता हूँ। (छ) मैं जीवों के लिये यह मर्य्यादा स्थापित करता हूँ कि इन जीवों में से कोई भी इस (अर्थ=) मृत्यु पथ को (नु) अवधि से पहिले प्राप्त न हो! (पुरूचोः) सब तरह से जीवन व्यापार में सचेष्ट रहते हुवे ये प्राणी सौ वर्ष पर्य्यन्त जीवित रहें! मृत्यु को पर्वत [की कन्दरा] में बन्द किया जाए। (ज) सूर्य्य भगवान् हमें अमरपन में नियत करें मृत्यु हम से दूर जाए और अमृत हमें प्राप्त हो। (झ) बूढापे से पूर्व मत मरो। (ञ) हम सौ वर्ष तक जीवित रहें और सौ वर्ष से अधिक काल तक जीवित रहें। (ट) [हेनचिकेत!] तू स्वयं जितने वर्ष जीना चाहे जी।

आयुष्य पर मनुष्य का अधिकार

हिन्दू साहित्य का मनन करने पर यह बात निश्चित होजाती है कि एक हद तक मनुष्य ही अपना भाग्यविधाता आप है। यदि वह चाहे तो योगशास्त्र तथा आयुर्वेद शास्त्र निर्दिष्ट आयुष्य वर्द्धक उपायों का अवलम्बन करके अपनी आयु को यथेच्छ बढ़ा सकता है। मनुष्य, दीर्घायुः हो सकता है! चिरंजीवी हो सकता है!! और अजर अमर भी हो सकता है!!! हिन्दू सिद्धान्त में मनुष्य के लिये मरना कुछ आवश्यक बात नहीं है,किन्तु वह उसकी इच्छा पर निर्भर है,बशर्ते कि मनुष्य त्रिकाज्ञ महर्षियों द्वारा निर्धारित धर्म्म मार्ग में पूरी तरह से तत्पर हो, हम अपने इन विचारों का समर्थन करने वाले कुछ वेद प्रमाण नीचे अङ्कित करते हैं जिनसे कि न सिर्फ दीर्घजीवी होने का-बल्कि मौत को जीत लेने का भी मानव अधिकार व्यक्त होता है। यथा--

(क) द्राघीयो हि देवायुषम्।

(शतपथ ७।३।१।१०)

(ख) अमृता देवाः।

(शतपथ २।१।३।४)

(ग) ब्रह्मचर्य्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।

(अथर्व ११।५।१९)

(घ) अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात्।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति॥

(मनु ५।४)

अर्थात्— (क) देवताओं की आयु बहुत दीर्घ होती है (ख) देवता अमर होते हैं (ग) ब्रह्मचर्य्य और तपः से देवताओं ने मौत को मार डाला (घ) वेदों का अभ्यास न करने से, सदाचार के छोड़ने से, आलस्य और अभक्ष्य भक्षण से ही मृत्यु विप्रों को मारता है।

इत्यादि प्रमाणों से सिद्ध हुआ कि अमुक २ धर्म्मानुष्ठान करने से मनुष्य 'अमर पद' को भी प्राप्त कर सकता है, मार्कण्डेय, हनुमान् और भीष्म जी इसके निदर्शन हैं।

आयुष्य पर युग का प्रभाव

यह एक मानी हुई बात है कि सृष्टि के आरम्भ में सभी पदार्थ अतीव 'सत्व-सम्पन्न' होते हैं, परन्तु ज्यों २ समय गुजरता जाता है त्यों २ वह सत्वक्षीण होने लगता है अन्त में-'निर्बीजा पृथिवी निरौषधिरसा'—के अनुसार प्रलय समय आ पहुँचता है। हमारे शास्त्रों में इसे 'युगव्यवस्था' के नाम से स्मरण किया है। तदनुसार यह माना जाता है कि सत्य-युग में मनुष्यों का जो बल, जो पराक्रम, जैसे डील डौल और जितनी दीर्घायुः होती थी अब वैसी नहीं होती। यह मान्यता कोरी कल्पना मात्र हो—सो बात नहीं है, पदार्थ विज्ञान भी इस बात की साक्षी देता है, यह कहने की आवश्यकता नहीं कि सृष्टि के आरम्भ में हमारी यह पृथ्वी अतीव उष्णतासम्पन्न थी, अतः इससे उत्पन्न होने वाले अन्नादि में भी वह तेजः अधिक मात्रा में रहता था, जिसे खाकर मनुष्यादि प्राणी भी तथैव 'सत्वसंयुक्त' होते थे, परन्तु ज्यों २ वह ताप घटता जारहा है, त्यों २ समस्त पार्थिव द्रव्यों का तेज भी कम हो रहा है। अजायब घरों में रक्खे हुवे पुरातन नर कंकाल आज के नरकंकालों से कहीं अधिक लम्बे चौड़े और दृढाङ्ग देखे जाते हैं, हमारे अपने छोटे से जीवन काल में ही क्रमशः यह प्राकृतिक ह्रास होता जा रहा है, हमारे बड़े बूढ़े ही जैसे दृढाङ्ग और जितनी लम्बी उमर के होते थे, अब आगे आने वाली पीढियें वैसी नहीं होतीं, किन्तु वे पतन की ओर ही अग्रसर हो रही हैं। इसी लिये मनु जी ने तो स्पष्ट शब्दों में ही यह लिख दिया है कि आज कलि काल में जो आयुष्य-परिमाण एक सौ वर्ष नियत है वही द्वापर में इससे दोगुना, त्रेता में तीन गुना और सत्ययुग में चार गुना था, अर्थात् सत्ययग के मनुष्यों की आयु की गारन्टी ४०० वर्ष थी यथा—

आरोगाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः।
कृते त्रेतादिषु ह्येषामायुर्ह्रसति पादशः॥

(मनुस्मृति १। ८)

अर्थात्—सत्ययुग में मनुष्य रोगरहित, इच्छित फल के भागी और चारसौ वर्ष की आयु वाले होते थे। त्रेता आदि युगों में उक्त आयुष्य परिमाण का एक एक पाद क्रमशः घट जाता है। महर्षि पतञ्जलि ने अपने 'महाभाष्य' में लिखा है कि 'बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्र···शब्दपारायणं प्रोवाच नान्तं जगाम···किंपुनरद्यत्वे यः सर्वथा चिरंजीवति सवर्षशतं जीवति (१। १। २२) इससे भी प्राक्कालीन पुरुषों का दीर्घजीवी होना ध्वनित होता है।

इस लिये पुराणादि ग्रन्थों में केवल कलियुगीय मनुष्यों का ही वर्णन दर्ज़ नहीं है बल्कि पुराण तो सृष्टि के आरम्भ से लेकर प्रलय पर्य्यन्त उत्पन्न होने वाले मनुष्यों के चरित्रों का वर्णन करते हैं, अतः वर्तमान कालिक आयुष्य ह्रास को देखकर उसी कांटे पर पुरातन पूर्वजों की भी आयुः को तोलना उचित न होगा, क्योंकि युगव्यवस्था के अनुसार भी हमारे पूर्वजों का हम से कहीं अधिक आयुष्मान् होना शास्त्रसम्मत है।

देव, पितर और मनुष्यायुः का भेद

इसके अतिरिक्त एक यह भी बात विचारणीय है कि जिस तरह मनुष्यों की आयुष्य का परिमाण सौ मानव वर्ष हैं, इसी तरह पितरों की आयु भी सौ पैत्र्य वर्ष की होती है, तथा इसी प्रकार देवताओं की आयुः का परिमाण भी सौ दिव्य वर्ष समझना चाहिये, तदनुसार पितरों के सौ वर्ष, तीन हजार मानव वर्षों के बराबर होते हैं। इसी तरह देवताओं के सौ वर्ष–छत्तीस हजार मानव वर्षों के बराबर होते हैं, क्योंकि हमारा एक महीना पितरों के एक दिनके बराबर होता है। और हमारा एक वर्ष देवताओं के एक दिन के बराबर होता है। इससे निश्चित हुवा कि जिस प्रकार मनुष्यों की आयु को गारन्टी सौ मानव वर्षों की है, इसी प्रकार पितरों की तीन हजार और देवताओं की छत्तीस हजार—मानव वर्षों की समझनी चाहिये।

हम देवताओं के वंशज हैं

सृष्टि के आरम्भ में देवताओं और मनुष्यों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध था, या यूं समझिये कि हमारे गोत्रप्रवर्तक महानुभाव प्रायः देवताओं के ही आत्मज थे। आर्य्यसाहित्य का पारायण करने से विदित होता है कि प्रायः सभी मनुष्यों का सम्बन्ध किसी न किसी रूप में देवसत्ता से है, जैसे प्रसिद्ध सूर्य्यवंश और चन्द्रवंश के प्रवर्तक भगवान् सूर्य्य देव और चन्द्रदेव हैं इसी प्रकार अन्यान्य वंशों के प्रवर्तक—अंगिरा, भृगु, आदि भी साक्षात् देवता ही थे, सो देवांशभूत होने के कारण भी

हमारे पूर्वज देवताओं के समान आयु वाले होते थे, जब कि देवताओं की आयु ३६००० मानव वर्षों के बराबर होती है तो देवताओं के वंशजों की भी न्यूनाधिक इतनी ही आयु होजाना कुछ आश्चर्य्य की बात नहीं है।

हमने यह सृष्टि के आरम्भ काल की अवस्था बतलाई है, परन्तु ज्यों २ सृष्टि का विस्तार होता चला गया, त्यों २ हमारी धमनियों में बहने वाला वह दिव्य रक्त भी क्रमशः मानव रक्त के विमिश्रण से कम मात्रा में होता गया, इस तरह वह दिव्य आयु भी मानव आयुष्य में परिणत होगई। सो देवताओं के वंशज होने के कारण भी हमारे पूर्वजों की आयुः अधिक होती थी।

संवत्सर शब्द का अर्थ दिन भी है

यद्यपि सामान्यतया वर्ष, वत्सर, संवत्सर और शरत् आदि शब्द अन्यून तीन सौ साठ दिनों के समुदायात्मक काल को कहते हैं तथापि कई आचार्य्यों ने उक्त शब्दों का अर्थ केवल दिन भी सिद्ध किया है, जैसा कि 'मीमांसा दर्शन' में लिखा है। वह प्रसङ्ग इस प्रकार है—

"वेद में लिखा है कि—

'सहस्रायुः सुकृतश्चरेयम्' पंचपंचाशतास्त्रिवृतः संवत्सराः। पंचपंचाशतः पंचदशाः। पंचपंचाशतः सप्तदशाः। पंचपंचाशत एकविंशाः। विश्वसृजामयनं सहस्रसंवत्सरम्।

(ताण्ड्य २५। १८। १)

अर्थात्—सहस्र वर्ष की आयु वाला होकर यज्ञादि पुण्य कर्म्मों का अनुष्ठान करूं [तो ताण्ड्य की उक्त श्रुति में] 'पंचपंचाशत्' शब्द का अर्थ पंचगुणित पंचाशत् (५×५०=२५०) है, यह शब्द इस श्रुति में चार बार आया है। अतः (२५०×४=१०००) वर्षों में क्रमशः त्रिवृत, पंचदश, सप्तदश और एकविंश नामक स्तोम समाप्त होते हैं।

इस आशय को मन में रख कर जैमिनि जी पूर्वपक्ष स्थापन करते हैं।

सहस्रसंवत्सरं तदायुषामसम्भवान्मनुष्येषु।

(६। ७। ३१)

अर्थात्—उपर्युक्त ताण्ड्य श्रुति में जो सहस्रवर्षीय यज्ञ का विधान है वह मनुष्यार्थ नहीं होसकता क्योंकि मनुष्य की १००० वर्ष की आयुः असम्भव है।

अपि वा तदधिकारान्मनुष्य-धर्म्मः स्यात्।

(६। ७। ३२)

अर्थात्—क्योंकि शास्त्र में देवादिकों का अधिकार नहीं है, इससे तो उपर्युक्त यज्ञ भी मनुष्यार्थक ही होना चाहिये।

कदाचिद् रसायनादि द्वारा हजार वर्ष की आयुः संभव हो इस के उत्तर में—

नासामर्थ्यात्।

(६।७।३३)

(भाष्यम्) नरसायनानामेतत्सामर्थ्यं दृष्टम्। येन सहस्रसंवत्सरं जीवेयुः एतानि हि अग्नेर्वर्द्धकानि बलिपलितस्य नाशकानि स्वरवर्णप्रसादकानि, मेधाजननानि, नैतावदायुषोदात्तणि दृश्यन्ते।

अर्थात्—रसायन में भी ऐसा सामर्थ्य नहीं देखा जाता, जिससे कि पुरुष हजार वर्ष तक जीवित रह सके। क्योंकि रसायनों के सेवन से जाठराग्नि बढ सकती है, चमड़ी का ढीलापन तथा बालों का पकना दूर होसकता है, आवाज और कान्ति उत्तम होसकती है एवं धारणा शक्ति उत्पन्न होसकती है—लेकिन उम्र बढ़ सकती हो—ऐसा नहीं देखा जाता।

सकुलकल्पः स्यादिति काष्णाजिनिरेकस्मिन्नसंभवात्।

(६।७।३५)

अर्थात्—काष्णाजिनि ऋषि ऐसा मानते हैं कि—यह यज्ञविधान जब कि हजारवर्षपर्य्यन्त एक मनुष्य का जीवित रहना सम्भव नहीं है ऐसी दशा में—यज्ञारम्भकर्त्ता यजमान के कुल में उत्पन्न होने वाले पीढ़ी दर पीढ़ी कई एक पुरुषों द्वारा संपादनीय होना चाहिये।

उपर्युक्त मत में विप्रतिपत्ति दिखाते हैं।

अपि वा कृत्स्नसंयोगादेकस्यैव प्रयोगः स्यात्।

(६।७।३६)

अर्थात्—चूंकि यह यज्ञ विधान एक व्यक्ति से ही संबद्ध है अतः यहां 'कुलकल्प' (पीढी दर पीढी करणीय) नहीं माना जा सकता।

विप्रतिषेधात्तु गुण्यन्तरः स्यादिति लावुकायनः।

(६।७।३७)

अर्थात्—लावुकायन के मत में 'सहस्र'-शब्द यहां गौण है [यानी अपने मुख्य अर्थ हजार का वाचक न होकर अनेकार्थ वाचक है] इसी तरह—

संवत्सरो विचालित्वात्।

(६।७।३८)

अर्थात्—संवत्सर शब्द भी 'विचालि'=[निश्चित तौर पर ३६० दिनों के समूह का ही वाचक न होने के कारण]=अनैकार्थक है इस तरह कार्य्यकारणपुरस्सर सब विप्रतिपत्तियों का निरूपण कर चुकने के बाद सिद्धान्तित करते हैं कि—

अहानि वाऽभिसंख्यत्वात् ।

(६ । ७ । ४०)

अर्थात्—सुनिश्चितसंख्याप्रदर्शन के कारण यहां 'संवत्सर' शब्द एक दिन का वाचक मानना चाहिये।

तात्पर्य्य यह हुवा कि उपर्य्युक्त ताण्ड्य श्रुति में जो सहस्रवर्षीय यज्ञ का विधान लिखा है वास्तव में यहां एक दिन को ही एक संवत्सर समझना चाहिये, इस तरह एक ही यजमान द्वारा यह यज्ञ सम्पादन किया जा सकेगा। तथा आयुष्य की असम्भवता का आक्षेप भी समाहित होजाएगा।

शत, सहस्र आदि शब्दों का अर्थ 'बहुत' भी है

पूर्वोक्त आयुष्य विषयक प्रमाणों में— (क) में मनुष्य को 'सहस्रायु' बताया गया है और (घ) में 'शतायुः' कहा गया है, यदि हम यहां शत और सहस्र शब्द का अर्थ लौकिक रूढि के अनुसार 'सौ' और 'हजार' करें तो वेदों पर विरुद्धार्थ-प्रतिपादन का दोष आरोपित होजाएगा क्योंकि एक मन्त्र 'सहस्रायुः' बताता है और दूसरा 'शतायुः' होना ही ठहराता है! इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष में आज भी डेढसौ दो सौ वर्ष की आयु वाले बहुत से मनुष्य देखे और सुने गये हैं जैसा कि हम आगे चल कर बतायेंगे यदि 'शतायुर्वै पुरुषः' इत्यादि श्रुति के अनुसार अवश्य ही मनुष्य की आयुः अधिक से अधिक सौ वर्ष ही होती है तब तो यह बात प्रत्यक्ष के भी सर्वथा प्रतिकूल सिद्ध होजाएगी। इस लिये हमें लोकरूढि को छोड़कर वेदोक्त 'शत' और 'सहस्र' शब्द का अर्थ वैदिक-कोश में ही ढूंढना चाहिये, तथा जिन जिन मंत्रों में उक्त दोनों शब्द प्रयुक्त हुवे हों उन सब का समन्वय करके ही इन शब्दों का वास्तविक अर्थ हृदयङ्गम करना चाहिये। अस्तु वेदार्थनिर्णायक सर्वमान्य 'निरुक्त-निघण्टु' में उक्त दोनों शब्दों का अर्थ बहु=बहुत लिखा है यथा—

बहुनामान्युत्तराणि द्वादश—

उरुः, तुविः, पुरुः, भूरिः, शश्वत्, विश्वम्, परीणसा, व्यानशिः, शतम्, सहस्रम्, सलिलम्, कुविद् ।

(निरुक्त अध्याय ३ खण्ड १३)

अर्थात्—उरु, तुवि आदि बारह बहुत शब्द के पर्य्याय हैं। इसी तरह वेदों के वर्तमान उदीयमान विद्वान् पं० मधुसूदन जी ओझा (जयपुर) ने अपने 'वैदिक-कोश' में लिखा है कि—

उरु पुरु शश्वद् विश्वं, परीणसा व्यानशिः कुवित्सलिलम्।
तुवि च शतं च सहस्रं, भूरि च बहु वाचका एते॥

(वैदिक-कोश पृष्ठ १४)

उपर्युक्त दोनों प्रमाणों से स्पष्ट है कि वेद में शत और सहस्र इन दोनों शब्दों का गौण अर्थ तो चाहे प्रसङ्ग वश 'सौ' और 'हजार' भी होता हो परन्तु इनका वास्तविक सर्व सम्मत एवं मुख्य अर्थ तो सर्वत्र 'बहुत' ही होगा।

'निरुक्त' के प्रसिद्ध भाष्यकार श्रीदुर्गाचार्य्य जी ने अपनी निरुक्त टीका में उक्त-उरु आदि शब्दों के वेदोक्त उदाहरण भी दिये हैं, जिनमें कि इन शब्दों के प्रयोगों द्वारा ही इनका 'बहुत्व' पर्य्याय होना सिद्ध किया है। हम व्यर्थ विस्तारभय से यहां वह सब प्रसङ्ग उद्धृत नहीं करते, विज्ञ पाठक आवश्यकता पड़ने पर तत्रैव देख सकते हैं।

सौ वर्ष की आयु का तात्पर्य्य

अस्तु, यह निश्चित होगया है कि वेदादि शास्त्रों में आयुष्यविषयक शत सहस्र आदि शब्दों का अर्थ प्रायः 'बहुत' ही है। परन्तु एतावता यह भी न समझ लेना चाहिये कि 'पत्थर की लकीर' की तरह-वेदोक्त 'शतायुर्वै पुरुषः' इस प्रसिद्ध श्रुति का तात्पर्य्य-'बहुत आयु वाला पुरुष' ऐसा कह डालने पर ही छुट्टी मिल जाएगी क्योंकि पूर्वोक्त आयुष्यविधायक प्रमाणों में (ग) और (ङ) श्रुति का मनन करने से यह विदित होता है कि 'सौ' संख्या के साथ मनुष्यायुः का अवश्य ही कुछ न कुछ गाढ सम्बन्ध है, अन्यथा 'भूयांसि शतात्'-'भूयश्च शरदः शतात्' इत्यादि वाक्यों में शत शब्द का अर्थ-'बहुत' करने पर 'बहुत से बहुत' और 'बहुत वर्षों से बहुत'-ऐसा ही निरर्थक सा होगा, जिसका कि कुछ भी वास्तविक अभिप्राय न निकल सकेगा, इस लिये मनुष्यायुः के साथ 'सौ वर्ष' का जो सम्बन्ध है-हम उस रहस्य को भी प्रकट करते हैं।

आयुष्य विधायक प्रमाणों की एकवाक्यता करने पर यह तत्व निकलता है कि जिस प्रकार आज कल अमुक २ बाजारू चीजों का टिकाऊपन प्रकट करने के लिये उनकी निश्चित वर्षों तक की गारन्टी स्थिर की जाती है ठीक इसी प्रकार

मनुष्य शरीर के टिकाऊपन की अवधि=आयुष्य-परिमाण, किंवा उसकी गारन्टी (Guaranty) सौ वर्ष है। परन्तु गारन्टी का यह अर्थ नहीं होता कि वह वस्तु—किसी प्रकार भी बरती जाने पर न गारन्टी-से पहिले बिगड़ सकती हो और न निश्चित गारन्टी से अधिक समय तक ठहर सकती हो, क्योंकि प्रत्येक वस्तु नियम-विरुद्ध लापरवाही से बरती जाने की हालत में अवश्य ही गारन्टी से पहिले भी गड़ सकती है और बाहिफाजत रखने पर गारन्टी से भी कहीं अधिक समय तक ठहर सकती है- यह प्रत्यक्ष भी देखने में आता है। हमने संवत् १९७४ में हारमोनियम खरीदा था जिसकी गारन्टी तीन साल की थी, उसे खूब बजाया गया लेकिन नियमानुकूल, वह १५ वर्ष गुजर जाने पर भी हमारे पास अभी तक वैसा ही काम देता है, हमारे मित्र पाधा जी ने भी एक तीन साल की गारन्टी की घड़ी ली थी, मारे चाव के रात दिन उसकी पीठ का ढक्कन खोल कर बार २ देखा करते थे आखीर कुछ ही महीने बाद वह 'चूहेदानी' होगई। ठीक इसी प्रकार मनुष्यायुः का परिमाण अथवा मनुष्य शरीर के टिकाऊपन की गारन्टी अन्यून सौ वर्ष है, तथापि आयुष्य-वर्द्धक तत्तत् नियमों का भली भांति पालन करने पर उसे यथेच्छ बढाया भी जासकता है, और वर्तमान काल की तरह नियम विरुद्ध उच्छृङ्खल जीवन बिताने पर उसको अपने हाथों विनष्ट भी किया जासकता है। इस लिये 'शतायुर्वै पुरुषः' इत्यादि श्रुतियों का तात्पर्य्य यही है कि मनुष्यायुः का परिमाण (गारन्टी) सौ वर्ष है।

यहां तक हमने जो कुछ विवेचन किया है उसका सार यह है कि—

(१) मनुष्य प्रयत्न करने पर- 'दीर्घजीवी', 'स्वछन्दमृत्यु', 'चिरंजीवी' और 'अमर' भी बन सकता है।

(२) वेदों में जो पुरुष को 'शतायुः' कहा है, उसका अभिप्राय केवल यही है कि मानव जीवन की अवधि गारन्टी के तौर पर सौ वर्ष की है परन्तु शुभाशुभ कर्म्मों के अनुसार वह यथेच्छ बढ घट सकती है।

(३) सामान्यतया वेदप्रयुक्त, आयुष्यविषयक 'शत' और 'सहस्र' शब्द का मुख्य अर्थ 'बहुत' है।

(४) यदि हठात् कोई महाशय 'शत' शब्द का अर्थ लोकरूढि के अनुसार 'सौ' ही बताने का आग्रह करें, तब भी 'सहस्रायुः सुकृतश्चरेयम्' इस श्रुति के अनुसार कम से कम हजार वर्ष की तो मनुष्यायुः अवश्य ही सिद्ध होजाएगी।

(५) पुराणादि ग्रन्थों में जिन व्यक्तियों की लम्बी २ आयुः का उल्लेख मिलता है वे प्रायः सत्य, त्रेता आदि युगों में उत्पन्न होने वाले महानुभाव हैं, युगव्यवस्था के अनुसार भी वैज्ञानिक रीति से उनका दीर्घायुः होना युक्तियुक्त है।

(६) जिन व्यक्तियों को दीर्घ आयु लिखा है वे हमारे पूर्वज प्रायः देवताओं के अंश से उत्पन्न होने वाले व्यक्ति हैं, अतः वे दिव्य आयुः के भी अधिकारी थे।

(७) मीमांसा-दर्शन के निर्णयानुसार-वर्ष-संवत्सर आदि शब्दों का अर्थ केवल 'एक दिन' भी है। अतः अमुक २ व्यक्तियों की आयुर्गणना में प्रसङ्गानुसार वहां पुराणकार को भी यही अर्थ अभिप्रेत होसकता है।

यहां तक हमने शास्त्र रीति से आयुष्यविषयक विभिन्न विचारों का सामंजस्य प्रकट किया है, अब अन्यान्य मतावलम्बियों के खयालात का दिग्दर्शन कराना भी अनावश्यक न होगा।

(१) आर्य्यसमाज— के प्रसिद्ध पं० श्रीपाददामोदरसातवलेकर ने 'मानव-आयुष्य' नामक पुस्तक लिखकर ४०० वर्ष तक की आयुः स्वीकार की है, स्वा० दयानन्द सरस्वती ने भी 'सत्यार्थ प्रकाश' (पृष्ठ ४२) में लिखा है कि "उत्तम ब्रह्मचर्य्य का सेवन करके पूर्ण अर्थात् चार सौ वर्ष पर्य्यन्त आयुः को बढावें" इसी तरह आपने 'यजुर्वेद-भाष्य' (१७। ६८) में योगियों के लिये 'लोकान्तर-गमन' और (१७। ७१) में 'परकाय-प्रवेश' की सिद्धि स्वीकार की है [पाठक वर्ग! वे प्रमाण इसी ग्रन्थ के पृष्ठ २४७-२४८ पर देखें-] सो 'परकाय-प्रवेश' और 'स्वछन्द-गति' वाले प्राणियों का 'चिरंजीवी' किंवा 'स्वछन्दमृत्यु' होना स्वाभाविक ही है अतः आर्य्यसमाजी महाशय पुराणोक्त दीर्घायुष्य पर कुछ भी आक्षेप नहीं कर सकते!

(२) जैनी—लोगों के मान्य ग्रन्थ 'रत्नसार' भाग १ पृष्ठ १६६-१६७ तक में लिखा है कि 'ऋषभदेव की आयुः चोरासी लाख पूर्व वर्ष' अजितनाथ की ७२ लाख, संभवनाथ की साठ लाख, अभिनन्दन की पचास लाख, श्रेयांसनाथ की चौरासी लाख-इसी तरह अन्यान्य तीर्थंकरों की भी लाखों वर्ष की आयुः लिखी है, अतः ये लोग भी पुराणोक्त दीर्घ-आयुष्य पर आक्षेप करने का अधिकार नहीं रखते।

(३) ईसाई—लोगों के यहां (तौरेत, पर्व ५ आयत २२ में) लिखा है कि "हनूक, मतूसिलह की उत्पत्ति के पीछे तीन सौ वर्ष लों ईश्वर के साथ साथ चलता था" इससे उपर्युक्त दोनों व्यक्तियों का तीन सौ वर्ष से अधिक आयु वाला होना स्पष्ट है। इसी तरह 'योहन के प्रकाशित वाक्य' पुस्तक (पर्व २० आयत २-३) में लिखा है कि—"उसने अजगर को अर्थात् प्राचीन सांप को जो दियाबल और शैतान है—पकड़ के उसे सहस्र वर्ष लों बांध रक्खा" इस प्रमाण से भी यही स्पष्ट है कि शैतान को हजार वर्ष तक कैद में रखने वाले व्यक्ति की आयु हजार वर्ष से कहीं

अधिक होनी चाहिये—अतः ईसाई भी पुराणोक्त आयु पर नुकताचीनी करने का अधिकार नहीं रखते।

(४) मुसलमान—लोगों की मजहबी किताब कुरान में भी अन्यून हजारों वर्ष की आयु का उल्लेख मिलता है जैसे कि— "और अवश्य भेजा हमने नूह को तर्फ कौम उसके कि बस रहा बीच उनके हजार वर्ष परन्तु पचास वर्ष कम" (कुरान मंजिल ५ सिपारा २१ सू० २९ आयत १३) इसी तरह— "अवधि उसकी हजार वर्ष उन वर्षों से कि गिनते हो तुम"। (कुरान मं० ५ सि० २१ सू० ३२ आय० ४-५) ऊपर लिखे प्रमाणों के अनुसार जब कि हजरत नूह एक स्थान में पूरे साढ़े नौ सौ वर्ष तक रहता है तो अवश्य ही उसकी आयु इससे कहीं अधिक होनी चाहिये। इस लिये मुसलमान लोग भी पुराणोक्त दीर्घायुष्य पर नुकताचीनी करने का क्या मजाज़ रखते हैं ?

आयुष्य विषय में विदेशियों की राय

पाश्चात्य पण्डितों ने भी एक हद तक मनुष्य का 'चिरंजीवी' बन सकना स्वीकार किया है यथा—

"Man may not become quite immortal yet the duration of life between birth and natural death will increase without ceasing, will have noassing aable term, and may properly be expressed by the word indefinite, a constant approach to an unlimited extent with out ever reaching it or an increase in the immensity of ages to an extent greater than any assignable quantity."

(M. Condorcet's prolem of life)

अर्थात्—"मनुष्य अमर तो नहीं होसकता परन्तु उसके जीवन के दिन स्वाभाविक मृत्यु के दिनों से बढ़ सकते हैं और फिर यह कोई नहीं कह सकता कि अमुक पुरुष की अवस्था इतने ही दिनों की होगी। धीरे धीरे अवस्था में वृद्धि होते होते सैंकड़ों वर्षों में मनुष्य ऐसा दीर्घजीवी बन सकता है कि उसकी उमर का कोई अन्दाज नहीं कर सकता" ('देश दर्शन'—पृष्ठ १०० से)

आधुनिक दीर्घजीवी मनुष्यों का ब्यौरा

(१)

"बरीसाल के कौनिया नामक गांव में सुधीखां नामक एक आदमी है जिसकी उम्र का यह ११४ वां वर्ष आरम्भ है उसके पिता का नाम चान्दखां था। उसके दांत

अब भी १८ हैं। प्रातः काल ही उठ कर वह अपने कामों में लग जाता है। उसका पहिला ब्याह ४० वर्ष की अवस्था में हुवा था। वर्तमान स्त्री उसकी तीसरी स्त्री है जिसकी उम्र ७० वर्ष की है। सुधीखां अभी भी ५। ६ माइल पैदल चल सकता है और १०। १५ सेर चीज मैंज़े में लेजा सकता है।"

[ता० १-११-२५ के दैनिक 'भारत-मित्र' कलकत्ता से-]

(२)

"संसार में हाजी ताहर नाम का एक आदमी अभी तक है कि जिसने नैपोलियन को अपने जीवन में देखा। इसकी जन्म भूमि मक्माअज़मल है यह आधुनिक संसार के मनुष्यों में सबसे अधिक उम्र वाला है। क्योंकि यह स्वयं अपनी आयु १४० वर्ष की बतलाता है। इतना वृद्ध होने पर भी यह हट्टा कट्टा है कि अपने तीसरे बार के जमे हुवे दांतों से कड़ी से कड़ी वस्तु को भी चाब सकता है।"

[ता० ६ जौलाई सन् १९२५ के 'हिन्दू-सर्वस्व' से-]

(३)

"बिलगुडर (सर्विया) में नामफीईरए फन्दो नामक एक बूढा ऐसा है कि जिसने अपनी १५१ वर्ष की आयु में २७ विवाह करके ११० बच्चे उत्पन्न किये हैं।"

[ता० ३-१-२६ के 'भारत-मित्र' से -]

(४)

"मनुष्य की आयु का निश्चय करना और उसके लिये सीमा बांध देना असम्भव जान पड़ता है। पीटर मर्फेस ने भारत के इतिहास में लिखा है कि नुमीसडे सन् १५६६ में मरा, उस समय उसकी आयु १७१ वर्ष की थी। टामसडार की आयु १५२ वर्ष की थी। इफिन्धम १४४ वर्ष की उमर में मरा। गुसांई लक्ष्मणपुरी, इमलहा (मिर्जापुर) ११६ वर्ष के होकर मरे।

['देश-दर्शन' पृष्ठ ६६ से-]

(५)

"वर्न गांव-भुसावल में एक दर्शनीय परम हंस महात्मा ऐसे हैं कि जिनकी आयु इस समय तीन सौ वर्ष की है।"

[ता० २-११-२५ के 'हिन्दू-सर्वस्व' से-]

पाठक वृन्द! न तो सन्देहों की इयत्ता होसकती है और नाहीं-इनके निवारण का ही अन्त ठहराया जा सकता है, अतः इस अनवस्था को देखकर हम उक्त अध्याय

को यहीं समाप्त कर देने के लिये विवश हैं, विज्ञ पाठक स्वयं अनुभव कर चुके होंगे कि इस अकेले अध्याय ने उक्त ग्रन्थ का आधा कलेवर घेर लिया है, इतने पर भी सभी आक्षेपों का समाधान इसमें आचुका हो सो बात नहीं है। हम स्वयं जान बूझ कर इस अध्याय में कई एक सुप्रसिद्ध आख्यानों का रहस्य प्रकट नहीं कर रहे हैं, उदाहरणार्थ—'समुद्र-मथन' 'गणेश-उत्पत्ति' 'देवताओं के विलक्षण स्वरूप और विलक्षण वाहनादिक' एवं 'अमुक २ व्यक्तियों का सदेह स्वर्गादि में आना जाना' आदि २ से सम्बन्ध रखने वाले आख्यानों का नाम लिया जासकता है। उक्त आख्यानों को इस ग्रन्थ में स्थान न मिलने का कारण यही है कि— यदि हम संक्षेपपूर्वक रहस्य प्रकट करते तब तो पाठकों के पल्ले कुछ न पड़ने की-उल्टा किसी हद तक अधिक सन्देह बढ जाने की-भी संभावना थी, और विस्तार पूर्वक प्रत्येक भाव का रहस्य प्रकट करने के लिये न इस ग्रन्थ का कलेवर आज्ञा देता था और नाहीं 'आर्थिक-समस्या' (Buget) ही अनुकूल पड़ती थी इस लिये हम 'स्थालीपुलाक' न्यायसे केवल ५० सन्देहाभासों का निवारण करने के साथ साथ इस अध्याय को भी यहीं समाप्त करते हैं। ईश्वर ने बल दिया और कृपालु पाठकों ने हमारे परिश्रम को उदारतापूर्वक स्वीकार किया तो उक्त माला के आगामी ग्रन्थ 'भागवत पुराण-दिग्दर्शन' में अवशिष्ट सन्देहाभासों का भी निवारण किया जाएगा, तथास्तु—

* नौवां अध्याय समाप्त *

विश्व-विद्या-निरूपणाध्यायः

(दशवां अध्याय)

न सा विद्या, न तज्ज्ञानं, न तच्छिल्पं न सा कला ।
न तत्तत्वं हि गहनं, पुराणैर्यन्न गीयते ॥
तत्राप्यसम्भवत्वं यत्, पर—प्रत्यय-बुद्धिभिः ।
आशङ्क्यते,—तदेवात्र, समाधाय निरूप्यते ॥

वेद व्याख्याता सायणाचार्य्य ने ऋग्वेद के उपोद्घात में पुराणों को समस्त विद्याओं का भण्डार होने के कारण 'विद्यास्थान' की उपाधि से विभूषित किया है, जैसा कि हम 'प्रमाणसङ्ग्रहाध्याय' (पृष्ठ ५८ प्रमाण २६) में लिख आये हैं। इसी प्रकार महर्षि याज्ञवल्क्य ने भी अपने प्रसिद्ध धर्मशास्त्र में पुराणों को चतुर्दश विद्याओं में परिगणित करते हुवे उन्हें प्रथम स्थान दिया है परिशीलनार्थ इसी ग्रन्थ के पृष्ठ ६७ पर अङ्कित किया हुवा ८० वां प्रमाण देखना चाहिये। इस अध्याय में हम कतिपय विद्याओं का सप्रमाण निरूपण करके यह बतलाने की चेष्टा करेंगे कि वास्तव में पुराण ग्रन्थ 'विद्यास्थान' उपाधि के सर्वथा योग्य ही हैं क्योंकि पुराणों में इतिहास (History) व्याकरण (Grammar) निरुक्त (Philology) पितृ-विद्या (Anthropology) गणित-विद्या (Mathematics) दैव-विद्या (Physical Geography) निधि-विद्या (Minerology) तर्क-विद्या (Logic) नीति शास्त्र (Ethics) देव-विद्या) (Physical Science) ब्रह्म-विद्या (Brahma Vidya) भूत-विद्या (Zoology Anatomy etc.) क्षत्र-विद्या (Military Science and Art of Government) नक्षत्र-विद्या (Astronomy) और गाथा शास्त्र (Mythology) आदि २ समस्त विषयों का सर्वाङ्ग-पूर्ण एवं विश्वस्त वर्णन विद्यमान है। यद्यपि हम 'ग्रन्थ-विस्तर-भयात्' इस अध्याय में उक्त सब विद्याओं का निरूपण नहीं कर सकते

तथापि (१) वर्तमान समय में जिन जिन विषयों की विद्वत्समाज में प्रायः चर्चा चलती है तथा (२) जिन जिन बातों को मौजूदा साइन्स के ही अभूत पूर्व करिश्मे कहा जाता है एवं (३) पुराणों के जिन २ वर्णनों को अदूरदर्शिता के कारण चन्द कूपमण्डूक, असम्भव-नामुमकिन-सृष्टिनियमविरुद्ध, प्रत्यक्ष-विरुद्ध, गप्पाष्टक=गपोड़े, सफ़ेद झूठ आदि आदि उपाधियों से तिरस्कृत करने का साहस किया करते हैं— ऐसे कतिपय विषयों का सप्रमाण एवं सयौक्तिक निरूपण अवश्य करेंगे। जिस से विज्ञ पाठक पुराणों की उपयोगिता के साथ २ पुराणों को कोसने वाले महाशयों की मूर्खता का भी अनुमान कर सकेंगे।

हमारा दावा है कि पुराणों में जो कुछ लिखा है वह सर्वथा सत्य एवं विश्वास करने योग्य है। हमें जो २ अंश अटपटे तथा बुद्धि में न जँचते हुवे से जान पड़ते हैं वास्तव में वहां तक हमारे मस्तिष्क की पहुंच नहीं है, अथवा पुराणोक्त लाक्षणिक शब्दों का विचार करके तत्तद् विषयों की अर्थसङ्गति बिठलाने की हम में क्षमता नहीं है। इसके अतिरिक्त 'वर्तमान खोज' की दुहाई देकर भी तद्विरुद्ध पौराणिक वर्णनों को झुठलाने का प्रयत्न किया जाया करता है सो निश्चय ही वर्तमान खोज सिद्धान्त सीमा तक नहीं पहुंच पाई है किन्तु वह अभी 'साध्य कोटि' में ही मानी जा सकती है, अतएव आए दिन नई २ खोज होजाने पर पहिली-धारणाओं में रद्दो-बदल होती रहती है। सो एवंभूत अधूरी खोज के आधार पर त्रिकालदर्शी महर्षियों के समाधिलब्ध रहस्यों में 'किन्तु-परन्तु-ननु-नच' का अडङ्गा लगाना विचार शील व्यक्तियों का काम नहीं होसकता।

इस अध्याय में भी हम विषयसंकीर्णता के कारण कोई सुस्थिर क्रम-बन्धन नहीं कर पाए-हमारी इस विवशता के लिये उदार पाठक अवश्य क्षमा करेंगे ऐसी हमें आशा है।

भूमण्डल-विद्या

पुराणों में भूमण्डल के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है वह इतना विस्तृत एवं विवेक पूर्ण वर्णन है कि जिसका मनन करने से ऋषिजनों की प्रतिभा पर चकित रहना पड़ता है। पृथ्वी का नाप, तोल, व्यास, परिधि, क्षेत्र-फल, और पार्थिव आकर्षण की सीमा,- तथा पृथ्वीस्थ समस्त पर्वतों की स्थिति, विस्तार उनकी चोटियों

की ऊँचाई और पृथ्वी गर्भ में धसी हुई गहराई— तत्सम्बद्ध धातुवों तथा रत्नों का ब्यौरा,—इसी प्रकार प्रसिद्ध नदियों सरोवरों, नदों महारण्यों और तत्तत्कालीन वन उपवनों का संस्थान- एवं सामयिक सम्राटों द्वारा निर्धारित तत्तत् प्रदेशों की हदबन्दी,— गर्ज है कि जो बातें आज उन्नत कहे जाने वाले जमाने में भी 'इदमित्थं' नहीं जानी जासकी हैं पुराणों में उन सब का सर्वाङ्ग पूर्ण एवं यथार्थ वर्णन विद्यमान है। उदाहरण के लिये भूमि में धँसे हुवे पर्वत पादों को ही लीजिये,— वर्तमान अनुसन्धायक आज तक न इस रहस्य को जान सके हैं न भविष्य में जान सकेंगे ऐसी सम्भावना है, क्योंकि जरीब और फीतों को डाल कर नाप=पैमाइस करने वाले जड़वादी, मौजूदा अनुसन्धायक भूगर्भ में धंसने की योग्यता नहीं रखते! यह रहस्य तो वे ही आत्मवादी महर्षि जान सकते हैं जो कि अष्टाङ्ग योग द्वारा—

'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा।'

—के अनुसार समस्त ब्रह्माण्ड के परोक्ष पदार्थों को भी 'हस्तामलक' कर सकने की क्षमता रखते हों! यह योग्यता केवल भारतीय ऋषियों की ही बपौती थी, इसी लिये आज साइन्स के प्रकाश में जो कुछ भी दीख पड़ता है वह पुराण-वर्णित-रहस्यों की ही धुँधली छायामात्र है।

पौराणिक भूगोल के जितने आक्षेप किये जाया करते हैं हम उन सबको प्रायः तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं यथा—

(१) अनुपलब्धि— अर्थात्- पुराणों में जिन २ नद नदा सरोवरों, पर्वतों किंवा नगरों का होना प्रकट किया है, बहुत छानबीन करने पर भी अब कहीं वे वे चीजें प्राप्त नहीं होतीं, जैसे- पुराणोक्त जामुन के रस से परिपूर्ण जम्बूनद, आम के रस से बहने वाली अरुणोदा नाम की नदी, ईख रस-सुरा-घी-दही-दूध और मीठे पानी के समुद्र, सुमेरू आदि सोने के पहाड़ एवं शतकुम्भी, देवधानी, संयमनी, निम्लोचनी और विभावरी आदि पुरियों का कहीं पता नहीं चलता।

(२) असम्भवता— अर्थात्- [यदि कोई सज्जन पुराणवर्णित उपर्युक्त नद नदी सरोवरों पर्वतों किंवा नगरों की अनुपलब्धि का समाधान करने के लिये यह उत्तर दे कि "वहां तक पहुँच सकने की हम मनुष्यों में शक्ति ही नहीं है" तब यह भी एक प्रबल आक्षेप उपस्थित होगा कि] संसार में दूध दही के समुद्रों और सोने के पहाड़ों का अस्तित्व बुद्धिग्राह्य न होने के कारण सर्वथा असम्भव है।

(३) परिमाण-वैपरीत्य— अर्थात्- पुराणों में उक्त नद नदियों, सरोवरों, पहाड़ों किंवा भूखण्डों की जितनी लम्बाई चौड़ाई ऊँचाई और गहराई बतलाई गई है न वह प्रत्यक्ष में ठीक उतरती है तथा नाहीं अनुमानद्वारा उसकी सत्यता स्वीकार की जा सकती है, जैसे— हमारी इस भूमि का परिमाण [अन्यून आठ हज़ार माइल मात्र प्रत्यक्ष सुनिश्चित है, तथापि पुराणों में वह] पचास करोड़ योजन लिखा है। इसी तरह [समस्त भूमण्डल में पर्वतों की ऊँची से ऊँची चोटियें पांच माइल से अधिक नहीं पाई जातीं तथापि पुराणों में] सुमेरु की ऊँचाई एक लाख योजन दर्ज़ है। इत्यादि परिमाण सर्वथा विपरीत ठहरते हैं।

यदि शङ्कावादी महाशयों की इस बात को ठीक भी मान लिया जावे कि "वस्तुतः पुराणोक्त वस्तुओं की स्थिति आज की खोज में पूरी नहीं उतरती है"- तब भी पौराणिक भूगोल पर आक्षेप करना व्यर्थ है क्यों कि पुराण अमुक २ कल्प का नाम देकर उसी उस कल्प के समय की वस्तुस्थिति का निरूपण करते हैं अतः अर्बों वर्ष पूर्व तादृश रूप में विद्यमान होने वाले पदार्थों को आज भी वैसी ही स्थिति में प्रत्यक्ष देखने की अभिलाषा रखने वाले सज्जनों को कुछ प्राकृतिक परिवर्तन का भी मनन करना चाहिये।

कविवर भवभूति ने अपने प्रसिद्ध नाटक ' उत्तर रामचरित ' में जनस्थान को देख कर श्री रामचन्द्र जी के शब्दों में प्राकृतिक परिवर्तन का एक बड़ा ही मार्मिक चित्र खींचा है हम पाठकों के लाभार्थ यहां उसे पेश करते हैं, आपने दृष्टपूर्व तत्तत् पदार्थों को लक्ष्य करके कहा कि—

पुरा यत्र स्रोतः पुलिनमधुना तत्र सरितां
विपर्य्यासं यातो घनविरलभावः क्षितिरुहाम्।
बहोर्दृष्टं कालादपरमिव मन्ये वनमिदं
निवेशः शैलानां तदिदमिति बुद्धिं द्रढयति॥

(उत्तर रामचरित २। २७)

अर्थात्— पहिले कुछ वर्ष पूर्व जहां झरनों की श्रवण रमण हर हर ध्वनि होती थी आज वहां उत्ताल तरङ्गों को उछालती हुई नदियों के विशाल किनारे नज़र आरहे हैं। जहां हरे वृक्षों से संकुलित घने जंगल थे वहां आज खुले मैदान दीख पड़ते हैं, और जो स्थान ऊषरप्रायः पड़े थे वे आज लहलही लतिकाओं से आच्छादित होरहे हैं। अहो! आज मुद्दत के बाद देखा हुवा यह जनस्थान मुझे अदृष्टपूर्व

विलक्षण सा ही दीख रहा है, परन्तु जहां तहां पर्वतों का जो यथावत् विन्यास है वही केवल इसके जनस्थान होने की सम्भावना को दृढ कर रहा है।

यह कोरी कविकल्पनामात्र ही नहीं है किन्तु तथ्य भी यही है। आज एक एक शताब्दी के अन्दर बने हुवे वृन्दावन में यमुनाघाट व्यर्थ से होगये हैं यमुना की धार आज वहां प्रवाहित होरही है जहां कि कभी उत्तम उद्यान विद्यमान होंगे किंवा कूओं-द्वारा खेती हुवा करती होगी! आज वे उजाड़ प्रायः घाट तथा यमुना के अन्दर आये हुवे कूवे दिल खोल कर इस प्राकृतिक परिणाम की साक्षी देरहे हैं। इतना ही नहीं कौरव वंश की प्राचीन राजधानी हस्तिनापुर को ही देख लीजिये जहां पर कि भारत-सम्राट् की विशाल राजधानी थी आज वहां खंडहरों से बने हुवे टीले, प्रकृति के परिवर्तन में सम्मिलित होकर सिंह आदि महासत्वों की कर्णकटु भयावह आवाज़ के साथ गर्जना करते हुवे बतला रहे हैं कि "संसरणात् संसारः"। ऐसी दशा में हम-आज पुर ग्राम वन नदी आदि का सन्निवेश पुराणवर्णन के विरुद्ध देख कर भी हजारों वर्ष पुराने वर्णनों को कैसे झुठला सकते हैं?

प्रत्नतत्ववेत्ता भूगर्भ शास्त्री आज राजपूताने के रेगिस्तान (मरु भूमि) को पुराना समुद्र स्थान बताते हुवे "† सांभर झील को" इसका निदर्शक प्रत्यक्ष प्रमाण बतलाते हैं।

"असीरिया" के रेगिस्तान को (जिसका कि पार करना स्थल मार्ग से तो सर्वथा असम्भव है) भी समुद्र का आवास स्थान बताते हैं तथा उस भयङ्कर निर्जन प्रदेश में जलीय जन्तुओं की अस्थियों को देख कर अपने विचार की पुष्टि कर रहे हैं, काश्मीर जैसे पर्वतीय प्रदेश की पर्वत मालाओं के भीतर से निकली हुई जलीय जन्तुओं की हड्डियें भी वहीं पर प्राचीन समय में जल का होना सिद्ध करती हैं। जब कि समुद्र के स्थान में रेगिस्तान होजाना तक सम्भव होसकता है तब क्या पुराणों ने ही कोई पाप किया है कि जो वे— (सामान्य वर्णन में वर्तमान वस्तु स्थिति से विभेद होते ही) परित्याज्य समझे जायँ?

जो लोग पौराणिक भूगोल पर इस प्रकार के आक्षेप करते हैं वास्तव में उन सज्जनों ने पौराणिक भूगोल शैली का गुरुमुख से अध्ययन नहीं किया है तथा नाहीं उन्हें पुराणोक्त भूमण्डल विद्या में प्रयुक्त होने वाले पारिभाषिक शब्दों की अर्थ सीमा

टिप्पणी (†) इसके जल का स्वाद समुद्र जल सा खारा है, इसके जल से सांभर नमक भी बनता है।

का ही बोध है। सर्वसाधारण की कौन कहे— भागवत के सैकड़ों सप्ताह बांच डालने वाले बड़े २ कथक्कड़ भी पञ्चमस्कन्धोक्त भूगोल की अर्थसङ्गति बिठलाने में 'गूंगे का गुड़' खा बैठते हैं। इस लिये हम सर्वप्रथम 'पौराणिक भूगोल शैली और उसमें प्रयुक्त होने वाले पारिभाषिक शब्दों'- का कुछ विवेचन करना आवश्यक समझते हैं।

पौराणिक-भूगोल-शैली

(स्थूल और सूक्ष्म जगत् का तारतम्य)

हम इसी ग्रन्थ के १८२ पृष्ठ पर पुराणों की विशिष्ट शैली का निरूपण कर चुके हैं, तदनुसार श्री वेदव्यास जी ने जिस तरह ऐतिहासिक अंश के साथ २ अन्यान्य वैज्ञानिक तत्वों को भी पुराण साहित्य में यत्र तत्र विमिश्रित करके एक प्रघट्ट में ही अनेक उपयोगी रहस्यों को प्रकट कर डाला है ठीक इसी तरह पौराणिक भूगोल प्रसङ्ग में भी स्थूल जगत् का यथावत् वर्णन करते हुवे साथ साथ सूक्ष्म किंवा दिव्य जगत् का भी विशद निरूपण किया है। कहना न होगा कि भूमण्डल विषयक पौराणिक वर्णन को केवल इस प्रत्यक्षदृष्ट भूखण्डमात्र के साथ ही सम्बद्ध मानना पहिली भूल होसकती है किन्तु यह सब वर्णन तो जहां हमारी इस अकिञ्चन भूमि की संस्था का परिचायक है वहां इन्द्रियाक्रान्त एवं अनुभवैकवेद्य, सूक्ष्म जगत् के दिव्यसंस्थान का भी द्योतक है।

पौराणिक भूगोल विद्या का मनन करते हुवे यह 'गुर' कण्ठस्थ कर लेना चाहिए कि हमारा यह स्थूल जगत् इन्द्रियातीत सूक्ष्म जगत् का ही छोटा-किन्तु सर्वाङ्ग पूर्ण प्रतिबिम्ब (फोटो) है सूक्ष्म जगत् में जिन २ पदार्थों की जैसी स्थिति है हमारे इस स्थूल जगत् में भी उन २ पदार्थों के प्रतिनिधिभूत स्थूल पदार्थों की वैसी ही संस्था है।

पुराणों में- जिन नद नदी सरोवरों पर्वतों किंवा नगरों का जहां- जैसा- जिस तरह का- वर्णन किया है, वे सब मुख्यतया सूक्ष्म जगत् में उसी रूप में और उसी परिमाण में ठीक ठीक वैसे ही विद्यमान हैं। साथ ही गौणरूपेण इस स्थूल जगत् में भी तत्तत् पदार्थों के प्रतिनिधिभूत नद नदी सरोवर और पर्वतादिक विद्यमान तो अवश्य हैं परन्तु उन में पुराणवर्णित सब गुण अथवा अवगुण घटित होते हों सो बात नहीं हैं, जिस तरह कागज पर बने हुवे भूगोल चित्र में किंवा गारा मिट्टी मौम और मसाले से तैयार किये हुवे भूगिण्ड (Globe) में हमारे इस दृश्य संसार के

प्रायः सभी प्रधान २ नद नदी सरोवरों पर्वतों और नगरों के रूप रेखात्मक चिन्ह तो अवश्य विद्यमान होंगे परन्तु नाप तोल परिमाण में और कारणभूत सामग्री में वे बनावटी चित्र वास्तविक भूपिंड के समान नहीं होसकते, ठीक इसी प्रकार हमारा यह स्थूल जगत् भी उस इन्द्रियातीत सूक्ष्म जगत् का नक़शा मात्र है। इस स्थूल जगत् के समस्त नद नदी सरोवरादिक उस सूक्ष्म जगत् के नद नदी आदि पदार्थों के ही निदर्शनमात्र हैं। नक़शे की नीली रेखाएं जिस तरह गङ्गा यमुना आदि नदियों की प्रतिमूर्ति होती हुई भी असली नदियों की भाँति अपनी उत्ताल तरङ्गों से किनारों को आप्लावित नहीं कर सकती, ठीक इसी तरह सूक्ष्म जगत् के पदार्थों के प्रतिकृति-भूत स्थूल-जगत्-संस्थित नद सरोवरादिक भी अपनी सीमा तक ही पुराणवर्णित भूगोल के साथ मुताबक़त रखते हैं। इस लिये पौराणिक भूगोल का अध्ययन करते हुवे पाठकों को यह बात कभी नहीं भूलनी चाहिये कि इस प्रसङ्ग में जिन २ पदार्थों का जैसा संस्थान पुराणों में अङ्कित है वह सोलहों आने तो सूक्ष्म जगत् में ही उपलब्ध होसकता है उसकी प्रत्याकृतिमात्र हमारे इस स्थूल जगत् में मिल सकती है, यही पौराणिक-भूगोल शैली की विशेषता का रहस्य है।

पौराणिक-भूगोल के पारिभाषिक शब्द

यूं तो सभी विषयों में कुछ खास २ शब्द ग्रन्थकार के व्यापक अभिप्राय को प्रकट कर सकने के लिये निश्चित रहते हैं जिन्हें कि तत्तत् शास्त्र के पारिभाषिक शब्दों के नाम से स्मरण किया जाता है परन्तु भूगोल विषय में तो पारिभाषिक शब्दों का इतना बाहुल्य है कि तत्सम्बन्धी प्रत्येक भाव को व्यक्त करने के लिये बार २ उनके प्रयोग की ही आवश्यकता पड़ती है। ऐसी दशा में यह स्पष्ट है कि पौराणिक भूगोल विद्या का अध्ययन करने वाले महानुभावों को सर्व प्रथम पारिभाषिक शब्दों का खूब मनन करना चाहिये।

इस विषय में इतनी बात और भी गांठ बांध लेनी चाहिये कि पारिभाषिक शब्दों की 'अर्थ सीमा' निर्धारित करना ग्रन्थकार की अपनी इच्छा पर ही निर्भर है। वह जिस शब्द को जिस सीमा तक व्यापक करना चाहे यथेच्छ कर सकता है, इस विषय में किसी दूसरे की यह चाराज़ोई नहीं चल सकती कि 'वह ऐसा ही क्यों मानता है'। हमारी यह उक्ति अमूमन समस्त पारिभाषिक शब्दों पर- और खसूसन नाप तोल के परिमाणों (पैमानों Measures) पर सर्वथा लागू होती है जिसकी स्पष्टता के लिये हम यहां कतिपय उदाहरण देदेना भी आवश्यक समझते हैं।

सभी जानते हैं कि प्रत्येक वस्तु का वज़न प्रकट करने के लिये छटांक सेर और मण आदि तोल का उल्लेख होता है परन्तु देश भेद से अथवा वस्तु भेद से यह परिमाण पचासों प्रकार का देखा जाता है जैसा कि नीचे लिखी तालिका से विदित होसकेगा कि 'सेर' की परिभाषा प्रान्त भेद से किस तरह बदल जाती है यथा—

बम्बई शहर में—	मेवा, किराना, सागसब्जी और घी का	सेर	२८ तोले का
,, ,,	दूध दही	,, ,,	५५ ,, ,,
,, ,,	अन्न आदि	,, ,,	८० ,, ,,
मुजफ्फरनगर के इलाके में	सब चीजों	,, ,,	८८ ,, ,,
धामपुर नगीना	,, ,,	,, ,,	९५ ,, ,,
मुरादाबाद बरेली	,, ,, ,,	,, ,,	१०५ ,, ,,
अम्बाला के इलाके में	(पुराणा तोल)	,, ,,	३६ तोले का

इसी तरह हम नाप सम्बन्धी— गज, कोस आदि पारिभाषिक शब्दों की इयत्ता में भी प्रत्यक्ष अन्तर देख पाते हैं, हमारे अपने प्रान्त में ही तीन प्रकार का गज बर्ताव में आता है। सोलह गिरह या छत्तीस इञ्च का अंग्रेजी गज़ तो आज सभी जगह प्रचलित है परन्तु बढ़ई लोग एक चौबीस तसू का गज बर्तते हैं जिसे कि वे 'इमारती गज' के नाम से पुकारते हैं और वह लगभग ३२ इञ्च का होता है जुलाहे लोग और प्राचीन सभ्यता के पुजारी किसान लोग एक तीसरा गज बर्ताव में लाते हैं जिसे वे 'कच्चा गज़' कहते हैं वह अन्यून १२ गिरह का ही होता है।

कोस का छोटा बड़ापन तो प्रायः सभी यात्रियों को विदित है। मारवाड़ में जितनी दूरी को एक कोस बताते हैं देहली प्रान्त में उसे दो कोस और पूर्वीय पञ्जाब में चार कोस तक कह सकते हैं, कहने का तात्पर्य्य यह है कि नाप सम्बन्धी परिमाण में भी तत्तत्प्रान्तीय व्यवस्था के अनुसार ही परिभाषा कल्पना करनी पड़ती है, अन्यथा न्यूनाधिक्य का गड़बड़ घुटाला होजाना स्वाभाविक है।

ठीक इसी प्रकार पौराणिक भूगोल सम्बन्धी परिभाषिक शब्दों की अर्थसीमा भी पौराणिक परिभाषा के अनुसार ही निश्चित करनी चाहिये। जिस तरह किसी मुरादाबादवास्तव्य पुरुष के समक्ष बम्बई निवासी सज्जन का यह कहना कि "मैं आध सेर भर घी प्रति दिन खाता हूँ" मुरादाबाद की परिभाषानुसार १०५ तोले का सेर मानने की दशा में ही असम्भव जँच सकता है परन्तु बम्बई की परिभाषा के अनुसार केवल २८ तोले मात्र का सेर स्वीकार करने पर वह असम्भवता काफूर होजाती है, ठीक इसी तरह पौराणिक भूगोल प्रयुक्त 'भू-मण्डल', 'भू-वलय' 'द्वीप'

'समुद्र' और 'भू-विवर' आदि शब्दों का तथा तत्तत्परिमाण द्योतक योजन आदि शब्दों का पुराण सम्मतपारिभाषिक अर्थ जान लेने पर भी वे वे सब सन्देह काफूर होजाएंगे जो कि उक्त शब्दों के लोकप्रसिद्ध अर्थ मानने की दशा में प्रायः उत्पन्न होते हैं।

'भू-मण्डल' शब्द का परिभाषार्थ

'भूमण्डल' का शब्दार्थ चाहे कुछ भी क्यों न होसकता हो, परन्तु पुराण ग्रन्थों में इस शब्द की निम्नलिखित परिभाषा नियत की गई है—

"....भू-मण्डलायामविशेषो यावदादित्यस्तपति यत्र चासौ ज्योतिषां गणैश्चन्द्रमा वा सह दृश्यते।

(श्रीमद्भागवत ५। १६। १)

अर्थात्— भगवान् सूर्य्य जितनी दूर तक ताप दान करते हैं और जिस स्थान में तारागणों सहित वह चन्द्रमा दीख पड़ता है उतने विस्तृत स्थान को भूमण्डल कहते हैं।

अब जो लोग पौराणिक भूगोल को पढ़ते हुवे तद्वर्णित समुद्र-नद-नदी-सरोवरों किंवा पर्वतों को इस दृश्यमान छोटी सी भूमि पर ही देखना चाहते हैं उन्हें आंख खोल कर ऊपर लिखी पंक्तियें पढ़नी चाहियें। जब कि पौराणिक भूगोल के प्रथम शब्द 'भूमण्डल' की परिभाषा में ही यह व्यक्त कर दिया गया है कि पौराणिक भूगोल का क्षेत्र केवल यह भूपिण्डमात्र ही नहीं है बल्कि जहां तक सूर्य्यदेव तपते हैं और जहां ज्योतिश्चक्रसहित चन्द्र भगवान् दीख पड़ते हैं उतने लम्बे चौड़े विस्तृत आकाश स्थल के अभ्यन्तरवर्ती- समस्त पदार्थों को यथावत् प्रकट करना ही पुराणों का ध्येय है तब भूपिण्डमात्र में सब कुछ ढूंढने की चेष्टा करना और न मिलने पर पुराणों का दोष बतलाना मूर्खता नहीं तो और क्या है?।

सातों द्वीप, और सातों समुद्र कहां हैं?

पुराणों में— जम्बू, प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौंच, शाक और पुष्कर नाम सात द्वीपों का उल्लेख मिलता है इसी प्रकार लवण, इक्षु, सुरा, घृत, दधि, दुग्ध और जल नामक सात समुद्रों का जिक्र आता है। पुराणों में इन सबका जिस प्रकार का वर्णन

किया है वे इदमित्थं वैसे ही पूर्वोक्त भूमण्डल की विस्तृत सीमा के अभ्यन्तर-सूक्ष्म-जगत् के संस्थान में उपलब्ध होसकते हैं जैसा कि हम पीछे पौराणिक भूगोल शैली की विशेषता प्रघट्ट में प्रकट कर आए हैं। कदाचित् शङ्कावादी महाशयों को अब भी दूध दही आदि के समुद्रों पर विश्वास न होतो हम इस विषय में साक्षात् निराकार भगवान् की गवाही भी दिलवा सकते हैं जिस से- कम से कम आस्तिक समाज को तो इनके अस्तित्व पर कुछ भी सन्देह शेष न रहे। यथा—

घृतह्रदा मधुकूलाः सुरोदकाः, क्षीरेण पूर्णा उदकेन दध्ना।
एतास्त्वा धारा उपयन्तु सर्वाः, स्वर्गे लोके मधुमत्पिन्वमानाः॥

(अथर्व ४। ३४। ६)

अर्थात्— घी, मधु, सुरा, दूध, दही और जल से परिपूर्ण तालाब स्वर्गलोक में धारा रूप से तुझे तृप्त्यर्थ प्राप्त हों।

उपर्युक्त मन्त्र में बड़ी ही खूबी के साथ परोक्षभूत एवं आश्चर्य्यकारक— घृतोद, इक्षुरसोद, सुरोद, क्षीरोद, दधिमण्डोद और मिष्टजलोद इन छहों समुद्रों का वर्णन विद्यमान— है। सातवां लवणोद नामक खारा समुद्र प्रत्यक्ष ही है अतः वेद के इस मन्त्र में उसे परिगणित करने की आवश्यकता नहीं समझी गई।

यहां तक हमने पौराणिक-भूगोल-वर्णित अमुक २ वस्तुओं के न मिलने की शिकायत का निराकरण किया है तदनुसार विज्ञ पाठक यह समझ चुके होंगे कि— "चूंकि पौराणिक भूमण्डल का क्षेत्र दिव्य जगत् तक विस्तृत है अतः इस भू-खण्ड में उपलब्ध न होने वाले पदार्थ उस इन्द्रियातीत सूक्ष्म-जगत् में अवश्य विद्यमान हैं जैसा कि परोक्ष ज्ञान के भण्डार वेद में स्पष्टतया लिखा है" ऐसी दशा में किसी भी आस्तिक सज्जन को अब पुराण-वर्णित अमुक पदार्थ के न मिलने का आक्षेप करने की गुञ्जाइस बाक़ी नहीं रहेगी।

लक्षणा से असम्भवता परिहार

पौराणिक-भूगोल पर दूसरा आक्षेप असम्भवता विषयक किया जाता है जैसा कि हम पीछे लिख आये हैं। शङ्कावादी महाशयों का कहना है कि 'दूध दही के समुद्र नहीं होसकते और नाहीं कोई सोने का पहाड़ होसकता है'— हम प्रतिवादियों से इस आक्षेप का स्वागत करते हुवे विनम्र भाव से पूछना चाहते हैं कि— क्या आपके कोश में प्रत्येक शब्द का अभिधार्थ ही ग्राह्य होता है? अथवा प्रसङ्गानुसार लाक्षणिक और व्यंग्य अर्थों को भी किसी हद तक उसमें अवकाश मिल सकता है??

इन्द्रियातीत होने के कारण हम क्या- कोई भी यह तो नहीं कह सकता कि उपर्युक्त समुद्रों का और कांचन गिरि सुमेरु का-वास्तविक स्वरूप कैसा होगा, परन्तु वेद और पुराण दोनों में ही उनका वर्णन समान रूप से पाया जाता है इससे यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि उक्त समुद्रों का जल- रूप, रस या गन्ध आदि किसी न किसी गुण में दुग्ध दही सुरा आदि पदार्थों से समता अवश्य रखता होगा!! जैसे लोक में 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' न्याय के अनुसार किसी एक विशिष्ट गुण के कारण अमुक २ पदार्थ का वैसा नाम प्रसिद्ध होजाता है, इसी तरह साक्षात् दूध दही आदि न होने पर भी तत्समान जल के कारण उक्त समुद्रों का वैसा नाम प्रसिद्ध होसकता है। इसी तरह मेरु को 'काञ्चन गिरि' कहने का अभिप्राय भी उक्त पर्वत में अधिक मात्रा में सुवर्ण का होना होसकता है। इस प्रकार इक्षुरसोद, सुरोद आदि २ नामों को लाक्षणिक मानने पर असम्भवता का सन्देह अवशिष्ट न रहेगा।

जैसे वर्तमान समय में उत्तरीय ध्रुव के निकटवर्ती एक द्वीप का नाम 'ग्रीनलैण्ड' (Green Land) प्रसिद्ध है, जिसका अक्षरार्थ 'हरा स्थान' होता है, परन्तु इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं होसकता कि इस द्वीप की [मिट्टी, पत्थर, दूध और पानी आदि] सभी चीजें हरे रङ्ग में सनी हुई हों किन्तु उपजाऊपन के कारण हरे भरे शाद्वलों के आधिक्य से ही इसका ऐसा नाम, पड़ गया है। इसी तरह अमृतसर (पञ्जाब) में सिक्ख सम्प्रदाय के प्रसिद्ध 'हरिमन्दिर' का नाम 'गोल्डनटैम्पल' मशहूर है जिसका अर्थ 'सोने का मन्दिर' होता है परन्तु एतावता यह नहीं समझना चाहिये कि उस में ईंट चूना पत्थर आदि लगा ही नहीं है किन्तु गुम्मद के ऊपर सुनहरी झोल होने के कारण ही ऐसा नाम पड़ गया है। ठीक इसी प्रकार क्षीरोद, दधिमण्डोद और सुरोद आदि समुद्र नामों की तथा काञ्चनगिरि 'सुमेरु' की व्यवस्था समझनी चाहिये।

परिमाण ठीक हैं

'परिमाण-वैपरीत्य' का तीसरा आक्षेप भी उसी दशा में उत्पन्न होता है जब कि हम इस लघु कलेवर भूपिण्ड मात्र को ही 'भूमण्डल' समझ बैठते हैं। परन्तु जब पौराणिक परिभाषा के अनुसार भूमण्डल का आयाम सूर्य्यताप और चन्द्रसंस्थान तक विस्तृत समझ लिया जाता है तो परिमाणवैपरीत्य का सन्देह अपने आप समाहित होजाता है, जैसे भूमण्डल के परिमाण को ही लीजिये—

पचास करोड़ योजन भूमण्डल

पुराणों में उपर्युक्त भूमण्डल का पचास करोड़ योजन परिमाण स्पष्ट करते हुवे बतलाया है कि—

अण्डमध्यगतः सूर्य्यो द्यावाभूम्योर्यदन्तरम् ।
सूर्य्याण्डगोलयोर्मध्ये कोट्यः स्युः पञ्चविंशतिः ॥

(देवी भागवत ८ । १४ । १६-१७)

अर्थात्— स्वर्ग और भूमि का जो मध्य भाग है वही ब्रह्माण्ड का बीच माना जाता है इसी केन्द्रस्थान में सूर्य्य भगवान् विराजते हैं। सूर्य्य से सब तरफ पच्चीस करोड़ योजन तक ब्रह्माण्ड की सीमा है।

तात्पर्य्य यह हुवा कि सूर्य्य से पच्चीस करोड़ योजन नीचे और सूर्य्य से पच्चीस करोड़ योजन ऊपर तक, इसी तरह पच्चीस करोड़ योजन बाईं तरफ और पच्चीस करोड़ योजन दाईं तरफ इतने विस्तृत गोल का नाम ब्रह्माण्ड है। पुराणों में इसी गोले के दो विभाग करके पचास करोड़ योजन के गोलार्ध को भूगोल के नाम से और उतने ही परिमाण वाले— दूसरे गोलार्ध को खगोल के नाम से याद किया है। इस प्रकार भूमण्डल का पचास करोड़ योजन परिमाण ठीक ही उतरता है।

हमारी-पृथ्वी

हम पीछे कह चुके हैं कि पौराणिक वर्णनानुसार विस्तृत भू-मण्डल की जैसी संस्था है, अर्थात्- हमारी पृथ्वी से लेकर सुदूर सूर्य्यताप की सीमा पर्य्यन्त सूक्ष्मजगत् में जिन २ समुद्रों, पर्वतों किंवा नदी सरोवरादिकों का जैसा अस्तित्व विद्यमान है हमारी इस लघुकाय मानव पृथ्वी पर भी उन २ सब वस्तुवों के प्रतिनिधिभूत समुद्र पर्वतादिक ठीक वैसे ही विद्यमान हैं इस लिये हम पुराणोक्त तत्तत्पदार्थों के वर्तमान-कालिक नामों का उल्लेख करते हुवे यह बताने की चेष्टा करेंगे कि अब नई पड़ताल के अनुसार भी वर्तमान गवेषकों ने हमारी इस मानव-पृथ्वी का जैसा संस्थान निर्धारित किया है वह भी अधिकांश पुराण प्रतिपादित पार्थिवभूगोल का ही समर्थन करता है। यदि वर्तमान गवेषकों की पड़ताल में और पौराणिक-भूगोल में एक अंश तक कुछ अन्तर भी दीख पड़ता है तो वह जड़वादी गवेषकों की अनुसन्धान पद्धति के अधूरेपन का ही दोष है ज्योंही ये लोग अपनी अनुसन्धान-पद्धति की अपूर्णता को दूर कर पाएंगे त्यों ही पुराण-प्रतिपादित-भूगोल के साथ सर्वांश में सहमत होजाएंगे

सात-द्वीप

हमारी इस पृथ्वी पर भी सात द्वीप पाए जाते हैं यथा जम्बू-द्वीप (यूरेशिया Eurasia) शाक-द्वीप (आस्ट्रेलिया Australia) कुश-द्वीप (दक्षिणी-अमेरिका South America) क्रौंच-द्वीप (उत्तरी अमेरिका North America) शाल्मली-द्वीप (ग्रीन लैण्ड Green Land) प्लक्ष-द्वीप किंवा गोमध-द्वीप (औन्टरैक्टिका-विक्टोरिया लैण्ड आदि Auntractica-Victoria Land etc.) और पुष्पकर-द्वीप (अफ्रीका Africa)

वर्तमान भूगोलवेत्ता सज्जन यूरेशिया, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अमेरिका और उत्तरी अमेरिका इन पांचों को ही महाद्वीप मानते हैं, शेष भूखण्डों को उपद्वीप के नाम से पुकारते हैं परन्तु वेदव्यास जी ने पुराण-ग्रन्थों में 'त्यक्तानुबन्धे सामान्यग्रहणम्' इस नियम के अनुसार 'महा' और 'उप' दोनों अनुबन्धों को त्याग कर विशिष्ट भूखण्डों को सामान्यतया 'द्वीप' नाम से ही याद किया है अतएव उनकी संख्या सात ठहरती है परन्तु जो जो भूखण्ड अत्यन्त छोटे किंवा प्रायःद्वीपों की भांति तत्तत् द्वीपों से सटे हुवे हैं उन्हें पुराणों में उसी उस निकटवर्ती द्वीप के 'उपद्वीप' माना है जैसे हमारे जम्बूद्वीप के लंका सिंहल आदि आठ उपद्वीप बतलाए हैं।

सात समुद्र

यद्यपि पृथ्वी के समस्त खण्डों को आवेष्टित करने वाली जलराशि को जलत्वसामान्येन एक ही समुद्र कहा जा सकता है तथापि जल के अमुक भाग में अमुक गुण की विशिष्टता से अथवा अमुक देश के तटसान्निध्य से वर्तमान गवेषकों ने भी उस एकत्व संख्यावच्छिन्न समुद्र के सात विशिष्ट भाग माने हैं अतः वे भी सात समुद्र बतलाते हैं। यदि हम पुराणवर्णित दही दूध के समुद्रों के साथ वर्तमान समुद्रों के नामों की तुलना करें तो सहसा यह स्पष्ट होजाएगा कि अब भी उन २ समुद्रों के नाम प्रायः पौराणिक नामों के समान ही प्रसिद्ध हैं यथा— इक्षुरस समुद्र (सीमोर Simor Sea) सुरा समुद्र (अटलांटिक Atlantic Ocean) सर्पिसमुद्र (हड़सन Hudson) दधिमण्ड समुद्र (अन्टरेक्टिक Antartic) क्षीर सागर (ह्वाइट ओसन White Ocean) स्वादूदक (रूमसागर Mediterranean Sea) लवण-समुद्र (इण्डियन ओसन Indian Ocean)

पार्थिव-सुमेरु

यदि हम पुराणोक्त लक्षण के अनुसार पार्थिव-सुमेरु का अन्वेषण करना चाहें तो वह एसिया और यूरोप की सीमा को विभक्त करने वाला यूराल (Ural) नामक पहाड़ ही होसकता है क्योंकि पुराणों में सुमेरु को भूमण्डल का मध्यस्थ पर्वत माना है तदनुसार 'पार्थिव-सुमेरु' भी हमारी इस पृथ्वी के ठीक मध्य में होने वाला ही कोई पहाड़ होना चाहिये, । सो यदि हम यूराल पर्वत की मध्य चोटी पर से पृथ्वी के गोले पर एक रेखा— जो गोले को ठीक दो भागों में बांटने वाली हो,— यूराल से पूर्व की तरफ फारमूसा द्वीप (सिंघाई और हाङ्कांग के बीच में (तथा शाक द्वीप =वर्तमान आस्ट्रेलिया के पूर्व किनारे को काटती हुई, और यूराल से पश्चिम की तरफ सैनिक (हालेण्ड) से ऊपर इङ्गलैण्ड में लण्डन की ओर होती हुई दक्षिणी अमेरिका को काटती हुई खींची जावे तो इस रेखा पर पृथ्वी के सूखे भाग की लम्बाई जितनी पूर्व रेखा पर होगी ठीक उतनी ही पश्चिमी रेखा पर भी होगी । यदि यूराल की मध्य चोटी पर उत्तर दक्षिण को दूसरी रेखा खींची जावे तो उस पर भी पृथ्वी के सूखे भाग की लम्बाई जितनी उत्तर को होगी ठीक उतनी ही दक्षिण को भी होगी इस लिये वर्तमान समय में यूराल * कहे जाने वाले पहाड़ को ही हमारी इस मर्त्य पृथ्वी का सुमेरु कहा जाना चाहिये । चूँकि पुराणों में सुमेरु को 'कांचनगिरि' लिखा है अतः अन्वेषण करने पर उक्त पर्वत में अत्यधिक उज्ज्वल खरे सोने की खानें भी बहुतायत से प्राप्त हो सकती हैं— यह भी सुनिश्चित है ।

हमारी पृथ्वी का परिमाण

जिस तरह सूर्य्य ताप की सीमा पर्य्यन्त विस्तार वाले भूमण्डल का परिमाण 'पचास करोड़ योजन' है ठीक इसी प्रकार हमारी इस पृथ्वी का परिमाण भी पचास करोड़ योजन ही है । शङ्का होसकती है कि जब पूर्वोक्त 'अण्डमध्यगतः सूर्य्यो' आदि प्रमाणों के अनुसार भूपिण्ड से लेकर सूर्य्यताप स्थान तक विस्तृत अन्तरिक्ष का परिमाण केवल पचास करोड़ योजन माना है फिर तदन्तरगत अकिञ्चित् प्रायः भूपिण्डमात्र का परिमाण पचास करोड़ योजन कैसे होसकता है ? भूमण्डल और

* टिप्पणी— स्वलोकमान्यतिलक आदि कई समालोचकों ने उत्तर ध्रुव को सुमेरु माना है ।

भूपिण्ड दोनों को ही पचास करोड़ योजन के मानना वैसा ही असम्भव जँचता है जैसे कोई कहे कि— "मेरे दादा के यहां एक छप्पन गज़ का हाल कमरा है जिसके एक छोटे से कौने में छप्पन गज का सन्दूक रक्खा है"— भला अब विचारिये कि जब कमरा ही छप्पन गज़ का है फिर उसके सिर्फ एक ही कोने में छप्पन गज का सन्दूक कैसे समा सकता है, ठीक इसी तरह भूपिण्ड और भूमण्डल का तारतम्य समझना चाहिये। इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष में भी वर्तमान गवेषकों ने हमारी इस पृथ्वी का परिमाण केवल ७९९७ मील निश्चित किया है जो कि सिर्फ एक हजार योजन के क़रीब ठहरता है अतः हमारी इस पृथ्वी का परिमाण पचास करोड़ योजन मानना युक्ति और प्रत्यक्ष दोनों के ही प्रतिकूल दीख पड़ता है।

परन्तु 'शिव-पुराण' में लिखा है कि—

पंचाशत्कोटिविस्तीर्णा सशैलवनकानना।

(विद्येश्वरी संहिता १२। २)

अर्थात्— यह भूमि-पर्वत वन आदि सहित पचास करोड़ योजन परिमाण वाली है। इत्यादि

उपर्युक्त आक्षेप को पढ़ कर पाठक अवश्य शङ्कित होजाएंगे,— एक हद तक शङ्कित होजाना कुछ स्वाभाविकसा भी जँचता है। परन्तु है यह शङ्का निर्मूल! तिनके की ओट में हिमालय छुपा हुवा है आइये हम आपको एक उदाहरण द्वारा समझाते हैं। कल्पना कीजिये कि हम कुछ सज्जनों से एक गोल मटोल गेंद (Foot Ball) का परिमाण दर्य्याफ्त करते हैं,— एक सज्जन उसका परिमाण निकालने के लिये एक सूत का धागा लेकर गेंद के ऊपरि भाग के ठीक बीचों बीच एक ओर से दूसरे छोर तक नाप कर धागे की लम्बाई के अनुसार परिमाण बताता है। दूसरे साहिब एक लोहे की लम्बी सलाई लेकर उससे गेंद के बीचों बीच छेदता हुवा [सलाई का जितना भाग दोनों पड़तों के बीच में समा गया था] उसकी लम्बाई के अनुसार गेंद का परिमाण ठहराता है। तीसरे महानुभाव गेंद के ऊपरी भाग का क्षेत्रफल (रक़बा Area) निकाल कर उसे ही गेंद का परिमाण निश्चित करता है। इस तरह गेंद का परिमाण बताने वाले तीनों सज्जनों के आंकड़े तो पृथक् २ होंगे परन्तु पात्पर्य्य तीनों का एक ही होगा, इसके अतिरिक्त विद्वान् लोगों की दृष्टि में सूत के धागे से नापने वाले, और लोहे की शलाका से मिनने वाले उत्तरदाताओं की अपेक्षा गणित द्वारा गेंद का घनफल (रक़बा) बताने वाला महानुभाव ही अधिक प्रतिष्ठापात्र होगा क्योंकि उसने गेंद का परिमाण निकालने में अपनी विद्वत्ता का परिचय दिया

है। ठीक इसी तरह वर्तमान गवेषकों ने जो पृथ्वी का परिमाण ७९९७ माइल बतलाया है वह पृथ्वी के एक छोर से दूसरे छोर तक होने वाली लम्बाई का परिमाण है जिसे 'व्यास' कहते हैं, परन्तु पुराण ग्रन्थों में पृथ्वी के पृष्ठ क्षेत्रफल के अनुसार उसका घनफल (रक़बा) निकाल कर दिखलाया है जो पूरा पचास करोड़ योजन होता है।

सनातनधर्म्म के प्रसिद्ध वक्ता स्वामी दयानन्द जी ने अपने 'धर्म्मकल्पद्रुम' आदि ग्रन्थों में उक्त दोनों प्रकार के पृथ्वी परिमाणों का समन्वय इस प्रकार किया है- "पृथ्वी का व्यास ७९९७ माइल है। दो माइल का एक पुरातन क्रोश (कोस) और चार कोस का एक योजन— इस तरह सीधे शब्दों में पृथ्वी का व्यास पूरा एक हज़ार योजन हुवा। यदि गोल अण्डाकार वस्तु का पृष्ठक्षेत्र फलात्मक घनपरिमाण (रक़बा) निकालना अभीष्ट हो तो उसके व्यास को क्रमशः तीन बार गुणित (ज़रब) करके दो पर विभक्त (तक़सीम) कर देना चाहिये जो फल हो वही उसका पृष्ठक्षेत्र फलात्मक घनपरिमाण होगा। तदनुसार $\frac{१०००\times१०००\times१०००}{२}=५०,००,००,०००$ पचास करोड़ योजन ही पृथ्वी का घनपरिमाण आवेगा।" इस रीति से हमारी इस मानव-पृथ्वी का परिमाण भी पुराण ग्रन्थों में जो कुछ लिखा है वही गणित द्वारा ठीक साबित होता है।

इसी प्रकार हिमालय आदि पर्वतों के परिमाणों की बात है। वर्तमान भूगोल-वेत्ताओं ने हिमालय पर्वत की ऊँची से ऊँची चोटी- एवरेस्ट गौरी शङ्कर की ऊँचाई केवल उनत्तीस हजार फुट बताई है, परन्तु श्रीमद्भागवत के पञ्चम स्कन्ध में इसका दश हजार योजन परिमाण लिखा है जो वर्तमान परिमाण से कहीं अधिक है, अब प्रश्न होसकता है कि यह भेद क्यों? यदि विचार करके देखा जाए तो इस में भी प्राचीन ऋषियों की अथाह बुद्धि का ही परिचय मिलता है क्योंकि वर्तमान गवेषकों ने जो परिमाण निकाला है वह (बड़ी भारी दौड़ धूप लगा कर लाखों रुपया व्यय करके और सैंकड़ों पुरुषों की जान गवां कर फिर भी) अधिकांश अनुमान पर ही स्थिर किया है। और वह भी केवल पृथ्वी तल से ऊपर को उठे हुवे भाग का ही निकला जा सका है। वर्तमान गवेषकों को अभी तक यह पता नहीं है कि हिमालय पर्वत भूमिगर्भ में कितना धँसा हुवा है— परन्तु त्रिकालदर्शी महर्षियों ने योगबल से अपनी पर्णकुटी में बैठे २ अनायास ही ऊपर से लेकर भूगर्भ में धँसे हुवे भाग की चर्मसीमा तक के भाग को देख कर पुराणशास्त्रों में स्पष्टतया लिख दिया है। वर्तमान

गवेषक हिमालयादि के उस भूगर्भ प्रविष्ट भाग को न अब तक जान सके हैं और नाहीं भविष्य में जान सकेंगे। ऐसी आशा की जा सकती है। क्योंकि यह केवल योगीजनों का ही ज्ञातव्य विषय है। अब पाठक विचारें कि ऋषियों की इन अमूल्य सम्मतियों को सरे बाज़ार कोसने वाले महाशय कहां तक न्याय करते हैं। हमें इस पुस्तक का कलेबर भूगोल-विषय पर इससे अधिक लिखने की आज्ञा नहीं देता इस लिये पाठक दिङ्मात्र से ही संतोष करें। 'माला' के आगामी 'रत्न' में तादृश प्रयत्न किया जाएगा।

खगोल-विद्या

पुराण ग्रन्थों में खगोल सम्बन्धी सभी बातों का विवेकपूर्ण एवं विशद विवेचन किया गया है। सूर्य्य चन्द्र आदि ग्रह, राहु केतु आदि उपग्रह, नक्षत्र माला, राशिचक्र, आकाश गंगा, धूमकेतु, उल्कापिण्ड, दिग्दाहक पिण्ड, और ध्रुव,— गर्ज़ है कि सभी प्रकार के आकाशचारी अंड और पिंडों का न केवल वर्णनमात्र अपितु लौकिकी भाषा में उनकी उत्पत्ति परिवर्तन और गति विगति आदि का रहस्य भी स्पष्ट एवं सरल रीति से प्रतिपादन किया गया है। इसके अतिरिक्त अमुक ग्रह उपग्रह का परिमाण क्या है? तथा वह पृथ्वी से कितनी दूर स्थित है? एवं—किस गति से कितने समय में किस मार्ग से घूमता है?— इत्यादि बातें भी भली भांति प्रकट की गई हैं। खगोल तत्ववेत्ता बहुत दिन तक अनुसन्धान करने के बाद अभी २ यह समझ सके हैं कि ग्रहों की गति विगति का प्रभाव पृथ्वी पर भी अवश्यमेव पड़ता है, अब तो कई गवेषक यहां तक स्पष्ट कहने लग पड़े हैं कि "पुच्छलतारा" निकलने से पुरुषों के स्वभाव तमोगुण के आवेश में आजाते हैं, और वे अकारण आपस में एक दूसरे के रुधिर के प्यासे बनजाते हैं, यूरोपियन ज्योतिषियों ने मंगल का नाम ही मार्स (Mars) रखा है जो कि युद्धकालीन मार्शल (Marsal) शब्द से सम्बन्ध रखता है। मङ्गल या शनैश्चर की विशेष दशा में भी अब अनिष्ट फल का होना माना जाने लगा है परन्तु हिन्दू शास्त्रों का यह महत्व है कि हमारे यहां इन सब बातों को आज से सहस्रों वर्ष पूर्व न केवल जाना ही था बल्कि दुष्टग्रहों के प्रभाव से बचने के उपायों को भी खोज निकाला था जिसका धुंधला किन्तु सत्यस्वरूप फलित ज्योतिष के रूप में अद्यावधि विद्यमान है।

खगोल का विषय यूं तो प्रायः सभी पुराणों में आया है, परन्तु कूर्मपुराण और भविष्यपुराण का वर्णन बड़ा ही मनोहर है। नवीन खगोलवेत्ता ग्रह उपग्रहों की दूरी के विषय में अभी तक कोई मत स्थिर नहीं कर सके, उनके मत अभी तक साध्यकोटि में ही समझने चाहियें। उत्तरोत्तर विज्ञान ज्यों २ उन्नत होता जारहा है त्यों २ आधुनिक मत भी पुराण-वर्णन के निकट आरहे हैं, इससे सिद्ध होता है कि पुराणोक्त खगोलविद्या त्रिकालदर्शी महर्षियों का तपश्चर्य्या का ही फल है।

खगोल की विस्तृत सीमा

जिस प्रकार पूर्वोक्त वर्णन के अनुसार ब्रह्माण्ड के एक कपाल 'भूमण्डल' की सीमा पचास करोड़ योजन तक विस्तृत सिद्ध की जाचुकी है इसी प्रकार ब्रह्माण्ड के दूसरे कपाल 'खगोल' का परिमाण भी पूरा पचास करोड़ योजन बताया गया है। यथा—

एतेन हि दिवो मण्डलमानं तद्विद उपदिशन्ति।
यथा द्विदलयो र्निष्पावादीनाम्।

(श्रीमद्भागवत ५।२१।२)

अर्थात्— भूमण्डल के परिमाण के अनुसार ही 'द्युमण्डल' (खगोल) का परिमाण भी खगोलवेत्ता महर्षियों ने बतलाया है, जैसे कि दो दलों वाले मटर आदि अन्न के एक दल का परिमाण प्रकट कर देने पर दूसरे दल का परिमाण भी तत्सम ही होता है (इसी प्रकार अण्डाकार 'ब्रह्माण्ड' के पृथ्वी सम्बद्ध गोलार्ध को 'भू-मण्डल' और तारागण सम्बद्ध गोलार्ध को 'द्युमण्डल' कहते हैं—इन दोनों का परिमाण समान ही है)।

शनि गुरु और मङ्गल की विशेषता

आधुनिक खगोल तत्ववेत्ताओं ने- जाना है कि शनि ग्रह सब ग्रहों से गति में सुस्त है, परन्तु पुराण ग्रन्थों में इसका नाम ही 'पंगु' या 'शनैश्चर' लिखा है, जिसका अर्थ लंगड़ा या धीरे २ चलने वाला होता है। वे बृहस्पति ग्रह को सूर्य्य के अतिरिक्त सब ग्रहों से बड़ा बताते हैं तो पुराण पूर्व ही इसे 'गुरु' अर्थात् भारी कहते हैं। इसी प्रकार आज कल मङ्गल के विषय में जो खोज होरही है उसका सारांश यही है कि

मङ्गल निवासी पुरुष हम पृथ्वीनिवासियों से बहुत कुछ समता रखते हैं अर्थात् उन के शरीर वैसे ही तत्वों के विमिश्रण से बने हैं जैसे तत्वों से हम भूमि निवासियों के। परन्तु पुराण ग्रन्थों में उसे स्पष्टतया 'भौम' या 'भूमिपुत्र' कह कर हमारी पृथ्वी का बेटा सिद्ध किया गया है यथा—

पुरा मैथुनमाश्रित्य स्थिताभ्यां तु हिमालये ।
भीमोमाभ्यां महाबाहो रक्तबिन्दुश्च्युतः क्षितौ ॥
मेदिन्या स प्रयत्नेन सुखेन विधृतोनया ।
जातोऽस्या स कुजो वीरः रक्तो रक्तसमुद्भवः ॥

(भविष्य-पुराण ब्राह्म पर्व ३१। १७-१८)

अर्थात्— हिमालय (जलीय सृष्टि होजाने के बाद) में स्थित हुवे शिव पार्वती (=पुरुष और प्रकृति) के संघर्ष से एक रक्तबिन्दु (=आग्नेय वाष्प का गाढा पिण्ड) पृथ्वी पर गिर गया पृथ्वी ने उसे धारण किया। समय आने पर वही पृथ्वी का पुत्र उत्पन्न हुवा जिसे 'कुज' कहते हैं।

उपर्युक्त वर्णन से पता चलता है कि वर्तमान भौम किसी समय हमारी पृथ्वी से संयुक्त था और समयान्तर में वह आकर्षण विकर्षण के वैषम्य से जुदा होगया। साथ ही इस जुदाई में वह हमारी पृथ्वी का बहुत कुछ भाग अपने साथ लेगया संभव है आज जापान और अमेरिका के मध्य में जो 'शान्तमहासागर' दीख पड़ता है वह उसी खाली स्थान का स्मारक है, कई आधुनिक भूगर्भ विद्या विशारदों का ऐसा अनुमान भी है परन्तु यह 'इदमित्थं' कौन कह सकता है। अस्तु— कुछ भी हो आधुनिक खोज ने पौराणिक भौम नाम का समर्थन अवश्य किया है— यही बताना हमारा लक्ष्य है। इसी प्रकार शनि का सूर्य्य पुत्र होना और बुध का चन्द्र पुत्र होना भी एक खगौलिक पुरातन घटना का परिचायक है जिसे हम स्थानाभाव से यहां लिख नहीं सकते जिन सज्जनों को खगोल विद्या से प्रेम हो उन्हें कूर्मपुराण, भविष्यपुराण या श्रीमद्भागवत पुराण (स्कं० ५ अ० १६ से २६) का श्रद्धापूर्वक पारायण करना चाहिये फिर मालूम होगा कि वर्तमान खगोल वेत्ताओं ने पौराणिक खगोल की किस प्रकार पुनरावृत्ति की है। और जिस अंश में उन्हों का पौराणिक वर्णनों से वैषम्य है वह केवल उसी समय तक है जब तक कि वे अपने सिद्धान्तों को साध्यकोटि से बाहिर नहीं कर पाते 'ध्रुव' का आकर्षण और सूर्य्य का घूमना इसका ज्वलन्त उदाहरण है। कुछ दिन पूर्व ये लोग सूर्य्य को ही सर्वोपरि मानकर उसी के आकर्षण पर समस्त

ग्रहोपग्रह नक्षत्रादि की स्थिति माना करते थे। तथा सूर्य्य को सर्वथा सुस्थिर बताया करते थे लेकिन अब नई खोज के अनुसार पता चला है कि कई नक्षत्र सूर्य्य से सैंकड़ों-गुणे बड़े और सहस्रोंगुणे आकर्षण वाले हैं। जब स्वाति नामक नक्षत्र ३॥ लाख सूर्य्यों के बराबर है तब 'ध्रुव' का तो कहना ही क्या है! अतः अब वे अपने पूर्व-निश्चित सूर्य्याकर्षण सिद्धान्त को छोड़ कर ध्रुव का आकर्षण मानने लगे हैं। इसी प्रकार सूर्य्यभ्रमण के सम्बन्ध में भी आज कल भारी मतभेद होरहा है, कुछ लोग उसे अपने केन्द्र में ही लट्टू की भांति घूमने वाला मानते हैं और दूसरा पक्ष उसे समस्त भपंजर को साथ लिये हुवे किसी अनिश्चित दिशा में जाता हुवा बताता है, कुछ भी हो विदेशी ज्योतिषियों ने पौराणिक खगोल को अपनी नई खोज के सांचे में ढाल कर हमारा बहुत उपकार किया है और कर रहे हैं। परन्तु उन भारतीय ऋषि सन्तान (?) कहलाने वाले नर पशुवों को हम किन शब्दों में याद करें जो कि अश्लीलता की ऐनक लगा कर पुराणों को कोसने में ही अपने आप को कृतकृत्य मानते हैं! क्या पुराणों की अनर्गल आलोचनाएं लिख कर कुछ तिब्बती हबशियों ने 'ऋषिऋण' चुकाने का ऐसा ही मार्ग नहीं ढूंढा है?

विज्ञान-विद्या

पुराण सागर में वैज्ञानिक सिद्धान्तरूप अनमोल रत्नों की कमी नहीं है परन्तु उन्हें प्राप्त करने के लिये गहरा गोता लगाने की आवश्यकता अवश्य है। जो लोग किनारे की कंकड़ियों को देख कर या ऊपर तैरते हुवे झाग से घबड़ाकर हिम्मत हार बैठते हैं, वे मनुष्य उन अमूल्य मोतियों के अधिकारी नहीं हो सकते! उन्हें प्राप्त करने के लिये तो—

'जिन खोजा तिन पाइयां गहरे पानी पैठ।'

वाली कहावत को चरितार्थ करने की आवश्यकता है।

इस लघु कलेवर पुस्तक में हम उन सभी मोतियों का भण्डार खोल दिखाएं यह तो अतिकठिन बात है, क्यों कि किसी वैज्ञानिक मत का निरूपण करने के लिये कितनी भूमिका की और कितने उपसंहार की आवश्यकता पड़ती है, यह केवल विज्ञानवेत्ता ही जान सकते हैं। दूसरों के लिये तो—

'धरा फ़िलसफ़ा में क्या लफ्ज़तराशी के सिवा।'—

तथापि हम इस प्रघट्ट में कतिपय वैज्ञानिक सिद्धान्तों के दिग्दर्शन का प्रयत्न अवश्य करेंगे।

ज्वार भाटा-

आधुनिक विज्ञानवादियों का मत है कि चन्द्रमा के आकर्षण से समुद्र जल बल्लियों उछाल मारने लग जाता है, यद्यपि पृथ्वी के निर्जल भाग पर भी आकर्षण का प्रभाव पड़ता है तथापि सूखे भाग के ठूस होने के कारण वह हमें प्रतीत नहीं होता। परन्तु जल तरल है इस लिये वह चन्द्रमा के आकर्षण से खिंच जाता है वैज्ञानिक परिभाषा में इसे 'ज्वार-भाटा' कहते हैं।— विष्णुपुराण में भी यही बात बड़ी ही सरलता के साथ समझाई है- यथा—

स्थालीस्थमग्निसंयोगादुदेति सलिलं यथा।
तथैव बृद्धौ सलिलमम्भोधौमुनिसत्तम!॥
दशोत्तराणि पञ्चैव अंगुलीनां शतानि वै।
अपां वृद्धिक्षयौ दृष्टौ सामुद्रीणां महामुने!॥

(विष्णुपुराण २।६।—)

अर्थात्— आंच लगने से जिस प्रकार डेग का पानी ऊपर को उमड़ता है, इसी प्रकार चन्द्रमा के पूर्ण होजाने पर आकर्षण से समुद्र का पानी भी उमड़ता है। प्रायः देखा जाता है कि समुद्र का जल ५१० अंगुल के लगभग बढ़ता-घटता है।

पाठक पुराण शब्दों पर विचार करें कि उनमें 'ज्वारभाटे' के सिद्धान्त का किस खूबी के साथ विवेचन किया है, यदि वर्तमान गवेषकों से पूछा जावे कि बतलाइये आप के अंग्रेजी मास की किस तारीख को ज्वारभाटा होता है? तो वे कुछ भी नहीं बता सकेंगे, क्योंकि उन की तारीखों से चन्द्रमा का कोई भी सम्बन्ध नहीं है, उन्हें लाचार होकर हमारी अष्टमी और पूर्णिमा की ही शरण लेनी पड़ेगी साथ ही 'ज्वारभाटा' कितना होता है? इसकी औसत भी श्री व्यास जी ने अतीव स्पष्ट शब्दों में बतादी है कि जिसे एक साधारण ग्राम्य भी बखूबी समझ सकता है।

वर्षा-

वर्तमान गवेषक वर्षा के विषय में कहा करते हैं कि— 'सूर्य्य की उष्णता से पार्थिव जल वाष्प बन कर आकाश में फैल जाता है और समय पाकर "मानसून" हवा के संयोग से वही वाष्प ठिठुर कर कणशः होकर वर्ष जाती है'—

यदि हम उन से यह प्रश्न करें कि मेहरबान ज़रा यह भी बताइये! कि वे आपकी "मानसून" हवाएं कब तशरीफ लाया करती हैं? और जब अकाल पड़ा करते हैं तब वे किस 'ब्लैक हाल' में बन्द होजाती हैं,? तो बस वे बेचारे भारी असमंजस में पड़ जाएंगे क्यों कि अभी तक वे 'मानसून' चलने की भविष्यवाणी करने में सर्वथा असमर्थ हैं। परन्तु पुराण ग्रन्थों में इन प्रश्नों को बड़े ही सुन्दर और सरल ढंग से हल किया है, यथा—

"विवएवानष्टभिर्मासै रादायापो रसात्मकाः।
वर्षत्यम्बु ततश्चान्नमन्नाद्वै -वाखिलं जगत्॥
ज्ञशुक्रावेकराशिस्थौ सर्वदा वृष्टिदायकौ।
तयोरंतर्गतो भानुरनावृष्टिकरो मतः॥
उदितेऽस्तमिते सौम्ये क्रूरे वक्रत्वमागते।
चलत्यंगारके वृष्टि स्त्रिधा वृष्टिः शनैश्चरे॥"

(विष्णु पु० अंश २ अ० ६ श्लो० ८ कूर्मे भविष्येपि)

अर्थात्— सूर्य्य आठ महीने तक वाष्प रूप से जल लेता रहता है, और फिर उसे बरसाता है जिससे अन्न उत्पन्न होते हैं और अन्न से प्रजा जीवित रहती है। बुध और शुक्र नामक ग्रह जब एक राशि पर निकट २ रहते हैं तब जल बरसता है, और यदि उन दोनों के बीच में सूर्य्य पड़ जावे तो वृष्टि नहीं होती। बुध-शुक्र और बृहस्पति के उदय तथा अस्त होने के समय, एवं मङ्गल और शनि के वक्री (उलटी गति) होने के समय वृष्टि होती है, मङ्गल अतिचार में और शनैश्चर तीनों परिवर्तनों के समय वृष्टि करता है।

यहां हमें यह बताने की आवश्यकता नहीं कि पुराणों ने ऊपर के प्रमाणों में 'मानसून' चलने के समयों को किस खूबी के साथ बताया है आधुनिक विज्ञानवादियों का कथन है कि— शुक्र ग्रह के निकट बादलों के सघन पटल हर वक्त छाये रहते हैं, ऐसा ही हाल बुध का है। उन दोनों का एक राशि पर होना निस्सन्देह वृष्टि का कारण होसकता है। भारतीय किसान भी इस वैज्ञानिक बात से भली भांति परिचित हैं। अतएव वे लोग चतुर्मास में— 'बुध शुक्र का मेल' पूछा करते हैं।

दक्षिणोत्तर अयन

सूर्य्य की विशेष गति से ही दिन रात का ह्रास और वर्द्धन होता है इसी प्रकार गर्मी और सर्दी का कारण भी सूर्य्य का विशेष संस्थान ही है। पृथ्वी पर जब सूर्य्य

की किरणें तिरछी पड़ती हैं तब सर्दी होजाती है और जब वे सीधी पड़ती हैं तो गर्मी होजाती है, अब जिस गति विशेष से यह सब कुछ होता है उसे पुराण ग्रन्थों में 'अयन' कहते हैं जो दक्षिण और उत्तर भेद से दो प्रकार का है। यथा—

अयनस्योत्तरस्यादौ मकरं याति भास्करः।
ततः कुम्भं च मीनंच राशे राश्यन्तरं द्विज! ॥
त्रिष्वेतेष्वथ युक्तेषु ततोवैषुवतीं गतिम्।
प्रयाति सविता कुर्वन्नहोरात्रं ततः समम् ॥
ततो रात्रिक्षयं याति वर्धतेऽनुदिनं दिनम्।
ततश्च मिथुनस्यान्ते परां काष्ठामुपागतः।
राशिं कर्कटकं प्राप्य कुरुते दक्षिणायनम् ॥

(विष्णुपुराण (२।८।३०-३३)

अर्थात्— हे द्विज! उत्तरायण में पहिले सूर्य्य मकर राशि पर गमन करता है, फिर कुम्भ और उसके अनन्तर मीन राशि पर जाता है इन तीन राशियों को क्रमशः भोग कर सूर्य्य अहोरात्र समान करता हुवा वैषुवती गति अवलंबन करता है, अर्थात् विषुवत् रेखा में गमन करता है। तदनन्तर रात घटने लगती है और दिन बढ़ने लगता है और सूर्य मेष वृष को अतिक्रमण करके मिथुन राशि के अन्त में उत्तरायण की सीमापर उपस्थित होता है अन्त में कर्क राशि को प्राप्त होते ही दक्षिणायन हो जाता है।

उपर्युक्त श्लोकों का मनन करने से सूर्य्य की त्रिविध गति के कारण दिनरात गर्म्मी सर्दी और ऋतुपरिवर्तनसम्बन्धी सभी बातों का पूरा २ ज्ञान प्राप्त हो जाता है। 'गागर में सागर' इसी का नाम है।

तड़ित् (विजली)

विभिन्न धातुओं के मिश्रण से या आपस की रगड़ से अथवा वायव्य संघर्षण से 'विद्युत् शक्ति' उत्पन्न हो जाती है। आज कल इससे कई प्रकार के कार्य्य लिये जाते हैं यह बात प्रायः सभी जानते हैं परीक्षा करके देखा गया है कि विद्युत् में दो प्रकार की शक्ति है, जिसे अंग्रेजी में 'पाज़िटिव' (Pasitive) और 'नगेटिव' (Negative) कहते हैं। कई द्रव्य ऐसे हैं कि विद्युत् शक्ति जिनमें संक्रमण कर जाती है, और कई ऐसे हैं कि जिनसे पार नहीं जासकती। साधारणतया एक धातु में व्याप्त

हुई विद्युत् शक्ति अन्य धातु से 'टच' होजाने पर उसमें भी प्रवेश कर जाती है परन्तु काष्ठादि पदार्थों में उसका कुछ भी प्रभाव नहीं होता। हम अपने शब्दों में ऐसे पदार्थों को क्रमशः 'अशुचि' और 'शुचि' के नाम से व्यवहृत कर सकते हैं, पुराण ग्रंथों में उक्त अशुचि और शुचि सिद्धान्त के अनुकूल संसार भर के पदार्थों का विभाग किया गया है। आज मूढ़ लोग जिस भक्ष्य अभक्ष्य और सखरी निखरी को 'पोपलीला' की उपाधि देते हैं वह सब इसी विज्ञान पर स्थित है हम उदाहरणार्थ यहां एक दो विषयों की चर्चा करेंगे। पद्मपुराण कार्तिकमाहात्म्य तथा अन्यान्य सभी पुराणों में भगवदुपासना या ध्यान आदि करने की विधि इस प्रकार लिखी है कि गाय के गोबर से भूमि लीप कर कुशासन अथवा मृगचर्म बिछाना चाहिये, रेशमी या ऊनी वस्त्र पहन कर शिखा में गांठ लगाकर हाथ को ज्ञानमुद्रा (अंगूठे और तर्जनी को कुण्डलाकार) युक्त करके बैठे।

अब पाठक यह विचारें कि यह सब कुछ विधान क्यों? वास्तव में गोबर और कुशासन 'शुचि' हैं हम ध्यान उपासना द्वारा जिस शक्ति का उपार्जन करते हैं वह नीचे की ओर से अपहृत न होसके इसी उद्देश्य से कुशासनादि का विधान किया गया है। शिखाबन्धन और ज्ञानमुद्रा का तात्पर्य्य यह है कि सीधे लम्बप्रायः पदार्थों से विद्युत् शक्ति का अपसरण हो जाता है परन्तु कुण्डलाकृत पदार्थ में वह सुरक्षित रहती है इस लिये शिखा बांधने पर दशम द्वारभूत कपाल मार्ग से और ज्ञानमुद्रा करने से हाथों के रास्ते से उपार्जित शक्ति का अपसरण न हो सकेगा।

शरीर में हाथ पांव और मस्तक ये तीन स्थान ही अन्तिम हैं इन्ही से शक्ति अपसरण होने की सम्भावना है अतः महर्षियों ने उपर्युक्त उपायों द्वारा उसे सुरक्षित बनाए रखने का आदेश किया है।

हमारे मन्दिरों के शिखरों पर लगाए हुवे कलश विद्युत्वेध सिद्धान्त का परिचय देते हैं तथा गले की माला बिजली फित्तेकी तरह दांतों को सुरक्षित रखती है। इसी प्रकार पीपल की परिक्रमा तुलसीदल का सेवन और पत्तलों पर भोजन करना आदि जो कुछ भी पुराण ग्रंथों की आज्ञाएं हैं वे सब विज्ञानभित्ति पर ही स्थित हैं।

ध्रुव का आकर्षण

शिवपुराण (ज्ञानेश्वरी संहिता) और गणेश पुराण में दक्षिण की ओर पांव करके सोना मना किया गया है। और वह इस लिये कि इस प्रकार सोने से हमारे

मस्तक की ओर ध्रुव रहेगा और उसके आकर्षण से जो परमाणु (बुखारात) हमारे शरीर से निकलेंगे वह पावों की ओर से चलकर शिर के रास्ते से बाहिर जाएंगे, इस प्रकार प्रातःकाल हमारा मस्तिष्क दोषपूर्ण परमाणुवों से भरा हुआ होगा इसके विपरीत उत्तर की ओर पांव करके सोने से परमाणु शिर से प्रविष्ट होकर पावों से निकलेंगे जिससे हमारा मस्तिष्क शुद्ध परमाणुवों से भरपूर रहेगा। इत्यादि गंभीर वैज्ञानिक रहस्य पुराणों में यत्र तत्र भरे पड़े हैं।

वनस्पति चैतन्य

वृक्ष, लता, गुल्म, एवं पाषाण भी, सजीव होते हैं यह बात तो प्रायः सभी पुराणों में उल्लिखित है आज डा० जगदीशचन्द्र बसु का नाम 'बनस्पतिचैतन्य-विज्ञान' के कारण संसार में प्रसिद्ध हो रहा है आपने यन्त्रों की सहायता द्वारा यह बात सिद्ध कर दिखाई है कि प्रत्येक उद्भिज्ज में भी मनुष्य की भान्ति जीवन शक्तिका संचार होताहै और वे भी शब्दादि सभी विषयोंकी अनुकूलता किंवा प्रतिकूलता से हमारी तरह ही सुख तथा दुःख का अनुभव करते हैं। श्रीमद्भागवतपुराण म भी यही बात डंके की चोट घोषित की गई है यथा--

उत्स्रोतसस्तमःप्रायाः, अन्तःस्पर्शा विशेषिणः।

(श्रीमद्भागवत। ३। १०। १६)

अर्थात्—वनस्पति आदि सभी उद्भिज्ज ऊपर की ओर बढने वाले हैं तमोगुण के आधिक्य से मूर्छितप्रायः हैं और अन्दर में स्पर्शादि विषयों का अनुभव करने वाले हैं।

महाभारत में तो स्पष्ट ही विस्तारपूर्वक इस रहस्य को प्रकट किया है यथा—

सुखदुःखयोश्च ग्रहणाच्छिन्नस्य च विरोहणात्।
जीवं पश्यामि वृक्षाणामचैतन्यं न विद्यते॥

(महाभारत शान्तिपर्व १८४। १७)

अर्थात्—क्योंकि वृक्ष सुख और दुःख का अनुभव करते हैं तथा कटने पर विरूढ हो जाते हैं इसलिये वृक्ष अवश्य ही जीवधारी हैं अचेतन नहीं हैं।

सूर्य्य में काला धब्बा

आधुनिक ज्योतिषियों ने बहुत परिश्रम करने के बाद सूर्य्य के विषय में एक दो नई बातें जानी हैं। उन में से काला धब्बा भी एक है। सन् १८९२ के फरवरी

महीने में एक योरुपियन ज्योतिषी ने रश्मि विश्लेषक यन्त्र (Spectros cope) द्वारा इस धब्बे का पता लगाया है। अनुमान से इसका परिमाण ६२ हज़ार मील लम्बा और ६२ हज़ार मील चौड़ा बताया जाता है। परिमाण कुछ भी क्यों न हो इस पर हमें कोई बहस नहीं— हमें तो केवल यह बताना है कि वर्तमान साइन्टिस्ट जिस खोज को मौलिक एवं अभूतपूर्व समझ कर फूले नहीं समाते वह खोज पुराण ग्रन्थों में सहस्रों वर्ष पूर्व लिखी जाचुकी हैं।

यदि हम आधुनिक गवेषकों से सूर्य्य के उपर्युक्त काले धब्बे का कारण पूछें तो वे कुछ भी नहीं बता सकेंगे, परन्तु पुराण साहित्य में तो इस बात का भी कार्य्य-कारण पुरस्सर लौकिकी भाषा में स्पष्टीकरण किया गया है। यथा—

(क) विश्वकर्मा ह्यनुज्ञातः शाकद्वीपे विवस्वतः।
भ्रमिमारोप्य तत्तेजः शातयामास तस्य वै॥

(भविष्यपुराण–ब्राह्म ७६। ५१)

(ख) छाया शनैश्चरं लेभे।

(श्रीमद्भागवत ६। ६। ४१)

अर्थात्— (क) विश्वकर्म्मा भगवान् ने शाकद्वीप में विवस्वान् सूर्य्य को अपने 'भ्रमि' नामक यन्त्र पर चढ़ा कर उसका प्रखर तेजः छोल डाला (ख) सूर्य्य की अर्धाङ्गिनी छाया से शनैश्चर पैदा हुवा।

तात्पर्य्य यह हुवा कि सृष्टिरचना के समय सूर्य्यपिण्ड आकर्षण विकर्षण के चक्र में पड़ कर अपने बहुत से भास्वर भाग को खो बैठा, सूर्य्यपिण्ड के जिस भाग की भास्वरता विनष्ट हुई थी वह भाग हमारी पृथ्वी के शाकद्वीप (=वर्तमान आस्ट्रेलिया) की ठीक समान कक्षा में पड़ता है, सूर्य्य का जो भाग टूटा था वही समय पाकर शनैश्चर (Saturn) नामक ग्रह हुवा इसी लिये पुराणों में उसे 'सूर्य्य-पुत्र' कहा है। सूर्य्य का वह भग्नावशेष खण्डहर ही 'छाया' है जिसे आधुनिक अनुसन्धायक काला धब्बा बताते हैं। इस तरह पुराणों में इस काले धब्बे का सभी रहस्य विस्तारपूर्वक प्रकट किया गया है।

छन्दःशास्त्र

अग्नि पुराण में अध्याय ३२८ से ३३५ पर्य्यन्त छन्दःशास्त्र का समावेश है, इस में लौकिक और वैदिक छन्दों के भेद का अद्वितीय वर्णन है।

व्याकरण शास्त्र

पिछले दिनों काशी से प्रकाशित होने वाले 'सुप्रभातम्' संस्कृत पत्र में श्री कविचक्रवर्ती देवीप्रसाद जी शुक्ल का बनाया हुवा श्लोकबद्ध व्याकरण छपता था, हम उसे बड़े चाव से पढ़ा करते थे, और वह इस लिये कि— 'वैयाकरण श्रुति कटु= कर्कशभाषी होते हैं'— ऐसा लोकप्रवाद चला आता है। पाणिनि के "टिड्ढाणञ्" ने और मुरारिकविकृत 'अनर्घराघव' के 'तत्ताहक्...' आदि पद्यों ने इस प्रवाद को और भी दृढ़ बना रक्खा है। कविचक्रवर्ती जी ने उसे सुललित शब्दों में बांधने का प्रयत्न किया है, हमें हर्ष था कि- चलो अब 'शुष्कोवृक्षस्तिष्ठत्यग्रे' के स्थान में 'नीरसतरुरिह विलसति पुरतः' हो जायगा। जो कि शब्दसौन्दर्योपासकों के मनोविनोद का पर्य्याप्त साधन सिद्ध होगा। परन्तु जब हमने अग्निपुराण का पारायण किया तो ३४६ अध्याय से ३५६ अध्याय पर्य्यन्त श्लोकबद्ध व्याकरण प्राप्त होगया जिसे देख कर हम फूले नहीं समाये, और कविचक्रवर्ती जी के प्रयत्न को प्रयासमात्र समझा, जो सज्जन उत्सुक हों वहां देख कर लाभ उठाएँ। इस तरह पुराणों में व्याकरण शास्त्र का भी समावेश विद्यमान है।

अलंकार शास्त्र

अलंकार शास्त्रका मूल अग्निपुराण है— यह बात सभी अलंकार धुरन्धरों ने स्वीकार की है, चतुर्दश भाषा वारविलासिनीभुजंगम पं० विश्वनाथ जी ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'साहित्यदर्पण' के आरम्भ में ही इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया है। अग्नि पुराण में गुण, दोष, अलंकार, नाटकादि भेद, एवं नायक नायिका भेद,— गर्ज है कि साहित्यसम्बन्धी सभी बातों का विशद विवेचन किया गया है, इस लिये हम अग्निपुराणवर्णित इस प्रघट्ट को 'साहित्यकल्पतरु का बीज' कहदें तो अत्युक्ति न होगी। इने गिने पद्यों में अलंकार का ऐसा सर्वाङ्ग पूर्ण वर्णन करना श्री वेदव्यास जी का ही काम है।

इस समय साहित्य शास्त्र में 'काव्यप्रकाश' का स्थान बहुत ऊँचा है, परन्तु नाटकादि वर्णन का अभाव उस में बेतरह खटकता है, लेकिन अग्निपुराण में प्रायः सभी साहित्यिक विषयों का समावेश रहने के कारण वह उक्त दोष से सर्वथा मुक्त है, अतः

हम उसे ही 'सर्वतोमुख' अलंकारशास्त्र कह सकते हैं, इस के अतिरिक्त अग्नि पुराण के साहित्य में हमें कई विशेषताएँ भी दीख पड़ती हैं। उदाहरण के लिये हम कतिपय ऐसे अलंकारों के नाम पेश करते हैं, जो कि आधुनिक ग्रन्थों में दृष्ट नहीं होते। यथा—

छायामुद्रा तथोक्तिश्च युक्तिर्गुंफनया सह।
वाकोवाक्यमनुप्रासश्चित्तं दुष्करमेव च॥
ज्ञेया नवालंकृतयः शब्दानामित्यसंकरात्॥

(अग्नि पु० ३४४। १६–२०)

इन नौ शब्दालंकारों में से 'अनुप्रास' को छोड़ कर शेष अलंकार इस समय पुराणवर्णित नामों से व्यवहृत नहीं होते। यदि साहित्यप्रेमी मूल ग्रन्थ का अध्याय ३३८ से ३४४ तक पारायण करें तो उन्हें और भी विशेषताएँ मिल सकती हैं जो विस्तारभयात् यहां प्रकट नहीं की जासकतीं।

शब्दकोश

अग्निपुराण के अध्याय ३६० से ३६६ तक 'शब्दकोश' है, जिसके पढने से प्रतीत होता है कि प्रसिद्ध कोशकार अमरसिंह ने अपने कोश की रचना में उक्त ग्रंथ से पर्य्याप्त सहायता ली है। कदाचित् 'वादी भद्रं न पश्यति' न्याय के अनुसार कोई यह अडङ्गा लगाए कि—'अमरकोश' ग्रन्थ के पश्चात् उक्त पुराण की रचना हुई है, और उसके श्लोक ही पुराणकार ने अपनाये हैं,—तो हम इसके उत्तर में यही कहेंगे कि अमरकोश की विधानता में उसके कुछ पद्य अपने ग्रन्थ में लिखलेने से सिवाय कागज़ काले करने के और क्या फल हो सकता था। हमतो विशेषतया ऐसे महा-पुरुष के लिये जोकि अपने ग्रन्थ में मौलिक विषय लिखने की अद्वितीय योग्यता रखता हो—ऐसी संभावना भी नहीं कर सकते। संस्कृत ग्रन्थकारों ने किसी दूसरे कवि के शब्द अर्थ और भाव आदिका चुराना 'तेऽन्यैर्वान्तं समश्नन्ति' के अनुसार अतिघृणित कार्य्य बताया है, अतः 'अमरकोश' के श्लोकों को अग्निपुराणकार ने उद्धृत किया हो यह सर्वथा असम्भव है। हां! अमरसिंह अपने ग्रन्थ का गौरव बढ़ाने के लिए आर्ष ग्रन्थों से उचित उद्धरण अवश्य ले सकता है क्यों कि अन्यान्य कवियों ने भी अपने ग्रन्थ की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए ऐसा किया है। जैसे कविकुल गुरु कालिदास जी ने अपने 'रघुवंश' महाकाव्य के आरम्भ में ही 'अथवा कृत-

वाग्द्वारे' कह कर वाल्मीकि जी की उक्तियों को अपना लक्ष्य बताया है। इस तरह पुराणों में 'शब्दकोश' का भी समावेश विद्यमान है।

निरुक्त-शास्त्र

वेदार्थ परिज्ञान के लिए निरुक्त का जानना आवश्यक है, इसी लिए इस शास्त्र को वेदाङ्गों में परिगणित किया गया है, इस समय इस विषय का यास्कमुनिकृत 'निरुक्त' एकमात्र ग्रन्थ मिलता है। परन्तु हमने पुराणों का पाठ करते हुवे यत्र तत्र बहुत से शब्दों का निर्वचन देखा है, यदि जहां तहां बिखरे हुवे इन निर्वचनरूप मोतियों को एक सूत्र में ग्रथित किया जावे तो विबुध वृन्द के कण्ठ की शोभा के लिए खासी वैजयन्ती माला तैयार हो सकती है।

इसके अतिरिक्त जिन शब्दों को लेकर पुराणों पर 'अश्लीलता' का मिथ्या कलंक लगाया जाता है, वह भी बहुत कुछ दूर हो सकता है। उदाहरणार्थ हम एक दो शब्दों का निर्वचन यहां दिखाते हैं—यथा—

लिंग शब्द—

लीनार्थगमकं चिन्हं लिङ्गमित्यभिधीयते।

(शि० पु० विद्येश्वरी संहि० १६। १०६)

अर्थात्—लीन=अव्यक्तावस्थापन्न वस्तु के गमक=बताने वाले निशान को 'लिङ्ग' (लीन+ग) कहते हैं।

भगशब्द—

भं वृद्धिं गच्छतीत्यर्थात् 'भगः'—प्रकृतिरुच्यते।

(शिवपुराण विद्येश्वरी १६। १०६)

अर्थात्—भ=वृद्धि को ग= प्राप्त होने वाली को 'भग' कहते हैं जिसका अर्थ प्रकृति है।

रुद्र-शब्द

यदरोदीः सुरश्रेष्ठ.....नाम्नारुद्रइति प्रजाः।

(श्रीमद्भागवत ३। १२। १०)

अर्थात्—रोदन-किंवा भयङ्कर रड़ाट करने के कारण 'रुद्र' ऐसा नाम हुवा।

प्रणव-शब्द

'प्र' प्रपञ्चो 'न' नास्ति 'वो' युष्माकं प्रणवं विदुः।
प्रकर्षेण नयेद् यस्मान्मोक्षं वा प्रणवं विदुः॥

(शिवपुराण-विद्येश्वरी १७। ५)

अर्थात्—'प्र' प्रपञ्च=मायाकृत बन्धन 'न' नहीं 'वः' तुम्हारे को (जिसकी उपासना से) उसे प्रणव कहते हैं। अथवा—जो प्रकृष्टतापूर्वक मोक्ष को पहुँचाने वाला हो उसे प्रणव कहते हैं।

शिव-शब्द

'शं' सुखं नित्यमानन्दम् 'इ' कारः पुरुषः स्मृतः।
'व' कारः शक्तिरमृतं मेलनं 'शिव' उच्यते॥

(शिवपुराण विद्येश्वरी १२। ७६)

अर्थात्—'शं' सुख एवं एकान्त आनन्द को कहते हैं 'इ' कार परमात्मा का बोधक है और 'व' कार अमृत शक्ति का वाचक है, तीनों गुण जिसमें रहते हों उसे 'शिव' कहते हैं।

गुरु-शब्द

गुणान् रुन्ध इति प्रोक्तो गुरुशब्दस्य विग्रहः।

(शिवपुराण विद्या १८। ८२)

अर्थात्— गुणों के आधायक को गुरु कहते हैं।

विष्णु-शब्द

विष्णिवति व्यापकत्वात्ते नाम ख्यातं भविष्यति।

(शिवपुराण रुद्र संहिता ६। ४३)

अर्थात्—व्यापक होने के कारण भगवान् का नाम 'विष्णु' ऐसा प्रसिद्ध होगा इसी प्रकार अन्यान्य शब्दों के भी पुराण ग्रन्थों में निर्वचन प्राप्त होते हैं जो विस्तारभयात् यहां अङ्कित नहीं किये जासकते।

आयुर्वेद

स्वास्थ्यरक्षा आयुर्वेद पर ही निर्भर है, जो लोग विदेशीय दवाओं का सेवन करके धन धर्म तथा स्वास्थ्य तीनों चीज़ों को खो रहे हैं, परन्तु अपने आयुर्वेद की ओर ध्यान नहीं देते परमात्मा ही उन्हें सुधार सकता है प्राचीन ऋषियों का तो सिद्धान्त है कि—

यस्य देशस्य यो जन्तुस्तज्जं तस्यौषधं हितम् ॥

अर्थात्— जो प्राणी जहां उत्पन्न होता है उसके लिये उस ही देश की औषधियें हितकर होसकती हैं। परन्तु आज स्वास्थ्य खराब हिन्दुस्तानियों का हो और बोतलें खाली की जाएँ इङ्गलैण्ड की और फ्रान्स की!! यह अन्धपरम्परा अत्यन्त अनुचित है। कुछ अदूरदर्शी महाशय भारतीय चिकित्सा शास्त्र पर अपूर्णता का मिथ्या आक्षेप किया करते हैं परन्तु हम उन्हें दृढ़ता पूर्वक कह सकते हैं कि आयुर्वेद के चरक-सुश्रुत आदि सिद्ध ग्रन्थों का तो जिक्र ही क्या है यदि हम पुराण ग्रन्थों की घरेलू दवाओं को भी बर्ताव में लाने लगें तो हमारी दैनिक आवश्यकता को पूर्ण करने के लिये तो विश्वविद्याभण्डार हमारे पुराण ही पर्य्याप्त हैं उदाहरणार्थ हम यहां पुराणोक्त चिकित्साशास्त्र का कुछ दिग्दर्शन कराते हैं।

गजायुर्वेद-

बालविल्वं तथा लोध्रं धातकी सितया सह।
अतिसारविनाशाय पिण्डी भुञ्जीत कुञ्जरः ॥

(अग्नि पुराण अ० २८१)

अर्थात्— यदि हाथी के दस्त बन्द करना हो तो छोटे बेल, लोध, और आंवलों, को कूट कर मिश्री में मिला कर पिण्डियें बना हाथी को खिलादें उससे दस्त बन्द होजायँगे। इसी प्रकार हाथियों के अन्यान्य रोगों की चिकित्सा भी पुराणों में लिखी है।

अश्वायुर्वेद

गोमयं लवणं मूत्रं क्वथितं मृत्समन्वितम्।
अङ्गलेपो मक्षिकादिदंशभ्रमविनाशकः ॥

(अग्नि पुराण अ० २२८)

अर्थात्—गोवर, नमक, मट्टी, इनको गोमूत्र में पका कर यदि घोड़े के शरीर पर लगाया जावे तो मच्छर आदि द्वारा डसे हुवे घोड़े का जहर उतर जाता है तथा परिश्रम से आई हुई सूजन भी दूर हो जाती है। (यह नुसखा अनुभूत है आज कल काम में आता है)

हिंगु पुष्करमूलं च नागरं साम्लवेतसम्।
पिप्पलीसैंधवयुतं शूलघ्नं चोष्णवारिणा॥

(अग्नि पुराण अ० २८६)

अर्थात्— हींग, पोखरमूल, नागरमोथा, अम्लवेत, निम्बूबिजोरा, पिप्पली, सेंधा नमक, इनको कूट छान घोड़े को गर्म जल से देने पर पेट दर्द दूर होता है।

गवायुर्वेद-

शृंगामयेषु धेनूनां तैलं दद्यात्ससैंधवम्।
अतीसारे हरिद्रे द्वे पाठां चैव प्रदापयेत्॥
विल्वमूलमपामार्गं धातकी च सपाटला।
कुटजं दन्तमूलेषु लेपात्तच्छूलनाशनम्॥

(अग्नि पु० अ० २६२)

अर्थात्— गाय के सींगों के रोगों पर नमक और तेल लगावे। गाय बैलों में दस्तों का रोग हो तो दोनों हल्दियें और पाठा, ये चीजें मिला कर दे दे। पशुओं के दांतों की जड़ में दर्द हो तो बेल की जड़, अपामार्ग (जिसे ऊंगा, चिरचिटा किंबा पुठकंडा कहते हैं) आंवला, पाढ़ल, इन्द्रजौ इन सब का दांतों की जड़ में लेप करे। इत्यादि गोचिकित्सा भी हमें पुराणों में मिलती है।

विषचिकित्सा-

शिरीषपुष्पस्य रसभावितं मरिचं सितम्।
पाननस्याञ्जनाद्यैश्च विषं हन्यान्न संशयः॥

(अग्नि पु० अ० २६७)

अर्थात्— किसी भी जन्तुविशेष के खास कर सर्प के विष को दूर करने के लिये सिरस के फूल के रस में भिगोई हुई सफेद मिरचें- पीने से, सूंघने से या आंखों में डालने से विष दूर होजाता है।

इस प्रकार हर एक तरह की चिकित्साओं का वर्णन— जिन से कि गृहस्थ का सम्बन्ध प्रायः रहा करता है— अग्निपुराण, गरुड़पुराण, और मत्स्यपुराणादि में पर्य्याप्तरूपेण मिल जाता है। यदि भारत के दरिद्र नारायण लोगों को पुराणों का समादर करने की अब भी सुधी आजाए तो वे बड़े सस्ते तरीक़े से स्वास्थ्यलाभ कर सकते हैं तथा स्वदेशी चिकित्साप्रणाली को भी उन्नत कर सकते हैं।

स्वप्न-ज्ञान—

यह एक हमारा प्रधान शास्त्र था जिस के द्वारा हम भावी शुभ अशुभ घटनाओं का पता चला लिया करते थे। परन्तु दुःख है कि आज यह विद्या भी लुप्तप्रायः सी होगई यदि कुछ मिलती है तो वह इन पुराणों में ही विद्यमान है।

चूर्णनं मूर्ध्नि कांस्यानां मुण्डनं नग्नता तथा।
स्नेहपानावगाहौ च रक्तमालानुलेपनम्॥
इत्यधन्यानि स्वप्नानि तेषामकथनं शुभम्॥

(अग्नि पु० अ० २२६)

अर्थात्— स्वप्न में अपने ऊपर कांसी की चीज़ों का टूटना, अपने सिर का मुंडना, अपने आप को नंगा— तेल पीता हुवा तथा तेल में स्नान करता हुवा, गले में लाल फूलों की माला पहिने किंवा लाल चन्दन लगाए देखे तो उस स्वप्न का फल ख़राब समझे।

शकुन-शास्त्र

एहीतिपुरतः शब्दः शस्यते नतु पृष्ठतः।
गच्छेति पश्चाच्छब्दस्योऽग्रः पुरस्तात्तु विगर्हितः॥

(अग्नि पु० अ० २३०)

अर्थात्— जाते हुवे आदमी को आगे खड़ा हुवा कोई आने को कहे तो अच्छा यदि पीछे खड़ा बुलावे तो खराब। और जाते हुवे आदमी को यदि कोई पीछे खड़ा कहे कि जावो तो अच्छा। आगे खड़ा कहे तो बुरा है।

शकुनज्ञान के सम्बन्ध में भी पुराणों में काफी मसाला मिलता है परन्तु शोक है कि जनता ने पुराणों की उपेक्षा करके इन सब विद्याओं को नष्ट कर लिया है यदि अब भी यही उदासीनभाव बना रहा तो रही सही विद्या भी जाती रहेगी।

सामुद्रिकशास्त्र—

यह भी एक चमत्कारिक विद्या है जिसके द्वारा स्त्री पुरुषों के रेखा आदि शरीर लक्षणों से ही उसके जीवन की घटनाओं पर प्रकाश डाला जा सकता है, इस शास्त्र का अब प्रायः लोप सा होचला है। जिनको इस विद्या का यत्किंचित् भी ज्ञान है वे भी इसके प्रताप से मनुष्य के जीवन की भूत भविष्यत् वर्तमान घटनाओं को बता कर संसार को— आश्चर्य्यान्वित किये बिना नहीं रहते। यदि इस विद्या का भी अनुसन्धान करना हो तो पुराणों को टटोलिये। देखिए—

उन्नतिः प्रथमे गर्भे द्वयोरेकस्य भूयसी।
वामे तु जायते कन्या दक्षिणे तु भवेत्सुतः॥

(भविष्य पु० अ० ५ श्लो० ४३)

अर्थात्— जिस समय माता के पेट में प्रथम गर्भ हो उस दशा में यदि स्तनों में ऊंचा नीचापन दिखाई दे तो बांये स्तन के उच्च होने पर कन्या तथा दक्षिण स्तन के उच्च होने पर पुत्र की उत्पत्ति समझनी चाहिये।

गृहशिक्षा

इस समय कन्याओं की शिक्षा के सबन्ध में जितने मुंह उतना बात हो रही है, एक ओर सभ्य सुशिक्षित समुदाय अपनी ही तरह उन्हे B. A. और M. A. की डिग्री पाये हुवे बराबर वकालत आदि करते हुवे देखना चाहता है। दूसरी ओर समाज की शृंखला को ढीली होती देख कुछ सज्जन इस शिक्षा का घोर विरोध करने पर उतारू हैं। तीसरी ओर एक वह समुदाय है जो कि आजकल की शिक्षाके विषमय परिणाम उच्छृङ्खलता दुराचारिता आदि को देख कर इस शिक्षा का घोर विरोध करता हुवा भी किसी हदतक शिक्षा का समर्थक अवश्य है इस समुदाय का असर भी जनता में काफी हो रहा है अतएव अधिक कन्याशालाओं में गृहकार्य्य की ओर कुछ ध्यान दिलाना आवश्यक समझा जाता है।

यद्यपि शिक्षाक्रम की अपूर्णता के कारण या उन सम्पूर्ण विषयों का जिनका कि गृहपत्नी से सम्बन्ध रहता है अत्यन्त्यविस्तृत होने के कारण एक उपयुक्त शिक्षा-क्रम नहीं बन सका तथापि इसमें किसी का भी मतभेद न होगा कि ऐसे शिक्षा-क्रम की अवश्य आवश्यकता है। यह यदि सर्वाङ्गपूर्ण देखना हो तो मार्कण्डेयपुराण मदालसोपाख्यान, भविष्य पुराण आदि में देखिये जैसा कि—

षड़भागेनातसीतैलं सिद्धार्थककपित्थयोः।
तथानिम्बकदम्बादौ विद्यात् पंचमभागकम्॥१२॥
तिलेंगुदमिधूकानां नक्तमालाकुसुम्भयोः।
जानीयात् पादकं तैलं खलमन्यत्प्रचक्षते॥१३॥

(भविष्य पु० अ० १२)

अर्थात्—तेल का गृहकार्य्य से सम्बन्ध रहता है उसको भी पुराणकार बता देते हैं कि यदि अलसी का तेल निकलवाया जायगा तो वह छठा भाग तेल निकलेगा (छ सेर में एक सेर के हिसाब से) तथा कैथ का भी इसही हिसाब से होगा नीम तथा कदम्ब आदि में से पांचवां हिस्सा तेल होगा। तिल इंगुदि महुवा……कुसुम्भा इनमें से चौथाई तेल तथा शेष खल होगी।

इस ही प्रकार कौनसी चीज के पाक में कितना जल डालना चाहिये, पति-पत्नी का आपस का व्यवहार किस प्रकार होना चाहिये आदि सब कुछ आवश्यक विषयों पर पुराणों ने आवश्यकतानुसार प्रकाश डाला है।

भारत के लिये चर्खा एक अत्यन्त आवश्यक चीज है २५ या ३० वर्ष पहिले ग्रामों में तथा शहरों में भी खद्दरपोशों की कमी न थी, पर नवीन शिक्षा के प्रताप से यह सब के मन से उतरता जारहा था। सन् १९२१ तथा २२ में बड़े विराट रूप में इसका आन्दोलन चला तथा कर्मवीर गांधी ने पुरुषों के भी हाथ के लिये यही-हथियार उपयुक्त समझा और उनसे भी यह कतवाया। परन्तु हमारे पुराणों ने गृहिणी कर्तव्य में इसको यों बतलाया है।

कार्पासकृमिकौशेयौर्णकौमादिकर्तनम्।
कुर्णिपंड्गवयोषाभिर्विधवाभिश्च कारयेत्॥१८॥
विनियोगं नयेत् सर्वं प्रियोपग्रहपूर्वकम्॥१९॥
कर्मणामन्तरालेषु प्रोषिते चापि भर्तरि।
स्वयं वै तदनुष्ठेयं नित्यानां चाविरोधतः॥२०॥

(भविष्य पु० अ० १२)

अर्थात्—उत्तम गृहिणी का कर्तव्य है कि वह कपास रेशम तथा ऊन की कताई—कानी अन्धी लूली, तथा विधवा स्त्रियों से बड़े प्रेम पूर्वक करवावें। इसको देखने से एक और भी बात साफ हो जाती है कि पाश्चात्य देशों की तरह अनाथ असहाय अपाहिजों के लिये भी मांगना ही निर्वाह का मार्ग न था। बल्कि गृहलक्ष्मियें बड़े प्रेम पूर्वक इनसे कताई आदिका कार्य्य लेकर उन्हें उन के परिश्रम के प्रतिफल में सादर वृत्तियें दिया करती थीं।

साथ ही स्वयं भी घर की मालकिन जिस समय उसे काम से फुरसत मिले, या पति विदेशयात्रा को चले जायं अपने नित्य के कार्य्य में बाधा न डालते हुवे सूत काता करें।

पाठक देखें कि कहां तक कर्तव्य पर विचार किया जाता है। प्रत्येक कार्य्य के औचित्य तथा अनौचित्य को कहां तक हाथ में रक्खा जाता है।

पतिदेव बाहर के कर्तव्यभार से क्लान्त हो घर पर पधारते हैं तो "पत्नी" का यह कर्तव्य नहीं कि वह उपेक्षा से या और कताई आदि का बहाना ले पतिसेवा से विरत हो जाय, बल्कि सर्वप्रथम संपूर्ण अन्य कार्यों को छोड़ पर पतिसेवा करनी होगी; परन्तु जिस समय और कार्य्य नहीं है उसे निकम्मे बैठकर समय को बरबाद न करें, उस समय सधवायें भी कताई आदि में लगजायें। ये धर्ममार्ग की सूक्ष्मताएं यदि देखनी हों तो पुराणों में देखने को मिलेंगी।

ग्रन्थ का कलेवर अत्यधिक बढ़ गया है, पुराण-साहित्य रूप अगाध रत्नाकर को छोटे से शराब (कूजे) में बन्द कर देना सर्वथा असम्भव है, ग्रन्थ के नाम-करण के अनुसार भी पुराणों का 'दिग्दर्शन' मात्र करा देना ही अन्वर्थता का परिचायक है ——गर्ज़ है कि इस ग्रन्थ में अभी तक जो कुछ भी लिखा जाचुका है वह उतना ही हमारी पूर्वकृत प्रतिज्ञा के पालन का पर्य्याप्त साधन हो सकता है, इस लिये हम मङ्गल-मय भगवान् को कोटिशः प्रणाम करते हुवे इस ग्रन्थ का यहीं उपसंहार कर देना उचित समझते हैं।

'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्' के अनुसार इस लोक और परलोक का वह कोई विषय नहीं जोकि पुराणों में अङ्कित न हो! यदि मैं यह भी कह दूं तो अतिशयोक्ति न होगी कि वेदों को छोड़कर समस्त वाङ्मय उपजीव्य—उपजीवी सम्बन्ध से पुराणमूलकता पर ही अवलम्बित है। हमारा दावा है कि आप किसी भी भाषा के-बेजोड़ एवं 'मौलिक' कहे जाने वाले ग्रन्थ को उठाइये हम तत्प्रतिपादित विषय का सर्वाङ्गपूर्ण वर्णन पुराण ग्रन्थों में लिखा दिखादेंगे।

कविकुलतिलक कालिदास आदि भारतीय अमर कवियों ने तो स्वनिर्मित ग्रन्थों की कपोलकल्पितता के परिहारार्थ स्पष्ट ही 'अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन्पूर्वसूरिभिः' कहते हुवे व्यास वाल्मीकि प्रभृति महर्षियों के निर्माण किये हुवे पुराणेतिहास ग्रन्थों को अपने २ काव्यों का आधार स्वीकार किया ही है परन्तु पाश्चात्य पण्डितों के बनाये हुवे बड़े से बड़े ग्रन्थों के कथानक भी नाममात्र के भेद से पौराणिक आख्यानों के साथ अपरिमार्जनीय समता रखते हैं-यह बात हमने हिन्दी में अनुदित हुवे टालस्टाय, होमर, मिल्टन दान्ते, शेक्सपियर आदि पाश्चात्य पण्डितों के ग्रन्थों के परिशीलन से अनुसन्धानपूर्वक निश्चित की है, इस लिये हमतो खम ठोक कर कहने के लिये तैयार हैं कि विश्व-वाङ्मय-मात्रपर जो पुराणों की अमिट छाप वज्रलेप सी अङ्कित हो चुकी है उसे अब कोई भी पुराण-निन्दक नादान अपनी लपलपी ज़बान की कुत्सित कमान से छूटे हुवे व्याख्यानरूप बाण द्वारा छिन्न भिन्न नहीं कर सकता !

और तो और जो लोग पुराण साहित्य को मटियामेट करने के लिये ग्रन्थ लिखने चले थे तथा जो-पुराणों को कोसने में ही अपने पाण्डित्य की परा काष्ठा समझते थे वे महाशय भी पुराणों के सर्वाङ्गपूर्ण चमत्कार से मोहित होकर आखीर पुराण—साहित्य की प्रशंसा करने के लिये ही विवश हुवे हैं, यह बात हम तत्तद्ग्रन्थों से कतिपय उद्धरण देकर यहां सप्रमाण अङ्कित करते हैं जिससे सर्वसाधारण को 'जादूतो वह जो शिर चढ़ कर बोले' इस लोकोक्ति का उज्ज्वल उदाहरण प्राप्त होसके यथा—

लाला लाजपतराय के उद्गार

"पौराणिक पुलीटीकल बल"-हम ऊपर लिख आए हैं कि-बौद्धों से युद्ध करते हुवे ईश्वर वादी पौराणिकों ने बौद्धधर्म्म के शस्त्र ग्रहण किये, पौराणिक धर्म्म स्वामी शङ्कराचार्य्यजी की उत्पत्ति से पूर्व ही प्रबल आगया था। आस्तिकता का जो प्रकाश पौराणिक धर्म्म ने व्याकुल आर्य्यसन्तान को दिखलाया था उसने कुछ काल के लिये असर उत्पन्न किया और पौराणिक-धर्म्म ने बौद्ध धर्म्म को निकाल कर बौद्ध-धर्म्म का पुलीटीकल बल भी छीन लिया। कुछ काल के लिये हिन्दू धर्म्म का बल फिर स्थापित होगया और उसने उन सीमाओं तक अपना झण्डा झुलाया कि जहां तक बौद्ध-धर्म्म अपना राज्य बना चुका था, बरञ्च कुछ थोड़ा बहुत सीमाओं को भी पार कर गया……"

(स्वामी दयानन्द जी का जीवन चरित्र पृष्ठ ५६ से)

प्रो० रामदेव जी गौड़ (गुरुकुल-कांगड़ी) के विचार,

"पुराण और इतिहास हिन्दू-संस्कृति के विश्व-कोश हैं। जो विद्याएं पुराणों और इतिहासों में हैं वह कहीं और नहीं हैं। हिन्दू-संस्कृति के लिये यही परम निधि है। इन के पुनरुद्धार और प्रचार में हिन्दु-संस्कृति की रक्षा है"

('ब्राह्मण-सर्वस्व' के पुराणाङ्क पृष्ठ २५४ से—)

पं० नरदेव शास्त्री ज्वालापुर महाविद्यालय की सम्मति,

"पुराणों में इतना मसाला भरा हुवा है कि अज्ञ से अज्ञ पुरुष भी उनमें वर्णित कथा कहानियों द्वारा धर्म्म के उच्च से उच्च तत्व को वेदशास्त्र के अध्ययन के विना ही समझ सकते हैं।"

('ब्राह्मण-सर्वस्व' के पुराणाङ्क पृष्ठ २१६ से —)

पं० शिवशङ्कर मिश्र की राय

"जैन धर्म्म और बौद्ध धर्म्म को मिटाने में इन पुराणों ने बड़ा प्रभाव दिखाया। इन पुराणों के प्रताप से हिन्दू धर्म्म डूबता २ बचा साथ ही एक यह बात भी स्वीकार किये विना नहीं रह सकते कि पुराणों द्वारा देश में भक्तिरस का कुछ विलक्षण रस फैल गया, साथ ही पंच देवताओं की उपासना आदि का प्रभाव खूब बढ़ा। इनके प्रसार के कारण उस समय प्रतियोगिता में जैन धर्म्म टिक न सका और हिन्दू धर्म्म ने अपना सिक्का फिर जमा लिया।"

('भारत का धार्मिक इतिहास' पृष्ठ १५३ से—)

प्रो० रामदेव और श्री जयचन्द्र (गुरुकुल-कांगड़ी) की सम्मति

"कूर्म्म पुराण में ज्योतिष भविष्य में ज्योतिश्चक्र, ग्रहगति, सर्पविद्या, स्त्री पुरुष लक्षण, अग्नि में साहित्य, राजनीति, ब्रह्माण्ड में सृष्टि की उत्पत्ति, ब्रह्मवैवर्त में जातियों की उत्पत्ति का इतिहास·····बृहन्नारद में व्यवस्थाएं और पुराणों का संक्षेप, शिव-पुराण में योगप्रक्रिया आदि विषय बहुत अच्छे २ प्रतिपादित हैं।" ····· "पुराणों में अभी और भी बहुत रत्न हैं। जो पुराणसागर को मथने पर निकाले जासकते हैं। जिनका प्राप्त कर लेना अभी बहुत से गवेषकों के नाम उज्ज्वल करेगा।"

('पुराण-मत-पर्य्यालोचन' के पृष्ठ ५३४-५३६ से —)

हमने ऊपर प्रायः उन महाशयों की सम्मतियें उद्धृत की हैं जो कि आर्य्यसमाज की नाक माने जाते हैं आप सब एक स्वर से सर्वांश में अथवा अधिकांश में किस प्रकार पुराणों की उपयोगिता का गुण गान कर रहे हैं यह बात उन उदरम्भरि आर्य्योपदेशक नामधारियों को खूब आंख खोल कर देख लेनी चाहिये जो कि भोली भाली हिन्दू जनता में पुराणों के प्रतिकूल गलतफ़हमी फैलाना ही वेदप्रचार का मुख्यसाधन समझते हैं। बस हम इन्हीं शब्दों के साथ करुणावरुणालय पुराण-पुरुष परमात्मा को अनन्त प्रणाम करते हुवे इस ग्रन्थ को यहीं समाप्त करते हैं। श्रीरस्तु।

* दशवां अध्याय समाप्त *

श्लोकः।

नह्यत्र किंचिदपि नूतनमिति प्रवादः,
पौराणिकस्य मम भूषणमेव लोके॥
पूज्ये पुराण-पुरुषेऽनवता प्रसङ्गः,
नारायणस्य किमु! लाघवतां व्यनक्ति॥१॥

ग्रन्थ-कर्तुवंश-वर्णनम् ।

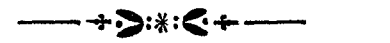

श्लोकौ—

(१) कुरुक्षेत्रे तीर्थे नगरममलं भाति कमलं-,
सदा विद्वद्-बृन्द-भ्रमर-निकरैः शोभित-तलम् ।
इहोपाध्यायानां भुवन-विदितं कौशिक-कुलं-,
प्रदानाद् द्रव्याणां यदलभत 'दानाव'* पदवीम् ॥

(२) दुर्भिक्षे चान्न-दानात्प्रथितबहु-यशा श्रीसदानन्दविप्र-,
आसीद्गौड़ाग्रगण्य स्तनयजतनुजः श्यामलालस्तदीयः ।
† ऋष्यग्र्यो रामनामा विबुधजनमतस्तत्सुतः ख्यात-कीर्ति-,
स्तत्पुत्रोऽहं निबन्धं खलु विरचितवान् माधवाचार्य्यशास्त्री ॥

दोहा—

(१) कुरुक्षेत्र में कमल-सम, 'कमल' नाम है ग्राम ।
जिस में पण्डित-वर-भ्रमर, करें सदा विश्राम ॥

(२) उपाध्याय जन का यहां, 'कौशिक' कुल विख्यात ।
द्रव्य-दान के हेतु से, जो 'दानो' कहि जात ॥

(३) सदावर्त दानी हुवे, 'सदानन्द' जी गौड़ ।
जिनके कुल-भूषण सुवन, 'श्यामलाल' द्विज मौड़ ॥

(४) तिन्हके सुत 'ऋषिराम'जी, पौराणिक मम तात ।
शास्त्रि-'माधवाचार्य्य' ने, किया ग्रन्थ यह ख्यात ॥

टिप्पणी— * दानेन अवति रक्षति जनान् इति 'दानावः' (अस्यैवापभ्रंशभूतो 'दानो' शब्दो लोके प्रसिद्धः) । † ऋषिराम इति प्रसिद्धः ।

श्री सनातन-धर्म्म-सभा नैरोबी (अफरीका) का—

संक्षिप्त-परिचय

सन् १८९० ईसवी के आसपास भारतीयों ने पहिले पहिले अफरीका महाद्वीप में पदार्पण किया था, उस समय यह विशाल भूखण्ड प्रायः निर्जन वन के समान उजाड़ पड़ा था। जंगली जीव जन्तुवों और मुट्ठी भर हबशियों को छोड़ कर किसी भी सभ्य कहे जाने लायक मनुष्य का यहां आवास न था, जब योरोप के बणिकों ने इस सूने देश को अपनाना आरम्भ किया तो उस समय जी जान तोड़ कर परिश्रम करने वाले कुलियों की भी आवश्यकता अनुभव हुई, और वह भारत जैसे दरिद्र देश की बदौलत ही पूरी हो सकती थी बस इसी सिलसिले में प्रायः सभी प्रान्तों और सभा संप्रदायों के भारतीय कुछ कुलियों में और कुछ क्लारिकल स्टाफ में भरती होकर अफरीका पहुंचे थे।

थोड़े ही समय में यह देश बहुत कुछ आबाद होगया, ईसाई, मुसलमान, सिक्ख और समाजी आदि सभी मतमतान्तरों वालों ने अपने २ मज़हबी अड्डे कायम कर लिये, परन्तु सनातन-धर्म्मी जो कि संख्या में सबसे कहीं अधिक थे— एक अर्से तक अपनी कोई संस्था न बना पाए आखीर जब अन्यान्य मतावलम्बियों ने- खास कर दयानन्दी भाइयों ने समय समय वर्णाश्रम-धर्म्मियों को कोसना आरम्भ किया और अनादि धर्म्म मर्य्यादाओं को तोड़ताड़ कर आज़ाद बनाम बरबाद बनाने का प्रोपेगण्डा शुरू कर दिया तब तो वर्णाश्रमी भारतीयों की धमनियों में बहने वाला परम्परागत महर्षियों का पवित्र रक्त भी खौलने लगा, ईश्वर ने कृपा की, नैरोबी के प्रसिद्ध सेठ 'नौहरिया राम एण्ड सन्स' के कार्यालय में कुछ विशिष्ट धर्म्मप्रेमी व्यक्तियों की एक मीटिङ्ग हुई और सन् १९१७ के आरम्भ में ही श्री सनातन धर्म्म-सभा (नैरोबी) की स्थापना होगई।

जिन सज्जनों ने आरम्भ में उक्त सभा को उन्नत बनाने के लिये तन मन और धन से सेवा की है उनका नाम प्रवासी भाइयों में चिरस्मरणीय रहेगा अतः नीचे उनके नाम अङ्कित करना अनावश्यक न होगा— (१) लाला राममल शाह (२) पं० दुनीचन्द्र जी (३) मि० एम्० सी०डे० (४) पं० गोवर्द्धन लाल (५) पं०बिहारीलाल (६) ला० मुलख राज (७) लाला दिवानचन्द्र खन्ना (८) पं० गङ्गाराम (९) ला०

शराज (१०) ला० दिवानचन्द्र (११) ला० पूर्णचन्द्र (१२) बख्शी ज्ञानचन्द्र १३) ला० अमरनाथ सूरी (१४) ला० नौहरिया राम।

उपर्य्युक्त सज्जनों के अतिरिक्त और भी बहुत से सिन्धी सज्जनों ने प्रशंसनीय सेवाएं की हैं जिन सबका हम विस्तारभय से यहां उल्लेख नहीं कर सकते। उक्त सभा ने थोड़े ही दिनों में जो अभूतपूर्व उन्नति कर दिखाई है, और सम्प्रति इस संस्था के द्वारा न केवल नैरोबी नगर भर में ही बल्कि सुदूर पूर्वी अफ्रीका के प्रायः सभी प्रान्तों में जो जो धर्म्मसेवा सम्पादन होरही है उसका परिचय उक्त सभा द्वारा संचालित होने वाले निम्नलिखित विभागों का ब्यौरेवार वर्णन पढ़ने से मिल सकता है।

(१) श्रीकृष्ण-मन्दिर— यह नयनाभिराम देवस्थान लगभग २५ हज़ार शेलिङ्ग में तैयार हुवा है जिस में विधिवत् प्रायः सभी महोत्सव मनाये जाते हैं, प्रातः सायं सैंकड़ों स्त्री पुरुष भगवद्दर्शन का आनन्द लूटते हैं पं० दुनीचन्द्र शर्म्मा सेठ नौहरिया राम ने इसके निर्म्माण में खास भाग लिया था।

(२) धर्म्म-शाला— बाहिर से आने वाले मुसाफ़िरों के विश्राम के लिये सार्वजनिक स्थान की पूर्ति एकमात्र इस स्थान द्वारा होरही है। न केवल सनातन-धर्म्मी मात्र बल्कि मुसलमान ईसाई आदि सभी सम्प्रदाय और बहुत से युरोपीन अधिक भी इस में यथेष्ट विश्राम पाते हैं, रोगियों की सेवा का भी इस में खास प्रबन्ध रहता है। पच्चीस तीस हज़ार शिलिङ्ग इस पर व्यय हुवे हैं।

(३) पुस्तकालय— यह पूर्वी अफरीका में धार्म्मिक ग्रन्थों का एकमात्र संग्रहालय है, वेद पुराण, धर्म्मशास्त्रों के अतिरिक्त, अंग्रेजी, उर्दू, गुरुमुखी, सिन्धी आदि भाषाओं में छपे हुवे पांच हज़ार से अधिक ग्रन्थ इस में संगृहीत होचुके हैं।

(४) वाचनालय— इस में अफरीकन समाचार पत्रों के अतिरिक्त भारतीय प्रसिद्ध पत्र पत्रिकाएं भी २० के लगभग निरन्तर आते हैं प्रतिमास सहस्रों पुरुष इन से लाभ उठाते हैं।

(५) महावीरदल— यह जोशीले युवकों का एक आदर्श संघ है जो हर वक़्त सब प्रकार की जनसेवा करते नहीं थकता, उक्त दल का मनोहर बैण्ड नैरोबी नगर के सभी सनातनधर्म्मियों के यहां विवाहादि महोत्सवों में सजधज से बजता है।

(६) कन्या पाठशाला— उक्त शाला में हिन्दी और गुजराती दोनों

भाषाओं में कन्याओं को धार्म्मिक शिक्षा के अतिरिक्त प्रेक्टिकल गृहशिक्षा भी दी जाती है। लगभग चालीस हज़ार शिलिङ्ग में अभी इसकी इमारत बन पाई है।

(७) स्त्रीसभा— उक्त सभा का अधिवेशन प्रति बुधवार होता है, जिस में कथाकीर्तन के अतिरिक्त देवियें संस्था सम्बन्धी कामों में भी उचित मन्त्रणा करती हैं।

(८) ड्रामेटिक-क्लब— पर्वमहोत्सवों के समय धार्म्मिक नाटकों द्वारा सर्व साधारण को 'रामादिवत् प्रवर्तितव्यम् न रावणादिवत्' का उपदेश देना उक्त मण्डली का उद्देश्य है, जिसमें इसे अपूर्व सफलता मिली है।

(९) स०ध० प्रचारक मण्डल— भारत से सुयोग्य उपदेशकों को बुला कर समस्त पूर्वी अफरीका में सनातनधर्म्म की विजय दुन्दुभि बजाना और स्थान २ में सभाओं देव-मन्दिरों और पाठशालाओं की स्थापना करना उक्त मण्डल का ध्येय है। इस मण्डल के तत्वावधान में अभी तक निम्नलिखित महोपदेशक धर्म्म प्रचार कर चुके हैं—

(१) स्वामी मुकुन्दाश्रम जी
(२) पं० रामशरण दास जी
(३) स्वर्गीय पं० बासीराम बी० ए०
(४) पं० माधवाचार्य्य शास्त्री (दो बार)
(५) पं० विश्वम्भर दत्त शास्त्री

नीचे लिखे स्थानों में सभाएं बन चुकी हैं—

(१) नैरोबी (२) किलिन्डिनी (३) मुम्बासा (४) नकुरू (५) किसूमू (६) जिंजा (७) कम्पाला (८) एलडोरेट (९) किटाली (१०) जांजी बार और (११) दारे सलाम।

छोटे छोटे मन्दिरों के अतिरिक्त निम्नलिखित स्थानों में लाखों की सम्पत्ति से गगनचुम्बी देव मन्दिर बन चुके हैं—

(क) नैरोबी-में-कृष्णमन्दिर, राम मन्दिर और शिवालय (ख) मुम्बासा-में-शिवालय (ग) किलिन्डनी-में-कृष्णमन्दिर, (घ) नकुरू-में-कृष्णमन्दिर (ङ) किसूमू-में-कृष्णमन्दिर (च) कम्पाला-में-कृष्णमन्दिर (छ) टांगा-में-राममन्दिर (ज) जांजीबार-में-शिवालय और राम मन्दिर इसी तरह कई स्थानों में पाठशालाएं पुस्तकालय और वाचनालय भी स्थापित होचुके हैं जिन सब का हम यहां विस्तारभयात् उल्लेख नहीं कर सकते। अकेले नैरोबी शहर में लगभग तीन लाख शिलिङ्ग संस्था की विभिन्न इमारतों पर व्यय होचुका है।

'पुराण-दिग्दर्शन' के सम्बन्ध में-

सनातन-धर्म्म-प्रतिनिधि-सभा-पञ्जाब की बागडोर त्यागमूर्ति गोस्वामी गणेशदत्त जी के पवित्र हाथों में आजाने के बाद पञ्जाब के निवासी और प्रवासी सनातन-धर्म्मियों में अभूतपूर्व जागृति उत्पन्न होचुकी थी। जाब की अन्यान्य सभाओं की भांति श्री सनातन-धर्म्म सभा नैरोबी (अफरीका) का भी उक्त प्रतिनिधि सभा से सम्बन्ध सुस्थिर होगया था। जब महाराजाधिराज श्री धवलपुर नरेश के सभापतित्व में होने वाले 'लवपुरीय-सनातन-धर्म्म-महासम्मेलन' के अवसर पर एक यह भी प्रस्ताव स्वीकार किया गया कि 'उक्त सभा के तत्वावधान में पुराणों का विशेष अनुसन्धान (रिसर्च- Research) किया जाए'। तब इस प्रस्ताव के अनुमोदक थे— प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक श्री पं० माधवाचार्य्य शास्त्री, और समर्थक थे— नैरोबी सभा के सर्वस्व पूज्य पं० दुनीचन्द्र जी अमृतसरी। चुनाचे पूज्य पण्डित जी ने अपनी वक्तृता के दौरान में यह घोषणा की थी कि 'उक्त प्रस्ताव को कार्य्यान्वित करने के लिये श्री स० ध० सभा नैरोबी की ओर से पांच हज़ार रुपया प्रदान किया जाएगा'।

उन दिनों प्रतिनिधि सभा का कार्य्यालय लायलपुर में था, और 'विद्वत्परिषद्-विभाग' के मन्त्री पं० माधवाचार्य्य शास्त्री चुने गये थे। उक्त पण्डित जी के तत्वावधान में उस समय बड़ी ही तत्परता के साथ पुराणों का विशेष अनुसन्धान आरम्भ हुवा। जिसमें— पं० रामशरणदास जी महोपदेशक, पं० लीलाधर जी शास्त्री (प्रिन्सिपल ऋषिकुल हरिद्वार), पं० श्रीकृष्ण शास्त्री, पं० बारूराम शास्त्री, पं० विश्वम्भरदत्त शास्त्री आदि विद्वानों ने और 'बार ऋषिकुल (लायलपुर)' के कई एक विद्यार्थियों ने भी पुराणों की सूचियें तैयार करने में पाठभेद की इयत्ता जांचने में, अनुसन्धान किये हुवे भावों के क्रमबन्धन में एवं अन्यान्य रिसर्च सम्बन्धी कार्य्यों में पर्य्याप्त सहयोग दिया। इस तरह तीन वर्ष पर्य्यन्त कठिन परिश्रम कर चुकने के बाद अनुसन्धानित भावों की संग्रहलिपि तैय्यार होगई जिसे इस 'पुराण-दिग्दर्शन' ग्रन्थ की आदिम रूप रेखात्मक संचिका कहा जा सकता है।

सन् १९२६ के अन्त में रायसीना (देहली) सभा के उत्सव पर पधारे हुवे कविरत्न पं० अखिलानन्द शर्म्मा ने उक्त संचिका का निरीक्षण किया और पण्डित जी के परिश्रम की भूरि भूरि प्रशंसा की, आपकी तत्कालीन सम्मति पाठक अन्यत्र पढ़ चुके होंगे।

इसी तरह भारत-भूषण पं० मदनमोहन मालवीय जी ने भी— (जब कि आप हिन्दू महासभा की नीति के अनुसार 'लेजिस्लेटिव एसेम्बली' की मैम्बरी के प्रचारार्थ जहां तहां दौरा कर रहे थे) मेरठ से आगरा तक की यात्रा में इसके विशिष्ट स्थलों को पढ़ कर अपने उचित परामर्श से गौरवान्वित किया था।

जब श्री पं० माधवाचार्य्य जी सन् १९२७ में पहिली बार अफरीका पधारे तो उस समय यह हस्तलिखित ग्रन्थ भी पण्डितजी के साथ था। नैरोबी में आपके अन्यान्य विषयों के अतिरिक्त केवल पुराण विषय पर लगातार छत्तीस भाषण हुवे। जनता ने-जिसमें कि ईसाई, मुसलमान, सिक्ख और समाजी आदि सभी मतमतान्तरों के भद्र पुरुष सम्मिलित होते थे- उक्त व्याख्यानों को बहुत पसन्द किया। पुराणों की महिमा का सिक्का पूर्वी अफरीका के प्रवासी भारतीयों के हृदयों पर खूब बैठ गया। अन्त में पण्डित जी की प्रेरणा से हमारी सभा ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन का शुभ संकल्प किया, तदनुसार धनसंग्रह का कार्य्य आरम्भ हुवा, जिस में सभी सम्प्रदायों के सज्जनों ने दिल खोल कर दान दिया जिसका विवरण पाठकों को आगामी पृष्ठों पर उपलब्ध होगा।

पण्डित जी के भारत लौट जाने पर हमारी सभा ने दो हज़ार रुपया इस ग्रन्थ के प्रकाशनार्थ प्रतिनिधि सभा पञ्जाब को भेजा, इसी बीच में पण्डित जी ने अफरीका में जो अद्वितीय शास्त्रार्थ किये थे जनता के अतीव आग्रह के कारण उनका छप जाना भी आवश्यक सा जान पड़ा, तदनुसार नौ सौ रुपया 'शास्त्रार्थ पञ्चक' की छपाई में व्यय होगया और शेष ग्यारह सौ रुपया प्रतिनिधि सभा ने अन्यान्य धर्म्म कार्य्यों में व्यय कर दिया। इस तरह यह उपयोगी ग्रन्थ खटाई में पड़ गया।

यद्यपि 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' के अनुसार उस समय तो इस ग्रन्थ का तत्काल न छप सकना एक सीमा तक हमें खलता सा रहा परन्तु 'प्रभु प्रताप भइ गुणद गुहारी' के अनुसार अब हमें विदित हुवा कि वह विलम्ब ईश्वरीय वरदान ही था, क्यों कि इस छः सात साल के अन्तर में पण्डित जी ने अथक परिश्रम करके वेदादि शास्त्रों का भूयोभूयः विशेष पारायण करने के बाद पूर्व लिखित स्वल्पकाय संचिका को उचित परिवर्तनों के साथ परिवर्द्धित करके इस महान् ग्रन्थ के रूप में परिणत कर डाला। साथ ही पुराणों के विशेषज्ञ महामहोपाध्याय पण्डित गिरिधर शर्म्मा चतुर्वेदी को उक्त ग्रन्थ की प्रेसकापी साद्यन्त दिखा कर आपकी अमूल्य सम्मतियों के अनुसार इसे तादृश सुसंबद्ध बना डाला कि अब यह ग्रन्थ साधारण पुस्तक नहीं- बल्कि सनातन-धर्म्मी जगत् के लिये गौरव की चीज़ होगया। 'हाथ कंगन को आरसी क्या ?' जो भी सज्जन एकबार इसे पढ़ डालेगा वह स्वयं हमारी उपर्युक्त धारणा का क़ायल होजाएगा।

अन्त में यह कहना अनावश्यक न होगा कि यदि पूज्य पण्डित दुनीचन्द्र शर्म्मा ('अमृतसरी') उदारता पूर्वक अनेक कठिनाइयों का सामना करते हुवे इस ग्रन्थ का प्रकाशन प्रबन्ध अपने हाथ में न लेते तो यह ग्रन्थ छप कर पाठकों तक पहुँचना अब भी असम्भव था। अतः इसका बहुत कुछ श्रेयः उक्त पण्डित जी को ही है।

श्रीसनातन-धर्म्म-सभा
नैरोबी (अफरीका)

निवेदक— रामनाथ 'कुमड़िया'—

'पुराण-दिग्दर्शन' ग्रन्थ के प्रकाशनार्थ—

दान देने वाले सज्जनों की नामावलि

क्रमाङ्क	दाता का नाम	रक़म
१	सेठ नौहरियाराम एण्ड सन्स	५०१)
५	सेठ लालचन्दमूलचन्द एण्डब्रादर्स	५०१)
३	सेठ बी० चोइथ राम जी	५०१)
४	सेठ जे० एच्० गिद्दूमल जी	५०१)
५	श्री मुनसीराम जी ठाकुर	५०१)
६	सरदार हेमसिंह जी ठेकेदार	५०१)
७	मेसर्स चिरंजीलाल एण्ड को०	१५१)
८	श्री चतुर भाई (बेलीराम पारीमल)	१०१)
९	श्री गोपालदास जी	१०१)
१०	स्व० सेठ द्वारकादास वधवा	१०१)
११	श्री मोतीचन्द जी पी० मनियार	१०१)
१२	श्री बिट्ठलदास जी	१०१)
१३	श्री जगत् राम जी सीधर	१००)
१४	श्री कस्तूरीसिंह ठेकेदार	१००)
१५	पं० रामनाथ जी कुमड़िया	५१)
१६	बा० काहनचन्द जी कपूर	५१)
१७	पं० उत्तमचन्द जी	५१)
१८	श्री जटाशङ्कर बो० दीक्षित	५१)
१९	पं० जीवन शङ्कर गार्ड	५१)
२०	पं० गिरधारीलाल भारद्वाज	५१)
२१	श्री धृतराम (गोल्ड स्मिथ)	५१)
२२	मिस्त्री अल्लाह बख्स	५१)
२३	श्री हवेलीराम सब्भरवाल	५१)
२४	मेसर्स कृपाराम एण्ड सन्ज़	५१)
२५	श्री देवीदास गुसाईं	५१)
२६	श्री सोहनलाल सब्भरवाल	५१)
२७	श्री बा० मूलराज आनन्द	४१)
२८	श्री बीरूराम मिस्त्री	४१)
२९	बाबू देशराज सब्भरवाल	४१)
३०	बा० लालचन्द कपूर	४०)
३१	सेठ बो०चोइथराम के कर्मचारी	३७॥)
३२	बा० विशनदास महेन्द्रा	३१)
३३	पं० गिरधारीलाल सारदा	३१)
३४	बा० गिरधारीलाल गुलाटी	३१)
३५	बाबू हंसराज जी	३१)
३६	प० रामरक्खा शर्म्मा	३१)
३७	श्री दिवान सिंह	३१)
३८	बाबू रघुनाथ सहाय	३१)
३९	श्री विष्णुदास जी	२५)
४०	गुलाम मोहीउद्दीन खां	२५)
४१	मेसर्स धनजी कल्याण जी	२५॥)
४२	मेसर्स कानजी हीरजी	२५॥)
४३	रणछोड़ मूलजी	२५॥)
४४	मेसर्स मूलजी आनन्द जी	२५॥)
४५	बाबू सुन्दर दास जी	२१)
४६	बाबू नसीबचन्द जी	२१)
४७	बाबू रामनाथ धीर	२१)
४८	बाबू देशराज गान्धी	२१)
४९	बाबू दुर्गानाथ हांडा	२१)
५०	श्री मयाराम जी साहिब	२१)

क्रमाङ्क	दाता का नाम	रक़म
१	श्री बेलीराम (नाथूराम बन्टा)	२१)
२	श्री कपूरसिंह जी	२०)
३	श्री दुर्गादास (गोल्ड स्मिथ)	२०)
४	श्री सी० जे० पटेल	२१)
५	मिस्टर जातिराम वर्म्मा	२१)
६	मेसर्स किशनचन्द दिवानसिंह	२१)
७	मेसर्स के० ऐन्० जानी	२१)
८	पं० रामरक्खा फिटर	२१)
९	मेसर्स अमरनाथ शामलाल	२१)
१०	बाबू सोहनलाल (पं० अमरनाथ)	२१)
११	श्री दीनानन्द सूद	२१)
१२	बा० मिल्खीराम (नसीबचन्द)	२१)
१३	बाबू अमरनाथ जी	२१)
१४	बाबू रामलाल सीधर	२१)
१५	गुप्तदान	२१)
१६	गुप्तदान	२०)
१७	गुप्तदान	२०)
१८	बाबू मेहर चन्द शर्म्मा	२६)
१९	लाला अमीरचन्द विज्ञ	१५)
२०	बाबू मूलराज वर्म्मा	१५)
२१	श्री के०डी० पुंजानी	१५)
२२	बाबू बे अन्तराम शर्म्मा	२१)
२३	बा० ढेरूराम गार्ड	१५)
२४	श्री इन्द्रसेन जी	११)
२५	बाबू वीरचन्द (P.W.D.)	११)
२६	पं० महाराज किशन	११)
२७	गुप्तदान	११)
२८	गुप्तदान	११)
२९	बाबू फकीरचन्द जी	११)
८०	श्री नन्दलाल हलवाई	११)
८१	बाबू हवेली राम	११)
८२	श्री ऐम्० आर० उपाध्याय	११)
८३	श्री फकीरचन्द भण्डारी	११)
८४	श्री दिवानचन्द गाजरी	११)
८५	श्री बेलीराम जी	१०)
८६	श्री राधाकिशन फ्रीमैन	७)
८७	श्री दिवानचन्द जी	६)
८८	श्री रलीराम कारपैन्टर	६)
८९	पं० दयाराम जी	५॥)
९०	श्री यू० के० ओझा	५)
९१	श्री देवीचन्द जी	५)
९२	श्री राधाकिशन (रेलवे)	५)
९३	श्री हरवंश लाल जी	५)
९४	गुप्त दान	५)
९५	श्री जगन्नाथ जी	५)
९६	श्री सन्तराम जी	५)
९७	श्री ईश्वरदास गुलहरी	५)
९८	श्री खरैतीराम जी	५)
९९	श्रीमती सूरज बेन	५)
१००	श्री विशंबर नाथ जी	५)
१०१	गुप्तदान	४)
१०२	मिस्टर मुहम्मद सद्दीक	२)
१०३	मिस्टर अल्लाह दित्ता	२)

समग्र योग— ६२४६) शिलिङ्ग ७५ सैन्ट

नोट- एक शिलिङ्ग अन्यून भारतीय ग्यारह आने के बराबर होता है।

शुद्धि-पत्र

प्रमादाद्दृक्च्युते र्मुद्रा-, भङ्गाद्यत्स्खलितं स्थलम् ।
स्थूलं संशोध्यते तत्तत्सूक्ष्मं शोध्यं स्वयं बुधैः ॥

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध शब्द	शुद्ध शब्द
६	१५	औपपुराण	औपपुराणों
७	११	उद्गाता	उद्गाता
७	१३	'माघ काव्य'	'माघ काव्य'
८	८	शास्त्र	शाक्त
८	२६	वेद का	यजुर्वेद का
८	२६	भेद भव	भेद भाव
११	२६	लिंकूस्कानि	लिंगकूस्कानि
१२	१०	श्लोक-चंख्या	श्लोक-संख्या
१२	२६	सृष्टि को	सृष्टि के
१४	४	आहत	आहत
१५	५	मिर पड़े हैं।	गिर पड़े हैं।
१५	१३	इस लिये।	इस लिये
१५	१६	त्र ी हैषा	त्रयी हैषा
१५	२१	सामा ि	सामानि
१६	१४	छहों पुराणों	नौ पुराणों
२८	२३	विष्ण	विष्णु
३४	५	चर्वाक	चार्वाक
३४	११	चर्वण मही	चर्वण में ही
३६	६	कुन्ताय सूक्त	कुन्ताप-सूक्त
३६	६		
३६	१०		
३६	१६	रूप बदला	रूप ही बदला

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध शब्द	शुद्ध शब्द
४३	२१	आहत रहा है	आहत रहा है
४४	११	श्रुतिद्वैधे	श्रुतिद्वैधो
४७	१०	मिसालों	मिसलों
४७	१७		
५१	११	कादिरबकस	क़ादिरबख़श
५२	७	देस की रीति	देस कीरती
५४	१६	भाष निबन्ध	भाषा निबन्ध
५६	१०	कहि चन्द्र	कवि चन्द्र
५६	२०	भाष्य	भाष्य
६२	३	पुराणों की	पुराणों के
६२	(टिप्पणी में)	पूरोप	यूरोप
६३	५	भाष्य की २	भाष्य की दो
६३	१०	माननीय	मननीय
६५	१५	पुराणों का	पुराणों के
८०	१३	इद्रियातीत	इन्द्रियातीत
८२	१०	ॐ यह	ॐ यह
८५	१६	वेदान्तवर्ती	वेदान्तर्वती
१०५	४	पुराणाख्येति	पुराणाख्येति
१०६	१६	उस में के	उस में
११४	२३	नामावधि	नाभावधि
११७	६	टाम	ट्राम
११६	२७	प्रमाणों है	प्रमाण है
१२३	२	पूर्वोद्धरण	पूर्वोद्धृत
१२७	२	उसके	उसको
१२७	२	प्रमाणों	प्रमाणों के आधार पर
१२७	५	लिये	लिये ही
१३५	२०	कभा	कभी
१३५	२६	ज्ञानवापी में	ज्ञानवापी
१३६	२७	स्प प्रकट	स्पष्ट प्रकट

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध शब्द	शुद्ध शब्द
१३७	१२	यबनैः	यवनैः
१३७	२३	लाल जी ने	लाला जी ने
१३८	५	भगबती	भगवती
१३९	२५	सिद्धान्त	सिद्धान्त
१४१	२६	अत्रि पुराण	अत्रि स्मृति
१५२	७	अबलम्बन	अवलम्बन
१५२	८	पण्डित	पण्डितों
१५२	१५	चौबीस बर्ष	चौबीस वर्ष
१५३	१	भभोगोद्धतं	भभोगोद्धृतं
१५३	८	कण्ठकारी	कण्टकारी
१५३	१५	आपोल्किम	आपोक्लिम
१५५	२	सुपतिङुप	सुप्तिङुप
१५५	२०	अधासबीरैः	अधा स वीरैः
१५७	७	रुचिकर बाक्य	रुचिकर वाक्य
१५७	११	(ऋग्वेद १७ । १०३ । १०)	(ऋग्वेद ७ । १०३ । १०)
१५७	२०	जाव भी	जीव भी
१५९	२७	लाज वास्तु	लाजा वास्तु
१६०	१५	यथाथ-वचन,	यथार्थ-वचन
१६१	१७	हा वही	हो वही
१६२	२७	आनीद वातं	अनीद वातं
१६५	२९	था ऽ	यथा
१६६	१५	प्रहाणं	प्रहरणं
१६७	४	वली	बली
१६७	१५	सुहृदयं पुरः	सुहृदं पुरः
१६८	२	बन में गया ।	वन में गया ।
१७०	१३	दौनों प्रकार	दोनों प्रकार
१७३	९	रूप से	रूप में
१७३	२२	शिर के बिना	शिर के बिना
१७५	९	साधन को	साधनों को

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध शब्द	शुद्ध शब्द
१७५	२६	भय विह्वलः)	भयविह्वलः ।
१७६	१	च्छलोक्य	च्छलोक्य
१७६	१४	धवल है	धवल है
१७७	१८	परिक्षित	परीक्षित
१८०	२४	जिसे	जिसे वैज्ञानिक
१८०	२७	यह वैज्ञानिक	
१९०	१८	आर	और
२०२	५	आंव आदि	आम आदि
२०६	११	घास फंस	घासफूस
२०८	११	वेदि इननी	वेदि इतनी
२१२	१	आया	नहीं आया
२१९	१७	सम्वत्	संवत्
२२१	२७	(श्रीविष्णुराण	(श्रीविष्णु पुराण
२२५	११	वचन निरी	वचन निरा
२२५	२३	का कारण	की कारण
२२६	३	पड़े हुये । अर्जुन	पड़े हुवे अर्जुन
२२६	१२	शिर मूड़ कर	शिर मूंड कर
२२६	२५	सातांब	सातवां
२२८	५	प्रसिद्ध	प्रसिद्ध
२३०	१	तपचर्य्या	तपश्चर्य्या
२३०	४	उत्पात्त	उत्पत्ति
२३०	१२	(ऋग्वेद अ० ५ अ० २	(ऋग्वेद अ० ५ अ० ३
२३४	६	विषय से	विशेष से
२३५	२	तौय दोपनिन्ये	तौ यदोपनिन्ये
२३६	३	(अथर्व १७ । १ । २७ । ३०)	(अथर्व १७ । १ । २७–३०)
२३७	११	न चक्षसः ।	नृचक्षसः ।
२३९	१७	रोगं तत्वः	रोगं तन्वः
२४२	६	अन्तर्हितो	अन्तर्हितः
२४४	२४	एषां पश्चात्	येषांपश्चात्

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध शब्द	शुद्ध शब्द
२४५	२६	जब पर	जब वे किसी पर
२४६	१०	विशिष्ट ति है,	विशिष्ट जाति है,
२४६	१५	गन्धव पत्नीभ्यः	गन्धर्वपत्नीभ्यः
२४६	१८	(याः) जो	(याः) जो (क्लम्दाः)
२४६	२८	गुह्यकः सिद्धो	गुह्यकः सिद्धो
२४७	२३	में घुसना	सूर्य्य में घुसना
२४८	२	परिपूर्ण में	परिपूर्ण मैं
२४८	१०	सहस्रं व्यानाः	सहस्रं व्यानाः
२५२	६	बाराह ।	वाराह ।
२५४	२४	दशशीर्षा	दशशीर्षो
२५५	२०	धारण करता	धारणा करती
२५६	२	रक्षाकर	रक्षा करें ।
२५६	२२	द्वारिकापुरी	द्वारकापुरी
२५८	११	हे महाबीर	हे महावीर !
२६०	१२	नार ! प्रभा	नारि ! प्रभर
२६१	७	विराट् क	विराट् के
२६३	१३	हृदयोत	हृद्योत
२७१	१	उद्धत	उद्धृत
२७१	१६	गुणप्राप्ता	गुणप्राप्तां
२७२	२८	(कौशीत्तकी	कौषीतकि
२७५	८	पैहा हुवे।	पैदा हुवे ।
२७८	६	अगला	अर्गला
२८०	३	(कौषीतकी	(कौषीतकि
२८१	२६	बटुका	वटुका
२८४	२	पूर्वाफाल्गुणी	पूर्वाफाल्गुनी
२८४	२८	वार्य्यं मयि	वीर्य्यं मयि
२६७	१७	कसौटा पर	कसौटी पर
३०४	२५	तैयार	तैय्यार
३१०	१	पृथ्वा	पृथ्वी

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध शब्द	शुद्ध शब्द
३१०	१६	हठाने	हटाने
३११	१८	ताफान	तोफान
३१२	७	बन्दूख	बन्दूक़
३१३	७	नमा वश्चते	नमो वश्चते
३२१	२१	बांध के	बोध के
३२२	१४	श्रामती	श्रीमती
३२५	१८	स्वेल्यावलोक	स्वेलावलोक
३३१	२२	जुगुसित	जुगुप्सित
३३८	२३	ब्रह्मदृष्टि स	ब्रह्मदृष्टि से
३४२	१३	श्राता न	श्रोता न
३५४	८	झूठा कथा	झूठी कथा
३८२	१	करती हैं	करती हैं तो
३९०	१८	परमाणु	परमाणुवों
३९६	२४	बूने पर	बिते पर
४०२	१३	श्र । पव	अप एव
४०३	२५	भातेन्द्रस्य	भ्रातेन्द्रस्य
४०६	१७	बैठा करते	बैठा करते हैं
४१४	२५	समझ	समझ कर
४४७	१६	उद्धत	उद्धृत
४६०	१३	दुः शला	दुःशीलाः
४६३	६	अप जीवन	अपने जीवन
४६४	१६	दश दिशा	दश दिशाएं
४६५	२३	मन्त्र से	मन्त्रों से
४७०	१६	कानूनों	कानून में
४७२	१३	महा कटिन	महा कठिन
४८५	६	गड़	बिगड़
४९२	१६	भूगोल के	भूगोल पर
४९४	३	आज एक एक	आज एक
४९५	२०	स्थूल	स्थूल

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध शब्द	शुद्ध शब्द
४९६	२६	ऐसा ही क्या	ऐसा ही क्यों
४९८	६	शब्दार्थ	शब्दार्थ
४९९	२६	प्रतिवादियों से	प्रतिवादियों के
५०१	२८	त्यों	त्योंही
५०२	५	गोमध	गोमेध
५०२	२६	(ाइट ओसन	(ह्वाइट ओसन
५०३	टिप्पणी में	स्वलोकमान्य	स्व० लोकमान्य
५०४	१८	गोल मटोल	गोल मटोल
५०४	२७	पात्पर्य्य	तात्पर्य्य
५०५	२६	निकला	निकाला
५०६	५	कलेवर	कलेवर
५०७	६	महर्षियों का	महर्षियों की
५०७	१९	गोलाध	गोलार्ध
५०८	८	ज्ञातोऽस्या	ज्ञातोऽस्या
५११	७	विवएवान	विवस्वान
५१४	१२	प्रतिक ता	प्रतिकूलता
५१७	११	करें ता	करें तो
५१७	२५	उद्धत	उद्धृत
५१९	१७	विग्नह	विग्रह
५२२	७	भावा शुभ	भावी शुभ
५२२	१७	राव	खराब
५२४	१६	इस ही प्रकार	इसी प्रकार
५२४	२६	पंड्ग्व	पङ्ग्वन्ध

पुस्तक मिलने का पता—

पं० माधवाचार्य्य शास्त्री

मु० पो० कौल ज़िला करनाल । P. O. KAUL [KARNAL]

गुरु विरजानन्द दण्डी
सन्दर्भ पुस्तकालय
प्र. परिग्रहण कमांक 2841
दयानन्द महिला महा